जगद्गुरु

शङ्कराचार्य का समय-चिन्तन

चन्द्रकान्त बाली

क्यों ?

मैंने यह पुस्तक क्यों लिखी ?

प्रकाशक ने यह पुस्तक क्यों छापी ?

आप यह पुस्तक क्यों पढ़ें ?

इन सभी जिज्ञासाओं का एकमेव समाधान है—भारतीय इतिहास की पुनःस्थापना। इतिहास की अनुसंधानमूलक पुनःस्थापना का श्रेय यद्यपि पाश्चात्य कोविदों को मिलना चाहिए—वे इस श्रेय उपलब्धि के सच्चे पात्र भी हैं— तथापि उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह रही है कि वे भारतीय संस्कृति से अनभिज्ञ थे। वे भारतीय साहित्य व संदर्भों के साथ ठीक-ठीक न्याय नहीं कर सके। पाश्चात्य पण्डितों से भारतीय इतिहास की पुनःस्थापना में जो छल-छिद्र रह गए थे—उसकी भरपाई के लिए प्रकृत लेखक ने कलम उठाई है।

भारत का प्राङ्मुस्लिम इतिहास बहुत विशाल है। उसके लिए विशाल पैमाने पर अनन्त साधना की अपेक्षा है। उसकी तुलना में यह क्षुद्र लेखक कहाँ टिकता है ? यह सोचकर प्रकृत लेखक ने साहस किया है कि—

> **"उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा**
>
> **कालोऽह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी।"**

यह अनुसंधानमूलक इतिहास-लेखन की शृंखला बनी रहे— यही सोचकर प्रकृत लेखक ने कलम उठाने में पहल की है।

प्रकाशक ने इसी सदिच्छा से इसे छापा है।

यदि कृपालुपाठकों ने भी इसी सदिच्छा से इसे पढ़ा और अपनाया तो अगला लक्ष्य भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध का समयचिन्तन का होगा।

विनीत

—चन्द्र

जगद्‌गुरु

शङ्कराचार्य का समय-चिन्तन

साहित्यवाचस्पति

पं० चन्द्रकान्त बाली शास्त्री

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली

Jagadguru

Śaṅkarācārya Kā Samaya-Cintana

Sahityavachaspati

Chandrakant Bali

PRATIBHA PRAKASHAN

DELHI

Published with the financial Assistance of Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi.

First Edition : 1999

I.S.B.N. : 81-85268-76-2

Price : 109/-

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., M.Phil., Ph.D.
For **Pratibha Prakashan**
(Oriental Publishers & Booksellers)
29/5, Shakti Nagar, Delhi-110007
Phone : 7451485

Printed at :
Tarun offset Printers
Delhi

स्मृतिः

जननी रामदेवी मे पिता चूड़ामणि स्तथा ।
आत्मनः पितरौ वन्दे गुणाढ्यौ देवरूपिणौ ॥
नत्वा नत्वा तयोः पादान् स्मारं स्मारं तयोर्गुणान् ।
कृतिरियं स्थितिं नीता, तयोः कृपा-प्रसादतः ॥
युगनेत्राश्ववर्षेऽस्मिन् [७२४] शुद्धे सप्तर्षि-वत्सरे ।
सृजामि लोक-लाभाय शाङ्करं काल-निर्णयम् ॥

—चन्द्रः

पुरोवाक्

आज 'आदिशङ्कराचार्यः समय चिन्तन' की भूमिका लिखकर हमने **'इतिहास-युद्ध'** का चौथा मोर्चा खोल दिया है। **'इतिहास-युद्ध'** से तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष में 'इतिहास' कैसे लिखा जाय ? इस पर अफरा-तफरी मची हुई है। भारत पर आक्रान्ता बनकर आए मुस्लिम इतिहासकारों के 'लेखन' को आप्त मान लिया गया है। उन इतिहासकारों ने, चाहे मुस्लिम दृष्टिकोण से ही क्यों ना लिखा हो, परन्तु उनके तिथि-अंकन पर अंगुली नहीं उठाई जा सकती। यही **उनकी निर्विकल्प आप्तता है**। प्राङ्मुस्लिम युग का इतिहास विवादास्पद बना दिया गया है। उक्त इतिहास को विवादास्पद बनाने में पाश्चात्य पंडितों का षड्यंत्रगर्भ-जन्य क्रूर योगदान प्रमुख है। जिसे क्षम्य नहीं माना जा सकता। उस क्रूर योगदान की तीन पगडण्डियाँ हैं; **एक**—भारत का इतिहास 'मिथक' है, राम और कृष्ण काल्पनिक व्यक्ति हैं, इत्यादि; **दो**—भारत का प्रामाणिक इतिहास 'अस्त-व्यस्त' कर दिया गया है; जैसे भगवान् बुद्ध १२१२ ईसवी पूर्व में नहीं, ४४५ ईसवी पूर्व में दिवंगत हुए, इत्यादि; **तीन**—भारतीय तिथिक्रम की गलत व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। इतिहास-लेखन की इस अफरा-तफरी में पाश्चात्य लेखकों ने 'खलनायक' का रोल अदा किया है। **भारत की पंगु मनीषा भी उन पाश्चात्य लेखकों के रास्ते पर चल रही है, शायद चलती चली जाएगी**। भारतीय इतिहास-लेखन की इस अफरा-तफरी में, भारतीय इतिहास को पथभ्रष्ट करने में भारत के ही धाकड़ संस्कृत-पण्डितों का नाम भी 'अपराधीवर्ग' में लिख लिया है—**यह हमने खिन्न हो कर लिखा है**। हम भी संस्कृत के नगण्य सेवकों की पंक्ति में सबसे पीछे खड़े हैं। संस्कृतज्ञ होने के नाते हमें अपने पूर्वजों पर इस प्रकार आक्षेप-प्रक्षेप नहीं करना चाहिए, घूमफिर यह दोषारोपण हम पर भी हो सकता है। **परन्तु हम सावधान हैं**। हमने इतिहास को 'इतिहास' समझा है। हमने इतिहास पर कम, तदुपयोगी 'तिथिविज्ञान' पर अधिक अभ्यास किया है। हमने अपने बचाव का रास्ता पहले से चुन लिया है।

हाँ, हम चर्चा कर रहे हैं—**'इतिहास युद्ध'**—की। इस चतुर्थ मोर्चे से पहले तीन मोर्चों की स्थापना की है। यथा—

१. **भारत-युद्धकाल-मीमांसा**—भारतीय इतिहास में **'भारत-संग्राम'** की स्थिति 'मील-पत्थर'-जैसी है। सृष्टि-स्थापना से लेकर भारत-संग्राम पर्यन्त इतिहास पुराणशास्त्रों में निहित है और पौराणिक तिथिक्रम के अनुसार लिखा गया है। भारत-संग्राम परवर्ती इतिहास नए तरीके से लिखा गया है। उसका तिथिक्रम भी बदल गया है। भारत-पूर्ववर्ती इतिहास **'परिवर्तयुग'** के हिसाब से लिखा गया है और जबकि भारत से निम्नवर्ती इतिहास **'सप्तर्षि संवत्'** के माध्यम से लिखा गया है। एक बात और, भारतपूर्ववर्ती एवं पुराणस्थ इतिहास कलियुग-वर्जित इतिहास है; जब कि भारत से निम्नवर्ती इतिहास कलियुग का है और विधिवत् घोषणापूर्वक प्रविष्ट मानकर लिखा गया है। यथा—

"यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्।।" विविध पुराणपाठ।

परीक्षिज्जन्म अर्थात् अर्थविस्तार में जाते हुए महाभारत का समय **सप्तर्षि संवत् १०१५ = ३१४८ ई० पूर्व**, अर्थात् कलिकालारंभ से पहले की घटना है; और राजा नन्द [नवम] का अभिषेक **सप्तर्षि संवत् १०१५ = ४३० ई. पूर्व**, ठेठ कलियुगीन घटना है। **इन दो घटनाओं के मध्य 'भारत-संग्राम-काल' प्रमाणिक मील -त्थर के समान दिप-दिपा रहा है।** इति।

मील-पत्थर जैसी अहमीयत रखने वाले इतिहास का समय तो निश्चित होना ही चाहिए था, जो नहीं है। पूना के डॉ. वर्तक महाशय भारत संग्रामकाल ५५६१ ईसवी पूर्व का मानते हैं। धर्मशास्त्र का इतिहास लिखने वाले म.म. काणे महोदय भारत-संग्रामकाल ८०० ईसवी पूर्व का मानते हैं। **इस स्थिति में भारत-संग्रामकाल ४७६१ वर्षों के लम्बायमान झूले पर झूल रहा है।** कौन बुद्धिमान इसे 'इतिहास' कहेगा? इस दोलायमान इतिहास को 'मिथक' कहने वालों के मुंह पर ताला कौन लगाएगा? इस भयावह अफरातफरी में हमने साहस करके **भारत-संग्राम की तिथि स्थिर की है—२९ नवम्बर से लेकर १६ दिसम्बर तक ३१४८ ई० पूर्व का साल।** हमने ऐसा करते हुए कल्पना से काम नहीं लिया, बल्कि पौराणिक संदर्भों का वैज्ञानिक अर्थाधान प्रस्तुत करके एक निश्चित प्रस्ताव इतिहासजगत् के सामने रखा है। यथा—

"यावत्परीक्षितो जन्म...

एतद्वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्।" पूर्ववत्।

इसमें सप्तर्षि-संवत् १०१५ विविक्षित है, और जिसे ईसवी पूर्व वर्षों में इस विधि से परिणत कर सकते हैं—

[क] १०१५ + ७ अतिरिक्त जमा किए = १०२२;

[ख] घटाया ४१७० से = ३१४८ ईसवी पूर्व।

इस पर विवाद छिड़ा हुआ है। भारत में हो रहे 'इतिहासयुद्ध' में यह हमारा पहला मोर्चा है।

२. खारवेल-प्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन—यह हमारा दूसरा मोर्चा है। आलोच्य प्रशस्ति का नाम है—**'हाथीगुम्फा अभिलेख।'** इस की अहमीयत अभीतक किसी ने नहीं समझी। पुरातत्त्ववादी लोग इधर-उधर हाथ पाँव खूब चला रहे हैं; परन्तु किसी ठोस परिणामतक नहीं पहुंचे। हम इसे 'भारत-संग्राम' की तरह का दूसरा मील पत्थर:३१० ई० पूर्व मानते हैं। इसे **दूसरा मीलपत्थर** मानने के भी कई कारण हैं; यथा—

[१] इसका समय निश्चित है और अन्तःसाक्ष्य से उपलब्ध है—"पनतरी सत सहस" अर्थात् सप्तर्षिसंवत् ११३५ में लेख उत्कीर्ण हुआ था। इसे भी पूर्वोक्त विधि से ईसवी पूर्व में परिणत किया जा सकता है—

[क] अतिरिक्त ७ जमा किए : ११३५ + ७ = ११४२,

[ख] घटाया १४५२ से —११४२ = ३१० ई० पूर्व।

अर्थात् भारतसंग्राम से २८१८ वर्ष पश्चात् एक ऐसा साक्ष्य है, जिसके अन्तराल काल का इतिहास क्रमबद्ध मिलता है और वह पुराणशास्त्रों में सुरक्षित है। [२] यह भारत का प्रथम शिलालेख है। म.म. ओझा जी ने एक प्रस्तरखण्ड पर अंकित '८४' अंक पढ़कर उसे वीरनिर्वाण-संवत् ८४ = ४४३ ईसवी पूर्व का ठहराकर उसे प्रथम शिलालेख माना है। हमारे विचार में वह अशुद्ध है। यह शिलालेख २६१ ई० पूर्व का है। **हमने इस '८४' अंक के अनेक विकल्पों पर विचार किया है; उपलब्ध होने वाले परिणाम सोचने पर अथवा खोजने पर वे सब त्रुटिपूर्ण ही सिद्ध हुए।** निश्चय किया कि कलिंगपतन [२६० ई०] से पूर्ववर्ती यह शिलालेख होना चाहिए। २६१ ई० पूर्व में

खारवेल राजा का पौत्र विदुहराय कलिंग पर शासन करता था। तिथिविज्ञान के अनुसार सप्तर्षि-संवत् ११८५ = २६० ईसवी पूर्व में सम्राट् अशोक ने कलिंगराष्ट्र को ध्वस्त किया था। दोनों का तिथिविज्ञान इस प्रकार है—

१. [क] ११८४ + ७ अतिरिक्त जमा किए : ११९१

[ख] १४५२ से घटाने पर [-] ११९१ = २६१ ई० पूर्व में कलिंग पर विदुहराग का शासन

२. [क] ११८५ + ७ अतिरिक्त जमा किए: ११९२ वर्ष;

[ख] १४५२ से घटाने पर [-]११९२ = २६० ई. पूर्व में अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया

निश्चयपूर्वक म.म. ओझा जी को उपलब्ध शिलालेख प्रथमस्थानीय नहीं, वरन् द्वितीय स्थानीय है। [३] इस शिलालेख में चार-चार इतिहास गुम्फित हैं। [क] चन्द्रगुप्तमौर्य का निधन ३२२ ईसवीपूर्व का है; [ख] सातवाहन राजा शातकर्णि का समय ३२१ ई० पूर्व का है; **[पुराण शास्त्रानुसार भी शातकर्णिका निधन ३२१ ई० पूर्व का है]** [ग] यूनानी राज्य का आरंभ ३१२ ईसवी पूर्व का है; [घ] बिन्दुसार का वास्तविक नाम 'बृहस्पतिगुप्त' है—इन चार इतिहासों को आत्मीकृत किए हुए शिलालेख को दूसरा मील-पत्थर मानना ऐतिहासिक यथार्थ है। इसके अतिरिक्त—

पूर्व-शिलालेख का इतिहास पुराणों में है; शिलालेख का परवर्ती इतिहास पुराण, शिलालेख, मुद्रा, साहित्य तथा धार्मिक परम्पराओं में मिलता है। यह हाथीगुम्फा-अभिलेख की अलौकिक गरिमा है—इसलिए वह इतिहास का दूसरा मील-पत्थर है।

३. जैन कालगणना—यह हमारा तीसरा मोर्चा है, जो 'इतिहास-युद्ध' को पूरी तरह से प्रभावित करता है। **मेरी यह अकाट्य मान्यता है कि जिस दिन जैन समाज की इतिहास-ग्रन्थि खुल जाएगी, उसी दिन भारतीय इतिहास सरल, प्रभावी, यथार्थ और सर्वाङ्ग-सिद्ध हो जाएगा।** जैन समाज को एक 'कालवेत्ता' शलाकापुरुष की इन्तजार है। मैं [अर्थात् चन्द्रकान्त बाली] जैन नहीं हूं; परन्तु जैन कालगणना से पूरी तरह से अभिज्ञ हूं। जैन समाज में दो-चार मेरे समानधर्मा लोग भी हैं; परन्तु वे रूढ़िवाद की जंजीरों से जकड़े हुए हैं। वे चाहते हुए भी कुछ न करने की स्थिति में हैं। उनका अनुसंधान प्रगतिशील नहीं है, कोल्हू के बैल की तरह वर्तुल भ्रमणशील है। इस विषय स्थिति को मन में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को तीन अध्यायों में विभक्त करके लिखा है—

[१] जैन कालगणना : प्रश्नों के आलवाल में—जैन कालगणना में जितनी विसंगतियाँ हैं, उन्हें प्रश्नों के रूप में उभार कर जैन समाज को जगाने का प्रयास किया है।

[२] जैन कालगणना : समस्या से समाधान की ओर—यह हमने समझ लिया है कि केवल प्रश्न उटंकित करना ही हमारा धर्म नहीं है, उसका समाधान प्रस्तुत करना भी हमारे दायित्व में शामिल है। हमने ऐसा किया भी। जितनी हमारी पहुंच थी, जितना प्रसंग हम समझ सके—उतना लिख दिया है। पहले अनुच्छेद में जितने प्रश्न परोस कर रखे थे, उनके समाधान इस अनुच्छेद में आ गए हैं।

[३] जैन काल गणना : ज्ञान से विज्ञान की ओर—हम भली भान्ति जानते हैं—इतिहास रूपी महानद के इतस्ततः नज़र आने वाले 'महातट' और कोई नहीं है—वही 'जैन समाज' तथा 'वैदिक समाज' हैं। एक तट के अभाव में दूसरे तट के अस्तित्व पर सोचना ही ग़लत है। हमने यही समझ कर 'सप्तर्षि-संवत्' के माध्यम से इतिहास रूपी महानद को पहचाना है और उस पर लिखा भी है।

जैन समाज इतिहास-लेखन की दृष्टि से एक अन्य किस्म की जकड़न में है। जैन इतिहासकारों ने जो लिखा है, जैन समाज उसके प्रति समर्पित भावना रखता है। यह ठीक है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी जैन इतिहास पर

लिखा है, उस पर जैन समाज श्रद्धावनत भले ही न हो, परन्तु पाश्चात्य अवधारणाओं पर अथवा उनके निष्कर्षों के प्रति आत्मीयता अवश्य अपनाए हुए है, और किसी जैनेतर भारतीय लेखक ने जैन-इतिहास पर लिखा है, उसके प्रति जैन समाज आक्रुष्ट रहता है । इसका एक जीवन्त उदाहरण हम अवश्य प्रस्तुत करेंगे—

[क] जैन इतिहास में कालकाचार्यों की विशेष चर्चा है । **जैन समाज अपने इतिहास के अनुरूप चार कालकाचार्यों का अस्तित्व मानता है** । यह किसी हदतक स्वीकार्य है ।

[ख] जर्मन विद्वान् जैकोबी ने इस प्रसंग में खूब छान-बीन की है । **डॉ. जैकोबी का मानना है—कालकाचार्य पांच हुए हैं** ।

[ग] इस पर मेरा भी अभिमत है । जैन गोष्ठी में निबंध पढ़ते हुए मैंने अपना अभिमत जैन-समाज के सामने रखा है । **प्रस्तुत लेखक की मान्यता हैं—जैन इतिहास में छह कालकाचार्य अपना स्थान बनाए हुए हैं** ।

इस अनुसंधानपूर्ण स्थापना के लिए प्रकृत लेखक को कितनी अवमानना झेलनी पड़ रही हैं ?—यह अलग से अनुसंधान का विषय है ।

हमने बात शुरू की थी—'इतिहास-युद्ध' की; इतिहास-युद्ध के छेड़े गए तीन मोर्चों के पश्चात्—'आदि **शंकराचार्य : समय चिन्तन**' का चौथा मोर्चा खोल दिया है, जो महाजटिल है । इस महाजटिल मोर्चे के दो पहलू हैं—

[१] भारतीय इतिहास तथा काल-विज्ञान का लुप्त होना;

[२] श्रृंगेरी मठ तथा शारदा मठ के आचार्यों की अपने ही सुरक्षित दस्तावेजों पर स्वीकृत गहरी 'चुप्पी' ।

हम इन प्रसंगों पर पहले प्रकाश डालेंगे ।

दो पाटो के बीच पिस रहा 'भारतीय इतिहास'

भारतीय इतिहास इस समय शोचनीय स्थिति में है । १००० वर्षों की निरन्तर गुलामी की वजह से 'इतिहास' भारतीय मनीषा से दूर-बहुत दूर जा खड़ा है । इसका प्रमुख कारण है—**'भारतीय कालविज्ञान तथा इतिहास में पाश्चात्य विद्वानों का अनुचित हस्तक्षेप'** तथा भारतीयविद्वानों का उनका ननु-नचरहित-अनुसरण करना है । यह कहानी बहुत लम्बी एवं अन्तहीन है । **डा. कीलहार्न** ने ऐहोल शिलालेखीय पाठ का अर्थाधान तो तर्कसंगत ही प्रस्तुत किया, परन्तु उसकी दिशा बदल दी । काँटा बदल जाने से रेल प्रमुख पटरी पर कैसे चल सकती थी ? वही हुआ, जिसकी संभावना थी; इतिहास ग़लत दिशा में मुड़ गया । **डाक्टर फरगूसनने** 'विक्रम-संवत्' को अस्वीकार तो नहीं किया, परन्तु उसे अपने उद्‌भव बिन्दु से प्रवर्तमान न मानकर ६०० वर्ष पूर्व बिन्दुपर [५८ ई० पू०] जा आरोपित किया । **डॉ० ए० एम० स्टीनने** डॉक्टर व्यूल्हर की काश्मीररिपोर्ट को ज्यों-का-त्यों मानकर कलिसंवत् २५ = ३०७६ ई० पूर्व से काश्मीर का इतिहास [अर्थात् राजतरंगिणी] में ७०० वर्षों की भूल पैदा होने दी । ऐसे-ऐसे पाश्चात्य विद्वानों की गणनातीत कहानियां हैं । भारत के प्रबुद्ध मनीषियों ने इसका यथा-संभव समाधान भी किया है, परन्तु समस्या जस-की-तस खड़ी है । हम इसी श्रृंखला में **डॉ. फेथफुलफ्लीट** का नाम ले रहे हैं, जो गुप्तकालीन अभिलेखों का विख्यात व्याख्याकार माना जाता है । **वह 'गुप्त-संवत्' के बारे में निपट नास्तिक नज़र आता है** । उसने जिस योजनाबद्ध तरीकों से 'गुप्त-संवत्' को जड़मूल से उखाड़ फैंकने का उद्योग किया है, यह देखने योग्य है । यथा—

[१] डॉ. फ्लीट शुरू से 'गुप्त संवत्' की अभावात्मक स्थिति को रेखांकित करता हुआ कहता है—"**संवत् विशेष की चर्चा 'गुप्त-संवत्' नाम से करना सुविधाजनक है । किन्तु हमारे पास ऐसा कोई प्राचीन साक्ष्य नहीं है, जिसके आधार पर इसे गुप्तों के नाम के साथ इसके संस्थापक के रूप में संबंधित किया जा सके, और इस बात का साक्ष्य और भी कम है कि प्राचीन काल में इसे 'गुप्तकाल' नाम से अभिहित किया जाता था** ।"

—भारतीय अभिलेख संग्रह : भूमिका; पृष्ठ १८

[२] दर असल 'गुप्त संवत्' के व्याख्याकारों का पितामहा अरबयात्री अबूरिहाँ अल्बैरूनी माना जाता है। उसकी पुस्तक 'किताब-उल्-हिन्द' का फ्रेंच तथा अंग्रेज़ी भाषा का अनुवाद डा. सचाऊ ने किया था। प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों ने—जिनमें कनिंघम, टामस, रेनार्द प्रमुख हैं—अबूरिहाँ को आप्त माना है, और उसके कथनानुसार ७८ + २४१ = ३१९ ईसवी में 'गुप्त संवत्' की स्थापना को यथार्थवाद का कवच पहना दिया है। अब स्थापना स्थिरमूल हो गई है। अबूरिहाँ पर प्रश्न-पंक उछालते हुए डा. फ्लीट ने लिखा है—**"अल् बैरूनी का कथन ग्यारहवीं शती का है तथा प्राचीन काल से संबन्ध रखने वाली इस प्रकार की समस्या के लिए उसे पुष्ट प्रमाण नहीं माना जा सकता।"** लो, कर लो बात !

—पूर्ववत्

[३] कौन सामन्त है ? कौन महाराजा है ? कौन नया संवत् स्थापित करने का अधिकारी है ? कौन अधिकारी नहीं है ? इन सब प्रश्नों के समाधान खोजने का अधिकार भारतीय मनीषा को नहीं है। यह अधिकार भी पाश्चात्य पण्डितों ने अपने पास रख लिया है। वे जिसे सामन्त मान लें, वह दसियों पीढ़ियों तक सामन्त ही रहेगा। उसे 'महाराजा' की पदवी धारण करने का कोई अधिकार नहीं। इसी ग़लत फहमी में डॉ. फ्लीट लिखता है—**"एक सामन्त 'महाराज' मात्र होने के कारण इस राजवंश का संस्थापक महाराज गुप्त किसी संवत् का प्रवर्तन नहीं कर सकता था।"** इस धींगामुश्ती का जवाब है किसी के पास ?

—पूर्ववत्, पृष्ठ १९

[४] टीका करना या व्याख्या करना भी एक कला है। अर्थ से 'अनर्थ' का संदोहन करना; अथवा—अनर्थ को सदर्थ में परिणत करना टीकाकार के लिए बाँए हाथ का खेल होता है। हम दावे से लिख रहे हैं कि ऐसे-वैसे टीकाकारों में कोई डॉ. फ्लीट का सानी नहीं हो सकता। भारतीय अभिलेखों में पढ़ा गया—**[क] "गुप्तप्रकाले गणनां विधाय"** दूसरा वाक्य है—**[ख] "गुप्तान्वयानाम्।"** इसे निरस्त करते हुए डॉ. फ्लीट ने लिखा है—**"किंतु ये सभी पाठन काल्पनिक है।"** इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ.फ़्लीट लिखता है—**"अतः इन दोनों अवतरणों से इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।"**

—पूर्ववत्, पृष्ठ १९,

[५] पाठान्तर स्थापित करना, पठित अंश को भ्रष्ट करना तथा उसकी मनमानी व्याख्या करना दुःशील अनुसंधायकों का करिश्मा माना जाता है। गुप्त-अभिलेखों में एक पाठ आया है—**"गौप्ते ददावदः नृपः सापरागेऽर्क मंडले"**। 'गौप्ते' का अर्थ है—गुप्त संवत् में। इसे भ्रष्ट किया गया—**"गोप्त्रे ददावदो नृपः सापारागार्क मंडले।"** यहाँ 'गोप्त्रे' का अर्थ है—'रक्षक के लिए।' इस पर डॉ. फ्लीट की टिप्पणी है—**"इस बात का भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, कि इसकी स्थापना उन्होंने ही थी, तथा उनके नाम को इसके साथ संबंधित करने का भी कोई आधार नहीं मिलता।"**

[६] 'मैं नहीं मानता कि मुर्गे की दो टांग होती हैं, मैंने देखा है कि उसकी टांग तीन है'—ऐसी हठधर्मिता का क्या इलाज है ? इसी किस्म की हठधर्मिता में आकण्ठ मग्न डॉ. फ्लीट लिखते हैं—**"अलबैरूनी के विवरण से ज्ञात गुप्त-संवत् का और वलमी संवत् का एक ही समय है। उनकी केवल यह मान्यता है कि प्रारंभिक गुप्त शासक जिस गुप्त संवत् का प्रयोग करते थे, वह यह गुप्त संवत् नहीं था।"**

—पूर्ववत्; पृष्ठ २१

[७] 'गुप्त-संवत्' यह भी नहीं है, 'गुप्त संवत्' वह भी नहीं है, आखिर गुप्त संवत् क्या है ? इस पर अपने मन में जमा हो रहे मनोमालिन्य के उगलते हुए उसने जो कहा है, उसे हम तीन चरणों में अवतरित करेंगे; यथा—

[क] "प्रारंभिक गुप्तों ने किसी अन्य राजवंश के संवत् को ग्रहण किया। अतः हमें इसका उद्भव किसी बाह्य स्रोत में ढूंढना चाहिए ॥"

[पृष्ठ १३०]

[ख] "स्वयं भारत में ऐसे किसी पूर्व प्रतिष्ठित संवत् का अस्तित्व नहीं था, जिसे ग्रहण करने के लिए प्रारम्भिक गुप्त शासक प्रेरित हुए हों। और अब हमें देखना है कि क्या भारतवर्ष के बाहर इस प्रकार के किसी संवत् का अस्तित्व था ?"

[पृष्ठ १३२]

[ग] 'प्रारंम्भिक गुप्त शासक नेपाल में अपने लिच्छवी संबंधियों द्वारा प्रयुक्त होने वाले संवत् तथा उसके उद्भव से परिचित रहे होंगे।'........"मेरे विचार से सर्वाधिक संभावना इस बात की है कि तथा कथित गुप्त संवत् एक 'लिच्छवी-संवत्' था।"

—पूर्ववत्; पृष्ठ[१] १३४

इससे बढ़कर पाश्चात्य-अभिमत और-क्या होगा ? जिसमें भारतीय कालिक विज्ञान को चुनौती दी गई हो !

यह चक्की का एक पाट है, अब उसका दूसरा पाट भी देखिए—संस्कृतज्ञों में एक सहज भ्रम पाया जाता है कि– "हमें संस्कृतज्ञान के साथ ही इतिहास-ज्ञान स्वतः प्राप्त हो जाता है।" वस्तुस्थिति यह है कि 'संस्कृत भाषा एक विस्तृततम आस्तीर्ण है, जिस पर चिकित्सा-संगीत-वास्तुकला-ज्योतिष-इतिहास-दर्शन और साहित्य की सजीव प्रतिमाएँ [मूर्तियां] तथा प्रतिभाएँ विराजमान हैं। वैद्यजन रोग, निदान, उपशय, लंघन आदि विषयों का परंपरागत होता है; परन्तु 'सा-रे-ग-म-प-ध-नी' से वह सर्वथा अनभिज्ञ होता है। यही फार्मूला सभीपर लागू होता है। जैसे कवि जन्मजात 'कवि' होता है, वैसे 'इतिहासकार' भी जन्मजात होता है। परन्तु संस्कृत के धाकड़ पण्डितों ने इतिहास के साथ अहंमन्यता के वशीभूत जो-जो खिलवाड़ किया है, उसे देख/पढ़ पर तबीयत गुस्से से तमतमा जाती है। संस्कृत ग्रन्थों के टीकाकारों ने जो भूलें की हैं—उसे नज़र अन्दाज किया जा सकता है। परन्तु आधुनिक शिक्षा पद्धति से पारंगत विद्वानों ने जो-जो करिश्मे दिखाए हैं, उसे पढ़-पढ़कर हैरानी होती है। एक दो नमूने देखिये—

डॉ. कुंवरलाल व्यासशिष्य [एम. ए. संस्कृत] ने भारतीय इतिहास पर जो वज्रप्रहार किए हैं, उसकी एक बानगी—

(१) सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य की काल्पनिक समकालीनता।

(२) बुद्धनिर्वाणके संबंध में भ्रामक सिंहाली तिथि।

(३) अर्वाचीन जैन परम्परा में महावीर की भ्रामक तिथि।

(४) अशोक शिलालेखों में तथाकथित यवनराज्यों का उल्लेख मानना।

---

१. इससं अधिक जानकारी के लिए लेखक—प्रणीत 'भारतीय संवत्' (अप्रकाशित) के तीसरे खण्ड में 'गुप्त-संवत्' की प्रतीक्षा करें।

(५) खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में भ्रामक पाठ।

(६) पुराणों में परीक्षित् से नन्दतक १०१५ वर्ष मानना।

(७) युगपुराण में डेमिट्रियस यूनानी का उल्लेख मानना, इत्यादि।

—भारतीय इतिहास पुनर्लेखन क्यों ? पृष्ठ१५४

उद्देश तो बड़ा है, क्रियाकलाप उससे उदात्त और उन्नत है; परन्तु कितने भिन्न है ? ये सब उनकी विविध रचनाएँ पढ़कर ज्ञात हो जाता है। एक नमूना इसी प्रसंग में। डॉ. व्यास शिष्य ने पं. भगवद्दत्त के कथन का अनुकथन करते हुए मौर्यराजाओं की सूची दी है—

मौर्यवंश-तालिका

वायुपुराण	मत्स्यपुराण	कलियुगराजवृतान्त
१. चन्द्रगुप्त २४ वर्ष	चन्द्रगुप्त ३४ वर्ष	चन्द्रगुप्त ३४ वर्ष
२. नन्दसार २५ वर्ष	भद्रसार २८ „	बिन्दुसार २४ „
३. अशोक ३६ वर्ष	अशोक ३६ „	अशोकवर्धन ३६ „
४. कुणाल ३६ वर्ष	कुणाल ८ „	सुपार्श्व ८ वर्ष
५. बन्धघुपालित ८ वर्ष	दशरथ-८ „	बन्धुपालित ८ वर्ष
६. नप्ता [?] —	इन्द्रपालित १७ „	इन्द्रपालित ७० „
७. दशरथ ८ वर्ष	हर्षवर्धन ८ वर्ष	संगत ९ वर्ष
८. सम्प्रति ९ वर्ष	सम्प्रति ९ वर्ष	शालिशूक १३ „
९. शालिशूक १३ वर्ष	शालिशूक १३ वर्ष	देवशर्मा ७ वर्ष
१०. देवशर्मा ७ वर्ष	सोमशर्मा ७ „	——
११. शतधन्वा ८ वर्ष	शतधनु ९ „	शतधनु ——
१२. बृहद्रथ ८७ वर्ष	बृहद्रथ ७० वर्ष	बृहद्रथ[1] ८८
२३१ वर्ष	२४७ वर्ष	३०९ वर्ष

डॉ. व्यासशिष्य ने यह तालिका स्थापित करते हुए निहायत चातुर्य से काम लिया है—[क] इस तालिका-स्थापन में वह स्वयं नेपथ्य में खड़ा हो गया है, पं. भगवद्दत्त का 'परदा-ए-सीनरी' टांग दिया है। अगर कोई आलोचना करे, तो वह आलोचना पं. भगवद्दत्त के खाते में लिखी जाय! और मज़े की बात यह है कि यह 'तालिका' पार्जीटर ने तैयार की है। सारांश यह कि यह सौदा तीसरी मंजिल में हुआ है—पार्जीटर पं. भगवद्दत्त डॉ. कुंवरलाल व्यास शिष्य। [ख] दूसरा यह कि तालिका में वर्षगणना वही दर्ज है, जो पुराण प्रतिपादित है। इस तालिका में वर्षो के साथ 'ईसवी पूर्व' अथवा 'विक्रमपूर्व' का संकेत नहीं है। अगर ऐसा होता, तो व्यासशिष्य महोदय की पोलपट्टी खुल जाती।

---

१. पुराणों में भारतोत्तर वंश, पृष्ठ ४२

डॉ. कुंवरलाल व्यासशिष्य की आलोचना करना हमें अभीष्ट भी नहीं है और वह प्रासंगिक भी नहीं है। चूंकि हमें इतिहास को अपने नज़रिए देखते हैं—**न हम पाश्चात्य पंडितों की स्थापना से प्रभावित हैं और न ही हम संस्कृत पण्डितों के काल्पनिक इतिहास के क़ायल हैं**—और हमने अपना रास्ता खुद बनाया है तथा उसी पर हम चल भी रहे हैं। दोनों विचारों का—**अपना तथा संस्कृत पंडितों के अभिमत का**—तुलनात्मक खुलासा करना इसलिए आवश्यक हो गया है कि **हमारे विवेकशील पाठक जान सकें कि हम कहाँ खड़े हैं?** यथा—

१. चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल २४ अथवा ३४ लिखा है। इस पर सर्वमान्य पुराणपाठ हैं—"**चतुर्विंशत्समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति**" (नाना पुराण पाठ) अर्थात् सप्तर्षि संवत् २४ = ११२४ तक चन्द्रगुप्त शासन करेगा। इसे हम ईसवी पूर्व में निम्नविधि से पलट सकते हैं—

[क] मूल संख्या में अतिरिक्त ७ जमा किए : ११२४ + ७ = ११३१

[ख] इसे १४५२ से घटाया : १४५२-११३१ = ३२१ ई. पू.

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनान्तकाल ३२१ ई० पूर्व है। यह पौराणिक मत है।

२. इसी पद्धति से अशोकवर्धन का समय खोजते हैं। प्रायः सभी पुराणों में मतैक्य से लिखा हुआ है—"**षड्विंशत्तु समा राजा अशोको भविता नृषु**" [नानापुराण पाठ] अर्थात् सप्तर्षि संवत् २६ = १२२६ तक अशोक वर्धन राष्ट्र में राजा बना रहेगा। इसे सप्तर्षि-गणना को पूर्वपद्धति के अनुसार गणना पलट सकते हैं—

[क] मूल संख्या में अतिरिक्त ७ जमा किए१२२६ + ७ = १२३३

[ख] इसे १४५२ से घटाया१४५२ – १२३३ = २१९ ईसवी पूर्व में राजा अशोक दिवंगत हुआ।

संस्कृत के पण्डितों ने हवा में तलवारबाज़ी सीखी है। इतिहास लिखना इनके बस का नहीं है।

भारतीय इतिहास के साथ [हमारा मतलब है—पौराणिक इतिहास के साथ] सीमातीत गुस्ताखी [छेड़छाड़] कर रहे हैं—**श्री उपेन्द्रनाथ राय**।[१] यह हम पहले से कबूल कर लेते हैं कि अपने बंगबंधु श्रीराय महोदय संस्कृतज्ञों में पंक्तिपावन माने जाते हैं। इतिहास में उनकी गति कितनी है? यह केवल 'राम' जानता है। हमारे विवेकशील पाठक भी उन्हें ज़रा पहचान लें। यह हमारी प्रासंगिक अभिलाषा है।

पं. उपेन्द्रनाथ रांय लिखते हैं—"**परीक्षित् का जन्म महाभारतयुद्ध के कुछ मास बाद हुआ, किन्तु युद्धकाल के बारे में दो मत हैं। नीचे दोनों मतों के अनुसार विभिन्न घटनाओं के काल दिए जा रहे हैं। सारिणी के [क] स्तंभ में ३१३७ ई. पू. में महाभारतकाल मानकर गणना की है, और [ख] में कल्हण के मतानुसार २४४८ ई. पू. में।**

घटना	स्तंभ [क]	स्तंभ [ख]
महापद्मका अभिषेक	१६३७ ई. पू.	८९८ ई. पू.
चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक	१५०१ ई. पू.	८१२ ई. पू.
भद्रसार [बिन्दुसार] का अभिषेक	१४७७ ई. पू.	७८८ ई. पूर्व
अशोक का अभिषेक	१४४८ ई. पू.	७५९ ई. पूर्व
अशोक का शासनान्त	१४१२ ई. पू.	७२३ ई. पू.
पुष्यमित्र का राज्यारोहण	१३६४ ई. पू.	६७५ ई. पू.

१. ग्राम मटैली, जलपाई गुड़ी जिला, पं. बंगाल, पिनकोड ७३६२२३

आन्ध्रों का शासनान्त	८०८ ई.पू.	२१९ ई.पू.
बुद्ध का निर्वाण	१८१४ ई.पू.	११२५ ई.पू.

टिप्पणी—इस शृंखला में महावीर स्वामी का नाम क्यों छूट गया है ? या जान बूझकर छोड़ दिया गया है ? इसका कारण हम जानते हैं। पर चूंकि लेखक ने इस पर गंभीरतापूर्वक चुप्पी ले रखी है—इसका खुलासा फिर कभी हम करेंगे।

अजातशत्रु का शासन	१८२२-१७९८ ई.पू.	११३-११०८ ई.पू.
उदायी का शासन	१७७२-१७३७ ई.पू.	१०८३-१०४८ ई.पू.

—शोधपत्रिका, वर्ष ३९/अंक ४/१९८८/ पृ. ३५

यह सारिणी कितने कपट पूर्ण तरीके से तैयार हुई है—यह सब अलग से अनुसंधान का विषय है। हम जानते हैं—राजतरंगिणी में आंध्रों का नामोल्लेख नहीं है—फिर भी सारिणी में २१९ ई. पूर्व का समय लिख आए हैं। घटोत्कचपुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम ने सप्तर्षि संवत् [४]४१६ = २७७ ईसवी में अन्तिम आन्ध्रनरेश पुलुमावी को मार गिराया था—श्रीरायके अनुसंधान के साथ इसका तालमेल किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ?—यह चिन्ता का विषय है।

महापण्डित राय महाशय की अनुसंधान दिशा किस तरह करवट लेती है ? यह भी कम रोचक विषय नहीं है। आन्ध्रवंश के शासन-काल के बारे में वे स्थितप्रज्ञ हैं—**राय महाशय के मतानुसार आंध्रों का शासनकाल १२८३ से ८०८ ई. पूर्व तक [४७५]** है। इस स्थापना की ऐतिह्य विसंगतियाँ जग जाहिर हैं। यथा—

आन्ध्रों का शासनारंभ[1]

१२६४ ई.पू.	१ सिमुक २३ वर्ष : १२४१ ई.पू.।	पुराणमतानुसार ३७५ ई.पू. में आन्ध्रसत्ता का उदय
	२ कृष्ण ८ वर्ष : १२३३ ई.पू.।	
चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन, ३२१ ई. पूर्व में निधन	३ शातकर्णि[2] ५६ वर्ष : ११७७ ई.पू.।	
	४ पूर्णोत्संग ८ वर्ष : ११६९ ई.पू.।	

---

१. सप्तर्षस्तदा प्राप्ताः पित्र्ये पारिक्षिते शतम् ॥
सप्तविंशैः शतैः भाव्या आन्ध्राणां तेऽन्वयाः पुनः ॥
अर्थात् कलिसंवत् २५ में सप्तर्षियों ने मघा शतक पूरा किया। उससे भी २७०० वर्ष पश्चात् : ३०७५-२७०० = ३७५ ईसवी में आन्ध्रसत्ता का प्रतिष्ठानपुर में अभ्युदय हुआ।

२. एक पुराण पाठ है—"पंचाशतैः समाः षट् च शातकर्णिर्भविष्यति" अर्थात् सप्तर्षि संवत् ३४५६ तक शातकर्णि राजा होगा। इसवी पूर्व में पलटने का नियम—३४५६ + ७ अतिरिक्त जमा किए = ३४६३; उसे ३७६५ से घटाया—३४६३ = ३०२ + १८ = ३२० ई० पूर्व में शातकर्णिका निधन हुआ।

५ स्कन्दस्तंभी

१८ वर्ष : ११५१ ई० पू.।

६.श्री शातकर्णि[१]

५६ वर्ष : १०९५ ई.पू.।

कालकाचार्य को अपने राजभवन में आमंत्रित किया ३२० ई.पू. में।

७ लम्बोदर

८ वर्ष : १०८७ ई.पूर्व।

८ अपीलक

१२ वर्ष: १०७५ ई.पूर्व।

९ मेघस्वाति

१८ वर्ष : १०५७ ई.पूर्व।

१० स्वातिकर्ण

१८ वर्ष : १०३९ ई.पूर्व।

११ स्कन्दस्वाति

७ वर्ष : १०३२ ई० पूर्व।

१२ मृगेन्द्रस्वाति

३ वर्ष : १०२९ ई० पूर्व।

१३ कुन्तल

८ वर्ष: १०२१ ई० पूर्व।

१४ स्वातिकर्ण [२]

१ वर्ष : १०२० ई.पूर्व।

१५ पुलुमावी

१८ वर्ष : १००२ ई.पूर्व।

१६ कृष्ण

२५ वर्ष : ९७७ ई.पू.।

---

१. महावीर स्वामी का निर्वाण प्राचीन जैनग्रन्थों के अनुसार १२२७ ई.पू. माना जाता है। तदनुसार निर्वाण संवत् ९९३ में शातकर्णि ने कालकाचार्य को राजभवन में चतुर्थी-पर्युषण व्रतपारायण के लिए आमंत्रित किया था। वह १२२७-९९३ = २३४ ई० पूर्व की घटना है। विचारणीय यह है कि पुराणशास्त्रानुसार शातकर्णि का निधन ३५५६ सप्तर्षि संवत् में हुआ। तदनुसार—
[क] ३५५६ + ७ = ३५६३ फलागम मिला।
[ख] ३७६५—३५६३ = २०२
[ग] + १८ = २२० ईसवी पूर्व शातकर्णिका निधन और उससे १४ वर्ष प्राक् कालकाचार्य का स्वागत हुआ था।
संदर्भ– कालकाचार्य कथासंग्रह: पृष्ठ २७०।

१७ हाल[1] ५ वर्ष : ९७२ ई.पू.। १८ मंडलक	शंकराचार्य का समकालीन 'हाल-पाल-पालितः' ७-वर्षीय समकालिकला

५ वर्ष : ९६७ ई.पूर्व।

१९ पुरीन्द्रसेन

२१ वर्षः ९४६ ई.पूर्व।

२० सुन्दर सातकिर्ण

१ वर्ष : ९४५ ई.पूर्व।

२१ चकोर सातकर्णि छमास केवल— ?

२२ शिवस्वाति

२८ वर्षः ९१७ ई० पूर्व।

२३ गौतमीपुत्र शातकीर्ण

२१ वर्ष : ९०२ ई.पूर्व।

२४ पुलुमावी[2]

१८ वर्ष : ८८४ ई.पूर्व।

२५ शिवश्री

७ वर्ष : ८७७ ई.पूर्व

२६ शिवस्कन्द

१८ वर्ष ८५९ ई.पूर्व

२७ यज्ञ श्री

२९ वर्षः ८३० ई.पूर्व।

२८ विजय

६ वर्षः ८२५ ई.पूर्व।

---

१. महाराजा हाल शकारि-साहसांक-श्रीविक्रमादित्य का समकालीन है। जैसा कि राजशेखर का कथन है—"वासुदेव-सातवाहन—शूद्रक-साहसांक' इत्यादि। "हालः स्यात् सातवाहनः"। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी का कथन भी कुछ ऐसा ही है। ईसवी पूर्व की प्रथम शताब्दी तथा ईसवी संवत् की प्रथम शताब्दी के ऐतिहासिक मोड़पर महाराजा हाल ने अहम रोल अदा किया था। जैसा कि हम जानते हैं— महाराजा हाल ने सौ वर्ष शासन किया था २० ई.पू. से लेकर ईसवी सन् ८० तक।

२. वासुदेव संवत् ९९ से आरंम्भ हुआ—जैसा कि हम अन्यत्र लिख रहे हैं। वासुदेव संवत् ४६ में नहपान के दामाद उषवदात्त का अन्तिम शिलालेख उपलब्ध है। यह तिथि ९९ + ४६ = १४५ ईसवी बनती है। १४५ ईसवी में वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी ने उषवदात्त पर विजय प्राप्तकर—"खखरातबंसनिरबंसकर' की ख्याति अर्जित की।

२९ चन्द्रश्री

१० वर्ष : ८१५ ई.पू.

३० पुलुमावी

७ वर्ष: ई.पू. ८०८ ई.पू.।

यह पुलुमावी वही है, जिसे—उसी के ही भृत्य—चन्द्रगुप्त प्रथम ने सप्तर्षि-संवत् [४] ४२१ = २७६ ईसवी में मारकर 'गुप्त-संवत्' [प्रथम] की स्थापना की थी। ४२१ सप्तर्षि-संवत् को ईसवी संवत् में पलटते हैं—

[क] गणना लाघव के लिए मूल संख्या में से २७०० कम किए। ४४२१ – २७०० = १७२१ वर्ष

[ख] अपनी ओर से ७ वर्ष अतिरिक्त जमा किए—१७२१ + ७ = १७२८ वर्ष।

[ग] इसमें १४५२ घटाए : यह संख्या सप्तर्षि परिवर्तन का बिन्दु है। यथा–

१७२८—१४५२ = २७६ ईसवी सिद्ध हुआ।

विवेकशील पाठक अनुभव करेंगे कि संस्कृत-धुरंधर श्री उपेन्द्रनाथ राय की हठधर्मिताप्रसूत आन्ध्रों की वर्षगणना १२८३ से ८०८ ई. पूर्व तक मान ली जाय तो ऐतिह्य विसंगतियों का पहाड़ टूट पड़ेगा।

हमने इस अनुच्छेद में यह लिखने का प्रयास किया है कि इन दो-दो पाठों में 'भारतीय इतिहास' किस तरह पिस रहा है। यथा—

एक तरफ पाश्चात्य अभिमत है जो योजनाबद्ध इरादे से भारतीय अस्मिता को चुनौती देकर इतिहास को मिथक में पलटकर भारत को पदे-पदे निरस्त कर रहा है।	भारतीय इतिहास	दूसरी तरफ इतिहास और इतिहास-दर्शन से सर्वथा अनभिज्ञ ये संस्कृत के पण्डित अपने 'अहंभाव' को जागृत रखने के लिए इतिहास की ऐसी-की-तैसी करने पर तुले हुए हैं। और तो और, इन संस्कृतज्ञों में कहीं भी मतैक्य भी नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संकल्प-सिद्ध इरादे से भारतीय इतिहास को भ्रष्ट करने की तुलना में संस्कृत पंडितों को जहाँ उनका प्रतिवाद करना चाहिए था, वे अज्ञानवश यह प्रसिद्ध कर रहे हैं—कि वे पाश्चात्य विद्वान् ही ठीक हैं। और हम इस प्रसंग में 'कोरा कागज़' मात्र हैं।

विवेकशील वाचक वृन्द ! आप इस प्रसंग में मेरे सामने आयी कठिनाइयों को समझें और अनुमान लगाएँ—भगवान् शंकराचार्य के बारे में 'लुईस रईस' का आग्रह कि 'विक्रमादित्य' उत्तर का नहीं, प्रत्युत् दक्षिण का अभिप्रेत[१] हैं, एक तरफ आग्रह है; दूसरी तरफ यह आग्रह है कि शालिशक ६९५ [अर्थात् + ७८ = ७७३ ईसवी] में मंडनमिश्र का विग्रह-विसर्जन इस विपरीत स्थिति में भगवान् शंकराचार्य का समय खोजना किस जटिलता में फंसा हुआ है ? ज़रा सोचिए।

---

१. यह कहानी लुईस रईस तक ही सीमित नहीं है, कहानी और आगे भी बढ़ती है—१. कॉलब्रुक के अनुसार ८००—९०० ई. तक; २. टेलर ९०० ईसवी, ३. हगसन ८०० ई., ४. विल्सन ८००-९०० ई. तक; ५. मेकेनजी ८०० ई., ६. मैक्समूलर, ७. कृष्ण स्वामी तथा ८. पाठक ७८८ ई.; ९. रामावतार शर्मा ७१ शक से ७६५ शक तक; १०. तैलंग तथा ११. तिलक ६८८ ई., १२. राजेन्द्रनाथ घोष ६०८ शक इत्यादि !

श्री शंकराचार्य, प्रो० बलदेव उपाध्याय; पृष्ठ ३५.

विवेकशील वाचकवृन्द यहाँ यह प्रश्न करने में सतर्क होंगे कि भगवान शंकराचार्य के प्रसंगमें डॉ० जान फेथफुल फ्लीट का तथा पंडित प्रवर उपेन्द्रनाथ राय को उद्धृत करने की क्या सार्थकता है ? निवेदन है कि द्वितीय शंकराचार्य (अर्थात् सुरेश्वराचार्य) से दशम पीठासीन आनन्दाविर्भावाचार्य का समय **विक्रमसंवत् ९** प्रतिपादित है, जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित गुप्त संवत् (३६३ ईसवी से गणनाधीन) का नामान्तर है । पं० उदयवीर शास्त्री 'विक्रमसंवत् बनाय गुप्त संवत्' में विश्लेषण न कर सकने से गच्चा खा गए । कहीं हमारे पाठक भी गुप्त संवत् के पुरोधा डॉ० फेथफुल फ्लीट के बहकावे में आकर गुप्त संवत् को '**लिच्छवीसंवत्**' मानने की हठ पकड़ लें, तब उसका खुलासा करना यहाँ प्रासंगिक हो गया था । दूसरी बात रही श्री उपेन्द्रनाथ राय की, उसे भी समझ लिजिए । विदित हो चन्द्रगुप्त प्रथम ने अन्तिम सात वाहन नरेश—पुसुमावी—को मार कर गुप्त साम्राज्य की स्थापना की और गुप्त संवत् चलाया । कहीं श्री उपेन्द्रनाथ के पक्षधर ८०८ ई० पूर्व में गुप्त साम्राज्य की जिद पकड़ लें, तो हमारा खेल बिगड़ जाएगा । हमें यही उचित लगा कि 'गुप्त संवत्' को पीसने वाले दो पाटों की भलीभांति पहचान कर उन्हें अलग-थलग रखें और अपने '**गुप्तसंवत्**' को सही सलामत रखें । इति ।

डॉ. राधेश्याम शुक्ल

इस दृष्टि से मैं अपने आप को भाग्यशाली मानता हूं कि मेरा प्रकाशक न केवल संस्कृत का विद्वान् है, बल्कि 'इण्डोलोजी' में सम्यक् निष्णात भी है । इण्डोलोजी अनुसंधान के बारे में डॉ. राधेश्याम शुक्ल की 'पहुंच' और 'पकड़' दोनों मजबूत हैं । प्रस्तुत पुस्तक—**"आदिशंकराचार्य का समय चिन्तन"**—देखकर और पढ़कर डॉक्टर शुक्ल ने मुझ से कहा—**"आपकी भाषा अनुसंधान के अनुरूप नहीं है । यह तो ललकारने वाली भाषा है ।"**

मैंने कहा—डॉक्टर शुक्ल महोदय । आपने ठीक कहा है ।मेरी अभिरुचि 'अनुसंधान' के अनुरूप नहीं है । **इसीलिए मेरी भाषा भी अनुसंधान-मृद्वी नहीं है** । मैं निर्माण में विश्वास रखता है । **अतः मेरी भाषा निर्माण-निष्ठुर** है । यही कारण है, मैंने अच्छी बात लिखकर भी अच्छे-खासे मित्रों को नाराज़ कर लिया है । **यह मेरा प्रकृतिजन्य दोष** है । मैं कर भी क्या सकता हूं ।

मैं उस इतिहास को 'इतिहास' नहीं मानता, जो पाश्चात्य पंडितों ने लिखा है । **मैं उस इतिहास को भी 'इतिहास' नहीं मानता, जो संस्कृत-पण्डितों ने लिखा है** । मेरे विचार में पं. भगवद्दत्त बी.ए; डॉ. देवसहाय त्रिवेद, डॉ. कुंवरलाल 'व्यासशिष्य' के लिखे इतिहास ग्रन्थ-समूह को विश्वास में न लेना ही ठीक है; और मैं विश्वास में ले भी नहीं सकता । मैंने अपनी दुर्बलता छिपाई नहीं है, जगजाहिर की है ।

डॉ. शुक्ल ! आप जानना चाहेंगे कि मैं इतिहास को किस किस्म का नया आकार-प्रकार देना चाहता हूं ? लीजिए एक चित्र—

क

१. "विक्रमादित्य ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की और उसे भगाकर '**मुलतान**' और '**लोनी**' के दुर्ग के बीच करूर के प्रदेश में मार डाला। अब वह तिथि विख्यात हो गई। क्योंकि अत्याचारी की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रजा को बड़ा आनन्द हुआ और लोग, विशेषतः ज्योतिषी इति तिथि को एक संवत् आरंभ के रूप में करने लगे। वे विजेता के नाम के साथ 'श्री' लगाकर उसका सम्मान करते हैं, उसे **श्री विक्रमादित्य** कहते हैं।"

—अलबैरूनी का भारत, ३/६

२. "राजा श्री विक्रमादित्य सार्वभौमाषयोऽभवत्। स चोन्नत महासिद्धिः सौवर्ण पुरुषोदयात्। मेदनीम-नृणां कृत्वाऽचीकरत् वत्सरं निजम्।

—प्रभावक चरित ९०/९१

३. ततोवर्षशते पंच त्रिंशता संधिके पुनः।
तस्य राज्ञोऽचयं हत्वा वत्सरः स्थापिता शकैः।—प्रभावक चरित

कलि संवत् ३१७९	=	शक.००	ईसवी संवत् ७८

४. स एव पंचाग्नि कुभिर्युक्तः [१३५] स्यात् विक्रमस्य वै।
रेवायाः उत्तरे तीरे संवन्नाम्नातिविश्रुतः॥ —ज्योतिष सार।

५. नन्दाद्रीन्द्र गुणाः ७१७९ तथा शक नृपस्यान्ते कलेः वत्सराः। —सिद्धान्त शिरोमणि।

६. कले नवागैकगुणाः शकावधेः। —बटेश्वर।

७. कलेः ग्रहाऽगैक गुयाः शकान्तेऽब्दाः। —ब्रह्मस्फुट

८. शका नाम म्लेच्छराजानः, ते यस्मिन् काले विक्रमादित्येन व्यापादिताः
स शकसंबंधी कालः 'शाक' इत्युच्यते। —आमराज

९. शका नाम म्लेच्छजातयो राजानः, ते यस्मिन् काले विक्रमादित्यदेवेन व्यापादिताः, स कालो लोके शक इति प्रसिद्धः —उत्पलभट्ट

१०. पापीयान् इत्यवध्योऽयं मुतिस्तं निरवासयत्।
स्थितिज्ञः स्थापयामास **मूलस्थानेऽथ** शाखिनम्॥ —माणिक्य सूरि

टिप्पणी—ये सभी संदर्भ इस बात का निर्देशन करते हैं कि **कलि संवत् ३१७९ = विक्रम १३५ = ईसवी संवत् ७८** में एक प्रसिद्ध घटना घटित हुई, जिसके अनुसार **श्रीविक्रमादित्य** ने [अन्य नाम शकारि शकान्तक और साहसांक] **कनिष्क द्वितीय को मुल्तान के समीप ले जाकर मारा**। इस घटना को इतिहासकारों ने किस कदर विकृत कर दिया है, यह चिन्ता का विषय है।

सन्दर्भ

ख

[मथुरा]	[उज्जयिनी] गद्दभिल्ल	
	कदफिस	
	विमकदफिस	
	गन्धर्वसेन	
कनिष्क	कनिष्क	मथुरा में द्वितीय बौद्ध संगीति।
	विक्रमादित्य I	
	शिलादित्य	[स्यालकोट]
	विक्रमादित्य II	प्रमर
	सारवाहन	गन्धर्वसेन
वासिष्क	नर वाहन	शालिवाहन
	शालिवाहन	
	महेन्द्रादित्य	
कनिष्क II	श्रीविक्रमादित्य	

कलि ३१७९ = विक्रम संवत् १३५ = ईसवी सन् ७८

वासुदेव	श्रीविक्रमादित्य
७८-९९ ईसवी	८० ईसवी तक।

(१) **टिप्पणी**—पृष्ठ [क] तथा पृष्ठ [ख] अर्थात् २०-२१ पृष्ठों के आमने सामने रखकर देखने से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय संदर्भ सामूहिक रूप में जिस इतिहास को उजागर करते हैं, वह वर्तमान इतिहास में उपलब्ध नहीं है। यही मुख्य समस्या है।

(२) **टिप्पणी** :७८ ईसवी संवत् इतिहास-स्खलन का मूल बिन्दु है। इतिहास यहीं से खिसककर नीचे गिरा है; जिसे अनुसंधान द्वारा यथास्थान प्रतिष्ठित करना श्रेयस्कर है, यही हमारा लक्ष्यसिद्ध अनुसंधान है। इतिहास-सम्मत कुषाणवंश तालिका इस प्रकार है।—

इतिहासकारों का अभिमत

१. कदफिस ४०-४८ ईसवी, ५. हुविष्क १६७-१८६ ईसवी

२. विमकदफिस ४८-७७ ईसवी, ६. कनिष्क [२] १८६-१९६ ईसवी

३. कनिष्क [१] ७८-१५० ईसवी, ७. वासुदेव १९६-२१० ईसवी पुनश्च

४. वासिष्क १५०-१६७ ईसवी

३२-७८ ईसवी, ७८-९९ ईसवी तथा ९९ ईसवी से मरणोपरान्त वासुदेवसंवत्।

वासुदेव-संवत् की स्थापना और १४५ ईसवी तक; उषवदात्त द्वारा ४६ शक संवत् का उल्लेख [९९ + ४६ = १४५ ईसवी] कुषाण युग की अन्तिम परिधि है। इति **इतिहास**

वासुदेव संवत् : हमारे अनुसंधान का सारा दारो-मदार कुषाणयुग के पुनः नवप्रतिष्ठान पर है । इसका एक मकसद और भी है । **भगवान् शंकराचार्य का समय ईसवी पूर्व प्रथम शती का है** । उस समय का ऐतिहासिक माहौल धार्मिक अथवा दार्शनिक होना निहायत ज़रूरी है । उसकी पहचान स्थापित किये बिना अपनी बात कच्ची ही रह जाएगी । सौभाग्यवश भारत में कुषाणवंश का अभ्युदय धार्मिक पुनरुत्थान का मुख्य निदान सिद्ध हुआ है । कनिष्क प्रथम ने उज्जयिनी हस्तगत करने के पश्चात् भारतीय संस्कृति में अभिरुचि लेनी शुरू की । उसने उज्जयिनी के संक्षिप्त शासनकाल में [७१ ईसवी पूर्व से ५९ ई. पूर्व तक] दो विशेष काम किए—

[क] ७१ ईसवी पूर्व का शक-संवत् स्थापित किया । उज्जयिनी के राजघरानों को यह वरदान प्राप्त है कि वे उज्जयिनी में अभिषिक्त होते ही नए नए संवत् स्थापित करें । कुषाणों ने भी ऐसा ही शुभ काम किया था । यह अलग बात है कि वह संवत् काश्मीर को छोड़कर अन्यत्र विरल ही देखने को मिलता है । ज़रा स्मरण करादें, काश्मीरी कवि जयानक ने 'पृथ्वीराजविजय' नामक संस्कृत काव्य लिखा है, उसमें पृथ्वीराज का जन्म सं० १२२० लिखा है । **यह विक्रमसंवत् नहीं है । यह कनिष्क-शक संवत् है, जो १२२०—७१ = ११४९ ईसवी में पलट जाता है ।**

यह कुषाण युग का प्रथम मील पत्थर है ।

[ख] कनिष्क ने शासनकाल में जो दूसरा विशिष्ट कार्य किया, वह है, बौद्धसंगीति का आयोजन । शुंग नरेश पुष्यमित्र ने यूनानी सत्ता के उत्सादन में जो श्रम किया उसका दुष्परिणाम प्रसंगवश बौद्धसमाज को भी भुगतना पड़ा । वैदिक धर्म के पुनरुदय से बौद्धधर्म अनायास ही निष्प्रभ होने लगा था । परन्तु प्रकृति को कुछ और ही मंजूर था । कनिष्क ने बौद्ध संगीति का आयोजन किया तब प्रसंगवश पतनोन्मुख बौद्धधर्म को टेका मिल गया । यह वह समय है, जब अश्वघोष, धर्मकीर्ति, नागार्जुन जैसे बौद्ध दार्शनिक विद्वान मैदान में उतर आए; समन्तभद्र जैसे जैन दार्शनिक पंडित भी उन का सामना करने को उपस्थित थे; ठीक उसी माहौल में **भगवान् शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का नया प्रस्ताव सबके सामने रखा** । भगवान् शंकराचार्य के अभ्युदय का श्रेय उस दार्शनिक चिन्तन-युग को है, जिसकी जड़-मूल में कनिष्क प्रथम की दार्शनिक प्रकृति या प्रवृत्ति बीजरूपेण विद्यमान है ।

वासुदेव-संवत् की एक गरिमा और भी है, जो गौर तलब है । बहुत से भ्रान्त लेखकों ने कुषाण वंशीय राजावली के नामानुरूप काश्मीर राजावली के साथ समीकरण करके इतिहास को 'गुड़-गोबर' कर दिया है । विदित हो, काश्मीर में हुष्क-जुष्क-कनिष्क नाम के तीन राजा हुए हैं । हमारी गणनापद्दति के अनुसार उनका इस प्रकार है—

राजा	शासनकाल	सप्तर्षि-संवत्	इसवी पूर्व
१२ हुष्क	४० वर्ष	२६१९ तक	११५१
१३ जुष्क	४० „	२६५९ =	११११
१४ कनिष्क	४० „	२६९९ =	१०७१

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६८/१-२/ सं. २०२०

इस वंशावली में 'वासुदेव' का नाम नहीं है । वासुदेव के नामोल्लेख मात्र से दोनों नृपावलियाँ अलग थलग हो जाती हैं । दूसरा, 'वासुदेव-संवत्' के आविर्भाव से कुषाणवंश की शासनावधि स्थिर हो जाती है । यथा—

[१] भारत में कुषाण वंश का शासनारंभकाल : ७१ ईसवी पूर्व;

[२] कुषाणवंश का शासनान्तकाल : ९९ ईसवी में;

[३] शकों के क्षत्रपों का अवसान १४५ ईसवी में ।

कुल मिलाकर कुषाण २१६ वर्ष भारत में डटे रहे । वासुदेव संवत् कुषाण शासन की निम्नवर्ती परिधि है । इन दो महत्त्वपूर्ण अवदानों के कारण 'वासुदेव-संवत्' की उपेक्षा नहीं की जा सकती । यह अलग बात है अन्तः सलिला 'सरस्वती' की तरह वासुदेव संवत् अस्तित्व बनाए रहा, 'विक्रम-संवत्' जैसी ताम-झाम में भी नहीं रहा; परन्तु इतिहास के एक—अनुभाग को रेखांकित करने में उसका भी योगदान हमेशा नज़र में रहना उचित है । इति । हाँ, डॉ० शुक्ल ! आप मेरी कठिनाइयों को समझ गए होंगे । आप ही निर्णय लीजिए—मैं इतिहास को समझने में ध्यान केन्द्रित करूं ? अथवा भाषा को संवारने-निखारने में ध्यान केन्द्रित करूं ? प्रार्थना है—आप भाषा और शैली को जस-का-तस रहने दो, और मेरी इतिहास-परक समझ में कहीं चूक रह गई हो, तब आपका समाधान या सुझाव सिर माथे ।

यही बात कृपालु पाठकों को भी ग्रहण करनी चाहिए ।

पुस्तक की रूपरेखा

प्रस्तुत पुस्तक सात अध्यायों में हैं । प्रत्येक वस्तुपरक अध्याय अपने आप में एक समग्र और सक्षम निबंध है । जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. प्रथम अध्याय : संवत्सर-प्रदीप—इस अध्याय में सात संवत् विश्लेषणाधीन हैं । परन्तु आवश्यक और प्रासंगिक रहने पर भी 'कलि-संवत्' पर हमने नहीं लिखा । हालांकि सभी काल-चिन्तकों ने कलि संवत् को बीच में लेकर ही निर्णय लिए हैं ।[१] हम उनसे अलग खड़े हैं । इसका पहला कारण यह है कि 'कलि संवत्' एक निर्विवाद काल गणना है । उसमें खामी या कोई छलछिद्र नहीं है । दूसरा कारण है—इतिहास-लेखन के उद्योग में 'कलि संवत्' को अलग रखा गया है । हमने भी उसे अलग रखने की परम्परा का पालन किया है । इसका मतलब यह न समझ लिया जाय कि **हम कलि-संवत् की अहमीयत से परिचित नहीं है** । हमें पूर्ण विश्वास है कि भगवान् शंकराचार्य का यह कथन—"**मया पंचाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि**" कलि संवत् को विश्रुत करता है, ८५ वयोमान को नहीं । हमने सोच समझकर निर्णय लिया है कि भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव तथा तिरोधान का समय कलि संवत् के माध्यम से स्थिर है:

आविर्भाव—	तिरोधान—
कलि ३०५६ = ४५ ई. पूर्व	३०८८ = १३ ईसवी पूर्व ।

इसमें कलि [३०] ८५ = १६ ई० पूर्व भी निहित है ।

इसके विपरीत उभय पूर्व पक्षीय स्थापनाओं में यथा—

कलि ३८८९ = ७८८ ईसवी　　　　३९२१ = ८२० ईसवी संवत् ।

अथवा

कलि ३७८९ = ६८८ ईसवी　　　　३८२१ = ७२० ई. संवत् ।

इसमें कलि ३८८५ अथवा ३७८५ कथित है ।

अतः निर्विवाद रहने से कलि-संवत् प्रथम अध्याय में चर्चित नहीं है; **हालांकि कलि-संवत् है** । इस चर्चा में एक रहस्यपूर्ण बात यह भी है कि कलि-संवत् के परदे में दृग्-ओझल हो रहे 'युधिष्ठिर-संवत्' तथा 'सप्तर्षि संवत्'

---

१. [क] प्रासूत तिष्यशारदामतियातवत्याम् एकादशाधिकशतेनचतुःसहस्त्र्याम् —अर्थात् ४०००—१११ = ३८८९ कलि संवत्

[ख] निधिनागेभवह्यब्दे विभवे शंकरोदयः ! ३८८९ कलिसंवत् ।

को कोई अधिमान नहीं दे रहा। शारदामठ के दस्तावेज में परम्परा-जीवित युधिष्ठिर-संवत् है, वह वास्तव में युधिष्ठिर-संवत् नहीं है। अगर आचार्य उदयवीर शास्त्री की बात मान लें और उसे ईसवी के अनुरूप परखकर देखें तो **हम ५०९ ईसवी पूर्व में पहुंच जाते हैं,** जहाँ नन्दवंश का शासन है; जिसके शासन काल में दार्शनिक-चिन्तन में रमरहे न बौद्धविद्वान् उपलब्ध हैं, न जैन विद्वान्। **भारतीय दर्शन चिन्तन भी उस समय मौन था।** इस अभावात्मक मौहौल में शंकराचार्य का उद्भव संभव ही नहीं था। सच्ची बात यह है कि तब सप्तर्षि संवत् को आच्छादित कर उस पर 'युधिष्ठिर-संवत्' का चन्दोआ डाल दिया गया। **हमने युधिष्ठिर संवत् में ११०० वर्ष मिलाकर उसे सप्तर्षिसंवत् बना डाला है।** ये सब बातें आपको पंचम अध्याय में पढ़ने को मिलेगी। एक रहस्योद्घाटन और। शृंगेरी मठ के दस्तावेज़ में ६९५ 'शालि शक' लिखा है, हमें तो यह भी 'युधिष्ठिर संवत्' ही नज़र आता है। यथा—

शारदामठ		**शृंगेरीमठ**
युधिष्ठिर संवत् २६९१ में सुरेश्वराचार्य का निधन	=	शालिशक [२] ६९५ में सुरेश्वराचार्य का निधन।

इन दो स्थापनाओं में ४-वर्षीय व्यवधान गौरतलब है। हम इन संख्याओं में ११०० वर्ष प्रक्षिप्तकर, इन्हें सप्तर्षि संवत् मान लेते हैं और इन्हें ईसवी पूर्व में यथाविधि पलटते हैं—

युधिष्ठिर-संवत् २६९१	[युधिष्ठिर-संवत्] [२] ६९५
+११००	+११००
३७९१	**३७९५**
अतिरिक्त जमा किए +७ =	+७ =
३७९८	३८०२
घटाया —३७६५ =	—३७६५ =
३३ ईसवी।	**३७ ईसवी**

वही चार-वर्षीय अन्तराल प्रत्यक्ष है। तत्पश्चात् ३३—१८ = १५ ईसवी सन में सुरेश्वराचार्य का निधन मान लेन से, इनका ई.पू. २७ + १५ = ४२ वर्षीय आचार्यकाल सामने आता है। इसी प्रकार—**३७—१८ = १९ ई. पूर्व + २७ = ४६ वर्षीय आचार्यत्वकाल सिद्ध है।** हम सुरेश्वराचार्य के लिए ६९५ शालिशक न मानकर, [१] ६९५ युधिष्ठिर संवत् क्यों न मान लें? यद्यपि इन पंक्तियों में हमने शालीशक को निरस्त कर दिया है; पुनरपि प्रथम अध्याय में शक संवत् की पुराण-सम्मत परिभाषा और गणना दी है। उसके अनुसार भी गणना करने पर परिणाम पूर्ववत् ही मिलता है। यथा– सप्तर्षि संवत् ३१०० में जमा किए + ७ = ३१०७; घटाया **३७६५—३१०७ = ६५८ फलागम सामने हैं। शृंगेरी मठ में लिखित दस्तावेज़ में ६९५ लिखा है, सो उससे घटाने पर ६५८ = ३७ सामान्य वर्ष होते हैं।** इसमें से १८ वर्ष घटाने पर यथा—३७—१८ = १५ ईसवी इन फलों में क्या अन्तर है? विक्रम-संवत् भी निर्विवाद है। वह ५८ ई.पूर्व में स्थापित हुआ। यह 'विक्रमसंवत्' कुषाणयुग में पड़ता है। बल्कि यूं कहना चाहिए कि कुषाणशक ५६ ईसवी पूर्व तथा विक्रमसंवत् ५८ ईसवी पूर्व शाने-ब-शाने समकक्ष तथा समगतिक संवत्-गणनाएँ हैं। रह गए दो संवत्—**१ हर्ष-संवत् तथा गुप्त संवत्।** इनकी भी पहचान कर लो। नेपाल का इतिहास ठीक-ठीक उजागर नहीं है और नेपाल का इतिहास लिखने की हमें फुर्सत भी नहीं है। हर्षसंवत् पर सांगोपांग विचार-विमर्श करने के बहाने हमने नेपाल-इतिहास का उतना स्पर्श किया है, जितना भगवान् शंकराचार्य की नेपाल-यात्रा के लिए प्रासंगिक है और उचित है। रही 'गुप्त संवत्' की बात! यहाँ एक पेच अड़ा हुआ। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य द्वारा स्थापित संवत् **'विक्रमसंवत्' माना जाता है।** 'विक्रमसंवत्' बनाम 'विक्रमसंवत्' में बड़ी गड़बड़ हो गई है। सुरेश्वराचार्य के

दशम पट्टधर मठाधीश 'ब्रह्मज्योत्स्नाविर्भावाचार्य का समय विक्रम संवत् ९ लिखा है। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने ९-विक्रम को ५८ ईसवी पूर्व वाला विक्रम संवत् समझ लिया है, **सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ते हुए उन्होंने भगवान् शंकराचार्य को ५०९ ईसवी पूर्व तक पहुंचा दिया है;** दर असल वह-गुप्त-विक्रम 'संवत्' है। इसीलिए हमने 'गुप्त संवत्' पर ज्यादा ध्यान दिया है। अब तक की सभी गुप्त संवत् संबन्धी अवधारणाएँ मिथ्या सिद्ध हो चुकी हैं। हम गत ३५ वर्षों से गुप्त-संवत् की जो परिभाषा दे रहे हैं, उस पर किसी ने ध्यान नही दिया। हमारी बताई हुई गुप्त संवत् की पहचान आज सटीक सिद्ध हो गई है। यथा—

गुप्त नृपावली—	चन्द्रगुप्त प्रथम	समुद्रगुप्त	चन्द्रगुप्त द्वितीय
अन्य इतिहासकारों का मत	३१९-३२६	३२९-३७५	३७५-४११ ई.
हमारा अभिमत	३०७-३१४ ई.	३१५-३६३ ई.	३६४-४०० ई.

हमारा स्थिर अभिमत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३६४ ई. से अपना नया संवत् चलाया, **जो ३६४ ईसवी से गणनाधीन हुआ।** यही विक्रम संवत् ब्रह्मज्योत्स्नाविर्भावाचार्य के समय निर्धारण के लिए अभिप्रेत है। शारदापीठ के नवम मठाधिपति के लिए **युधिष्ठिर-संवत् ३०४० लिखा है।** हम इसे सप्तर्षि संवत् में पलटकर समय सिद्धि चाहते हैं। यथा—

जटिलविधि— [क] युधिष्ठिर संवत् स्थापित किया : ३०४०;

[ख] इसमें ये वर्ष जमा किए + ११०० = ४१४० सप्तर्षि संवत्।

[ग] इसमें अतिरिक्त जमा किए + ७ = ४१४७ संवत्।

[घ] इसमें से ३७६५ घटाए—४१४७—३७६५ = ३८२ शेष।

[ङ] इसमें पुनः १८ वर्ष घटाए = ३८२—१८ = ३६४ ईसवी।

सुगमविधि— [क] युधिष्ठिर-संवत् स्थापित किया ३०४०;

[ग] इसमें ११०० जमा किए + ११०० = ४१४० सप्तर्षि संवत्।

[ग] इसमें ६२८ घटाए ४१४०—६२८ = ३५१२ शेष रहे।

[ङ] ३५१२-३१४८ = ३६४ ईसवी संवत्।

अर्थात् शारदापीठासीन आचार्यावली में साथ युधिष्ठिर-संवत् का उल्लेख भ्रष्ट सप्तर्षि संवत् है; जिसकी शृंखला **ब्रह्मज्योत्स्नाविर्भावाचार्य के पश्चात् विक्रमसंवत् ९ से जुड़ती है, वह वास्तव में गुप्त विक्रम-संवत् ९ = ईसवी संवत् ३७३ को अभिव्यक्त करती है।** यही कारण है कि हमने प्रथम अध्याय में [गुप्त-संवत्] पर उतना ही ध्यान दिया है, जितना कि अन्य संवतों पर। **यह है संवत्सर-प्रदीप की व्याख्या।** इति।

२. द्वितीय अध्याय : ऐतिह्य पृष्ठभूमि—भारतीय इतिहास के दो भाग हैं—१. मौलिक इतिहास तथा २. पूरक इतिहास। **मौलिक इतिहास—**[क] महाभारत संग्राम से लेकर नवमनन्द के अभिषेक तक; [ख] ३१४८ ईसवी पूर्व से ४३० ईसवी पूर्व तक। **पूरक इतिहास—**[क] नवम नन्द से लेकर, पैगम्बर मुहम्मद साहब के आगमन तक। [ख] ईसवी पूर्व ४३० से ईसवी संवत् ५७० तक। विदित हो, भगवान् शंकराचार्य के लिए भारत का पूरक इतिहास वांछनीय है। इस पूरक इतिहास के पूर्वार्द्ध में दार्शनिक पुनरुत्थान का निरूपण है; उसके उत्तरार्द्ध में राजनीतिक विखराव का इतिहास है। इतिहास के इस दायरे में भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव **[६८८ से ७२० ईसवी अथवा ७८८-८२० ईसवी]** सोचना त्रुटिपूर्ण है। ऐतिह्य पृष्ठभूमि भगवान् शंकराचार्य के उदय के अनुकूल नहीं है; बल्कि

प्रतिकूल है। इसके विपरीत पूरक इतिहास के पूर्वार्द्ध में सभी किस्म की ऐतिहासिक व सांस्कृतिक परिस्थितियां अनुकूल हैं। अतः हमने इस अध्याय को विस्तार पूर्वक लिखा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने जो ऐतिहासिक अन्वेषणाएं की हैं, और भारत को जो दिशा-निर्देश दिए हैं; वे स्तुति योग्य होने पर भी भारत के लिए सात्म्य नहीं है। बल्कि भ्रामक होने से उपेक्षणीय हैं। **हम उक्त इतिहास के लिए उत्साहित नहीं है—यह सर्वविदित है।** भारतीय मनीषा ने जिस ढंग से इतिहास लिखा है, वह स्वीकार्य नहीं है। **भारतीय विद्वानों ने खासकर संस्कृत के पण्डितों ने—जिस ढंग से इतिहास लिखा; वह सर्वथा त्रुटिपूर्ण है।** वह इतिहास पाश्चात्यलेखनी से उद्भूत इतिहास से भी गया बीता है। यही कारण है कि हमने इतिहास को अपने ढंग से समझा है। चूंकि भारतीय इतिहास पर हम कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिख सके, अतः उसकी मनोवांछित रूपरेखा यहाँ लिखना आवश्यक था, वह सब संक्षेप में दूसरे अध्याय में लिखा है। इस अनावश्यक विस्तार के लिए क्षमा।

३. तृतीय अध्याय : निरस्त पूर्व पक्ष—भारतीय निबंध लेखन का अलिखित सिद्धान्त है कि पहले खण्डार्ह पूर्व-पक्ष पर लिखो; **पश्चात् मण्डनार्ह सिद्धान्त पक्ष** [अर्थात् स्वपक्ष पर] **पर लिखो**। यही हमने किया है। सिद्धान्ततः पूर्वपक्ष चार वर्गों में हैं—

[क] ५०९—४७७ ईसवी पूर्व : मुख्य प्रवक्ता उदयवीर शास्त्री;

[ख] ६८८—७२० ईसवी : मुख्य प्रवक्ता महानुभाव पंथ;

[ग] ७८८—८२० ईसवी : मुख्य व्याख्याता राजगोपाल शर्मा;

[घ] ११३-१४५ ईसवी : भ्रान्त व्याख्याता चन्द्रकान्त बाली; इति।

[क] उदयवीर शास्त्री—शारदापीठ के दस्तावेज़ों में से प्राप्त 'युधिष्ठिर संवत्' पर विशेष परिश्रम किए बिना आचार्य महोदयने ३१४० ईसवी पूर्व में उसे स्थापित करके अपना पक्ष स्थिर किया है। वैसे सर्वसुलभ के ज्ञानार्थ हम लिख रहे हैं—**हम ३१४८ ई. पूर्व में भारत-संग्राम मानते हैं।** हमारी स्थापना में तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री की स्थापना में मात्र ८ वर्षों का ही अन्तराल है। न्यूनाधिक नहीं। प्रायः इतिहासकारों का मानना है कि सुदूरवर्ती अथवा अज्ञात इतिहास की कालिक स्थापना के लिए ८-१० वर्षों का विसंवाद नगण्य होता है। **हम इस मान्यता को नहीं मानते।** यहाँ तो एक-एक वर्ष के लिए हमें संग्राम स्तर पर जूझना पड़ता है। तो, इसी एक उदाहरण पर विचार-विमर्श कर लें। हमने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय **ईसवी सन् ३६४-४०० माना है।** हमारे सहयोगी इतिहासकार उसका समय ३७२-४१२ ईसवी मनते हैं। **यहाँ १२ वर्षीय-अन्तराल स्पष्ट है।** मान्य नृसिंहाश्रम आचार्य के परम भक्त सर्वजीत ने युधिष्ठिर संवत् का आयोजन किया है, जब कि उस समय तक 'युधिष्ठिर संवत्' लुप्त हो चुका था। ३६० वल्लभी संवत् [६७९ ईसवी] में अनायास युधिष्ठिर संवत् का उदय विस्मय कारक है, त्रुटिपूर्ण भी है। अतः हमने युधिष्ठिर संवत् को सप्तर्षि संवत् में पलट कर निर्णय लिया है—**जो सर्वांगतः प्रसंगसिद्ध है और समग्र भी है।**

[ख] मान्य महानुभाव पंथ एक सूक्ति के अर्थाधान में गच्चा खा गए। वह सूक्ति है—

"युग्म पयोधिरसान्वित शाके, रौद्रकवत्सर ऊर्जक मासे।" प्रो. पंथ ने ६४२ शक [७२० ई०] = रौद्रक संवत्सर में भगवान् शंकर का निधन काल मान लिया। मज़े की बात यह है कि हम भी इसी सूक्ति के कायल है। और ६४४ **शक [१३ ईसवी पूर्व] रौद्रक संवत्सर में भगवान् शंकराचार्य का निधन मान रहे हैं।** हम दो में से कौन यथार्थवादी है ? इस पर विशद अनुसंधान की अपेक्षा है।

हम बड़े कष्टानुभव में है कि भारत के सर्वश्रेष्ठ राजनेता पं. बालगंगाधार तिलक भी इसी ग्रुप में आते हैं।

[ग] **वाराणसेय राजगोपाल शर्मा**—उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं—जो भगवान् शंकर का जन्म कलिसंवत् ३८८९ = ७८८ ईसवी मानता हैं । **सच्चे सिक्के की पहचान बड़ी दुष्कर होती है, जब कि खोटा सिक्का सबको लुभाता है** । हमें और-कोई खेद नहीं, खेद सिर्फ इतना है कि शृंगेरी मठ के सचिव का समर्थन उसे प्राप्त है । आचार्य उदयवीर शास्त्री ने इस पक्ष की जमकर खिंचाई की है, उस पर हमने अधिक नहीं लिखा ।

[घ] हमने एक नया और विचित्र प्रयोग किया है । वह यह कि—**हमने अपने आपको पूर्वपक्ष के कठघरे में खड़ा कर लिया है, और अपनी स्थापना को स्वयं निरस्त किया है** । हमें भ्रम हो गया था कि ३८८९ कलि संवत् नहीं है, बल्कि सप्तर्षि संवत् है । हमारी गणना भी सही थी—

सुलभ विधि—	जटिलविधि—
[क] ३८८९ को स्थापित किया	[क] ३८८९ को स्थापित किया
[ख] इसमें से ६२८ को घटाया	[ख] ७ + जमा किए = ३८९६;
३८८९ = ६२८—३२६१;	३८९६—३७६५ = १३१ घटाया
[ग] ३२६१-३१४८ को घटाया =	[घ] १३१—१८ पुनः घटाया =
११३ ईसवी = विभव संवत्सर ।	**११३ ईसवी = विभव संवत्सर ।**

हम इस उपलब्धि पर तब तक आत्ममुग्ध रहे, जबतक हमें भर्तृहरि-कुमारिल-धर्मकीर्ति का समय सिद्ध नहीं कर लिया । जब हमें सांस्कृतिक तथा ऐतिह्य पृष्ठभूमि का बोध हुआ, तब हमने इस भ्रान्त धारणा को केंचुलीवत् उतार फैंका । हमें अनुभव हुआ '**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' । इस मोहभंगका साधु परिणाम यह निकला कि—यह विस्तृत कलेवर ग्रन्थ प्रकाश में आ सका । इति ।

४. **चतुर्थ अध्यायः सिद्धसिद्धान्तपक्ष**—इस पर हम कुछ नहीं लिखेंगे ।

५. **पंचम अध्यायः सटीक परामर्श**—भगवान् शंकराचार्य के समय निर्धारण में दो बाधाएँ प्रमुख हैं—१. आदि शंकराचार्य की नेपाल यात्रा, तथा २. परिभाषाहीन युधिष्ठिर-संवत् ।

[१] नेपाल यात्रा—नेपाल यात्रा को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए कोई ज़बरदस्त साक्ष्य उपलब्ध नहीं है । और खेद का विषय है, नेपाल का अपना कोई ठोस इतिहास उपलब्ध नहीं है । इधर भगवान् लाल इन्द्रजी ने नेपाल राष्ट्र से उपलब्ध शिलालेखों में से कुछ शिलालेखों पर विचार किया है; पर बात बनी नहीं । इधर भारत का प्राग्वर्ती इतिहास विवादों के घेरे में है; उधर नेपाल का इतिहास भी विवादों से कैसे सुरक्षित रह सकता था ? वही हुआ, जिसकी संभावना थी । अर्थात् नेपाल और भारत का पूर्वकालिक इतिहास 'मिथक' के खाते में डाल दिया गया है । सौभाग्य से आशा की एक किरण उदित हुई । वह 'किरण' है—'अबूरिहाँ अल्बैरूनी', ज्योंहि उसकी रचना सचाऊ की कलम से भाषान्तरित होकर और छपकर सामने आई, त्योंही 'इतिहास' के प्रति राष्ट्र का दृष्टिकोण बदला । उसने विक्रम संवत् [५८ ई.पू.] से ४०० वर्ष प्राग्भव 'हर्षसंवत्' की सूचना दी, परन्तु उसका साक्ष्य किसी के गले से नीचे उतरता हुआ नज़र नहीं आया । **हर्षसंवत् ४५६ ईसवी पूर्व से गणनाधीन हो गया** । प्रथम अध्याय में इसका विकास-विवरण उपलब्ध है । प्रकृत लेखक ने अनुभव किया—**४५६ ई० पू० के हर्ष संवत् से समग्र सिद्धि मिलने वाली नहीं है । उसने अनुमान लगाया कि ४८६ ई. पू. का हर्ष संवत् भी प्रयोगाधीन मिलना चाहिए** । अनुमान सत्य में परिणत हो गया; परिणामतः नेपाल का इतिहास इतना स्पष्ट हो गया, **इस इतिहास में भगवान शंकर के अस्तित्व की सम्भावना उज्ज्वल हो गई हैं** । इसमें कुछ अड़चन भी सामने आई, वह अशोक संवत् २०० के गणित से सुलझ गई । भगवान् शंकर के इतिहास में 'अशोक संवत्' की कोई मंजिल नहीं मिली, जहाँ तक नेपाल इतिहास का कोई 'पथ' अथवा 'पगडंडी' हमारे लिए

प्रतिकूल है। इसके विपरीत पूरक इतिहास के पूर्वार्द्ध में सभी किस्म की ऐतिहासिक व सांस्कृतिक परिस्थितियां अनुकूल हैं। अतः हमने इस अध्याय को विस्तार पूर्वक लिखा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने जो ऐतिहासिक अन्वेषणाएं की हैं, और भारत को जो दिशा-निर्देश दिए हैं; वे स्तुति योग्य होने पर भी भारत के लिए सात्म्य नहीं है। बल्कि भ्रामक होने से उपेक्षणीय हैं। **हम उक्त इतिहास के लिए उत्साहित नहीं है—यह सर्वविदित है।** भारतीय मनीषा ने जिस ढंग से इतिहास लिखा है, वह स्वीकार्य नहीं है। **भारतीय विद्वानों ने खासकर संस्कृत के पण्डितों ने—जिस ढंग से इतिहास लिखा; वह सर्वथा त्रुटिपूर्ण है।** वह इतिहास पाश्चात्यलेखनी से उद्‌भूत इतिहास से भी गया बीता है। यही कारण है कि हमने इतिहास को अपने ढंग से समझा है। चूंकि भारतीय इतिहास पर हम कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिख सके, अतः उसकी मनोवांछित रूपरेखा यहाँ लिखना आवश्यक था, वह सब संक्षेप में दूसरे अध्याय में लिखा है। इस अनावश्यक विस्तार के लिए क्षमा।

३. तृतीय अध्याय : निरस्त पूर्व पक्ष—भारतीय निबंध लेखन का अलिखित सिद्धान्त है कि पहले खण्डार्ह पूर्व-पक्ष पर लिखो; **पश्चात् मण्डनार्ह सिद्धान्त पक्ष** [अर्थात् स्वपक्ष पर] **पर लिखो**। यही हमने किया है। सिद्धान्ततः पूर्वपक्ष चार वर्गों में हैं—

[क] ५०९—४७७ ईसवी पूर्व : मुख्य प्रवक्ता उदयवीर शास्त्री;

[ख] ६८८—७२० ईसवी : मुख्य प्रवक्ता महानुभाव पंथ;

[ग] ७८८—८२० ईसवी : मुख्य व्याख्याता राजगोपाल शर्मा;

[घ] ११३-१४५ ईसवी : भ्रान्त व्याख्याता चन्द्रकान्त बाली; इति।

[क] उदयवीर शास्त्री—शारदापीठ के दस्तावेज़ों में से प्राप्त 'युधिष्ठिर संवत्' पर विशेष परिश्रम किए बिना आचार्य महोदयने ३१४० ईसवी पूर्व में उसे स्थापित करके अपना पक्ष स्थिर किया है। वैसे सर्वसुलभ के ज्ञानार्थ हम लिख रहे हैं—**हम ३१४८ ई. पूर्व में भारत-संग्राम मानते हैं**। हमारी स्थापना में तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री की स्थापना में मात्र ८ वर्षों का ही अन्तराल है। न्यूनाधिक नहीं। प्रायः इतिहासकारों का मानना है कि सुदूरवर्ती अथवा अज्ञात इतिहास की कालिक स्थापना के लिए ८-१० वर्षों का विसंवाद नगण्य होता है। **हम इस मान्यता को नहीं मानते**। यहाँ तो एक-एक वर्ष के लिए हमें संग्राम स्तर पर जूझना पड़ता है। तो, इसी एक उदाहरण पर विचार-विमर्श कर लें। हमने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय **ईसवी सन् ३६४-४०० माना है**। हमारे सहयोगी इतिहासकार उसका समय ३७२-४१२ ईसवी मनते हैं। **यहाँ १२ वर्षीय-अन्तराल स्पष्ट है**। मान्य नृसिंहाश्रम आचार्य के परम भक्त सर्वजीत ने युधिष्ठिर संवत् का आयोजन किया है, जब कि उस समय तक 'युधिष्ठिर संवत्' लुप्त हो चुका था। ३६० वल्लभी संवत् [६७९ ईसवी] में अनायास युधिष्ठिर संवत् का उदय विस्मय कारक है, त्रुटिपूर्ण भी है। अतः हमने युधिष्ठिर संवत् को सप्तर्षि संवत् में पलट कर निर्णय लिया है—**जो सर्वांगतः प्रसंगसिद्ध है और समग्र भी है।**

[ख] मान्य महानुभाव पंथ एक सूक्ति के अर्थाधान में गच्चा खा गए। वह सूक्ति है—

"युग्म पयोधिरसान्वित शाके, रौद्रकवत्सर ऊर्जक मासे।" प्रो. पंथ ने ६४२ शक [७२० ई०] = रौद्रक संवत्सर में भगवान् शंकर का निधन काल मान लिया। मज़े की बात यह है कि हम भी इसी सूक्ति के कायल है। और ६४४ शक **[१३ ईसवी पूर्व] रौद्रक संवत्सर में भगवान् शंकराचार्य का निधन मान रहे हैं**। हम दो में से कौन यथार्थवादी है? इस पर विशद अनुसंधान की अपेक्षा है।

हम बड़े कष्टानुभव में है कि भारत के सर्वश्रेष्ठ राजनेता पं. बालगंगाधार तिलक भी इसी ग्रुप में आते हैं।

[ग] **वाराणसेय राजगोपाल शर्मा**—उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं—जो भगवान् शंकर का जन्म कलिसंवत् ३८८९ = ७८८ ईसवी मानता है। **सच्चे सिक्के की पहचान बड़ी दुष्कर होती है, जब कि खोटा सिक्का सबको लुभाता है।** हमें और-कोई खेद नहीं, खेद सिर्फ इतना है कि श्रृंगेरी मठ के सचिव का समर्थन उसे प्राप्त है। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने इस पक्ष की जमकर खिंचाई की है, उस पर हमने अधिक नहीं लिखा।

[घ] हमने एक नया और विचित्र प्रयोग किया है। वह यह कि—**हमने अपने आपको पूर्वपक्ष के कठघरे में खड़ा कर लिया है, और अपनी स्थापना को स्वयं निरस्त किया है।** हमें भ्रम हो गया था कि ३८८९ कलि संवत् नहीं है, बल्कि सप्तर्षि संवत् है। हमारी गणना भी सही थी—

सुलभ विधि—	जटिलविधि—
[क] ३८८९ को स्थापित किया	[क] ३८८९ को स्थापित किया
[ख] इसमें से ६२८ को घटाया	[ख] ७ + जमा किए = ३८९६;
३८८९ = ६२८—३२६१;	३८९६—३७६५ = १३१ घटाया
[ग] ३२६१-३१४८ को घटाया =	[घ] १३१—१८ पुनः घटाया =
११३ ईसवी = विभव संवत्सर।	**११३ ईसवी = विभव संवत्सर।**

हम इस उपलब्धि पर तब तक आत्ममुग्ध रहे, जबतक हमें भर्तृहरि-कुमारिल-धर्मकीर्ति का समय सिद्ध नहीं कर लिया। जब हमें सांस्कृतिक तथा ऐतिह्य पृष्ठभूमि का बोध हुआ, तब हमने इस भ्रान्त धारणा को केंचुलीवत् उतार फैंका। हमें अनुभव हुआ '**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**'। इस मोहभंगका साधु परिणाम यह निकला कि—यह विस्तृत कलेवर ग्रन्थ प्रकाश में आ सका। इति।

४. चतुर्थ अध्यायः सिद्धसिद्धान्तपक्ष—इस पर हम कुछ नहीं लिखेंगे।

५. पंचम अध्यायः सटीक परामर्श—भगवान् शंकराचार्य के समय निर्धारण में दो बाधाएँ प्रमुख है—१. आदि शंकराचार्य की नेपाल यात्रा, तथा २. परिभाषाहीन युधिष्ठिर-संवत्।

[१] नेपाल यात्रा—नेपाल यात्रा को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए कोई ज़बरदस्त साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। और खेद का विषय है, नेपाल का अपना कोई ठोस इतिहास उपलब्ध नहीं है। इधर भगवान् लाल इन्द्रजी ने नेपाल राष्ट्र से उपलब्ध शिलालेखों में से कुछ शिलालेखों पर विचार किया है; पर बात बनी नहीं। इधर भारत का प्राग्वर्ती इतिहास विवादों के घेरे में है; उधर नेपाल का इतिहास भी विवादों से कैसे सुरक्षित रह सकता था? वही हुआ, जिसकी संभावना थी। अर्थात् नेपाल और भारत का पूर्वकालिक इतिहास 'मिथक' के खाते में डाल दिया गया है। सौभाग्य से आशा की एक किरण उदित हुई। वह 'किरण' है—'अबूरिहाँ अल्बैरूनी', ज्योंहि उसकी रचना सचाऊ की कलम से भाषान्तरित होकर और छपकर सामने आई, त्योंही 'इतिहास' के प्रति राष्ट्र का दृष्टिकोण बदला। उसने विक्रम संवत् [५८ ई.पू.] से ४०० वर्ष प्राग्भव 'हर्षसंवत्' की सूचना दी, परन्तु उसका साक्ष्य किसी के गले से नीचे उतरता हुआ नज़र नहीं आया। **हर्षसंवत् ४५६ ईसवी पूर्व से गणनाधीन हो गया।** प्रथम अध्याय में इसका विकास-विवरण उपलब्ध है। प्रकृत लेखक ने अनुभव किया—**४५६ ई० पू० के हर्ष संवत् से समग्र सिद्धि मिलने वाली नहीं है। उसने अनुमान लगाया कि ४८६ ई. पू. का हर्ष संवत् भी प्रयोगाधीन मिलना चाहिए।** अनुमान सत्य में परिणत हो गया; परिणामतः नेपाल का इतिहास इतना स्पष्ट हो गया, इस **इतिहास में भगवान शंकर के अस्तित्व की सम्भावना उज्ज्वल हो गई हैं।** इसमें कुछ अड़चन भी सामने आई, वह अशोक संवत् २०० के गणित से सुलझ गई। भगवान् शंकर के इतिहास में 'अशोक संवत्' की कोई मंजिल नहीं मिली, जहाँ तक नेपाल इतिहास का कोई 'पथ' अथवा 'पगडंडी' हमारे लिए

पहुंचायक सिद्ध हो। हम निरन्तर अनुसंधान-मिश्रित अनुमान की शरण में रहे हैं। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि—**अशोक संवत् के मुद्दे पर हमारा इतिहासकारों से वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक तालमेल नहीं है**। फिर भी हमने पुराणशास्त्रों के सहारे अशोक संवत् को २१९ ई.पूर्व में स्थिर किया। और तीर निशाने पर लगा। इधर उधर भटकता हुआ—२०० का आंकड़ा—हमारे काम आया। भगवान् शंकराचार्य अशोक संवत् २०० में—**अर्थात् २१९-२००=१९ ई. पूर्व में** नेपाल पधारे थे—यह पक्की बात है। १८ ई. पूर्व में नेपाल यात्रा को विरत कर भगवान् शंकराचार्य भारत पधारे थे। तभी उन्होंने 'देव्यपराधक्षमा स्तोत्र' लिखकर अभंग मौन की शरण ली। वह समय कलिसंवत् ३१०१—३०८५ = १६ ई.पू.] है—

"मया पंचाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि"

स्वयं भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है।

[२] परिभाषाहीन युधिष्ठिर-संवत्—हमने महाभारत संग्राम पर अधिक अभ्यास किया है। **इधर-उधर छापा मार अनुसंधान के बल पर हमने महाभारत-संग्राम का समय स्थिर किया है—३१४८ ई. पू.**। उदयवीर शास्त्री ने भारत संग्राम-काल ३१४० स्थिर किया है। यह आठ वर्षों की चुभन इतिहास सहन भी करेगा या नहीं ? इस पर श्री शास्त्री जी ने कभी विचार नहीं किया होगा। चलो मान लेते हैं—

भारत-संग्राम ३१४० ई. पूर्व मान लिया और ३१४०-२६३१ = ५०९ ई. पूर्व. में भगवान् शंकर हुए।

परन्तु ऐसा कहना आसान है, सिद्ध करना कठिन है। कारण
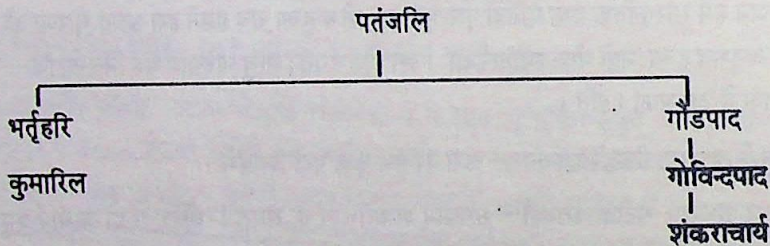
यह शिष्य परम्परा इतिहास के लौह वक्षःस्थल पर वज्रलेखनी से लिखी गई है, इसका प्रोंच्छन संभव नहीं है। **हमने भर्तृहरि को पतंजलि का शिष्य नहीं माना। वह शिष्य तो वसुरात का है। परन्तु वह पतंजलि का 'शिष्यकल्प' निश्चितरूपेण हैं। कुमारिल ने भर्तृहरि का उल्लेख किया है।** इस विषय एवं पर्वतवत् अचल इतिहास खंड को कोई जादूगर ही ५०९ ईसवी पूर्व में स्थिर कर सकता है। अथवा **इतिहास को मिथक बनाने वाले आचार्य उदयवीर शास्त्री ही ऐसा कर सकते हैं**। यह काम हम नहीं कर सकते।

इस विपरीत समय में हमें 'सप्तर्षि संवत्' की याद आई। विदित हो, 'सप्तर्षि संवत्' हमारा ओढ़ना-बिछौना है। गत ५० वर्षों से हमने इस पर अभ्यास किया है। **हमें सप्तर्षि संवत् की याद क्यों आई ? यह भी एक रोचक विषय है।** शतपथ ब्राह्मण के टीकाकार हरिस्वामी ने अपना समय **संवत् ३७४०** लिखा है। गत ८० वर्षों से यह विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद में 'हस्तक्षेप' करते हुए प्रकृत लेखक ने इसे 'सप्तर्षि संवत्' घोषित किया। विदित हो, हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने प्रभाकर भट्ट का उल्लेख किया है। और प्रभाकर भट्ट ने कुमारिल का खण्डन किया है। **इस परम्परा को देखते हुए प्रकृत लेखक को ख्याल आया, हो-न-हो शंकराचार्य का समय भी सप्तर्षि संवत् में ही होना चाहिए।** यही सोचकर प्रकृत लेखक ने युधिष्ठिर-संवत् २६३१ में ११०० वर्ष मिलाकर उसे **सप्तर्षि संवत् स्थापित किया और उसकी परीक्षा की, परिणाम आशा से अधिक अनुकूल मिला।** और जब सभी संदर्भों को मिलाजुलाकर देखा, तो आश्चर्य और आह्लाद, दोनों हुए। यथा—

अन्य	सप्तर्षि संवत्	शंकर
	३७३१	शंकराचार्य का जन्म।
	३७३६	उपनयन संस्कार।
शतपथब्राह्मण की टीका	३७४० ——	
	३७६३	शंकर का तिरोधान।

हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सुरेश्वराचार्य का निधन शालिशक ६९५ लिखा है, यदि उसमें यथोचित संशोधन किया जाय, तो वह भी शृंखलाबद्ध कालपरम्परा में से अलग नहीं है। यथा—

६९५ = [२] ६९५ + ११०० = ३७९५ सप्तर्षि संवत्।

सप्तर्षि संवत् ३७९५ = १५ ईसवी की यथार्थता इस बात से पक्की हो जाती है कि सुरेश्वराचार्य ने ४२ वर्ष मठाधिपत्य को अलंकृत किया। विदित हो सुरेश्वराचार्य २७ ई. पू. में मठाधिपति अभिषिक्त हुए थे। **ई. पू. २७ + १५ ईसवी = ४२ वर्ष का सुरेश्वराचार्य का मठाधिपत्य साक्ष्यसिद्ध है।**

षष्ठ अध्याय : अभिमत संग्रह—हिंदी में एक सूक्ति प्रचलित है कि—**"सौ सयाने एक मत"**। जब कि संस्कृत सूक्ति इससे भिन्न है—मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना।" परन्तु हमें बड़ी प्रसन्नता हुई कि जब हमने सप्तर्षि संवत् के माध्यम से गणना करते-करते, ११३ ईसवी से सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ते चढ़ते **भगवान् शंकर का समय ४५-१३ ईसवी पूर्व तक पहुंचे;** हमें पता चला कि एक बंगमनीषी स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती अब से बहुत पहले भगवान् शंकर का यही समय स्थिर कर चुके हैं। इनकी रचना **'वेदान्तदर्शनेर इतिहास'** बंगला भाषा में हैं। एक दफा तो निराशा नृत्य करती हुई नज़र आई। इस संकट के समय **साधुमना, सौम्यस्नात पंडित प्रवर उपेन्द्रनाथ राय** हमारी सहायता को आए। मूल पुस्तक की भूमिका हिन्दी रूपान्तरित मेरे सामने थी। बस फिर क्या था। पढ़कर ब्रह्मानन्द-सहोदर जैसा आनन्द अनुभव में आया। सच बात यह है—'भूमिका' होने पर भी रचना मौलिक रचना से न्यूनतर नहीं हैं, बढ़तर हो सकती है। **वही भूमिका इस ग्रन्थ के छठे-अध्याय में संगृहीत है।** विद्वान् पाठक यह पढ़कर आश्चर्य करेंगे—एक तरफ महामनीषी सन्त, दूसरी तरफ एक नगण्य नागरिक; इनमें कोई तालमेल नहीं। परन्तु एक बात साफ है—**हम दोनों की मंजिल एक है। एक 'राजपथ' से वहाँ पहुंचे हैं, दूसरा उबड़-खाबड़ पगडंडी के द्वारा वहाँ पहुंचने का यत्नशील है।**

विवेकशील पाठक जब इस अभिमत का आस्वादन करेंगे, अगर धन्यवाद देने की आवश्यकता अनुभव करें, तब बंग विद्वान् श्री उपेन्द्रनाथ राय की तरफ देखें और सोचें।

इसमें कोई शक नहीं—**कुमारिल-भर्तृहरि-धर्मकीर्ति**—ये शिखीत्रयी या मुनित्रयी एक साथ हुए हैं। इनकी समकालिकता सर्वमान्य है। डक्कन कॉलिज के संस्कृत प्रोफेसर **श्री काशीनाथ बापू पाठक** ने आज से लगभग १०० सौ साल पहले इनकी वैचारिक धरातल पर समीक्षा और तुलना करते हुए दो निबंध लिखे थे जो छपे भी। निबंध अंग्रेज़ी में थे। इसका अनुवाद कराया गया। हम साफ-साफ लिख दें—वैचारिक धरातल पर प्रोफेसर पाठक का कोई सानी नहीं है। मैं प्रो. पाठक से कालगत दूरी पर हूं, यह साधारण बात है; परन्तु वैचारिक आयाम में मैं उनसे दूर नहीं, कोसों दूर खड़ा हूं। आकार प्रकार में **मटके के आगे मटर का दाना**—जैसा हूं। परन्तु अनुसंधान की लहरों पर तिर-तिरा कर प्रवृत्त लेखक जिस धरातल पर जा पहुंचा है, यह उसकी भाग्यवत्ता का सूचक है, गुणवत्ता का नहीं।

आज—**कुमारिल-भर्तृहरि-धर्मकीर्ति**—की बड़ी चर्चा है। सब विद्वान् जनों ने अपने-अपने संकल्पों के अनुसार, अपनी स्वयं सिद्ध उपलब्धियों के आधार पर इस दार्शनिक-त्रयी का समय स्थिर करने का प्रयास किया है। अपनी सोच और प्रयासों में से सब अलीकवादी नहीं हैं। अपने तौर-तरीकों से निष्पन्न तिथियां भी उपेक्षणीय नहीं

हैं। परन्तु इनके समवेत निर्णयों से इतिहास को वह स्फूर्ति नहीं मिली, जो मिलनी चाहिए थी। इन सबके सोच में कहीं खामी रह गई है। हमारी समझ के अनुसार इन सबका छिद्र-बिन्दु **'भर्तृहरि'** है। भर्तृहरि के बारे में ईत्सिंग के एक छोटे से नोट को ज़रूरत से ज्यादा अहमीयत दे दी गई। निःसन्देह चीनी यात्री 'ईत्सिंग' अनाप्त वक्ता नहीं है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि चीनी यात्री के कथन के सामने भारतीय संदर्भ नगण्य क्यों है? इस प्रसंग में भारत की आप्तता प्रश्नचिन्ह के सामने क्यों छोड़ दी गई है?—इस विषमता का जवाब दिया जाता, जो नहीं मिला। प्रकृत **लेखक भी ईत्सिंग का गुणगायक हैं। परन्तु वह उसके कथन को अपनी कसौटी पर परखता है।** ईत्सिंग ने भर्तृहरि के लिए '४०' चालीस अंक का प्रयोग किया है। प्रायः सभी चिन्तकों ने उसके लिए 'चालीस वर्ष' का सुझाव दिया है, **परन्तु प्रकृत लेखक ने '४०' का अर्थ सप्तर्षिसंवत् ४० = १३४० = ११० ईसवी पूर्व ठहरा लिया है।** अगर हम 'ईत्सिंग' नेपथ्य में छोड़ दें, तब भी भर्तृहरि का समय वही है, जो हमने ऊपर लिखा है। बस, हम इस छल-छिद्र से बचकर वही सोचते हैं, जो प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठक ने लिखा है।

हम प्रो. पाठक महानुभाव के आगे नतमस्तक हैं, उनके विचारों से अभिभूत हैं, उनको संग्रह में लेकर अनुगृहीत भी हैं।

बस अन्तिमचर्चा।

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय के संरक्षण में प्रकाशित 'तुलसी प्रज्ञा' के सम्पादक **डॉक्टर परमेश्वर सोलंकी का पत्र**—जो उन्होंने हमें व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर लिखा—**भी इस अभिमत संग्रह में ले लिया है। यह हमारी चपलता है।** व्यक्तिगत संबन्ध अनुसंधान में उपेक्षणीय समझे जाते हैं। हमारी विवशता देखिए और अन्दाज़ लगाइए—वह कितनी क्षम्य है? समन्तभद्र पर हमारा अनुसन्धान 'शून्य' का पर्याय है। हालाँकि हम इस मिथ्या गर्व से फूले नहीं समाते—**हमें जैन काल गणना का भरपूर ज्ञान है।** उस पर तुर्रा यह कि हमने एतद्विषयक पुस्तक भी प्रकाशित की है। परन्तु 'समन्तभद्र' के प्रसंग में जब हम परले किनारे पर जा पहुंचे, तब हमें डॉक्टर परमेश्वर सोलंकी की सुध आई। उन्होंने मुझे निराश नहीं किया। डॉ. सोलंकी का मुझपर किया गया 'उपकार' मेरा नहीं रहा। **वह अनुसंधान जगत् की सम्पदा बन गया है।** एक विचित्र संयोग देखिए—डॉ. सोलंकी ने समन्तभद्र के प्रसंग में **शक संवत् ६० का उल्लेख किया है।** शक संवत् ६० का मतलब है—१३८ ईसवी। डॉ. सोलंकी को यही कालिक अवदान अपेक्षित रहा होगा। परन्तु हमने उसका कालिक संदोहन जैन शक संवत्, जो **६६ ईसवी पूर्व से गणनाधीन है**—से अर्थ-संदोहन किया है। **६६-६० = ६ ईसवी पूर्व का निर्णय निर्विकल्प है।** यदि ६ ईसवी पूर्व का समय उनके जीवनान्त का सूचक है, जो ४० वर्ष प्रतिपीढ़ी के अनुपात से **६ + ४० = ४६ ईसवी पूर्व में विद्यमान समन्तभद्र भगवान् शंकर का समकालीन हो जाता है,** भले ही समन्तभद्र ने शंकर का नामोल्लेख अथवा सैद्धान्तिक प्रतिवाद न किया हो।

मैं इतिहास लेखकों तथा अनुसंधायकों से हठपूर्वक अनुरोध करूंगा कि आप डॉ. सोलंकी के प्रकाशित पत्र को अपनी दृष्टि से मत पढ़िए, **प्रकृत लेखक की दृष्टि से पढ़िए—बड़ा मज़ा आएगा, असीम लाभ होगा, प्रशस्त मार्ग मिलेगा।** विश्वास रखिए।

संग्रह के अन्त में प्रकृत लेखक का भी एक निबंध है। उपर्युक्त महानुभावों ने भर्तृहरि की यत्र-तत्र-सर्वत्र चर्चा की है। प्रकृत लेखक ने उन सभी मतों का समूहीकृत निष्पन्नता को लेकर उन्हें अपने वैचारिक धरातल पर स्थापित किया है कि भर्तृहरि के बारे में भ्रम न रहे। तीन-तीन भर्तृहरियों की पहचान बनी रहे, व्यर्थ का समीकरण न हो; यह सोचकर इसे स्वतंत्र निबंध के रूप में संग्रह में ले लिया है।

विश्ववन्द्य जगद्गुरु-चतुष्टय के चरणों में सादर वन्दना। भगवान् शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठ-चतुष्टय के महासचिवों के नाम एक—

चुनौती

महामान्याः सचिवमहोदयाः!

इस अदना-सा लेखक को क्षमा करना। उसने एक दुःसाहस की ठान ली है। आप सभी प्रकार की आलोचनाओं से ऊपर हैं। यह सर्वज्ञात है। आपकी स्थापनाओं और सदुक्तियों पर किसी को किसी किस्म की आपत्ति उठाने का अवकाश नहीं है—यह भी प्रकृत लेखक भली भान्ति जानता है। इतना जानते हुए भी दुःसाहस करने का मन है। अतः क्षमा चाहता हूँ।

सचिव महोदय! आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि आज भारत राष्ट्र एक संकट युग से गुजर रहा है। आज उसकी अस्मिता डगमगाने लगी है। भारत की संस्कृति और इतिहास प्रश्नचिन्हों के आलवाल में पहुंच गए हैं। **यह सब-कुछ आप जानते हैं**। दीपक को दीपक दिखाने का प्रयास कोई नहीं करता। परन्तु मैं यह मोहजन्य दुःसाहस कर रहा हूं। सचिव महोदय! संभालिए, यह संकट की अनभ्र वर्षा आपके पवित्र और चिरमान्य मठों पर भी होने वाली है।

सचिव महोदय! आज 'राम' और 'कृष्ण' राष्ट्र के पूज्य देवता नहीं रहे। **वे अब मिथक हो गए हैं**। 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'महाभारतसंहिता' आज धर्मग्रन्थ अथवा पवित्र इतिहास नहीं रहे। वे मात्र महाकाव्य बनकर रह गए हैं। यह मिथकवाद का सैलाब जगद्वन्द्य गुरु महानुभावों के स्थापित मठों को घेरने ही वाला है। संभलने का समय यही है। आपने सुना होगा—

"न संभलोगे तो मिट जाओगे ऐ! हिन्दोस्तांवालो।

तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी, दास्तानों में।"

सचिवमहानुभावो! संभलने का समय यही है।

इस समय मठ के सुरक्षित दस्तावेज, मठों के तहखानों में पड़े हैं उन्हें प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। और 'शृंगेरीमठ' और 'शारदामठ' अपने-अपने इतिहास के प्रति जो-जो हठवाद अपनाए हुए हैं, उसे भुलाने का समय यही है। अगर आप व्यक्तिगत इतिहास [शृंगेरी मठवाले शारदापीठ के दस्तावेज़ को आप्त नहीं मानते और शारदामठ वालों का अभिमत भी शृंगेरी मठ के प्रति वैसा ही है। **हालांकि दोनों मठों के दस्तावेज आप्त हैं और उनमें समग्र समन्वय भी है।**] के प्रति अड़ियल रहे, तो आप देख लीजिए महान् इतिहास का भीमकाय 'बुलडोज़र' सबको धूलिसात् करता हुआ आ रहा है। इससे बचकर आप कहाँ जाओगे?

महान् इतिहास के भीमकाय बुलडोज़र की कहानी सुन लीजिए। इस समय भारत का इतिहास दो हाथों में है; इन हाथों में **एक हाथ विदेशी है**। विदेशी हाथ भारतीय इतिहास को **भ्रष्ट कर ही चुका है**। १७५० से १९५० ईसवी तक विदेशी हाथ ने जैसा चाहा, भारतीय इतिहास को वैसा 'मनचाहा' भ्रष्ट किया। भारत को स्वतंत्र हुए पचास वर्ष हो गए हैं। अब तक भारत सरकार ने इधर ध्यान नहीं दिया। आने वाले २०० वर्षों में—**ईसवीसन् २००० से २२०० तक जो थीसिस लिखे जाएँगे, उन सबकी थीम एक जैसी होगी—"भारत के इतिहास को किस लेखक ने कितना भ्रष्ट किया है?" इति**। इसके बाभुकाबिल भारतीय पण्डितों ने भारतीय इतिहास पूरीतरह से नष्ट-भ्रष्ट किया है। इसका एक उदाहरण भी परखिए। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय निश्चित हैः

विक्रम संवत् [५८ ई.पू.] से ४२२ वर्ष पश्चात्

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासनकाल ३६३-४०० ईसवी तथा

विक्रमादित्य विषमशील का समकालीन ३७६-४१२ ईसवी है।

इस प्रकार ऊपर-नीचे बंधे-बन्धाए विक्रमादित्यनामा चन्द्रगुप्त को पं. भगवद्दत्त बी.ए. ने ऊपर उछालकर ५८ ई. पूर्व तक पहुंचा दिया है, और डा. देवसहाय त्रिवेद ने उसी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को और-ऊपर उछालकर ३१० ई. पूर्व में पहुंचा दिया है। डॉ. देवसहाय त्रिवेद का यहाँ तक कहना है—**समुद्रगुप्त का विवाह सैल्यूकस कन्या हेलन से हुआ था, और इनके नालायक आत्मज 'रामगुप्त' ने ध्रुव स्वामिनी को मांगने वाला शत्रुपक्षीय प्रस्ताव मान लिया था।** इससे बढ़कर 'इतिहास-विनाश' और क्या होगा ? हमने चन्द्रगुप्तविक्रमादित्य की चर्चा सोचसमझकर की है। शारदापीठ के सुरेश्वराचार्य के दशम पीठाधीश का समय युधिष्ठिर-संवत् २०४० लिखा है, जो ३६४ ईसवी से सम्पृक्त है। जैसा कि हम बार-बार लिख चुके हैं—

[क] युधिष्ठिर-संवत् २०४०,

[ख] ११०० जमा करने पर ४१४० सप्तर्षि-संवत् में पलट गया

[ग] इसमें घटाया ६२८ वर्ष = ३५१२ वर्ष।

[घ] **३५१२-३१४८ = ३६४ ईसवी से गणना चालू—**

विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का समय ३६४ ईसवी है। यदि शारदामठ के सचिवने सुरक्षित दस्तावेज़ प्रकाशित नहीं किए, तब [१] पं. भगवद्दत्त बी.ए. का पक्ष प्रबल रहा, तब भी शारदापीठ के दस्तावेज़ निरर्थक हो जाएंगे; यदि देवसहाय त्रिवेद का पक्ष ज़ोर मार गया, तब शारदा पीठ का सम्पूर्म इतिहास छू-मन्तर हो जाएगा। **यह एक उदाहरण है।** शृंगेरी पीठ के दस्तावेज़ में लिखे **'शालिशक ६९५'** की पहचान कर ली है। यह ६५८ से चलने वाला कोई प्राचीन शक है, जिसकी परिभाषा स्कन्दपुराण में निहित है—जो यहाँ प्रासंगिक बन गया है। उसके अनुसार—

६९५-६५८ = ३७ ईसवी सन्

सुरेश्वराचार्य का निधनवर्ष फलीभूत होता है।

मेरे कथन का सारांश यह है कि दोनों दस्तावेज़ आप्त हैं, एक दूसरे के पूरक हैं, परस्पर समन्वित हैं और इतिहास का सही चित्र उपस्थित करते हैं। अगर उभय सचिवों ने ये दस्तावेज़ वाद-विवाद के लिए उपलब्ध नहीं कराए, **इसका जो दुष्परिणाम निकलनेवाला है। उसे प्रकृत लेखक तो दूरदृष्टि से देख रहा है; कृपया सचिव महोदय भी उसे देखें और दस्तावेज़ प्रकाशित करें।** अन्यथा क्रूर समय के इरादें अक्रूर नहीं हैं।

एक बात और, शृंगेरीमठ के सचिव का यह भी कथन है कि भगवान् शंकराचार्य के वयोमान के लिए—विक्रमादित्य के अभिषेक का १४ वाँ वर्ष **[५८-१४ = ४४ ई. पूर्व]** यहां अभिप्रेत नहीं है, बल्कि शृंगेरी के निकटस्थ बादामी का विक्रमादित्य अभीष्ट है, उसके अभिषेक का चौदहवाँ वर्ष यहाँ वांच्छित है। **व्रणस्योपरि स्फोटः संवृत्तः**—वाली बात हो गई। बादामी के विक्रमादित्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु उसका कोई संवत् अस्तित्व में है ? यह संदिग्ध है। यह छोटी बात है। बड़ी बात यह है कि इस स्थापना के विपरीत शारदापीठ के सचिव को 'विक्रमादित्य' में तो रुचि है; उसका राष्ट्रीय 'दृष्टिकोण' शृंगेरीमठ के सचिव के क्षेत्रीय दृष्टिकोण से कहीं अधिक उदात्त, व्यापक और सशक्त है। इन राष्ट्रिय तथा क्षेत्रिय दृष्टिकोणों के टकराव में भगवान् शंकराचार्य की अम्लान छवि कितनी धूमिल हुई है—यह अलग से चिन्ता का विषय है।

सचिव महोदयो ! हम यह बता रहे हैं—यह इतिहासयुद्ध' का शतक है । इतिहास कैसा होना चाहिए ? इस पर विवाद है । प्रकृत लेखक ने सबसे पहले भगवान् शंकराचार्य का समय पटल पर लिख लिया है । अगर उभय मठ के सचिवों का सहयोग मिला,तो **भगवान् शंकराचार्य का समय स्थिर समझो ४४-१३ ई. पूर्व तक** । इसके पश्चात् महावीर और बुद्ध का समय विचारणीय है । मज़े की बात यह है कि जैन-विद्वान् अपने धर्म के कालिक सन्दर्भों से अनजान बने हुए हैं । प्रसुप्त व्यक्ति को जगाना आसान है । जागे हुए को जगाना महामुश्किल है । महात्माबुद्ध की सिंहाली तिथियों को आप्त मान लिया गया है—जब कि 'राजतरंगिणी' सिंहाली संदर्भों से कहीं अधिक प्रामाणिक है । परन्तु पश्चिमी विद्वानों का भारतीय संदर्भों से क्या लेना-देना ? उनके लिए परम प्रिय अनुसंधान यह है कि भारतीय अधिक-से-अधिक गुमराह हों । उनमें कभी प्राच्य विश्वास जागृत ही न हो । वे सदा के लिए परमुखापेक्षी बने रहें—यही उनका उद्योग है ।

इधर हमने 'इतिहास-युद्ध' में एक मोर्चा खोल दिया है—**"आदि शंकराचार्यः समय चिन्तन"** । इस मोर्चे की सफलता या निष्फलता उभय सचिवों के निर्णयात्मक सहयोग पर निर्भर करती है—

"मध्ये मज्जया वा तटं गमय वा, हस्ते तवास्ते द्वयम्"

अब हमारा भाग्यलेख उभय सचिवों के हाथ में है । वे जैसा चाहें लिख दें; उल्टा-या जैसा चाहें, लिख दें—बस यही तमन्ना है ।

पंक्तिपावन प्रो. बलदेवप्रसाद उपाध्याय

हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-पाली के प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय 'शंकरकाल' तथा 'शंकर-साहित्य' के आप्त प्रवक्ता हैं । हमें खेद है कि हमने प्रोफ़ैसर साहब को 'पूर्वपक्ष' में लिया है । हमें ऐसा करते समय पीड़ा हुई है । परन्तु—**"दोषा वाच्या गुरोरपि"** के व्यासवचन के हम क़ायल हैं । प्रो.उपाध्याय ने काल-विज्ञान पर अभ्यास नहीं किया । जिस अन्दाज़ से श्री उपाध्याय ने 'शंकर-काल' का चिन्तन किया है,उसमें आने वाली रुकावटों पर निवारक विचार भी नहीं किया । उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना **'श्री शंकराचार्य'** के पृष्ट १९५ पर जो सूची प्रकाशित की है, वह एकमात्र सूची ही उनकी स्थापना के लिए [ई. सन् ६८८-७२०] सशक्त प्रश्न चिन्ह बन गई है । वह सूची इस प्रकार है—

शृंगेरीमठ

सं.	नाम	संन्यास ग्रहण काल	सिद्धिकाल समय	
१.	श्री शंकराचार्य	२२ विक्रमशके	विक्रम शके ४५	४४ जन्मादि
२.	सुरेश्वराचार्य	३० विक्रमशके	६९५ [?]	वयः सह ३२ जन्मादितः ।
३.	बोधघनाचार्य	६८० शके	८८० शके	—

—पंक्ति ७ से ९ पर्यन्त ।

यहाँ 'विक्रमशक' एक मेव आपत्ति केन्द्र है । विदित हो, विक्रम-संवत् अलग काल-गणना है, जो ५८ ईसवीपूर्व से स्थापित है; इसके विपरीत **'विक्रमशक' एक अलग कालगणना है, जो २१४ ईसवी से गणनाधीन है ।** हम इस कालगणना से बखूबी परिचित हैं—

१. हमारे पास सूचना है—'माहेश्वरी कल्पद्रुम' शक संवत् ९ तथा विक्रम-संवत् ९ सूचित करता है । ये दोनों गणनाएं अभिन्न हैं । **इनका समाहार ९ + २१४ = २२३ ईसवी में सन्निहित हैं ।**

२. सबको विदित है—पृथ्वीराजरासो का रचनाकाल १११५ विक्रम शाक है। परन्तु इसकी गणना + ३४ से होती है। अर्थात् **१११५ + ३४ = ११४९ ईसवी में पृथ्वीराज चौहान का जन्म हुआ।**

३. इनसे भिन्न ढेरों 'विक्रमशक' के प्रयोग मिलते हैं। जो ६६ ई. से गिने जाते हैं।

हमारा प्रासंगिक प्रश्न यह है कि शंकराचार्य का समय कौन सा है? **क्या २२ विक्रमशक २१४ + २३६ ईसवी से गिनें? अथवा विक्रमशक २२ + ३४ = ई. ५६ ई० से गिनें? अथवा विक्रमशक २२ + ६६ = ८८ ईसवी से गिनें?** इन प्रश्नों का समाधान किये बिना गाड़ी आगे चलने वाली नहीं है। हम ९९ वर्षीय महामान्य प्रोफेसर साहब को परेशानी में नहीं डाल रहे। सीधी सी बात है—विक्रमशक २२ का अर्थ है—**३६ ईसवी पूर्व में शंकराचार्य ने संन्यासाश्रम वरण किया।** इसी प्रकार विक्रमशके ४५ का अर्थ है—१३ ई. पूर्व का साल।

रह गई ३० विक्रमशक की बात—वह भी २८ ईसवी पूर्व के ही अनुरूप है।

३० विक्रमशक = २८ ई. पूर्व के सुरेश्वराचार्य का समय शालिशक ६९५ = ७७३ ईसवी तक खींचकर ले जाना समीचीन नहीं है। शालिशक ६९५ = ३७ ईसवी की बात कालविज्ञान के विपरीत नहीं है। २८ + ३७ = ६५ वर्षमान मानवी वयोमान में संभाव्य है। शारदामठ की परम्परा में सुरेश्वराचार्य का शासनकाल ४२ वर्ष लिखा है। **यदि शालिशक के संसर्पकाल के १८ वर्ष घटा दिए जाएं, तो ६५–१८ = ४७ वर्ष फलीभूत होते हैं**—अर्थात् सुरेश्वराचार्य का आचार्यत्वकाल ४२ वर्ष अथवा ४७ वर्ष करीब-करीब हो जाते हैं।

इस विवाद में हमारी स्पष्ट राय यह है कि सुरेश्वराचार्य का शासनकाल ४६ वर्ष विज्ञान-सिद्ध है और ४२ वर्ष का निर्णय त्रुटिपूर्ण है। जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं—शालिशक में २ हजार वर्ष जमा किए जाय तो वह युधिष्ठिर संवत् बन जाता है। तब कालिक स्थिति इस प्रकार होगी।

[क] शारदापीठ—सुरेश्वराचार्य का निधनकाल युधिष्ठिर संवत् [२] ६९१ = १५ ई०

[ख] शृंगेरीमठ—सुरेश्वराचार्य का निधनकाल शालिशक [२] ६९५ = १९ ईसवी।

चार वर्षों का व्यवधान कर कंकणवत् नज़रसानी में है।

यह जो कुछ हमने सोचा है, लिखा है; वह सब कुछ मान्यवर प्रोफेसर साहब को सोचना और लिखना चाहिए था। ऐसा न करके प्रोफेसर साहब ने अपने निर्णयों को **जो उन्होंने अपनी रचना 'श्री शंकराचार्य' के पृष्ठ ४५-४९ पर वितरित किए हैं**—खटाई में डाल दिया है। प्रोफैसर महोदय से सादर निवेदन है कि—बहिःसाक्ष्य की तुलना में अन्तःसाक्ष्य कहीं अधिक बलवान् होता है। प्रो. साहब ने जिस बहिःसाक्ष्य पर भरोसा किया है, वह अन्दर से खोखला है। वहां बहिःसाक्ष्य हमारे मतलब का है। **"युग्म पयोरसान्वितशाके"** अर्थात् ६४४ शक = रौद्रक संवत्सर = १३ ई. पूर्व तो हमने स्वीकार किया है। यह प्रसंगानुरूप है। सुरेश्वराचार्य का निधन शालिशक ६९५ –४१ = ६४४ शक भगवान् शंकर का तिरोधान काल है। वही शारदा पीठ के अनुसार ४ वर्ष के अनुरूप है। इसमें एक पेच भी है। शारदामठीय मतानुसार ईसवीपूर्व २७ + १५ ईसवी = ४२ वर्ष सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत शृंगेरीमठीय साक्ष्य के अनुसार : ई. पूर्व २७ + ३७ = ६४ वर्ष [– १८ वर्ष संसर्प काल के घटाने पर] = ४६ वर्षीय व्यवधान काल है। जो शारदापीठ के मत से ४ वर्ष अधिक है।

धर्मकीर्तिः

भगवान् शंकराचार्य के समय निर्धारण में महान-से-महान् 'विघ्न' धर्मकीर्ति का समय निर्धारण है। इस पर दो विद्वानों के विचार हम 'अभिमत संग्रह' में ले चुके हैं। इनमें एक हैं—स्वामी-प्रज्ञानानन्द सरस्वती; अन्य हैं—प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठक। पाठक महोदय ने सीधा-सीधा शंकर और धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। जब

हमने शंकराचार्य का समय ईसवी पूर्व की प्रथम शती में मान लिया है, तब धर्मकीर्ति कालिक धरातल से नीचे नहीं गिर सकता। इसीतरह का समाधान स्वामी प्रज्ञानानन्द महाराज ने दिया है। बात पक्की हो गई—**भगवान् शंकराचार्य तथा धर्मकीर्ति थोड़ा आगे-पीछे करके समकालिक हैं।** हमारे इस निर्णय का आधार कनिष्क प्रथम द्वारा आहूत-**द्वितीय बौद्ध संगीति है।** परन्तु इतना मान लेने से बात सत्य नहीं हो जाती।

धर्मकीर्ति के समय निर्धारण में नालन्दा विश्वविद्यालय की चर्चा यहाँ बिलकुल प्रासंगिक है। नालन्दा वि. वि. के दर्शनाचार्य धर्मपाल का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। कहते हैं—धर्मकीर्ति उन्हीं धर्मपाल के शिष्य थे और धर्मपाल के पश्चात् धर्मकीर्ति ही विश्वविद्यालय में दर्शनाचार्य पर प्रतिष्ठित थे। यह भी सुनने में आया है—कुमारिल भी कुछ समय के लिए इनके शिष्य रहे। **नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थिति ६०० ईसवी के १०० वर्ष पूर्व तथा १०० वर्ष पश्चात् प्रायः सभी को मान्य है।** अगर यह सच है तो नालन्दा विश्वविद्यालयपर नए सिरे से अनुसंधान करना चाहिए। **हम धर्मकीर्ति, कुमारिल तथा शंकराचार्य की** ईसवीपूर्व प्रथम शती से नीचे ले जाने के पक्षधर नहीं हैं; अलबत्ता धर्मपाल को ६०० ईसवी से ऊपर लाने के पक्ष में है। यह पुनः स्थापना धींगामुश्ती से नहीं होगी। **इसके लिए गहन अनुसंधान की अपेक्षा है।** "उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा: कालोऽह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी।" इति।

भवभूति

कुमारिलभट्ट को अष्टम शताब्दी तक घसीट कर लाने के लिए 'भवभूति' की ओट लेनी ज़रूरी हो गई है। इसका कारण या आधार बड़ा लचर है। भवभूति का पारिवारिक नाम 'उज्बेक' है। '**उज्बेक उर्फ भवभूति**—लिखना कहीं अधिक सुबोध है। इधर कुमारिल के एक शिष्य का नाम **उज्बेक** है। उज्बेक-उज्बेक के मिथ्या समीकरण का विडम्बनाजन्य कारण सामने रखकर कुमारिल को कालिक खन्दक में धकेल दिया है? **हम निष्ठावशंवद यह मान रहे हैं कि कुमारिल आन्ध्र-सत्ता की देन है और आंध्रवंश ने ई. पूर्व ३७६ से २७६ ईसवी तक सत्ता हस्तगत रखी।** परिणामतः कुमारिल के लिए ३७६ ई. पूर्व से पहले [जैसा कि उदयवीर शास्त्री का अभिमत है] और २७६ ईसवी संवत् के बाद सोचा ही नहीं जा सकता। रही भवभूति की बात, वह काश्मीर-नरेश ललितादित्य का सभाकवि था—यह कल्हण का अभिमत है। वह लिखता है—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।

जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्। रा. त. ४/१४४.

इस पर हमारी पूर्वप्रकाशित टिप्पणी इस प्रकार है—

ललितादित्य के समय भवभूति कवि वर्तमान था। कल्हण के आलोचक डॉ. स्टीन ने राजतरंगिणी के आधार पर भवभूति का समय ७०० ई. पश्चात् माना है। जैकोबी ने इसे समर्थित कर दिया है। परन्तु हमने इसे ५४८-५८५ ई. के मध्य माना है। यह कहाँ तक ठीक है? इसकी खोज होनी चाहिए। बाणभट्ट ने भवभूति का उल्लेख नहीं किया इससे ज्ञात होता है कि वह इससे पूर्ववर्ती है, या इसका निकटवर्ती समकालिक है। भवभूति के जीवनकाल में उसे यश नहीं मिला, यह एक सचाई है।

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका : वर्ष ६८/१-२ अंक, पृ. २३

भारतीय इतिहास 'संशोधन' चाहता है। हमारी निर्विकल्प धारणा यह कि **आंध्रवंश की उपलब्धि कुमारिल का समय ८६-२६ ई. पूर्व का है; शंकर-कुमारिल भेंट २७ ई. पूर्व की है।** भवभूति का बहाना बनाकर कुमारिल का कालिक अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। भवभूति महाकवि कालिदास से [३५०-४०० ईसवी] परवर्ती और

बाणभट्ट से [५७०-६०० ईसवी] पूर्ववर्ती होने से ५४८-५८५ **ईसवी संवत् का है।** ज़रा सोचिए—**कहाँ कुमारिल ? और कहाँ भवभूति ?** इन के दरम्यान ५७४ वर्षों का क्या होगा ?

अपनी कष्टकथा

पुरोवाक् के अन्तिम चरण में कुछ-कुछ आत्मचर्चा प्रासंगिक होती है।

[१] रुग्णता—जब से मैंने 'आद्यशंकराचार्य के समय चिन्तन' के लिए कलम उठाई है—मैं उसी दिन से रुग्ण हूं, आज भी रुग्ण हूं। एक दफा तो ऐसे लगा—'कादम्बरी' तथा 'पृथ्वीराजरासो' से जुड़ी कहानी इस रचना के साथ जुड़नेवाली है। परन्तु ईश्वर की कृपा से भूमिका की 'इतिश्री' के साथ ये पंक्तियां लिखने का मौका मिल ही गया।

[२] डॉ. शुक्ल—इस रचना के साथ उदित कष्टकथा का नायक केवल प्रकृत लेखक ही नहीं है; अपितु पुस्तक प्रकाशक भी किंचित्-किंचित् कष्टभुक् रहा है। जब पाण्डुलिपि प्रेस में चली गई और दो फार्म [३२ पृष्ठ] छप भी गए, पुस्तक में से नज़र आ रहे दोष समुच्चय ने हम दोनों को झकझोड़ा। **कुछ लोहा खोटा, कुछ लोहार खोटा**- इस उक्ति के अनुसार लेखक और प्रेस की कदर्थता के कारण डॉ. शुक्ल को महती अर्थक्षति झेलनी पड़ी। मैंने ये पंक्तियाँ पाठकवृन्द की सहानुभूति अर्जित या आकर्षित करने के लिए नहीं लिखीं। **कालगति का पहिया जिस विषमपथ पर आरालगति से चल रहा था**—उससे न लेखक उत्साहहीन हुआ और न प्रकाशक का मनोबल टूटा। हम दोनों के अलौकिक एवं अदम्य साहचर्य से आज यह रचना प्रकाश में आ रही है।

[३] गुण दोष—प्रायः सभी व्यक्तियों में, परिवारों में, समाज में संस्थाओं में, अर्थात् विश्व के सभी क्रियाकलापों में गुणदोष होते ही हैं। **इस रचना में भी गुण दोष हैं।** प्रकृत लेखक उन गुणदोषों से बखूबी परिचित है। मैं गुणों की चर्चा नहीं कर रहा—

"इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यपितैः गुणैः"

परन्तु अपने दोषों की चर्चा अवश्य करूंगा। क्योंकि मुझे विश्वास है—

स्वयं प्रख्यापितै दोषैः चित्तं ह्यश्नति लाघवम्॥

लाघवम् = मानसिक भार उतर जाने से फुर्तीलापन। हाँ मेरे और मेरी रचना में दोष इस प्रकार हैं—

१. लेखक अहिंदी भाषी है—हिन्दी भाषी प्रदेश के लेखक की भाषा धारदार होगी और उसमें बाँकपना रहेगा। यह गुण मेरी रचना में नहीं है। इसके लिए वाचकवृन्द मुझे क्षमा करेंगे। आप जानते ही हैं—

'स्वाभावो मूर्ध्नि वतर्ते'।

२. आंकड़ों का खेल—रचना में केवल भगवान् शंकराचार्य का समय अनुसंधानाधीन है। समय-चिन्तन में सन्-संवतों पर व्यायाम करना नैसर्गिक होता है। वह इसमें है। वाचकवृन्द इस आंकड़ेबाजी से ऊब जाएँगे—यह हमारे ज़ेहन में है। यह दोषदुर्घटन अनिवार्य है।

३. पुनरुक्ति—रचना में कतिपय संदर्भों की पुनरुक्ति अथवा पुनरावृत्ति अवश्य है। यह परिपक्व दोष है। परन्तु हम शपथपूर्वक लिख रहे हैं कि विषय की दुरूहता के कारण, हमें यह सब विवश होकर लिखना पड़ा है। जैसे—**लोगबाग सप्तर्षि-संवत् से परिचित नहीं है। वे कहीं सोचते-सोचते अटक-भटक न जाएँ, अतः सप्तर्षि संवत् को ईसवी सन् [पूर्व या पश्चात्] में बार-बार परिवर्तन करने का भार झखमारकर, ढोना पड़ा है।** ऐसी ही कुछ पुनरावृत्तियाँ और भी हैं।

ये सब दोष मुझ में तथा मेरी रचना में हैं—सत्य यही है।

[४] आलोचक—मैं जब से लिखने लगा हूं—तभी से आलोचकों की मुझ पर नज़र है। मेरे विरुद्ध ७१-७२ के लगभग निबंध प्रकाश में आ चुके हैं। मैं इस समय पूर्णतया आलोचना की शरशय्या पर शयनशील हूं। वे आलोचक अब भी मुझ पर कृपा करनेवाले हैं, स्वागतम्। परन्तु उस आलोचना की चिलचिलाती धूप मुझ पर पड़नी चाहिए। मेरा आशय आप समझ गए होंगे। अर्थात् आलोचना की एक प्रति मुझे भी _। अन्त में—

बदस्तूर चश्मे बद् से देखा किया मुझे, सकूँ इतना है कि मैं हूं किसी निगाह में।

[५] धर्माचरण—मुझे सर्वप्रथम अपने बंगमनीषी, शीलकोमल अनन्य सखा पंडित उपेन्द्रनाथ राय के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी है, जिनकी कृपा से 'वेदान्त दर्शनेर इतिहास' की भूमिका का हिन्दी रूपान्तर मुझे उपलब्ध है। सच्ची बात यह है कि **उक्त भूमिका पढ़कर ही प्रकृत लेखक इस पके-पकाए निश्चय पर [भगवान् शंकर का समय ४४-१३ ई. पूर्व] स्थितप्रज्ञ हो सका है**। अगर उक्त भूमिका न मिलती, संभव है—यह पुस्तक प्रकाश में ही न आती। **पण्डित उपेन्द्रनाथ राय की 'कृपा' सौ-सौ धन्यवादों से प्राप्त नहीं की जा सकती**। उसके लिए भारी भरकम 'कृतज्ञता' चुकानी पड़ती है। उनके प्रति सजलनयन प्रणामाञ्जलि। इनके साथ ही डॉ. सूर्यकान्त बाली, पुत्रवधू डॉ. सरस्वती बाली मेरे आशीर्वाद के पात्र हैं, जिन्होंने समय-समय पर अंग्रेजी के कुछ संदर्भ अनूदित किये हैं। इस अनुवाद-सहायक पंक्ति में डॉ. देवशर्मा वेदालंकार भी भूरि-भूरि धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रूफ रीडिंग कला भी है, विद्या भी है। मैं इन दोनों- ज्ञान और विज्ञान से शून्य हूं। इस कठिन घाटी में उतरने के लिए मुझे एक दिव्य सहायक की आवश्यकता थी, सो **सिरसानिवासी पंडित प्रवर, वैद्यराज शिवकुमार शर्मा ने उस अभाव की सार्थक पूर्ति कर दी है। ज्येष्ठ भ्राता परमकृपालु वैद्यराज पं. शिवकुमार शर्मा के लिए क्या कहूं ? क्या लिखूं ?** कुछ समझ में नहीं आ रहा। मेरा 'मौन' ही मेरी 'मुखरता' की पहचान है, बस, मैं इतना ही जानता हूं। इस प्रसंग में डॉ. किरण मेहरा का नाम उल्लेखनीय भी है, धन्यवादार्ह भी है। **इतने शब्दों के साथ यह रचना कृपालु पाठकसमाज के सहस्रों पाणिपंकजों में रख रहा हूं। इति।**

पौष शुक्ला तृतीया | सातिशयविनम्रः

सप्तर्षि संवत् ७२४ | **—चन्द्रकान्त बाली**

१ जनवरी १९९८ | एन.डी/२३ पीतमपुरा, देहली—११००३४

कुछ एक निरन्तर स्मरण रखने योग्य प्रासंगिक तिथियां

ईसवी पूर्व	घटनाएँ / व्यक्ति / वस्तुजात
३१४८	२९ नवम्बर से १६ दिसम्बर तक भारतसंग्राम घटित हुआ[१] ।
३११२	भगवान् श्रीकृष्ण का विग्रह-विसर्जन[२] ।
३१०८	भगवान् वेद व्यास ने 'भारतसंहिता' लिखी
३१०२	कलिपूर्व गणना के लिए ।
३१०१	'कलिसंवत्' आरंभ ।
३०७५	सप्तर्षियों का मद्याशतक समाप्त ।
३०६३	जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ का विग्रह-विसर्जन[३] ।
१२९८	भगवान् महावीर का जन्म[४] ।
१२७५	महात्मा बुद्ध का जन्म ।
१२२७	भगवान् महावीर का देह-विसर्जन[४] ।
१२१२	महात्मा बुद्ध का तनु-त्याग[४] ।
१०५०	काश्मीरी चन्द्रचार्य का रचनाकाल ।
१००९	मगध में नन्दवंश की स्थापना[५] ।
९३१	पाटलिपुत्र नगर की स्थापना[६] ।
४५०	अष्टम नन्द का कलिंग पर आक्रमण[७] ।
४३०	नवम नन्द का अभिषेक[८] ।
३४२	नवम नन्द का निधनं चन्द्रगुप्त का अभिषेक[११] ।
३२५	सिकन्दर का भारत पर आक्रमण ।
३२२	चन्द्रगुप्त का निधन[१२] ।
३२१	शातकर्णि प्रथम का निधन[१३] ।
३१२	मेगास्थनीज राजदूत का भारत आगमन[१४] ।
२६८	सम्राट् अशोक का अभिषेक ।
२६०	कलिंगविध्वंस ।
२१९	अशेक निधन / अशोकसंवत् की स्थापना[१५] ।
१४६	साहसांक-संवत् की स्थापना ।
११९	जैन विक्रम-संवत् की स्थापना ।
७४	कालकाचार्य के बुलाने पर विम कदफिस का भारत आगमन[१६] ।
७१	प्राचीनशक[१७] ।
५८	मालवगर्णास्थितिकाल / विक्रम-संवत्
५६	कनिष्क प्रथम द्वारा 'शक संवत्' की स्थापना

ईसवी संवत्

३२	विक्रम शकाब्द की स्थापना ।
३४	शालिवाहन तथा ईसा मसीह की भेंट[१८] ।
९९	शकारि विक्रमादित्य द्वारा स्थापित 'शक'[१९] ।
७८	विक्रमाङ्क द्वारा स्थापित शक (राष्ट्रिय)[२०] ।
९९	वासुदेव-संवत् की नई खोज ।
२७७	प्रथम गुप्त संवत् ।
३०७	वास्तविक गुप्त संवत् ।
३६८	विक्रमादित्य (गुप्त) संवत् ।
४७०	अन्तिम गुप्त संवत्[२१] ।
५७०	हजरत मुहम्मद साहब का जन्म ।
५७०	सम्राद् हर्षवर्धन का अभिषेक ।
६३०	सम्राद् हर्षवर्धन का निधन[२२] ।

टिप्पणी– ये सभी तिथियाँ अपने अनुसंधान का फलागम हैं । इन्हें सत्यापित करने का दायित्व हम पर है ।

संदर्भ— (१) महाभारत, वायु-मत्स्य पुराण तथा अवूरिहाँ अल्वैरूनी के आधार पर (२८) विष्णुधर्मो· पुराण,(३) उत्तर पुराण के आधार पर,(४) ये दोनों युगपुरुष समकालीन हैं । आधार-मत्स्य पुराण, राजतरंगिणी [illegible] विविध संदर्भ,(५) भविष्य पुराण,(६) युग पुराण के आधार पर ५५०५ सप्तर्षिसंवत् । (७) हाथी गुम्फा अभिलेख,(८) वायुपुराण (९) हिमवन्त थेरावली के आधार पर; (१०) पुराणशास्त्र,(११) हाथी गुम्फा अभिलेख; (१२) वही । (१३) वही,(१४) महावंश के आधार पर; (१५) वायु पुराण,(१६) जैन संदर्भ (विविध) (१७) पाण्डुलिपि विज्ञान,(१८) [illegible] पुराण,(१९) अपने अनुसंधान के आधार पर,(२०) जैन संदर्भ । (२१) जैन संदर्भ । (२२) हर्षवर्धन के दामाद धरसेन के वल्लभी संवत् ३२० से परवर्ती वर्षों में निधन संभव ॥ इति ।

विषयानुक्रमणी

अद्वैतामृतवर्षिणे श्रीमच्छङ्कराय नमः।

अथ मङ्गलाचरणम्।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
व्यासं विनायकं नत्वा शङ्करं लोकशङ्करम्॥
अनुसन्धानलाभाय लोभाय विदुषां मुदः।
यथाशास्त्रं लिखाम्यद्य शाङ्करं काल-निर्णयम्॥
विद्वद्भिः समाकृष्टं सृष्टं मत-मतान्तरम्।
तीर्त्वा तर्केण वैषम्यं वच्मीतिहास-लाघवम्॥

—युग्मकम्

अथ शिवसंकल्पः

अद्य श्रीमद् ब्रह्मणोहनि द्वितीये परार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे महायुगे, तत्रापि कलियुगे, बौद्धावतारे, नन्द-वसु-व्योम-तत्त्वा-ङ्किते [अङ्कतः ५०८९] युगाब्दे,क्राक्षि-नन्द-रसाङ्किते [अङ्कतः १९२२] साहसाङ्कस्य शके, गगन-यक्षाङ्क-रसान्विते [अङ्कतः १९१०] विक्रमाङ्कस्य शके, वृषनाम्नि संवत्सरे, महाशिवनवर्षे शुद्ध-ज्येष्ठमासस्य सप्तम्यां तिथौ, कौजे, पूर्वाफाल्गुनी, मिथुनार्कतोऽष्टमांशप्रविष्टे, कर्कलग्नोदये, भगवतः श्रीमच्छङ्कराचार्याणां काल-निर्णयाय उपक्रम्यते। २१ जून १९८८ ईसवी। सप्तर्षि-संवत् ७१५॥

इति शम्।

ऋजवस्तिथय:

संवदन्तर	ईसवी पूर्व	विवरण	औदीच्य बार्हस्पत्य
सप्तर्षि सं. ३७३१	४५	भगवान् शङ्कराचार्य का जन्म।	सर्वधारी
	४०	उपनयन-संस्कार।	
	३७	संन्यास-दीक्षा।	
	३९	गोविन्दपादका शिष्यत्व ग्रहण।	
	३०	ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना।	
	३०	ज्योतिर्मठ की स्थापना।	
	२९	**मण्डनमिश्र से अधूरा शास्त्रार्थ।**	
	२८	परकाया-प्रवेश/ शास्त्रार्थ समाप्त।	
	२८	श्रृंगेरी मठ-शारदामठ की स्थापना।	
	२७	**मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य हुए।**	
	२९	दिग्विजय-यात्रारम्भ।	
	२१	गोवर्धनमठ की स्थापना।	
अशोक सं. २००	१९	**भगवान् शंकर की नेपाल-यात्रा।**	
	१८	नेपाल-यात्रा से वापिस।	
	१६	**कलि (३०) ८५ : अन्तिम रचना।**	
	१५	**महाराजा हाल की शरणागति।**	
शक सं० ६४४	१३	भगवान् शंकर का विग्रह-विसर्जन।	**रौद्रक संवत्सर**

प्रथम अध्याय

संवत्सर-प्रदीप

भारत देश कालगणना की दृष्टि से एकदम से अद्वितीय है। उसका कोई सानी नहीं। भारत द्वारा स्थापित विज्ञान-सिद्ध गणनाएँ नौ[1] बताई जाती हैं। १. ब्राह्म, २. दैव, ३. पैत्र्य, ४, आर्ष, ५ सौर ६. चान्द्र, ७. सायन [अथवा सावन] ८. प्राजापत्य तथा ९. बार्हस्पत्य; यद्यपि ज्योतिषग्रन्थों में इनकी क्रम-स्थापना कुछ-और है, परन्तु हमने इन संवत्सरों की लाक्षणिक उपयोगिता को देखते हुए उनमें नया क्रम-बंधन स्थापित किया है। सृष्टि के आदि से लेकर देवयुग पर्यन्त कालगणना 'ब्राह्म' नाम से संज्ञात थी। देवयुग की समाप्ति १२,०५,३१,१०२ ई० पूर्व में हुई—ऐसा निरुक्तकार यास्क का अभिमत है।[2] तत्पश्चात् मानवी काल-गणनाएँ आरम्भ होती हैं। मानवी काल-गणनाओं में 'सौरगणना' तथा 'चान्द्रगणना' प्रमुख हैं। इन विभिन्न-गतिक काल-गणनाओं में समन्वय स्थापित करने के लिए 'प्राजापत्य' तथा 'बार्हस्पत्य' काल-मान स्थापित हैं। दीर्घकालीन गणना के लिए 'सप्तर्षि-संवत्' मान्य है। सायन अथवा सावन काल-गणना यज्ञ-यागादि केलिए निर्धारित हैं। **यह काल-विज्ञान भारतीय प्रतिभा का मौलिक आविष्कार है तथा चिरकालिक बपौती है।**

सौर गणना तथा चान्द्रगणना के मिश्रित कालमान पर ही **मानव कालगणना** निर्भर करती है। **'नव वर्ष' अर्थात् चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से** मानव कालगणना की पुनरावृत्ति होती रहती है। **यहीं से समग्र कालचक्र का आरम्भ होता है।** 'युगाब्द' संज्ञा के अन्तर्गत कलिकाल का गणना-चक्र निश्चितरूपेण राष्ट्र के व्यवहार में आता है। तथापि उक्त दीर्घकालिक एवं बृहती काल-शृंखला में से कुछ-एक काल-खंडों पर राजाओं, धर्मादिपुरुषों तथा युगपुरुषों के नाम का ठप्पा लगाकर अलग-अलग कालगणनाएं भी व्यवहार में आ गई हैं। यथा—युधिष्ठिर-संवत्, बुद्ध-निर्वाण संवत् वीर-निर्वाणसंवत्, शकसंवत् तथा विक्रमसंवत्, आदि।

इन विविध नामांकित संवत्सरों से इतिहास-बोध के लिए जो सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए थीं, वह नहीं हुई। बल्कि इसके विपरीत संवत्सर-बहुलता से जटिलता ही इतिहास के पल्ले पड़ी है। कुछ संवत्सर विस्मृत हो गए हैं,—परिणामतः इतिहास तिमिराच्छन्न हो गया है, कुछ समनामा संवत्सर परस्पर समीकृत हो गए हैं, फलस्वरूप इतिहास गड्डुगड्डु हो गया है; कुछ संवत्सरों की परिभाषाएँ कुछ-की-कुछ हो गई है; नतीजतन तात्कालिक इतिहास अपने निश्चित स्थान से भ्रष्ट हो गया है। **संवत्सरों के समीकरण से, परिभाषा-परिवर्तन मे त[illegible] [illegible] गणना के विस्मरण से आदि शंकराचार्य का 'समय' आहत हुआ है।** इस रहस्य को सम[illegible]

---

१. ब्राह्मं दैवं तथा पैत्र्यं प्राजापत्यं गुरोस्तथा।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षमानानि वै नव॥ —सूर्यसिद्धान्त

२. पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्। —निरुक्त

उज्ज्वल-छवि की पहचान स्थापित करने का निश्चय किया है। प्रासंगिक संवत्सर ये हैं—सप्तर्षिसंवत्, युधिष्ठिर-संवत् [उभय,] शक-संवत्, श्रीहर्ष-संवत्, अशोक-संवत्, विक्रम-संवत् और गुप्त-संवत्।

१. सप्तर्षि-संवत्

आज सप्तर्षि-संवत् विस्मृत-प्राय है। केवल काश्मीरी पण्डित ही सप्तर्षि-संवत् के नामलेवा रह गए हैं। महाराष्ट्रीय पण्डित तो उक्त कालगणना को नकारने केलिए कसम खाए बैठें हैं। कमलाकर भट्ट से लेकर महाविदुषी शोभना गोखले तक सभी ने सप्तर्षि-संवत् को नकारा है। कमलाकर भट्ट ने सप्तर्षि-संवत् को फूंक मारकर उड़ाने का प्रयास किया है और लिखा है—

अद्यापि कैरपि नरैर्गतिरार्यवर्यैः
दृष्टा न यात्र कथिता किल संहितासु।
तत् काव्यमेव हि पुराणवदत्र तज्ज्ञाः
तेनैव तत्त्वविषयं गदितुं प्रवृत्ताः।

—रचनाकाल १६६८ ईसवी

आधुनिक गणित-कोविदों के शिरोमणि शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने कमलाकर भट्ट की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए लिखा है: **"गर्गवराहोक्त यह काल कल्पितमात्र है। वराहमिहिर ने लिखा है कि सप्तर्षि गतिमान् हैं और ये प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्ष रहते हैं। परन्तु हम समझते हैं सप्तर्षियों में गति बिल्कुल नहीं है, वे युधिष्ठिर के समय मघानक्षत्र में थे और अब भी मघाननक्षत्र में हैं। यदि यह कथन ठीक मान लिया जाये कि प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्ष रहते हैं, तो उन्हें सम्पूर्ण नक्षत्रमंडल की एक प्रदक्षिणा करने में २७०० वर्ष लगेंगे। उससे यह निष्पन्न होगा कि युधिष्ठिर को हुए २७०० या ५४०० अथवा किसी संख्या से गुणित २७०० तुल्य वर्ष बीते हैं। परन्तु वस्तुतः सप्तर्षि गतिमान् नहीं हैं और यह व्यर्थ की कल्पना है। इसी प्रकार गर्ग और वराहोक्त काल भी निरर्थक है। इस गर्ग का समय शक की प्रथम या द्वितीय शताब्दी होनी चाहिए। उन्हें सप्तर्षि मघा के आसपास दिखाई पड़े इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि शकारम्भ के समय युधिष्ठिर को हुए २५२६ वर्ष बीत चुके थे। आकाश में सप्तर्षि जिस प्रदेश में हैं, वह बहुत बड़ा है। सम्प्रति सप्तर्षियों को मघा, पूर्वाफाल्गुनी उत्तराफाल्गुनी, हास्त, चित्रा में से चाहे जिस नक्षत्र में कह सकते हैं। यही स्थिति गर्ग और वराह के समय भी थी। हम समझते हैं, इसी कारण उन्हें मालूम हुआ होगा कि सप्तर्षि गतिमान् हैं। पहले उनकी स्थिति किसी ने मघा में बतलाई है, और इस समय पूर्वफाल्गुनी में दिखाई दे रहे हैं, तो हम उन्हें गतिमान् अवश्य कहेंगे। वराहमिहिर गर्ग के लगभग दो-तीन सौ वर्ष बाद हुए। उन्हें भी यह काल उचित मालूम पड़ा। परन्तु वस्तुतः है कल्पित।"**

—भारतीय ज्योतिषः प्रकाशन ब्यूरो उप्र; १६८

'हिस्से बोराला अभिलेख' को खोज निकालने का श्रेय अर्जित करती हुई महाविदुषी शोभना गोखले भी कमोबेश यही धारणा मन में पाले हुए हैं। अभिलेख में उत्तराफाल्गुनी—२० का निर्भ्रान्त उल्लेख है। साथ में उसके शकसंवत् [प्राचीन] ३८० भी उत्कीर्ण है। कई अर्थों में यह अभिलेख पर्याप्त निर्णायक है। परन्तु डॉक्टर गोखले का इधर रुझान हां नहीं है।

अथ विश्लेषण—

इतिहास के सभी पक्ष यदि तर्क से सुलझाने या स्वीकारने हैं, तब कालगणना की कोई आवश्यकता नहीं; किसी घटना का घटनान्तर से ताल-मेल भी अर्थहीन हैं; वंशावलियों की क्रमबद्धता भी सर्वथा अपेक्षित नहीं हैं। बस

तर्क-ही-तर्क अपेक्षित हैं। कमलाकरभट्ट तथा शंकर बालकृष्ण दीक्षित की जय-जय कहनी पड़ेगी। क्योंकि ये सब घनघोर तर्कजीवी विद्वान् हैं। इति।

हम तर्कवाद को यहीं छोड़कर, तथ्यों की बात करते हैं। आचार्य गर्ग महाभारत-कालीन पात्र हैं। महाभारत-संहिता में उसका नामोल्लेख है। यह सप्तर्षियों की गतिशीलता का प्रत्यक्ष द्रष्टा है। हमारी समझ में महाभारत युद्ध **सप्तर्षि-संवत् १०१५ = ३१४८ ई० पूर्व** में हुआ था तथा भारत-संहिता **सप्तर्षि-संवत् १०५५ = ३१०८ ई० पूर्व** में लेखनीबद्ध हुई। सप्तर्षियों का मघा-संचार [१०० वर्ष] **३१६३-३०६२ ई० पूर्व**तक निश्चित रूपेण स्वीकरणीय है। 'भारत-संहिता' के मार्मिक अध्ययन से पता चलता है कि संग्राम-विजयोपरान्त राजव्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए महाराजा युधिष्ठिर ने भगवान् गर्गाचार्य को राज-ज्योतिषी नियुक्त किया था। यथा—

"महर्षिः भगवान् गर्गः तस्य साँवत्सरोऽभवत्॥"

—शान्तिपर्वः५९/१११

यह नियुक्ति ३१४७ ई० पूर्व के जनवरी मास में संभव है। यदि वस्तुभूमि पर खड़े होकर सोचें— **सप्तर्षियों के मघ संचार का प्रत्यक्ष द्रष्टा इस भगवान् गर्गाचार्य के अतिरिक्त अन्य कौन है?** अनुसन्धान जगत् में यह परम्परा सदैव जीवित रहेगी कि कोई भी अनुसन्धाता ऐतिह्य-शृंखला में अपने से चिर-पूर्ववर्ती अनुसन्धायक की उपलब्धियों, मान्यताओं और निष्कर्षों का आदर करे, उद्धृत करे तथा यथाशक्ति उनका उल्लंघन न करें। यही कारण है, आचार्य वराहमिहिर ने **[हमने उसका समय १९३-११३ ई० पूर्व स्थापित किया है]** मघा-संचार के सत्यापन के लिए भगवान् गर्गाचार्य को उद्धृत किया है और 'राजतरंगिणी' के यशस्वी लेखक कल्हण पण्डित ने आचार्य वराहमिहिर का संस्मरण किया है। उपर्युक्त संदर्भों के पुनरीक्षण से पता चलता है महाविद्वान् शंकर बालकृष्ण दीक्षित का समग्र चिन्तन ही दोषपूर्ण है! श्रीयुत दीक्षित आचार्य प्रवर गर्ग को वराहमिहिर से दो-तीन सौ वर्ष पूर्ववर्ती मानते हैं। [परम्परानुसार वराहमिहिर का समय ५०३-५८३ ईसवी माना जाता है; इस गणित से भगवान् गर्गाचार्य का समय २०३-२८३ ईसवी संभाव्य है] ज़रा सोचें—३१४७ ई० पूर्व में गर्गाचार्य का अस्तित्व कहाँ? और २०३ ईसवी के गर्गाचार्य कहाँ? जो विद्वान् इतने दूरवर्ती गर्गाचार्यों की पहचान स्थापित नहीं कर सका, वह उनके निष्कर्षों का सही मूल्यांकन कितना कर सकेगा?

इस अवसर पर हमारा स्पष्ट अभिमत यह है कि **सप्तर्षि-संवत् के आप्त प्रवक्ता भगवान् गर्गाचार्य हैं, और उसे गणनाधीन लेकर प्राचीन शक [६२२ ई० पू०] के संस्थापक आचार्य वराहमिहिर हैं।**

कृष्णद्वैपायन व्यास को 'अनाप्त' कहना महाकठिन है। वह महाविद्वान् एवं परम आप्ततम लेखक हैं। सप्तर्षि-संचार के प्रथम प्रवक्ता भी वही हैं। सप्तर्षि-संवत् को भाषा देने का श्रेय भी उसी को जाता है। अतः परस्पर नितान्त समकालीन गर्ग तथा कृष्णद्वैपायन व्यास जैसे सक्षम साक्ष्य पर निर्भृत '**सप्तर्षि-संवत्** को नकारते हुए शंकर बालकृष्ण दीक्षित को ज़रा संकोच से काम लेना चाहिए था।

एक अन्य पक्ष भी है, जो कमलाकर भट्ट तथा दीक्षित की तरह सप्तर्षि-संचार को नकारता तो नहीं है; परन्तु उसे गलत दिशा में ठेल देने का अपराध उसने अवश्य किया है। इस वर्ग में पण्डित भगवद्दत्त बी.ए. का नाम शीर्षस्थान पर आता है। बिहार के डाक्टर [अब स्वर्गीय] देवसहाय त्रिवेद भी इसी कारवाँ के सदस्य हैं। लगता है, डा० त्रिवेद पं. भगवद्दत्त बी.ए. के पट्टशिष्य हों! उनकी रचनाओं से इस बात की झलक तो नहीं मिलती, परन्तु कालक्रमानुबद्ध पौर्वापर्य से और विचार-साम्य से उभय व्यक्तियों में 'गुरु-शिष्य' भाव कल्पित करना कुछ अटपटा भी नहीं लगता। **इन दोनों अनाप्त कालवेत्ताओं ने सप्तर्षि-संचार को वक्रगतिक मानकर अनुसन्धान-जगत् का बहुत बड़ा अहित किया है।**

सप्तर्षि-'वक्रगति' हैं अथवा नहीं हैं ? यह जान लेना भी प्रसंगिक है । वक्रगति और मार्गगति के हिसाब से ग्रह गण का कालबोध प्रकाशित किया जाता है । ग्रह नौ हैं—यह बात विश्वविदित है । इनमें से सात मूर्त ग्रह हैं, दो अमूर्त ग्रह । मूर्त ग्रहों में सूर्य और चन्द्र नित्य मार्गी ग्रह है; शेष पांच मूर्तग्रह समयानुसार वक्री/मार्गी होते रहते हैं । दो अमूर्त ग्रह—राहु-केतु—नित्यवक्री ग्रह हैं । **मार्गी ग्रह से** मतलब है जो ग्रह सदैव अश्विनी-भरणी-कृत्तिका-रोहिणी, इस क्रम से संचार करते हैं; **वक्री ग्रह से मतलब है** जो ग्रह सदैव रोहिणी-कृत्तिका-भरणी-अश्विनी इस क्रम से संचार करते हैं । सूर्य-चन्द्र **[नित्य मार्गी]** और राहु केतु **[नित्यवक्री]** को छोड़कर शेष पाँच मूर्त ग्रह **[मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि]** नियमानुसार वक्री/मार्गी होते रहते हैं—जैसा कि हमने अभी-अभी लिखा है ।

पं० भगवद्दत्त बी.ए. तथा डाक्टर त्रिवेद ने सप्तर्षियों को वक्रगति क्यों ठहराया है ? इसका लेखा-जोखा उनके पास नहीं था । होता, तो उसे अवश्य प्रकट करते । सप्तर्षि 'राहु-केतु' की तरह अमूर्तग्रह भी नहीं हैं । वे तो 'चन्द्र-सूर्य' की भान्ति मूर्त ग्रह हैं और नित्यमार्गी भी हैं । अगर सप्तर्षियों को मूर्त ग्रह तथा समयानुसार वक्री/मार्गी, अर्थात् पांच ग्रहों के समानधर्मा मानते हैं, तब उन्हें इसका विवरण देना चाहिए था, नहीं दिया । इससे साफ पता चलता है कि पं० भगवद्दत्त बी.ए. तथा डॉ० त्रिवेद अटकलपच्चू से काम चला रहे हैं । उनके पास एतद्विषयक गंभीर ज्ञान नहीं है । इति ।

अथ परिभाषा

विश्ववन्द्य महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने सप्तर्षि-संचार की परिभाषा स्थिर करते हुए कहा है:—

सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले ।

सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं-शतम् ॥

—वायुपुराण ९९/४१९-२१

—ब्रह्माण्डपुराण उ० पा० ३/७४/२३५

यही बात मत्स्यपुराण तथा विष्णुपुराण में बार-बार पुनरावृत हुई है । इसमें आगत 'पर्याय' शब्द गौरतलब है । **पर्यायेण =** समयानुबद्धक्रमेण । भारत-संहिता के शान्तिपर्व में भगवान् व्यास ने स्पष्ट लिखा है: **"कालः पर्यायधर्मेण"** [३८/८] अर्थात् पर्याय = नक्षत्र-क्रम-बद्धता समय का नैसर्गिक धर्म है । उसमें फेर-बदल संभव नहीं है ।

नक्षत्र २७ हैं । सप्तर्षि क्रमशः १००-१०० वर्ष प्रत्येक नक्षत्र में ठहरते हैं । अर्थात् सप्तर्षिगण रेवती नक्षत्र से चलकर प्रत्येक नक्षत्रीय ठहराव पर १००-१०० वर्ष रुकते हुए ठीक २७०० वर्ष के पश्चात् उत्तराभाद्रपद तक की यात्रा सम्पन्न करते हैं । **पुनः रेवती नक्षत्र से नई यात्रा आरम्भ होती है और सप्तर्षि-संवत् की नूतन इकाई स्थापित होती है ।**

सप्तर्षि-संवत् के कतिपय अनिवार्य नियम इस प्रकार हैं—

१. सप्तर्षियों की एक नाक्षत्र काल-गणना की एक इकाई के १०० साल सम्पन्न होते ही अगली नाक्षत्र-काल-गणना के लिए पुनः नए सिरे से १-२-३-४ का क्रम स्थापित होता है ।

अपवाद : क्वचित् समूचे नाक्षत्र क्रम के लिए १०१, १०२, ४०१, ४०४, १७००, १७०१ आदि का प्रयोग भी देखने में आता है ।

२. एक शतक अथवा एक सहस्राब्द समाप्त होने से पहले सैकड़ा और हजार के अंक प्रायशः छोड़ दिए जाते हैं । यथा—

'चतुर्विंशत्समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति ॥' २४ = ११२४ सप्तर्षि सं० ।

षड्विंशतु समा राजा अशोको भविता नृपु ॥ सं. संवत् २६ = १२२६ ।

अपवाद : इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं—

"समाः शतानि चत्वारि पंच षड्वै, तथैव च ।

आन्ध्राणां संस्थिताः पञ्च तेषां वंशः समाः पुनः ।" —वायु ९९/३५२

इनका अंक विधान इस प्रकार है—**४०० + ५ + ६ + ५ = ४१६ सप्तर्षि-संवत्** । इसमें हजार का अंक छोड़ दिया गया है । वस्तुतः यह सप्तर्षि-संवत् [४]४१६ है । यह अंक २६४ ई० पू० के समानान्तर पर है ।

३. सप्तर्षि-संवत् मानने वालों के दो 'मण्डल' हैं और उनकी विभिन्नता गणना-शैली में ४०५ वर्षों का अन्तराल है । अन्तराल सहित दो मंडल; यथा—

महाभारतसंग्राम

काश्मीर मण्डल		**पटना मण्डल**
६१० सप्तर्षि-संवत्	=	सप्तर्षि-संवत् १०१५

[३१४८ ई० पूर्वका साल]

४. एक ध्यातव्य नियम और भी है । वायुपुराण का एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः ।

त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः ! !" ५७/१७

उक्त श्लोक इसी रूप में ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण तथा लिंगपुराण में भी पढ़ने को मिलता है । इस श्लोक का सामान्य अर्थ है—सप्तर्षि-संवत् के मानवी कालगणना के अनुसार वर्ष ३००० = ३० वर्षों के बराबर समझने चाहिए ।

गंभीर विमर्श-परामर्श

हम समझते हैं—पुराणपाठ में "**विंशद्यानि**" के स्थान पर कलमचूक के कारण "**त्रिंशद्यानि**" का पाठान्तर उजागर हुआ है । हम पूरे भरोसे के साथ मान रहे हैं कि पुराणपाठ द्वारा प्रतिपादित ३००० = ३० का तालमेल अर्थहीन है । इसके विपरीत ३००० = २० का तालमेल सटीक है । सूर्य 'अश्विनी' नक्षत्र से चलकर रेवती तक एक वर्ष में भगण पूरा करते हैं । सप्तर्षि उक्त भगण [अश्विनी से रेवती तक] को २७०० सालों में पूरा करते हैं । २७०० सप्तर्षिवर्ष संक्षेप में २७ वर्ष होते हैं । अर्थात् सूर्य जिस भगण को २७०० वर्ष में पूरा करते हैं, वह सप्तर्षि संचार के मात्र २७ वर्ष हुए । हम इस तालमेल को समझने में असफल रहे हैं । पूर्वोक्त पुराण-पाठः '**त्रिंशद्यानि**'– का स्पष्टीकरण निम्न पुराणपाठ से होता है—

"त्रिंशच्चान्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षिवत्सरः ।"

—पार्जिटर का वायुपुराण [ई०] श्लोक सं० ४२०

अर्थात् ३००० मानवी वर्षों के पूरक वर्षों के लिए ३० अन्य वर्ष जोड़ने पर सप्तर्षि संवत् होगा । अर्थात् सौर वर्ष ३००० + ३० = ३०३० = सप्तर्षि वर्ष ।

अगर ऐसा है, तो मान लो समस्या की आधी गांठ खुल गई। इसके परिवेश में संग्राह्य यथार्थ इस प्रकार है—सप्तर्षि-गणना १०० = सौर गणना १०१ वर्ष; सप्तर्षिगणना १००० वर्ष = सौर गणना १०१० वर्ष तथा **सप्तर्षि-गणना ३००० वर्ष = सौर गणना ३०३० वर्ष**। आधी गांठ खुल गई।

हम समझते हैं—त्रिंशत् के स्थानपर 'विंशत्' पाठ वांछनीय है। इस सूरतेहाल में पुराण-पाठ इस प्रकार संभाव्य है—

"त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः
विंशच्चान्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षिवत्सरः।

ऐसा पुराणपाठ हमें पढ़ने को नहीं मिला। मिल जाए तो चमत्कार हो जाये। इसी संभावना के परिप्रेक्ष्य में अर्थ-संगति इस प्रकार होगी—

सप्तर्षि वर्ष	सौरवर्ष
१००	१०१
३००	३०२
२७००	२७१८

अर्थात् प्रत्येक आर्ष शतक के पीछे एक सौर शतक तथा आठ मास गिनने से दोनों शैलियों में तालमेल उजागर होगा। ९x३ = २७ [२७००], ९x२ = १८; अर्थात् २७०० वर्षों के साथ १८ वर्ष अतिरिक्त जोड़ने से सप्तर्षि-संवत् 'सौर-संवत्' में पलट जाएगा।

अन्यच्च

सौर गणना में १८ वर्ष जोड़ने पर ही सप्तर्षि-गणनाशैली सिद्ध होगी। काश्मीर के पण्डितों ने इससे भिन्न एक-और रास्ता अख्तियार कर लिया। वे लोग अतिरिक्त संग्राह्य १८ वर्षों को पहले से जोड़कर गणना करते हैं। हम समझते हैं—यह शैली दोषपूर्ण है। १८ वर्ष संपृक्त सप्तर्षिगणना के फलागम में १८ वर्षों का क्षरण हो जाता है, **जिसे सुष्ठु रूप देने के लिए १८ वर्ष पुनः जमा करने होते हैं**। यथा—

"कलेर्गतैः सायकनेत्र-[२५] वर्षैः सप्तर्षिवर्याः त्रिदिवं प्रयाताः॥"

अर्थात् कलि-संवत् २५ व्यतीत होने पर मघासंचार का सातवाँ शतक (७००) निष्पन्न हुआ। गणना करने पर—

(क) ७०० वर्षों में ७ जमा [+] किए = ७०७ हुए!

(ख) घटाया ३७६५—७०७ = ३०५८ ई० सन् चरितार्थ हुआ।

यह गणना त्रुटिपूर्ण है। ई० पूर्व ३१०१-२५ = ३०७६ वर्ष होना चाहिए। हमारे पास फलागम है—३०५८ ई० पूर्व का साल। इस परिगणना में १८ वर्षों का क्षरण कर-कंकण की तरह स्पष्ट है। यदि इसमें १८ वर्ष जोड़ दिए जायें तो फलागम यथार्थ हो जाएगा—**३०५८ + १८ = ३०७६ ई० पूर्व का साल।**

एक उदाहरण और। स्कन्दपुराण के अनुसार सप्तर्षि संवत् ६१० में भारत-संग्राम घटित हुआ। परन्तु **कल्हण पण्डित ने 'राजतरंगिणी' में ६२८ सप्तर्षि-संवत् में भारत-संग्राम को घटित माना है**। इसे भी पूर्व प्रतिपादित शैली के अनुसार गणना करते हैं—

(क) ६२८ वर्षों में ७ जमा किए [+] = **६३५ सं. संवत्।**

(ख) घटाया [—] ३७६५—६३५ = **३१३० ई० संवत्।**

(ग) क्षतिपूर्ति के लिए १८ जमा [+] किए = **३१४८ ई० पूर्व में भारत-संग्राम** घटित हुआ। ऐसा पहले लिख आए हैं।

अथ मीमांसा—

काश्मीर-सम्प्रदायानुसार सप्तर्षि-गणना में १८ वर्षों की क्षति और उसकी पूर्ति को स्मरण रखना चाहिए। हमें शतपथ ब्राह्मण के टीकाकार हरिस्वामी के काल-निर्धारण में इस 'स्मरण' से अपूर्व सहायता मिलेगी। इति।

५. सप्तर्षि-संवत् का पुनरारम्भ उ० भाद्रपद अतीत, अर्थात् रेवती नक्षत्र से होता है। परन्तु काश्मीर मण्डल की कालगणना कृत्तिका अतीत 'रोहिणी' नक्षत्र से आरम्भ होती है।

सप्तर्षि-संवत् को ईसवी गणना में पलटने के नियम

हमने सप्तर्षि संवत् के चार मील-पत्थर स्थापित किए हैं। यथा—

कृत्तिका अतीत ०० = ६४८३ ई० पू० [चतुर्थ मील पत्थर] **उ० भाद्रपद अतीत० ० = ६८८८**

कृत्तिका अतीत ०० = ३७६५ ई० पू० [तृतीय मील पत्थर] **उ० भाद्रपद अतीत ०० = ४१७० ई० पू०**

कृत्तिका अतीत ०० = १०४७ ई० पू० [द्वितीय मील पत्थर] **उ० भाद्रपद अतीत ०० = १४५२ ई० पू०**

कृत्तिका अतीत ०० = ईसवी १६७१ [प्रथम मील पत्थर] **उ० भाद्रपद अतीत ०० = ईसवी १२६६**

किसी भी अभीष्ट संख्याको इन मील पत्थरों पर उद्धृत अंकों से घटाने पर अभीष्ट परिणाम निकलेगा। नियम यथा—

१. वांछित संख्या में अपनी ओर से ७ अंक मिलाइए।

२. ७-संयुक्त संख्या को मील पत्थर पर उद्धृत संख्या से घटाइए।

उदाहरण—

[१] पुराणों में पढ़ा गया—"यावत् परीक्षितो जन्म—एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्"। अर्थात् सप्तर्षि-संवत् १०१५ में परीक्षित् का जन्म हुआ। यह गणना सप्तर्षि-संवत् की है [क] इसमें अपनी ओर से ७ जोड़ने पर १०२२ निष्पन्न हुआ। [ख] इस उपलब्ध संख्या को ४१७० से घटायाः **४१७०-१०२२ = ३१४८ ई० पूर्व में परीक्षित् का जन्म हुआ।**

[२] पुराणों में पढ़ा गया—"चतुर्विंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति" अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य ११२४ सप्तर्षिसंवत् पर्यन्त राजा बना रहा। इसकी परिगणना भी पूर्ववत् होगी। [क] इसमें अपनी तरफ से ७ जमा किए, परिणामतः ११३१ सप्तर्षि-संवत् सिद्ध हुआ। [ख] घटायाः **१४५२-११३१ = ३२१ ई० पूर्व तक चन्द्रगुप्त-शासन पुराणमान्य है।**

टिप्पणी: आधुनिक इतिहासकार ३२२ ई० पूर्व से चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनारम्भ मानते हैं। परन्तु पौराणिक कालगणना के अनुसार ईसवीपूर्व ३२२ में चन्द्रगुप्त का निधन सिद्ध होता है। पाश्चात्य इतिहासविद् **यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ को चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में उपस्थित मानते हैं, जबकि भारत का प्रथम शिलालेख हाथीगुम्फा के अनुसार मेगास्थनीज बृहरपतिगुप्त [बिन्दुसार] के दरबार में पहुंचा था**। हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार सप्तर्षि-संवत् ११३५ = मौर्य संवत् १२ में उक्त लेख उत्कीर्ण हुआ। गणना स्पष्ट है, ११३५ = **३१० ई० पूर्व**; मौर्य-संवत् १२ + ३१० = **३२२ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त का निधन निश्चित है**। इति।

[३] एक जटिल उदाहरण और —"समाशतानि चत्वारि पञ्च षड् वै तथैव च। आन्ध्राणां संस्थिता पञ्च, तेषां वंशः समाः पुनः।" अर्थात् ४०० + ५ + ६ + ५ = ४२१; इसमें हज़ार का आंकड़ा [४] छूट गया है। सही संख्या **४४२१ सं० संवत्** है। इस संख्या को सरल रखने केलिए एक सप्तर्षि चक्र [२७००] घटाने की आवश्यकता है। **४४२१-२७०० = १७२१ सं० संवत्**। पूर्ववत् गणना-प्रक्रिया अपनानी होगी। [क] अपनी ओर से ७ जमा किए: **१७२८ सं० संवत्**। [ख] घटाया—**१७२८—१४५२ = २७९ ईसवी संवत् में आन्ध्र-सत्ता का अन्त हुआ**।

३. काश्मीर-मंडलीय कालगणना के अनुसार निश्चित फलागम मिलने के पश्चात् १८ वर्ष जमा करने होंगे। **यह अतीव स्मर्तव्य नियम है**। इति।

अथ प्रासंगिक परामर्श [१]

आद्य शंकराचार्य के समय-निर्वाचन तथा समय-निर्धारण में **सप्तर्षि-संवत्** का कोई योगदान नहीं है। प्रत्यक्षतः युधिष्ठिर-संवत् का ही उपयोग नज़र आता है। युधिष्ठिर-संवत् की भी अपनी उलझने हैं, जिस पर अग्रस्थ शीर्षक में विचार करने वाले हैं। सप्तर्षि-संवत् का परोक्ष प्रयोग अवश्य सामने आ रहा है। शतपथ ब्राह्मण के टीकाकार **हरिस्वामी** ने अपना समय निश्चितरूपेण विख्यापित किया है। वे अपना समय **सप्तर्षि-संवत् ३७४०** बताते हैं। हरिस्वामी शंकराचार्य का ठीक मध्यस्थ समकालीन है, यथा—

शांकर वयोमान का आरम्भ ४४ ई० पूर्व; **हरिस्वामीः ३६ ई० पूर्व**।

शांकर वयोमान का अंत १३ ई० पूर्व

वैदिक विद्वान् हरिस्वामी ने शंकराचार्य का उल्लेख नहीं किया, इसके विपरीत उसने कुमारिल भट्ट का उल्लेख किया है। कुमारिल भट्ट तथा आद्य शंकाराचार्य की परस्पर भेंट धार्मिक जगत् में बहुचर्चित एवं, बहुमान्य है। उपर्युक्त कालचित्र को देखते हुए यह अनुमान सटीक हो जाता है कि कुमारिल भट्ट ने अपनी परिपक्व वय में शंकराचार्य को दर्शन दिए होंगे और आद्य शंकराचार्य उदयंगम वय में उनसे मिले होंगे। **दोनों मुख्य भगवत्पाद महापुरुषों का साम्मुख्य ३० ई० पूर्व के लगभग मान्य है।**

हमारी समस्या है—'सप्तर्षि-संवत्'। शंकराचार्य का नितान्त समकालीन हरिस्वामी सप्तर्षि-संवत् का प्रयोग कर रहा है, और शंकराचार्य के बिखरे हुए विविध प्रसंगों में सप्तर्षि-संवत् का कहीं संकेत का लेशमात्र भी नहीं मिलता। और जिस तामझाम के साथ शंकराचार्य का दिव्यधाम युधिष्ठिर-संवत् की नींव पर निर्मित हुआ है, वह नींव डगमगा रही है। हमारे सामने न सुलझने वाली पहेली यह है कि प्रत्येक विद्वान् अपने समय की प्रचलित काल-गणना का अवलम्बन लेता है। आद्य शंकराचार्य ने ऐसा क्यों नहीं किया ? और जिस लोकप्रिय (प्रचलित कालगणनाः(**"विक्रम संवत् १४" "शककाल ६९५" "विक्रम संवत् ९"**) का अवलम्बन लेकर निर्णय प्रकाशित किया जाता है, उसका तालमेल खोजने में भी शोध-जगत् पूरी तरह से असफल नज़र आता है।

काल-विषयक समस्या का कहीं अन्त नज़र नहीं आता। दूर-दूर तक देख सोच लिया है।

जिस राजा या महापुरुष का 'समय-निर्धारण' खटाई में पड़ जाता है, वहाँ अर्थहीन अनुमान की बन आती है। आद्य शंकराचार्य के बारे में यही कुछ हो रहा है। अब अनुमान का मैदान सबके लिए खुला है, तब हम ही क्यों न अनुमान का तीर चलाकर देखें ? कहीं लक्ष्यवेध हो ही जाये। परिणामतः हमने भी युधिष्ठिर-संवत् को 'सप्तर्षि संवत्' में रूपान्तरित करके देखा और परखा है। **हमें ऐसा करने पर सफलता की झलक नज़र आने लगी है।** इसके लिए पूरा एक अध्याय समर्पित है। हमारे विवेकशील पाठक देखें, हमें उक्त प्रयास में कितनी सफलता मिली है। हमने इतिहास को सप्तर्षि-संवत् के आइने में देखने की अपनी आदत बना ली है। आप भी देखें—सप्तर्षि-संवत् के परिवेश में '**आद्यशंकराचार्य का समय-निर्धारण**।' कहां तक सफल हुआ हैं ? इति।

२. युधिष्ठिर-संवत्

भारत में जितने 'संवत्' प्रचलित हैं, उनमें सबसे अधिक खस्ताहाल 'युधिष्ठिर-संवत्' का है। एक तो वह 'अस्ति-नास्ति' के झूले पर हैं। कुछ विद्वान् उसे एकदम से नकारते हैं। परन्तु इसके विपरीत युधिष्ठिर-संवत् के संदर्भ भी गिने-चुने स्थान पर मिल पाते हैं। उन्हें एकदम से नकारना हमारे लिए रुचिकर नहीं है। दूसरा—युधिष्ठिर-संवत् 'एकमेव' है, या उसके अनेक रूप और प्रयोग हैं ? हमारे सामने एक संदर्भ उपस्थित हैं—

> **"सत्ये ब्रह्मशको मुनेः विरचितं त्रेतायुगे वामनम्।**
>
> **तत्पश्चाज्जमदग्नि-पुत्र-निहते रामं सहस्त्रार्जुने। [?]**
>
> **रामो रावण-हन्तृशक उदितौ युधिष्ठिरौ द्वापरे।**
>
> **पश्चात् विक्रम-शालिवाहनशकौ जातौ युगेऽस्मिन् कलौ।"**
>
> —भारतीय कालगणना: देवकीनन्दन खेड़वाल; ९८

इस श्लोक का प्रणेता कोई 'अनाड़ी' ज्ञात होता है। काव्य-रचनागत [छन्दोगति ठीक होने पर भी] अशुद्धियों की भरमार है। इसमें से केवल एक बात हमें पसन्द है—**"उदितौ युधिष्ठिरौ द्वापरे"**। युधिष्ठिर-शक के लिए 'द्विवचन' का प्रयोग है। स्पष्ट है, युधिष्ठिर-संवत् दो ही प्रचलित हुए। उनके मूलबिन्दु भी भिन्न-भिन्न हैं। यथा—

१. युधिष्ठिर-संवत् ०० =	**२. युधिष्ठिर-संवत् ०० =**
३१८८ईसवी पूर्व	**३१४८ ईसवी पूर्व।**

अर्थात् हस्तिनापुर-सत्ता-विभाजन के पश्चात् पहली बार युधिष्ठिर का अभिषेक इन्द्रप्रस्थ में हुआ, दूसरी बार भारत-संग्राम जीतने पर उसका अभिषेक हस्तिनापुर में हुआ। इससे दो-दो युधिष्ठिर-संवत् स्पष्ट हैं। तीसरा, भारत-संग्राम की तिथि निश्चित न होने से युधिष्ठिर-संवत् का मूलबिन्दु स्थिर करने में कठिनाई सामने आती है। अनल्प विद्वान् भारत-संग्रामकाल ३१०२ ई० पूर्व का मानते हैं, पं० भगवद्दत्त बी.ए. और उनके अनुयायी-गण ३१३८ ई० पूर्व में भारत-संग्राम हुआ मानते हैं; डाक्टर पद्माकर-विष्णु वर्तक [पूना] ५५६१ ई० पूर्व में भारत-संग्राम हुआ—घोषित करते हैं; **और हमारा निश्चित अभिमत है—भारत-संग्राम ३१४८ ई० पूर्व में घटित हुआ।** हमारी सभी गणनाएँ इसी मूलबिन्दु के इतस्ततः परिवेष्टित हैं।

अतः आदि शंकराचार्य के समय निर्धारण में **'युधिष्ठिर-संवत्' का प्रयोग खतरे से खाली नहीं है—यह पहले से नोट रखने के योग्य है।**

युधिष्ठिर-संवन्नास्ति

ऐसा 'पक्ष' स्पष्टरूप से समझाता है, कि भारत-संहिता में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता, जिससे युधिष्ठिर-संवत् के अस्तित्व का पता चले। भारत-संहिता के अतिरिक्त पुराण-समूह में संग्राम-परवर्ती इतिहास उल्लिखित है, उसके साथ पदे-पदे सप्तर्षिसंवत् की सूचना भी है, **परन्तु अनिवार्य तौर पर वांछनीय युधिष्ठिर-संवत् का लेखा-जोखा, खूब अच्छी तरह से खंगालने पर भी कहीं नहीं मिलता।** अतः हम यह मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं कि कभी 'युधिष्ठिर-संवत्' की स्थापना हुई होगी।

तर्क सचमुच बलवान् है और विवेकशील समाज पर इसका खासा असर भी है। यदि हम यह मान लें, तब ब्रह्मसंवत्, वामन-संवत्, परशुराम-संवत् तथा अन्य किसी महापुरुष के यश का कार्यविशेष से जुड़े संवत् का सवाल ही पैदा नहीं होता। सबके लिए यह मानना ज़रूरी हो जाएगा कि वैयक्तिक संवत् [जैसे विक्रम-संवत्, साहसांक-संवत्, आदि] आधुनिक युग की देन हैं। सचमुच कलिपूर्व समय में युधिष्ठिर-संवत् नहीं था।

युधिष्ठिर-संवदस्ति

हम इस विश्वास में जी रहे हैं कि कलिपूर्व समय में **भारत-संवत्** प्रचलित था। इस संवत् की स्थापना हस्तिनापुर नरेश महाराजा शान्तनु ने ३३५० ई० पूर्व में की थी। ईसवी पूर्व ३३६३-३३५१ तक [१२ वर्षीय अकाल निवृत्ति के पश्चात्] इस संवत् की स्थापना श्रुतिपरम्परागत शैली में प्रसिद्ध है। श्रीमद् यल्लयार्य ने इसकी सूचना दी है।[1] अधिक संभव यही है कि 'भारत-संवत्' की देखा देखी महाराजा युधिष्ठिर ने भी भारत-संग्राम जीतने पर 'युधिष्ठिर-संवत् की स्थापना की होगी। **न ह्यमूला जनश्रुतिः।**

युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१०१ ई० पूर्व [?]

यदि 'इतिहास' बहुमत के आधार पर लिखने की प्रथा कायम हो जाए तो निश्चयपूर्वक उस पक्ष की जय-जय होनी स्वाभाविक है, **जो ३१०२-०१ ई० पूर्व में भारत-संग्राम की संभावना-स्थिर करता है और तभी से युधिष्ठिर-संवत् का आरम्भ भी मानता है।** इतिहास जिस तथ्यसमूह पर आश्रित रहता है, उक्त पक्षधर को इन तथ्यों की कोई अपेक्षा नज़र नहीं आती। मेरे ही एक लेख का प्रतिवाद करते हुए डॉ. अजयमित्र शास्त्री लिखते हैं—**'स्वतः महाभारत में प्राप्त कतिपय उल्लेखों के अनुसार भारत-युद्ध द्वापर और कलियुग की सन्धि में हुआ और युद्ध के तत्काल पश्चात कलियुग आरम्भ हुआ।"** [सरस्वती, इलाहाबाद; ६८/२ फरवरी १९६३]। डॉ. शास्त्री 'सन्धि' समझाने में अग्रसर नहीं हुए। अगर वे 'सन्धि' के पचरे में पड़ जाते, तो लुंज पुंज होकर रह जाते। सन्धिकाल की शीघ्र बोध्य परिभाषा इस प्रकार है—

१० दिन द्वापरान्त के + ८ दिन कल्यारंभ के

३१०२ के अंतिम १० दिन — कल्यारंभ के ३१०२ में से १० दिन

अगर ऐसा है—तब डाक्टर शास्त्री का यह कथन निर्मूल हो जाता है कि युद्ध के तत्काल पश्चात् कलियुग आरम्भ हुआ। सन्धिकाल को मद्देनज़र रखते हुए उनका यह कहना उचित ठहरता कि **युद्ध के बीचों-बीच द्वापर समाप्त हुआ और कलियुग आरम्भ हुआ।** 'सन्धिकाल' को परिभाषित किये बिना डॉ. अजयमित्र शास्त्री जो किला फतह करना चाहते थे, नहीं कर सके। ऐहोल शिलालेख की संगति भी कहीं न कहीं अटपटाती है। यथा—

---

१. वसुजिनैः युक्ताः [२४८] स्युः भारताब्दाः कलेर्वत्सराः। —यल्लयार्य

३७३५—३१०१ = संग्रामकाल
५५६ + ७८ = शककाल } = ६३४ ईसवी संवत् ।

ऐहोल शिलालेख में हर्षवर्धन का उल्लेख है । नव उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह कथन यथार्थ मान्य हो जाता है कि तब तक सम्राट् हर्षवर्धन का देहान्त हो चुका था और उसका वारिस उसका ही दौहित्र 'परमभट्टारकपर-मेश्वर' का पद भी प्राप्त कर चुका था । इस ऐहोल शिलालेख से 'सन्धिकाल' की गांठ नहीं खुलती ।

चूंकि एक विश्रुत विद्वान् वैद्य चिन्तामणि विनायक महोदय ने **३१०१ ई० पूर्व में भारत-संग्राम की तिथि स्थिर कर दी है** और गतानुगतिक प्रवृत्तिवान् समाज जुड़ते-जुड़ाते 'कारवाँ' बन गया है; अतः इस मान्यता को बहुमत का आधार मिल गया है । काश ! इतिहास को बहुमत के आधार पर लिखने की प्रथा होती ! चूंकि यह मान्यता कालिक-सूत्रों तथा सिद्धान्तों के विपरीत पड़ती है, अतः इसे स्वतः निरस्त ही मानना उचित है ।

युधिष्ठिर—संवत् ०० = ३१३७ ई० पूर्व [?]

पण्डित भगवद्दत्त बी.ए. इतिहास विद्या के विचक्षण व्याख्याता थे । उनकी वैचारिक पैठ बहुत गहरी थी और पकड़ बड़ी मजबूत थी । उनके सामने एक अभेद्य दीवार खड़ी थी:

"षड्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः ।

ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः ।।"

अर्थात् युधिष्ठिर ने ३६-कलिपूर्व वर्षों में इतिहास-सम्मत शासन किया । पं० भगवद्दत्त इसी अनुसन्धानपूर्ण स्थापना पर विचार करते-करते भारत-संग्राम काल को ३१०१ ईसवी पूर्व से सरका कर ३१३७ ई० पूर्वतक स्वयं पहुंचा गए थे । उन्हें दो-चार अनुयायी भी मिल गए । बिहार के डाक्टर देव सहाय त्रिवेद [अब स्वर्गीय] भगवद्दत्त के अनुयायियों में प्रथम स्थान पर आते हैं । गिरते-पड़ते डॉ कँवर लाल जैन (व्यास शिष्य) भी इस पक्ष के पीछे खड़े हो गए हैं । डॉ० कँवरलाल जैन भी अब दिवंगत हैं ।

परन्तु जल्दबाज़ी में अथवा अफरा-तफरी में पं० भगवद्दत्त बी.ए.श्रीकृष्ण के निधनकाल पर अनुसन्धान करने से चूक गए । विष्णुधर्मोत्तर पुराण के एक पाठ के अनुसार—

वाताश्च-मेघवर्षेऽस्मिन् सह यक्षेण यादव !

४९ + ७ + ४ + १ = ६१ = १०६१ सप्तर्षि संवत् । दस वर्ष घटाए—१० = १०५१;

भगवान् श्रीकृष्ण ने सप्तर्षि-संवत् १०५१ = ३११२ ई० पू० में विग्रह-विसर्जन कर दिया । इस संदर्भ को पं० भगवद्दत्त स्वयं खोजकर लाए थे, परन्तु इसका समन्वय नहीं कर सके । उक्त संख्या को पूर्ववत् विधि से ई० पूर्व में पलटते हैं—

[क] इस संख्या में ७ वर्ष अपनी ओर से जमा किए: १०५१ + ७ = १०५८

[ख] घटाया ४१७०—१०५८ = **३११२ ई० पूर्व का परिणाम मिला ।**

विधि वही है: ३१११ + ३६ = **३१४८ ई० पूर्व में भारत-संग्राम** घटित हुआ—यही हमारा अभिमत है ।

युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१८८ ई० पूर्व अथवा ३१४८ ई० पूर्व [?]

कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला, जिससे निश्चित रूपेण ज्ञात हो कि सचमुच कभी युधिष्ठिर-संवत् की स्थापना हुई थी; अथवा यूं ही मनगढ़न्त स्थापना चल पड़ी ? फिर समस्या यह भी है कि उक्त काल-गणना का मूल बिन्दु कहाँ है ? उसे ३१८८ ई० पूर्व से गिनें ? या फिर ३१४८ ई० पूर्व से ? इसका संश्लेषात्मक उत्तर यह है कि आचार्य

वराहमिहिर ने प्राचीन शककाल की स्थापना किस बिन्दु से आरंभ हुई मानी है ? 'संश्लेषात्मक' उत्तर से हमारा तात्पर्य है कि उसका निर्णय उभय मार्गगामी है अर्थात् मिला-जुला है। यथा—

प्राचीनशक [क]	प्राचीनशक [ख]
युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१८८ ई० पूर्व	यु० संवत् ०० = ३१४८ ई० पूर्व
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः { —२५६६ = ६२२ ई० पूर्व }	षड्द्विकपञ्चद्वियुतः { — २५२६ = ६२२ ई० पूर्व }

काल-विज्ञान के मर्मज्ञ विद्वानों का कहना है कि इस द्वि-विध स्थापना में से एक पक्ष का निर्णयात्मक चुनाव स्वयं वराहमिहिर ने ही कर दिया है—"**आसन् मघासु मुनयः**"। अर्थात् जब सप्तर्षि मघानक्षत्र में भ्रमण कर रहे थे, उस समय के युधिष्ठिर-संवत् से **प्राचीन शककाल** का संदोहन करना चाहिए। विदित हो सप्तर्षिसंचार का द्वि-शतकीय संचार इस प्रकार है—

आश्लेषा-संचार = ३२६४—१०१ = ३१६३ ई० पूर्व तक।

मघा-संचार = ३१६३—१०१ = ३०६२ ई० पूर्व तक।

इस कालावबोधन से ३१८८ ई० पू० का पक्ष स्वयमेव निरस्त हो जाता है। हालाँकि परिणामलब्ध संख्या **६२२ ई० पूर्व**—उभयत्र समानरूप से दृग्गोचर है, तथापि पूर्वपक्ष [क] को निरस्त रखने से द्वितीय [ख] पक्ष का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है और **युधिष्ठिर-संवत् का एक निर्विकल्प 'बिन्दु' मिल जाता है, जिससे स्वस्थ एवं सुस्थिर अनुसन्धान का अवलम्बन मिल जाता है**। युधिष्ठिर-संवत् नहीं है, सो नहीं है। अगर युधिष्ठिर-संवत् है तो उसकी गणना ३१४८ ई० पूर्व से आरम्भ होगी, किसी अन्य बिन्दु से नहीं।

अथ प्रासंगिक परामर्श [२]

युधिष्ठिर-संवत् पर इस तरह का तलछट विवेचन करना बहुत ज़रूरी था। इसके दो कारण हैं। पहला—आचार्य आद्य शंकर के पट्ट शिष्यः **सुरेश्वराचार्य** का समय प्राचीन शक में दर्ज है। जब तक प्राचीनशक को किसी परम्परागत गणना से जोड़ा नहीं जाएगा, तब तक उसकी प्रामाणिकता डगमगाती रहेगी। सौभाग्य से 'प्राचीनशक' युधिष्ठिर-संवत् २५२६ से आरंभ होता है 'षड्द्विक-पञ्च-द्वियुतः शककालः तस्य राज्यस्य'। अतः उसका परिपक्व परिचय देना जरूरी था, वही लिखा है। दूसरा—पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष ने अपने-अपने तौर-तरीके से 'युधिष्ठिर-संवत्' का प्रयोग भी किया है। प्रयोग क्या किया है ? खींचतान की है। खींचतान में सबसे अधिक दुर्गति 'सचाई' की होती है। पण्डित उदयवीर शास्त्री युधिष्ठिर-संवत् २६३१ निराधार कल्पितकर ३१४०-२६३१ = ५०९ ई० पूर्व के बराबर मानकर आद्य शंकराचार्य को ठेल-ठालकर ऊपर पहुंचा देते हैं। जैनियों का युधिष्ठिर-संवत् इनसे अलग है। इस विषमभूमि में प्रशस्त मार्ग ढूंढना या बनाना कितना कष्टकर होता है, यह अनुसंधायक-समाज से छुपा हुआ नहीं है। **चूंकि आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में युधिष्ठिर-संवत् की अहम भूमिका है, अतः उसका निर्विकल्प 'मूलबिन्दु' स्थापित करना परम आवश्यक था, सो यही सोचकर लिखा है।**

युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१४८ ई० पूर्व का साल।

३. प्राचीनतम शककाल

कोई अनुसंधायक यह विश्वास करने को तैयार ही नहीं है कि कोई 'प्राचीन शककाल' नाम से काल-गणना भारत में थी भी ! हम समझते हैं—ईसवी पूर्व ५०० वर्षों का इतिहास प्राचीनशककाल के बिना लिखा जाना सम्भव

ही नहीं था। हम कतिपय सुष्ठु एवं शृंखलाबद्ध इतिहास में से चुने हुए उदाहरण उपस्थित करते हैं, ताकि आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में—अगर कहीं प्राचीन शक का लवमात्र भी प्रयोग हुआ है—उसका सदुपयोग स्थापित कर सकें।

हाथीगुम्फा-अभिलेख

पहले पुरातात्त्विक साक्ष्य को सामने रखते हैं। हाथीगुम्फा नाम से प्रसिद्ध शिलालेख महाराजा खारवेलश्री ने ३१० ई० पूर्व में उत्कीर्ण कराया था। उसमें एक वाक्य पढ़ा गया—

"पञ्चमे चेदानीं वसे नंदराज ति-वस-सत-
ओघाटितं तन सुलिय वाटा प्रणालिं नगरं प्रवेसयति।"

—खारवेलप्रशस्ति : चन्द्रकान्त बाली, पृष्ठ ८,

अर्थात् खारवेलश्री ने अपने शासन के पांचवें वर्ष में, नंद द्वारा उत्खनित प्रणाली (डिस्ट्रीब्यूटरी) को उत्खनन करते-कराते अपने नगर (कलिंग) में ले गया। वह वर्ष **ती-वस-खत = ३०० था**। जरा गंभीरता से विचार करें—

[१] राजा नन्द (नवम) का अभिषेक सप्तर्षि संवत् १०१५ = ४३० ई० पूर्व में हुआ। नन्द द्वारा उत्खनन काल की ऐतिह्य परिधि ३०० वाँ वर्ष है।

[२] राजा नन्द ने ८८ वर्ष राज्य किया। अर्थात् सप्तर्षिसंवत् ११०३ = ३४२ ईसवी पूर्व में उसका निधन हो गया। **उसी वर्ष चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक भी हुआ।**

[३] वायुपुराण के अनुसार सप्तर्षि-संवत् ११२४ = ३२१ ईसवी पूर्व में २० वर्ष शासन करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का भी निधन हो गया।

[४] उसी शृंखला में **प्राचीन शक ३०० = [६२२-३०० =]३२२ ई० पूर्व में खारवेलश्री उक्त नहर को अपने नगर में ले गया**। अतः यहां प्राचीनशक की सार्थकता सिद्ध है।

कलिंगनरेश खारवेलश्री द्वारा विसर्जित हाथीगुम्फा नामक शिलालेख में '**प्राचीनशक**' का उल्लेख हुआ है। इस समय तक यही एक प्राचीन शक का प्राचीनतम उल्लेख है। चूंकि आद्य शंकराचार्य के पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य का निधन **[प्राचीन] शक ६९५** में हुआ है; अतः उसका समन्वय सूत्र खोजना यहाँ नितान्त प्रासंगिक है। यही हमने किया है।

हिस्से बोराला-अभिलेख

महाराष्ट्र के अकोला ज़िले के बाकाटक राजाओं की राजधानी वत्सगुल्मा नदी के तटपर आबाद 'हिस्से बोराला' नामक गांवसे यह अभिलेख प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख दक्कन कालिज की प्रोफेसर महाविदुषी शोभना गोखले ने जनवरी १९६४ में उपलब्ध किया और उसका विस्तृत विवरण 'एपिग्राफिया इण्डिका' (भाग ३७; अंक १-४) में प्रकाशित किया। इस अभिलेख की प्रथम पंक्ति टूट-फूट के कारण विविध विवादों तथा विविध पाठों अर्थाधानों में उलझकर रह गई हैं। इस अभिलेख की प्रथम पंक्ति का एक वाचन का अर्थाधान इस प्रकार है:

"धर्मसुतस्य वृत्तस्य ३०००२० सप्तर्षय उत्तरासु फाल्गुनीसु शकानां ३८० !"

—डॉ. शंकर नारायणन्

प्रकृत लेखक इस बात पर पूर्णतया आश्वस्त है कि यथाकथित अभिलेख हमारी शोध प्रणाली को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए न केवल प्रासंगिक है, बल्कि शत-प्रतिशत सक्षम भी है। हमने श्रद्धा और विश्वास के साथ हिन्दू

[पौराणिक] इतिहास को सप्तर्षिसंवत् के कोमल सूत्रों से सोचने/ सुलझाने में सफलता अर्जित की है। **हम पूर्णतया विश्वस्त होकर लिख रहे हैं कि हिस्से बोराला अभिलेख का तिथि-निर्धारण सप्तर्षि-संवत् एवं प्राचीन शक के मिश्रित गणितफलागम में निहित है। जैसे कि राजतरंगिणी में है।** हिस्से बोरालाका पूर्व स्थापित सुपठित और विचारित 'पाठ' हमारा नहीं है। हम इस सुष्ठु पाठ के दावेदार भी नहीं हैं। इस पाठ का समग्र श्रेय डॉ० शंकर नारायणन् के नाम दर्ज है। अलबत्ता इस शोभन अभिलेख के सुसंगत व्याख्यान के उद्घोषक हम हैं। इस संख्या-द्वयी (३००० २०; ३८०) को ईसवी पूर्व की शीशी में उतार रहे हैं। यथा—

प्राचीनशक : पूर्व-प्रकाशित अभिमत के अनुसार ६२२ ई० पूर्व में प्राचीन शकसंवत् उदित हुआ। सो ६२२-३८० = २४२ **ई० पूर्व में** उक्त-अभिलेख का उत्कीर्ण होना काल-संगत है।

सप्तर्षि-संवत्: हमने सप्तर्षि-संवत् के नाना पाठान्तरों में से केवल इस पाठान्तर को—

यावत् परीक्षितो जन्म यावन्नंदाभिषेचनम्।
एतद् वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्॥

अधिमान दिया है, परन्तु उक्त-अभिलेख के लिए निम्न पाठान्तर—

"एतद् वर्ष सहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥"

अर्थात् सप्तर्षिसंवत् १११५ सामने रखकर विचार किया है। विदित रहे, इन पाठान्तरों की समकक्षता में ई० पूर्व वर्षों में फेरबदल होने वाला नहीं है। यथा—**सप्तर्षिसंवत् १०१५ = ३१४८** ई० पूर्व का साल; **सप्तर्षि संवत् १११५ = ३१४८** ई० पूर्व; सभी फलागम 'एकमेव' हैं। यदि प्राचीन शक [६२२ ई० पूर्व] को हासिए पर सरका दें; तब ठेठ सप्तर्षिगणना की प्रक्रिया इस प्रकार होगी। यथा–

[१] आश्लेषा शतक समाप्तः १००० = ३१६२ ई० पूर्व।

[२७०० वर्षों के पश्चात्]

(१) आश्लेषा शतक समाप्तः १००० = ४६२ ई० पूर्व का साल।

(२) मघा शतक समाप्तः ११०० = ३६२ ई० पूर्व का साल।

(३) पूर्वफाल्गुनी समाप्तः १२०० = २६२ ई० पूर्व का साल।

(४) उत्तरफाल्गुनी प्रवर्तमान : १२२० = २४२ ई० पूर्व का साल।

बात अभी स्पष्ट नहीं हुई। गाँठ जस-की-तस पड़ी है। धर्मसुतस्य वृत्तस्य [युधिष्ठिर-संवत्] ३००२० को समझना शेष है। यथा—

[१]मघाशतक -गणना : [१] ११४ + २५२६। षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालः तस्य राज्ञश्च + ३८० = ३०२० मूल पाठ के अनुरूप है।

अर्थात् सप्तर्षि संवत् ३०२० = प्राचीन शक ३८० = २४२ ई० पूर्व का साल सिद्ध होता है। विदित हो, देवसेन बाकाटक अशोक का समकालीन राजा है।

मेगास्थनीज़

यूनानी सम्राट् सैल्यूकस का राजदूत मेगास्थनीज़ ३१३ ई० पूर्व में भारत आया था। इस सच्चाई को झुठलाया नहीं जा सकता। **आधुनिक इतिहासकार [पाश्चात्य और भारतीय-दोनों] यूनानी संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में इतिहास**

लिखना पसन्द करते हैं; ठीक इसके विपरीत **हम भारतीय सूत्रों के आधार पर यूनानी इतिहास को परखने में दिलचस्पी रखते हैं।** भारतीय शिलालेखों में हाथीगुम्फा-अभिलेख ही ऐसा है, जिसमें यूनानी आक्रमण का ज़िक्र है। यूनानियों ने एक सन्धि के तहत १६० वर्ष— **जैसा कि पौराणिक संदर्भ है—अशीति द्वेः ८० + ८० =** [अर्थात् ३१२—१६० =] १५२ ई० पूर्व तक भारत के एक छोटे से प्रदेश पर शासन किया था; और जिसका उन्मूलन शुंगनरेश पुष्यमित्र ने किया था। अगर यूनानियों से पूछें कि जब मेगास्थनीज़ भारत आया था, तब भारत में किसका शासन था ? इस प्रश्न के [यूनानी संदर्भ-संगत] समाधान से ज्ञात होता है: **सैल्यूकस के आक्रमण के समय भारत में चन्द्रगुप्त का राज्य था** भारतीय सूत्र इसके विपरीत यह प्रतिपादित करते हैं कि **चन्द्रगुप्त-पुत्र बृहस्पतिगुप्त** [जिसे हम प्यार से बिन्दुसार कहते हैं] **का शासन था।** हम इस प्रकरण में हाथीगुम्फा अभिलेख का तिथि चित्र उपस्थित करते हैं। यथा—

सप्तर्षिसंवत्	प्राचीन शक	हर्ष-संवत्	मौर्यसंवत्	ईसवी पूर्व	खारवेलश्री का तिथिक्रम
	६२२ ई० पू०	४८६ ई०पू०	३२२ ई०पू०		
१०९८	२७६	१४२	—	३४६	खारवेल श्री का जन्म
११११३	२६१	१५७	—	३३१	१५-वर्षीय बचपन।
११२२	२९९	१६५	—	३२३	९-वर्षीय युवराज पद।
११२३	**३००**	**१६६**	**००**	**३२२**	**अभिषेक/प्रथमवर्ष**
११२४	३०१	१६७	०१	३२१	शातकर्णी की उपेक्षा।
११२५	३०२	१६८	०२	३२०	गन्धर्व उत्सव-समाज।
११२६	३०३	१६९	०३	३१९	भोजक-विजय।
११२७	३०४	१७०	०४	३१८	प्रणाली-विस्तार।
११२८	३०५	१७१	०५	३१७	अनुग्रह-विसर्जन।
११२९	३०६	१७२	०६	३१६	**पुत्रजन्म।**
११३१	३०८	१७४	०८	३१४	विजयप्रासाद-निर्माण
११३२	३०९	१७५	०९	३१३	भारतवर्ष- प्रस्थान
११३३	३१०	१७६	१०	३१२	अन्य राजाओं पर विजय
११३४	३११	१७७	११	३११	बृहस्पति मित्र पर आक्रमण
११३५	**३१२**	**१७८**	**१२**	**३१०**	**अभिलेख का उत्कीर्णन**
११५३	३३०	१९६	३०	२९२	खारवेलश्री का निधन।

—खारवेल प्रशस्ति : पुनर्मूल्याङ्कनः पृष्ठ ८१

सिकन्दर ने भारत पर ३२५ ई० पूर्व में आक्रमण किया था। उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन था। पुराण मतानुसार **चन्द्रगुप्त मौर्य ३४२-३२२ ई० पूर्व में** भारत पर शासन कर रहा था। ३२२ ई० पूर्व में उसका निधन पुराण-सम्मत है।

शिलालेख में पढ़ा गया : पनतरी सतसहस्त्रः ११३५ सप्तर्षि-संवत्। गणना-विधान इस प्रकार है—११३५ + ७ = ११४२; घटाया—**१४५२-११४२ = ३१०** ई० पूर्व का साल फलित हुआ।

मौर्यकाले उच्छिन्ने चौयठी : ४ + ८ = १२; ३१२—३१० = १२ मौर्य-संवत्।

यह सब लिखने का तात्पर्य है कि यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ जब भारत आया था, वह ३१२ ई० पूर्व का साल था। उसने जो संदर्भ विसर्जित किए हैं, उन्हें यूनानी आइने से नहीं, बल्कि भारतीय आइने में देखना/परखना होगा। यथा—

६४५१ : मेगास्थनीज़ लिखता है: "फादर बेकस से लेकर सिकन्दर महान् तक यहाँ [भारत में] राजाओं की १५४ (संख्या) रिकार्ड की गई है और वर्षगणना ६८५१ दर्ज की गई है।"

—उद्धृत: भारतवर्ष का बृहद् इतिहास १/९०; अनुवाद. डॉ० सूर्यकान्त बाली

ये ६४५१ के अंक सप्तर्षि-संवत् के हैं। इन्हें पूर्व प्रतिपादित विधि के अनुसार ईसवी संवत् में पलट सकते हैं। यथा—

[क] ६४५१ + ७ = ६४५८;

[ख] घटाया–६८८८–६४५८ = ४३० ई० **पूर्व में** नवम नन्द का शासन था। मेगस्थनीज़ के संदर्भ से भारतीय काल-गणना की विश्वसनीयता पुष्ट हुई है।

६०४२ : मेगास्थनीज़ का यह दूसरा संदर्भ भी सप्तर्षि-संवत् का ही है। परन्तु इस में ४-वर्षो की चूक हो गई है। हमने सप्तर्षि-संवत् के दो मण्डल स्थापित किए हैं। एक काश्मीर-मण्डल, दूसरा—पाटली-पुत्र मण्डल। दोनों के संख्या विधान में ४०५ वर्षों का व्यवधान है। यथा—

	काश्मीर-मण्डल	**पटना-मण्डल**	**व्यवधान वर्ष**
सप्तर्षिसंवत्—	६४८३ ई० पूर्व	६८८८ ई० पू०	४०५ वर्ष।
मेगास्थनीज़—	६०४२ स० संवत्	६४५१ स० संवत्	४०९ वर्ष।

अतः इस संख्या पर विचार करने से पूर्व ४ वर्षों की क्षतिपूर्ति का ध्यान रखना होगा। मेगास्थनीज़ फिर लिखता है। "आयोनिसस। अथवा फादर बेकस से लेकर सैड्राकोटस तक १५३ राजा हुए और उनका समय ६०४२ वर्ष है। परन्तु राजतन्त्र में तीन बार (रिपब्लिक) परिवर्तन हुआ, उनमें से एक ३०० वें वर्ष में, दूसरा १२० वें वर्ष में।"

[—उद्धरण और अनुवादक-पूर्ववत्।]

ये ६०४२ अंक भी सप्तर्षि-संवत् के हैं। इन्हें भी पूर्व प्रतिपादित शैली से ईसवी संवत् में पलटा जा सकता है। यथा—

[क] ६०४२ + चूक गए वर्ष + ४ + अतिरिक्त ७ वर्ष = **६०५३ सप्तर्षिसंवत्।**

(ख) घटाया ६४८३-६०५३ = ४३० ई० पूर्व वर्ष में नन्द का शासन था।

३०० : ये अंक निश्चय पूर्वक प्राचीनशक के हैं। अर्थात् ६२२-३००-३२२ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त का निधन न केवल हाथीगुम्फा-अभिलेख से प्रमाणित है, वायु/मत्स्यपुराण द्वारा भी परिपुष्ट है। वायुपुराण का कथन है—

चतुर्विंशत्समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति।

२४ = ११२४ = ३२१ ई० पूर्व का साल।

१२० : ये अंक सायरस शकसंवत् के हैं। ईरान के राजा सायरस ने ५५० ई० पूर्व में भारत पर आक्रमण किया था और अपना एक शककाल भी स्थापित किया था। उसकी गणना इस प्रकार है—

५५०-१२० = ४३० ई० पूर्व में भारत में नन्द का शासन था। इति

गंभीर विमर्श-परामर्श

मेगास्थनीज़ ने ये अंक राजधानी में राजवृत्तों से लिये थे ! इनकी प्रामाणिकता इस आधार पर संग्राह्य है कि इनके पीछे भारतीय शिलालेख, पुराणशास्त्रों का पृष्ठपोषण उपलब्ध है। इन अंक समूहों में तीन बार सत्ता परिवर्तन का संकेत है। एक संकेत नवम नन्द के अभिषेक वर्ष की ओर है; तीसरा संकेत चन्द्रगुप्त मौर्य के निधन [इसी श्रृंखला में ये बिन्दुसार = बृहस्पतिगुप्त का अभिषेक भी समझना चाहिए] की ओर है; खेद है—**दूसरा संकेत नन्द के निधन तथा चन्द्रगुप्त के अभिषेक होने की ओर अपेक्षित था,** नहीं है। मेगस्थनीज़ के संदर्भ में यही एक खामी है। यथा—

१. नवम नन्द का अभिषेक सप्तर्षि-संवत् ६४५१ सप्तर्षि-संवत् ६०४२ सायरस शक १२० **= ४३० ई० पूर्व का साल।**

२. नन्द का निधन/चन्द्रगुप्त का अभिषेक **(लुप्त है)** सप्तर्षि संवत् ११०३ [जो उपलब्ध नहीं हैं]

३. चन्द्रगुप्त का निधन और बिन्दुसार का अभिषेक प्राचीन शक ६२२ ई० पूर्व ३०० हाथीगुम्फावत्।

मेगास्थनीज़ के संदर्भ से पाटलिपुत्र का इतिहास—**४३० ई० पूर्व से ३२२ ई० पूर्व तक: १०८ वर्ष का**—न केवल परिभाषित है, बल्कि इस गणना का एक छोर प्राचीन शक से जुड़ा हुआ है; जिसका उद्गाता आचार्य वराहमिहिर है और जो युधिष्ठिर-संवत् के मूल बिन्दु : **३१४८ ई० पूर्व से** उदित माना जाता है। सप्तर्षि संवत् १०१५ में भारत-संग्राम घटित हुआ; भारत-संग्रामकाल : ३१४८ ई० पूर्व से **प्राचीनशक** आरंभ होता है। यह काल शृंखला अटूट है।

रागतरंगिणी—

सप्तर्षि-संवत् तथा प्राचीन शक की युगलबन्दी के सहारे भारत-संग्राम काल (३१४८ ई० पूर्व) सिद्ध करने वाली ऐतिहासिक पोथी 'राजतरंगिणी' दरअसल इकलौती रचना नहीं है। एक अन्य रचना : **रागतरंगिणी** का उल्लेख भी अत्र प्रासंगिक हो गया है। उसका रचयिता भी एक काश्मीरी ब्राह्मण है—**त्रिलोचन पण्डित**। उसका रचनाकाल है **सप्तर्षिसंवत् १९९१** (वायुपुराण के अनुसार)= **प्राचीन शक ८२० = १९८ ईसवी संवत् का साल**। त्रिलोचन पण्डित कल्हण पण्डित से ८५२ वर्ष पूर्ववर्ती है। उसकी बात इसलिए भी वज़न रखती है कि उसने कल्हण पण्डित से बहुत पहले प्राचीन शक का अवलंबन लिया है। त्रिलोचन पण्डित ने अपना समय लिखा है :

"भुज-वसु-दशमित शाके श्रीमद् बल्लालसेनराज्यादौ।

वर्षैक षष्टि भोग्ये मुनयस्त्वासन् विशाखायाम्।"

—उद्धृत : भारत-संग्राम का वैज्ञानिक तिथि-निरूपण; पृ. ११

इस श्लोक को विख्यापित करने का श्रेय डॉ. पद्माकरविष्णु 'वर्तक' महोदय को जाता है। यह कूट श्लोक है। इसमें दो-दो काल-गणनाओं का श्लिष्ट प्रयोग है। यथा—

१. प्राचीनशक : जैसा कि हम भूयोभूयः कह रहे हैं कि प्राचीन शक ६२२ ई० पूर्व से परिगणित चला आ रहा है। वह यहाँ भी विवक्षित है। यथा—भुज = २, वसु = ८; अंकानां वामतो गतिः से ८२ स्थिर किया; **दशमित** = दसगुणा; [यहाँ हमने श्लोक की कूट प्रकृति को समझते हुए यह किया है] ८२ × १० = **८२० शक संवत् फलित हुआ**। इसे ईसवी संवत् में इस प्रकार उतार सकते हैं: ८२० - ६२२ = १९८ ईसवी।

अत्र ई० संवत् १९८ स्थिर मानकर गणना करेंगे।

२. **सप्तर्षि-संवत्:** यहाँ सप्तर्षियों के विशाखा-संचार के ६१ वें वर्ष का प्रयोग अन्वेषणीय है । चूंकि त्रिलोचन पण्डित काश्मीरी ब्राह्मण है; अतः उसका सप्तर्षि-संवत् की काश्मीरी-परम्परा का पालन करना उसकी प्रकृति-गत विवशता है । काश्मीरी परम्परा को रेखाङ्कित करते हुए मि० वूल्हर ने यह श्लोक प्रख्यापित किया है:

"कलेर्गतैः सायवनेत्र [२५] वर्षैः सप्तर्षिवर्यास्त्रिदिवं प्रयाताः ।"

अर्थात् सप्तर्षि-संवत् का ७०० वाँ वर्ष कलि-संवत् २५ = ३०७६ ई० पूर्व में सम्पन्न हुआ । इसमें कोई ननु-नच नहीं है । जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, काश्मीरी मान्यता के अनुसार भारत-संग्राम काल इस प्रकार है—

सप्तर्षि-संवत् [प] [१०१५ = सप्तर्षि सं० [का] ६२८ = ३१४८ ई० पूर्व ।

इसका गणना विस्तार इस प्रकार से है—

१. मघा शतक समाप्त = ७०० = ३०७६ ई० पूर्व का साल ।

टिप्पणी—पूरा सप्तर्षि चक्र २७१८ वर्षों के बाद ।

पुनश्च : १. मघाशतक समाप्त = ७०० = ३५८ ई० पूर्व ।

२. पूर्व फाल्गुनी समाप्त = ८०० = २५८ ई० पूर्व ।

३. उ० फाल्गुनी समाप्त ९०० = १५८ ई० पूर्व ।

४. हस्त शतक समाप्त १००० = ५८ ई० पूर्व ।

५. चित्राशतक समाप्त ११०० = ४२ ई० संवत् ।

६. स्वाती शतक समाप्त १२०० = १४२ ई० संवत् ।

७. विशाखा संचार का वर्तमान १२६१ = २०३ ई० संवत् ॥

इस उपलब्ध फलागम में संसर्पकाल के वर्ष कम करने पर : २०३—५ = १९८ ई० संवत् पूर्ववत् प्रकाश में आया ।

अतः संवत्सर द्वयी—शक संवत् ८२० = सप्तर्षि-संवत् १२६१ = १९८ ईसवी निश्चितार्थ उक्त कूट श्लोक का उचित संदोहन है । **विदित रहे, सप्तर्षि-संवत् १२६१ [१९८ ईसवी] वायुपुराण के अनुसार है और नियमानुसार १२६१ काश्मीरी पंचांग के अनुसार है ।**

प्रकारान्तर से भी विचार कर सकते हैं । यथा—

[क] सप्तर्षि संवत् १२६१ में ७ जमा किए : **१२६१ + ७ = १२६८ वर्ष ।**

[ख] उपलब्ध वर्ष संख्या को मील पत्थर पर उत्कीर्ण संख्या से घटाया : **१२६८—१०४७ = २२१ फलितार्थ ।**

[ग] १८ + ५ = २३ अंक पुनः घटाने पर : **२२१-२३ = १९८ ईसवी वर्ष ।**

अतः त्रिलोचन पण्डित तथा कल्हण पंडित की समन्वित गणना-प्रणाली से यह सिद्ध हुआ कि **प्राचीन शक-गणना यथार्थ है और उसका आदिम मूल-बिन्दुः ६२२ ई० पूर्व भी निर्विकल्परूप से यथार्थ है और ग्राह्य हैं ।**

अथ महामन्थन

प्राचीन शककाल के उद्बोधक संदर्भ अनेक हैं । हमने केवल चार संदर्भों को उद्धृत करना पर्याप्त माना है । **हाथीगुम्फा अभिलेख, हिस्से बोराला अभिलेख, मेगास्थनीज़ और रागतरंगिणी ।** विदित हो, प्राचीनशक का पिता,

अर्थात् उसका प्रथम उद्घोषक आचार्य वराहमिहिर है। उसने भी अपने बूते पर साहसिक घोषणा नहीं की; बल्कि भगवान् गर्गाचार्य का नाम लेकर यह घोषणा की है कि जब युधिष्ठिर महाराजा शासन कर रहे थे, तब सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर थे। **सप्तर्षियों का मघा-संचार ३१६३-३०६२ ई० पूर्व का है**—ऐसा हम पहले लिख आए हैं। उसके एक बिन्दु पर 'भारत-संग्राम' अंकित है। यथा—

मघा शतक ३१६३— — (भारत संग्राम ३१४८) — ३०६२ ई०पूर्व।

[षड्पञ्चद्वियुतः] **२५२६ वर्ष** [शककालः]

६२२ ई० पूर्व।

और आचार्य वराहमिहिर का समय १९३-११३ ई० पूर्व का है, यह हम बार-बार [अन्यत्र] लिख चुके हैं। हमने तीन संदर्भ वराहमिहिर से पूर्ववर्ती उद्धृत किये हैं, केवल एक संदर्भ वराहमिहिर-परवर्ती है। यथा—

१. **वराहमिहिर-पूर्ववर्ती**—महाराजा खारवेलश्री : ३१० ई० पूर्व। मेगास्थनीज : ३१२ ई० पूर्व। देवसेन बाकाटक : २४२ ई० पूर्व।

२. **वराहमिहिर-परवर्ती**—राजतरंगिणी [१०४९ ईसवी] का लेखक कल्हण।

इनके अतिरिक्त कुछ-एक संदर्भ और भी हैं; जिन्हें विस्तार भय से नहीं ले रहे। कल्हण पंडित की 'राजतरंगिणी' एक बेमिसाल रचना है, जिसने प्राचीन शक का व्यापक प्रयोग किया है:

"लौकिकेऽब्दे चतुर्विंशे शककालस्य साम्प्रतम्।

सप्तत्याप्यधिकं यातं सहस्रं परिवत्सरः॥ १/५२,

अर्थात् सप्तर्षि संवत् २४ = **प्राचीन शक १०७०** = ४४८ ई० संवत्! यहीं से 'राजतरंगिणी' का इतिहास आरम्भ होता है और ६०१ वर्ष का इतिहास लिखकर कल्हण ने १०४९ ईसवीं में विश्राम लिया। हमने उसे यहाँ लिखा है।

हम पुराणों के प्रति निष्ठावान् हैं। पुराणस्थ काल-गणना को हम बिल्कुल यथार्थ मानते हैं। स्कन्दपुराण में एक श्लोक पढ़ा गया है—

"त्रिषु वर्षसहस्रेषु शतेनाऽप्यधिकेषु च।

शको नाम भविष्यश्च सोऽपि दारिद्र्यहारकः।"

—स्कन्दपुराण : माहेश्वरखण्ड [१] ४०/२५७,

इस स्कन्दपाठ से ज्ञात होता है कि सप्तर्षि संवत् ३१०० में शक-शासन प्रतिष्ठित हुआ। गणना की विधि पूर्ववत् है। यथा—

[क] अपनी ओर से ७ जमा किए : **३१०० + ७ = ३१०७ स्थिर किया।**

[ख] घटाया ३७६५ से : **३७६५-३१०७ = ६५८ ई० पूर्व**

टिप्पणी— **इस स्वच्छ काल-गणना में १८ वर्ष पुनः जमा करने की आवश्यकता नहीं है। वह परम्परा [१८ वर्ष पुनः जमा करने की] केवल काश्मीरी काल-गणना में वांछित है।**

—अनिवार्य ज्ञातव्य—

[१] सप्तर्षि-संवत् ३१०० = ६५८ ई० पूर्व में **'शकशासन' स्थापित हुआ।**

[२] सप्तर्षि-संवत्[१] ३५४१ = ६२२ ई० पूर्व में 'शक- संवत्' की स्थापना हुई ।

हम पूर्ण विश्वस्त होकर लिख रहे हैं कि शांकर कालगणना को इसी शककाल के आइने में परखकर अपनाना चाहिए । जनश्रुति में एक पाठ सुनने को मिलता है । यथा—

"युग्मपयोधि रसान्वितशाके"

अर्थात् ६४४ शक-संवत् में भगवान् शंकर ने विग्रह-विसर्जन कर दिया । सो गणना इस प्रकार है: **६५८-६४४ = १४ ई० पूर्व** में भगवान् शंकर का विग्रह-विसर्जन पुराण-सम्मत है । आधुनिक शोधार्थियों ने उक्त जनश्रुति का अर्थ ६४२ वर्ष स्वीकारा है और **६४२ + ७८ = ७२० ईसवी में** भगवान् शंकर का तिरोधान माना है । इस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है ।

यह सब गड़बड़झाला प्राचीन शकसंवत् के विलोपन से हुआ है ।

हम समझते है कि भारतीय इतिहास को ठीक-ठीक समझने के लिए प्राचीन, परन्तु विलुप्त काल-गणनाओं को उजागर करना निहायत निहायत ज़रूरी है । हम इसी प्रक्रिया में दत्तमनस्क हैं ।

अथ प्रासंगिक परामर्श [३]

भगवान् शंकराचार्य के काल-निर्धारण में विक्षोभ क्यों पैदा हुआ ? दर-असल इसी बात का अनुसन्धान होना चाहिए था । हो रहा है, कुछ-और । विसंगति का मूल कारण भगवान् शंकर का जन्म समय 'विक्रम-संवत्' में लिखा गया है और उनके प्रथम पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य का निधन 'शकसंवत्' में लिखा मिलता है । विक्रम-संवत् तथा शककाल में समन्वय न रहने से यह विक्षोभ पैदा हुआ है ।

४. श्रीहर्षसंवत्

भगवान् शंकराचार्य का सम्बन्ध 'नेपाल-यात्रा' से भी बताया जाता है । नेपाल का पूरा इतिहास अनेक विसंगत काल-गणनाओं में उलझा हुआ है । परमविद्वान् भगवानलाल इन्द्र जी ने नेपाल विषयक काल-गणनाओं पर श्रमपूर्वक अभ्यास किया है । **परन्तु हम अपनी प्रकृति से मजबूर हैं । हम किसी अन्य शोधार्थियों के शोध-निर्णयों पर भरोसा और निर्भरता नहीं चाहते । हम स्वयम् अपने शोध-कर्म पर निर्भर हैं** । इसी प्राकृतिक विवशता के वशीभूत हमने 'श्रीहर्षसंवत्' पर तथा 'अशोक-संवत्' पर नये सिरे-से विचार किया है ।

हमने नेपाल-इतिहास और भारतीय इतिहास के मौलिक चिन्तन के तीन 'हर्ष संवत्' स्थापित किए हैं—

प्रथम : हर्ष-संवत् ४५६ ईसवी पूर्व से—

द्वितीय : हर्ष-संवत् २१४ ईसवी संवत् से—

तृतीय : हर्ष-संवत् ४८९ ईसवी संवत् से—

प्रथम हर्ष-संवत् की, हालाँकि पुष्ट आधार से केवल एक ही शाखा मिलती है; हमने अनुमान और उपलब्धियों के आधार पर उसकी दूसरी शाखा भी सोच समझ कर स्थापित की है । हर्ष-संवत् की कौन सी शाखा आद्य शंकराचार्य के पक्ष में जाती है ? यह सब निम्न निवेचन से ज्ञात हो जाएगा ।

---

१. गणनाविधि पूर्ववत्—३५४१ में स्वेच्छया जमा किए ७ = ३५४८; घटाया—४१७०-३५४८ = ६२२ ई० पूर्व का साल सिद्ध है ।

शेष दो 'हर्ष संवत्' हमारे लिए अप्रासंगिक हैं। फिर भी जिन अनुसंधायकों को उन नेपथ्य-प्रक्षिप्त हर्ष संवतों का सांकेतिक ज्ञान प्राप्त करना ज़रूरी लगे, वे परिगतपत्रिका' वर्ष २३ अंक ३ पर छपा निबन्ध पढ़ लें।

हर्ष संवत् ०० = ४५६ ई० पूर्व [क]

इस काल-गणना का सर्वश्रेष्ठ प्रख्यापक है: **अबूरिहाँ अलबेरुनी**। वह लिखता है —"**उस प्रदेश के कुछ अधिवासियों से मुझे मालूम हुआ है कि श्रीहर्ष और विक्रमादित्य के बीच ४०० वर्षों का अन्तर है**। [अलबेरुनी का भारत : सन्तरामकृत हिन्दी अनुवाद, भाग ३/पृष्ठ ७]

जब दो काल-गणनाओं के मध्य अन्तराल-काल पर विचार किया जाता है, तो प्रथम काल-गणना का 'अन्त' और अपर कालगणना का 'आरंभ'—दोनों को आमने-सामने रखकर निर्णय लेना होता है। मालववंशी विक्रमादित्य [१] का शासनारम्भ ५८/५७ ईसवी पूर्व से माना जाता है। क्वचित् यह अंक ५६ ई० पूर्व भी देखा गया है। अत: उससे ४०० वर्ष प्राक् का मतलब है—४५७/४५६ **ईसवी पूर्व** का वर्ष। यह विवरण हमने इस आशय से प्रकाशित किया है: **कहीं ४५७/४५६ ईसवी पूर्व से प्रचालित हर्ष संवदीय काल-शृंखला को एकमेव कालगणना न समझ लिया जाय**। इस स्थापना के पीछे एक अस्पष्ट निदान और भी हैं। भारतीय संस्कृति में मरणोत्तर स्थापित कालगणना को अधिमान्य नहीं समझा गया। यह परम्परा केवल जैनसमाज में स्थापित है। यथा—**१. 'वीर-निर्वाण संवत्'** तथा **२.'मृते विक्रमराजनि'** आदि। इस प्रसंग में हर्ष-संवत् सं० = ४५६ ई० पूर्व की काल-गणना को उसके मरणोपरान्त स्थापित मान कर **उसे दूसरा दर्जा** दिया जाना उचित है। उसकी **पहले दर्जे पर गणनाधीन** कालशृंखला इससे भिन्न है और पूर्ववर्ती भी है।

यद्यपि अलबेरुनी के कथनानुसार 'हर्षसंवत्' का प्रयोग प्रयाग-प्रशस्ति तथा मथुरा/कन्नौज से प्राप्त शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा ग्रन्थों में मिलना संभाव्य है; वहीं खोजना चाहिए। अवश्य सफलता मिलेगी। परन्तु इस समय तक उपलब्धियों के अनुसार यह 'काल-गणना' केवल नेपाल के ठाकुर वंश के इतिहास को उजागर करती है। यथा—

संख्या	**नाम**	**शासनकाल**	**हर्षसंवत्**	**ई० पूर्व**	**कलियुग**	**विवरण टिप्पणी**
१.	शिवदेव वर्मा	—	११९	३३८	२७६३	आरंभ
*.	—	६१	१८०	२७७	२८२४	
२.	नरेन्द्रदेव वर्मा	४२	२२२	२३५	२८६६	
३.	भीमदेव वर्मा	३६	२५८	१९९	२९०२	
४.	विष्णुदेव वर्मा	४७	३०५	१५२	२९४९	
५.	विश्वदेववर्मा	५१	३५६	१०१	३०००	

टिप्पणी : शिवदेव वर्मा ने अपने एक अभिलेख में हर्षसंवत् ११९ का उल्लेख किया है। संभवत: यह उसके शासनारम्भ का समय है। हर्ष-संवत् ११९ का मतलब है—३३८ ईसवीपूर्व का साल।

इसी प्रकार विश्वदेव वर्मा ने भी कलिसंवत् ३००० का उल्लेख किया है, जो १०१ ई० पूर्व का द्योतक है। इस प्रकार ठाकुरीवंश का इतिहास—

	हर्षसंवत् ११९-३५६ के मध्य;
२३७ वर्षों की परिधि में है	कलिसंवत् २७६३-३००० के मध्य;
	और ई० पूर्व ३३८-१०१ के मध्य।

पूर्वोक्त परिधि में सीमाबद्ध हैं। निश्चयपूर्वक आद्य शंकराचार्य का समय परोक्षरूप से ठाकुरी वंश के इतिहास से जुड़ा हुआ नहीं है। प्रत्यक्षतः उसे ठाकुरी वंश के समानान्तर पर शासन कर रहे 'राजपूत वंश' से है।

अथ मीमांसा

उपर्युक्त हर्षसंवत् के साथ कुछ-एक छल-छिद्र भी दृग्गोचर होते हैं। ये छल-छिद्र प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० जायसवाल तथा-प्रसिद्ध आर्य-इतिहासकार पं० भगवद्दत्त ने पैदा किये हैं। इन छल-छिद्रों का समाधान नितान्त प्रासंगिक है। अगर हमने इस समाधान में तनिक भी कोताही की, समझ लो—अपना अनुसन्धान कार्य गुड़-गोबर हो जायेगा। अतः पहले यही उद्योग करते हैं।

डॉ. जायसवाल ने हाथीगुम्फा-अभिलेख पर स्तुति योग्य टिप्पणी करते हुए हर्ष-संवत् को '**नन्दसंवत्**' से अभिन्न मान लिया है [द्रष्टव्य काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०/अंक ४] और उसका आरम्भिक सूत्र वही ४५८ ई० पू० ही रहने दिया है। इस पर अनल्प आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। यथा, प्रथम नन्दवंश ने कोई संवत् स्थापित नहीं किया। [२] दूसरा, नन्द वंश में कोई 'श्रीहर्ष' नामा राजा भी नहीं हुआ। श्रुतिपरम्परा के अनुसार नौ नन्द विख्यात हैं। जिनका विवरण-पूर्वक नामोल्लेख इस प्रकार है। यथा—

सप्तर्षि संवत्	शासन काल	ई० पूर्व	नामावली—
३०४२	९	११०९	नन्दिवर्धन।
३१४३	१०१	१००५	महानन्दि।
३२३४	९१	९११	१. नन्द।
३३२५	९१	८२०	२. प्रनन्द।
३४०५	८०	७४०	३. परानन्द।
३४८५	८०	६६०	४. समानन्द।
३५६५	८०	५८०	५. प्रियानन्द।
३६४५	८०	५००	६. देवनन्द।
३६८५	४०	४६०	७. यज्ञनन्द/योगनन्द/सत्यनन्द
३७१५	३०	४३०	**८. मौर्यनन्द।**
३८०३	८८	३४२	**९. पद्मनन्द/धननन्द।**

—परिषद् पत्रिका; पटना; वर्ष २६/ अंक २/पृष्ठ ७५

इनमें से श्रीहर्ष का समीकरण किसी नन्दनामा व्यक्ति से संभव नहीं है। [३] तीसरा, ४५६, ई० पूर्व का हर्षसंवत् का मूल बिन्दु भी टिकता हुआ नज़र नहीं आता। यह समय आठवें नन्दः मौर्यनन्द का है; उसने ४६० [४५८ ई० पू०] ४३० ईसवी पूर्व तक शासन किया। जैन 'हिमवन्त थेरावली' के अनुसार आठवें नन्द : मौर्यनन्द ने कलिंग पर आक्रमण किया था। वह समय ४५२ ई० पूर्व का होना संभाव्य है। **परन्तु ४५८ ई० पूर्व में स्थापित हर्षसंवत् मरणोपरान्त प्रचलित हुआ मालूम पड़ता है।** [४] चौथा, छिद्र बड़ा भयावह है। डॉ० जायसवाल ने साहसपूर्वक पूर्वोक्त अभिन्नता स्थापित करके **नन्द-संवत् १०३** [३५५ ई० पूर्व] मे खारवेलश्री द्वारा नन्द द्वारा उत्खनित नहर का पुनरुत्खनन अथवा उसका विस्तृतीकरण बताने का प्रयास किया है। अच्छा हुआ डॉ० जायसवाल ने स्वयं नन्दसंवत् [मन में हर्ष-संवत्] के लिए ४५८ ई० पूर्व का निर्देश कर दिया है। अन्यथा स्पष्ट उल्लेख के अभाव में शोधार्थी समाज अनुमान लड़ाते-लड़ाते कहाँ से कहाँ भटक जाता। ४५८-१०३ = ३५५ ई० पूर्व में नहर का उत्खनन होना और उसके १६० ईसापूर्व में अर्थात् उत्खनन-प्रक्रिया के ठीक १९५ वर्षों के पश्चात् उसका पुनरुत्खनन गले से नीचे उतरनेवाली बात नहीं है। **स्पष्ट विदित रहे, डॉ० जायसवाल ने १६० ई० पूर्व में खारवेलश्री का समय स्थिर किया है।** इस ऐतिह्य निर्णय को अस्वीकारने में सबसे महान् कारण यह है कि मगध में (राजधानी के नाते पटना में) १६० ई० पूर्व में एक महान् शक्तिशाली राजा पुष्यमित्र शुंग शासनासीन था। ये ढेर सारी विसंगतियाँ डॉ० जायसवाल की मान्यता को सहज में निरस्त करती हैं।

यदि इस 'समीकरण' को हम भूल जाये तो 'संवत् १०३' सप्तर्षिसंवत् के अंक हैं, नन्दसंवत् के नहीं। जैसा कि हम जानते हैं कि संवत् १०३ = ११०३ = **३४२ ई० पूर्व** में नवम नन्द का निधन हुआ। यह सब हम गत नन्दवंश की सारणी में पढ़ ही चुके हैं। यदि कल्पना से काम लें—कलिंग नरेश खारवेलश्री द्वारा हर्षसंवत् १६५ + १२ = १७७, अर्थात् ४८६-१७७ = **३०९ ई० पूर्व** में नहर उत्खनन की बात मान लें, तब ये बातें बुद्धिगम्य प्रतीत होती हैं। स्मरण रहे, हमने खारवेलश्री का शासनकाल ई० पूर्व ३२२-२९२ तक स्थापित किया है। यह भी स्वीकार किया है कि कलिंगनरेश ने ३१० ई० पूर्व० में हाथीगुम्फा लेख उत्कीर्ण कराया था।

—खारवेल प्रशस्ति : पृष्ठ ८१

दूसरे किस्म का छल छिद्र पण्डित भगवद्दत्त ने स्थापित किया है। महाशय जी ने दाक्षिणात्य पण्डित यल्लयार्य के संदर्भः "**बाणाब्धिगुणदस्रोनाः "शूद्रकाब्दाः प्रकीर्तिताः**" को उद्धृत किया है और पूरी तरह से सुस्थापित ऐतिह्य शैली को गड़बड़ा दिया है। पण्डित जी कतिपय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। उन्होंने विक्रम-संवत्, 'शूद्रक संवत्' 'कृत संवत्' और श्रीहर्षसंवत् के पूर्णतया एकीकरण में पूरी 'ताकत लगा' दी है। संयोगवश शूद्रक-संवत् की परिभाषा भी दो प्रकार की फलीभूत हुई है और एक तीर से दो-दो लक्ष्यवेध की तरह सामने आई है। यथा—

[१] 'बाणाब्धिगुणदस्रोनाः'—अर्थात् २३४५ वर्ष कलियुगाब्द से घटाने पर 'शूद्रक संवत्' सामने आएगा। **यथा—३१०१-२३४५ = ७५६ ईसवी पूर्व का साल।** पुराण शास्त्रों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ७५६ ई० पूर्व में सचमुच एक विक्रमादित्य हुआ था, जिसके साथ शूद्रक-संवत् का समीकरण उचित प्रतीत होता। यथा—

> **"त्रिषु वर्षसहस्रेषु विंशत्यधिकेषु च।**
>
> **भविष्यं विक्रमादित्यं राज्यं सोऽथ प्रलप्स्यते॥**

—स्कन्दपुराण माहेश्वर खण्ड; [१] ४०/२४६

अर्थात् ३०२० सप्तर्षि-संवत् में विक्रमादित्य होगा। इस संख्या को ईसवी पूर्व में इस तरह से परिणत किया जा सकता है—

(क) मूल संख्या में ७ वर्ष जमा किए : ३०२० + ७ = ३०२७

(ख) उपलब्ध संख्या को घटाया: ३७६५–३०२७ = ७३८ वर्ष।

(ग) पुनरुपलब्ध संख्या में १८ वर्ष जमा किए। परिणामतः ७३८ + १८ = **७५६ ई० पू० फलित रहा**। जैसा कि यल्लयार्य का कथन है। परिणाम [७५६ ई० पू०] की एकता को देखते हुए पं० भगवद्दत्त का 'विक्रमसंवत्' तथा 'शूद्रक-संवत्' की अभिन्नता स्वीकार्य है।

(२) उस संदर्भ का एक अन्य अर्थाधान भी विचारणीय है। "बाणाब्धिगुणदस्रोनाः"—अर्थात् २६४५ कलियुगाब्द से घटाने पर पूर्वफलागम से भिन्न फलागम के रूप में 'शूद्रक-संवत्' सामने आएगा। यथा—३१०१-२६४५ = ४५६ ई० पूर्व का साल। यह संख्या भी श्रीहर्ष-संवत् के मूलबिन्दुः ०० = ४५६ ई० पूर्व के सामने आ जाती है। लगता है, पं० भगवद्दत्त की स्थापना निर्मूल नहीं है।

अथ मीमांसा

पूर्वोक्त संदर्भ में 'गुण' शब्द श्लिष्ट है। गुण = सत्त्व, रजः तमः, गुण तीन हैं। गुण = श्वेत, कृष्ण, पीत, हरित, रक्त-नील = गुण छह। [चित्र कोई गुण नहीं होता] हमने दोनों अर्थों को अधिमान दिया है। विचित्र संयोगवश ७५६ ईसा पूर्व की परिधि में विक्रम-शूद्रक का समीकरण तथा ४५६ ईसा पूर्व की परिधि में श्री हर्ष-शूद्रक की अभिन्नता सामने आती है। इस विसंगति पर हमारा स्पष्ट निर्णय यह है कि 'विक्रम-शूद्रक' अभिन्नता और 'श्रीहर्ष-शूद्रक' की अभिन्नता केवल 'संयोग' मात्र है, कोई वास्तविकता नहीं है। हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं—**श्रीहर्ष और शूद्रक एक समय पर हुए और अपने-अपने तौर पर संवत् स्थापित किये; जिनका मूल बिन्दु०० = ४५६ ई० पूर्व है।** इससे अधिक कुछ नहीं।

हर्ष संवत् ०० = ४८६ ई० पूर्व [ख]

अबूरिहाँ अल्बेरुनी ने हर्ष-संवत् को विक्रमसंवत् से ४०० वर्ष पूर्व स्थापित किया है। यदि यह गणना [अर्थात् ४०० विक्रम पूर्वः ४५६ ई० पूर्व] राजा हर्ष के राज्यान्तकाल की सूचक है, तो निश्चयपूर्वक उसके राज्यारम्भ की तिथि तत्पूर्ववर्ती होनी चाहिए। यही निर्धारण कर हमने श्रीहर्ष का राज्यकाल ३० वर्ष आंका है, जो असम्भाव्य नहीं है। इसी अवधारणा की परिधि में **४५६ + ३० = ४८६ ई० पूर्व में** श्रीहर्ष का अभिषेक और नये संवत् की स्थापना को आसानी से सोचा जा सकता है।

हमारी यह अवधारणा निम्नलिखित उदाहरणों पर सटीक उतरती नज़र आती है। यथा—

[क] महावंश का एक श्लोक अतीव लोकप्रिय है—

"जिननिव्वाणतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो।
साट्ठारसं बरससतद्वयं विजानियम्॥" ५/२१

अर्थात् अट्ठारस = अठारह = १८, साट्ठारसम् = अट्ठारह सहित दो सौ वर्ष में अशोक का अभिषेक हुआ। प्रायः सभी शोधार्थियों ने बुद्ध-निर्वाण तथा अशोकाभिषेक वर्ष के मध्यान्तर में **२१८ वर्षों का अन्तराल काल** मान लिया है और बुद्ध-जन्मकाल ५५८ ई० पूर्व में तथा बुद्ध-निर्वाणकाल ४९४ ईसवीं पूर्व में विख्यापित किया है। हम वायुपुराण के संदर्भ में इस स्थापना को अशुद्ध मानते हैं। वायुपुराण के अनुसार अजातशत्रु-महात्माबुद्ध-महावीर स्वामी की समकालिकता सिद्ध है, जो इस प्रकार है—

महावीर स्वामी	महात्मा बुद्ध	अजातशत्रु
जन्म १२९८ ई० पूर्व	जन्म १२७६ ई० पूर्व	अभिषेक १२२० ई० पूर्व ।
निर्वाण १२२७ ई० पू०	निर्वाण १२१२ ई० पूर्व	निधन ११९६ ई० पूर्व

इस काल-गणना को महावंश का समर्थन प्राप्त है। अतः दृढ़तापूर्वक यह निर्णय लेना कालसंगत है कि **अशोकाभिषेक से पूर्ववर्ती २१८वें वर्ष में बुद्ध-निर्वाण नहीं हुआ, बल्कि राजा श्रीहर्ष का अभिषेक हुआ।** परिणाम-स्वरूप गणना इस प्रकार है:

अशोक का अभिषेक वर्ष: ४८६-२१८ = २६८ ई० पूर्व में अशोक अभिषिक्त हुआ। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे आसानी से परे नहीं किया जा सकता।

[ख] अशोकश्री के एक शिलालेख में भी उक्त संवत् अन्वेषणीय है। अशोकश्री ने अनेक शिलालेख व स्तम्भलेख विसर्जित किये हैं। उन सभी उत्कीर्ण लेखों में जो संवत् संकेत दिए हैं, उनका सम्बन्ध उसके अभिषेक वर्ष से हैं। परन्तु एक अभिलेख ऐसा भी है, जिसमें वर्ष अंक २५६ लिखा है, जो इतिहासकारों की समझ में नहीं आ रहा कि इन अंकों को किस संवत्-गणना से सम्बद्ध माना जाय? उनकी मनःस्थिति को हम समझते हैं। हमारी दृढ़ धारणा है कि **येरगुडी में उट्टंकित अंक २५६ वास्तव में हर्षसंवत् के हैं। यथा— ४८६-२५६ = २३० ई० पूर्व में येरगुड़ी का अभिलेख उत्कीर्ण हुआ।** इति। विदित हो हमने अशोक का शासनकाल २७६-२१९ ई० पूर्व के अन्तराल में [५७ वर्ष] वर्तमान माना है। आगामी पृष्ठों पर '**अशोक-संवत्**' के बारे में विस्तारपूर्वक लिख भी रहे हैं।

[ग] महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ने एक संदर्भ तिरस्कार पूर्वक उद्धृत किया है। यथा—**दिगम्बर जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ स्थान श्रवणबेलगोला में एक लेख में वर्धमान (वीर) निर्वाण-संवत् २४९३ में विक्रम-संवत् १८८८ और शकसंवत् १७५२ होना लिखा है। जिसमें वीरनिर्वाण-संवत् और विक्रम-संवत् का अन्तर ६०५ वर्ष आता है। इस अशुद्धि का कारण माधवचन्द्र की अशुद्ध गणना का अनुसरण करना ही हो।**' और इस गणना को जाल माना है। परन्तु हम उनसे सहमत नहीं हैं। हमारे विचार जानने से पूर्व यह सारणी सामने रख लें—

संवत् नाम	विवेच्य संख्या	समन्वय
१. वीर निर्वाण संवत्	२४९३	१२२७ = ११६६ ई० पूर्व।
२. शक-संवत् [विक्रम]	१८८८	६२२ = १२६६ ई० पूर्व।
३. श्री हर्ष [शक] संवत्	१७५२	४८६ = १२६६ ई० पूर्व।

हम समझते हैं कि प्राचीन शक ६२२ ई० पूर्व में हुआ-ऐसा हम पहले लिख आए हैं। उक्त शकवंश ने अनुमानतः १६६ वर्षों तक भारत में शासन किया होगा, और उक्त वंश में विक्रम [जरूरी नहीं कि वह आदित्य भी हो] राजा तथा श्रीहर्ष जैसे राजा प्रसिद्ध भी हुए होंगे और अपने अपने शासनकाल में संवत् भी चलाए होंगे। अतः जो संवत् प्राचीन शक ०० = ६२२ ई० पूर्व = '**विक्रमशक-संवत्**' नाम से तथा अपर संवत् प्राचीन शक [ख] ०० = ४८६ ई० पू० = "**श्री हर्ष विक्रम-संवत्**" नाम से प्रसिद्ध रहे होंगे-ऐसा हमारा सटीक अनुमान है। अगर ऐसा न होता तो माधवचन्द्र उसे कदापि ऐसा शृंखलाबद्ध तथा मूलसिद्ध उद्धृत न करता।

अतः 'हर्ष-संवत्' हमारे अनुमान में हर्ष जन्म से लेकर भी एक निश्चित बिन्दु ०० = ४८६ ई० पू० से जुड़ा हुआ है।

अथ प्रासंगिक परामर्श [४]

यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि हर्ष-संवत् 'क' और 'ख' दोनों, आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में प्रत्यक्षतः उपयोगी नज़र नहीं आते। परन्तु परोक्षतः इनके योगदान को नकारा भी नहीं जा सकता। एक हर्षसंवत् नेपाल में चलता रहा; ठाकुरी वंश के इतिहास से थोड़े परवर्ती काल में आद्य शंकराचार्य का नेपाल जाना सम्भव हुआ। दूसरा हर्ष-संवत् सम्राट् अशोक की काल परिधि के स्थिरीकरण में काम-आया है। भगवान् आदि शंकराचार्य अशोक-संवत् २०० में नेपाल गए थे। हम पूर्णतया आश्वस्त हैं—ज्यों-ज्यों हर्ष-संवत्—उभय शैलियों में उजागर होगा, त्यों त्यों नेपाल का इतिहास भी निर्मल होगा और आद्य शंकराचार्य के नेपाल-प्रस्थान का इतिहास प्रामाणिक और छल-छिद्र से रहित होगा। अतः

४५६ ई० पू०	हर्ष संवत्	४८६ ई० पूर्व
[नेपाल के ठाकुरी वंश का इतिहास]		[भारत के अशोक साम्राज्य का इतिहास]

[आद्य शंकराचार्य की नेपाल-यात्रा]

५. अशोक-संवत्

सम्राट् अशोक एक प्रतापी शासक था। प्रकृत लेखक इस सोच में था कि इस नामी-धामी सम्राट् द्वारा स्थापित कोई-न-कोई संवत्गणना अवश्य होनी चाहिए। हमें अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ 'हिमवन्त थेरावली' में हम पढ़ते हैं: **"निर्वाण से २३९ वर्ष बीतने पर मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की: वहाँ के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनाकर, वहाँ पर उसने अपना 'गुप्त-संवत्सर' चलाया।"**

वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना मुनि कल्याण विजय; पृष्ठ १७१। इस कथन में अनेक विसंगतियाँ हैं। हम इन विसंगतियों पर अपनी टिप्पणी बाद में लिखेंगे पहले 'हिमवन्त थेरावली' के पुनरुद्धर्ता मुनिश्री कल्याण विजय ने इस प्रसंग में जो कहा है उस पर विहंगम दृष्टि डालकर देखना साम्प्रत रहेगा। जो इस प्रकार है: **" अशोक के गुप्त-संवत् चलाने की बात ठीक नहीं जंचती। इसी उल्लेख से उसकी अति प्राचीनता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती है।"** [पूर्ववत् पृष्ठ १७१]

हम पूर्वोक्त कथन को तर्क-वितर्क की कसौटी पर परखकर ही अपना निर्णय देंगे कि **'अशोक-संवत्'** कहाँ तक मान्य है ? कहाँ तक अमान्य है। यथा—

क्या 'अशोक-संवत्' का नाम **'गुप्त-संवत्'** स्वीकरणीय है ? इसके पक्ष में एक तर्क है: इतिहासकार हमें यह बताते हैं कि अशोक के पिता का नाम **'बिन्दुसार'** है। इस तथ्य की विश्रुति आचार्य हेमचन्द्र के 'परिशिष्ट पर्व' से हुई है। परन्तु बिन्दुसार के नितान्त समकालीन कलिंग नरेश खारवेलश्री ने मगध राजा का नाम अपने प्रसिद्ध शिलालेख हाथीगुम्फा—में **'बृहस्पतिगुप्त'** लिखा है। अधिक संभावना यह है कि सम्राट् अशोक ने अपने पिता के नाम को चमकाने के लिए नवीन संवत्-गणना को **'गुप्त-संवत्'** नाम देना पसन्द किया हो ?

उपर्युक्त संभावना के विकल्प में एक अन्य संभावना भी हमारे सामने है। सम्राट् अशोक की एक मुंहलगी महिषी भी थी, जिस का नाम है—**'तिष्यरक्षिता'**। उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जो बाद में प्रसिद्ध अशोक वंशधर सिद्ध हुआ। उसका नाम है—**तिष्यगुप्त**। वैकल्पिक संभावना अधिक प्रबल है कि सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र की कीर्ति को अक्षय रखने केलिए नया संवत् चलाया हो, और उसका नाम **'गुप्त-संवत्'** स्थिर किया हो ! हमें उपर्युक्त कथन सारगर्भित नज़र नहीं आता। कारण, मुनिश्री कल्याणविजय विश्वस्त भाव से लिखते हैं—**"वीरनिर्वाण के २३९ बीतने पर..."**। वीर-निर्वाण २३९ का अर्थ है—२८८ ई० पूर्व का साल। तब तक सम्राट् बिन्दुसार [राजनीतिक नाम

बृहस्पतिगुप्त] शासनासीन था। उसका शासन ३२२-२६८ ई० पूर्व में स्थिर होता है, **जिसमें २८८ ई० पूर्व की अवधि समाहित हो जाती है**। एक असंभव बात के संदर्भगत होते ही समग्र प्रपंच असंभव हो जाता है। एक असंभव बात और। मुनिश्री लिखते हैं—"**अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की, वहाँ के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनाकर...**" कितना लचर तर्क है। क्षेमराजा का निधन २९२ ई० पूर्व में हुआ और अशोक ने २६० ई० पूर्व में कलिंग पर चढ़ाई की थी। क्या कोई इसमें तालमेल की संभावना है? कतई नहीं।

हम 'गुप्त-संवत्' को एकदम से अस्वीकार नहीं करते। शोधविद्या के लिए इसे केवल विचारार्थ ले-लेते हैं; और '**अशोक-संवत्**' की स्वस्थापित अवधारणा को प्रकाश में लाते हैं। जो हो, अशोक-संवत् की खोज से पहले सम्राट् अशोक के तिथि-क्रम पर रोशनी डालते हैं—

ई० पूर्व का साल **विवरण—**

२७६ : सम्राट् अशोक ने राजसत्ता कब हस्तगत की? इसके बारे में पुराण-शास्त्र सर्वथा मौन हैं। राष्ट्रान्तरीय साक्ष्य : महावंश इस प्रसंग में हमारी सहायता करता है। महावंश में लिखा है:—

'जिन निवाणतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो।

साट्ठारसं सत द्वयं एवं विजानियम्॥' ५/२१

अत्र 'जिन-निवाणतो पच्छा' पाठ अशुद्ध है। बुद्ध का निर्वाण वर्ष कौन सा है? इस पर अनेक मत मिलते हैं। हमारे विश्वास में यह '**हर्षसंवत्**' है। स = सह, अट्ठारस = अट्ठारह, शतद्वयम् = २००; अर्थात् २१८ हर्ष-संवत् में अशोक का अभिषेक हुआ। सो, **४८६-२१८ = २६८ ई० पूर्व में अशोक का अभिषिक्त होना सर्वथा निश्चित है**। परन्तु उसने अभिषेक से आठ वर्ष प्राक् : **२६८ + ८ = २७६ ई० पूर्व में सत्ता हथिया ली थी**। हमें उक्त श्लोकार्थ में सप्तर्षि-संवत् ६२०० की झलक मिलती है। रस-सत द्वयम् = ६२००। इसे ईसवी पूर्व में पलटने का पूर्वज्ञात विधि इस प्रकार है—

(क) मूल संख्या से में ७ जमा किए : ६२०० + ७ = ६२०७;

(ख) सप्तर्षियों के प्रथमचक्र से घटाया—

६४८३-६२०७ = २७६ ई० पू० यथार्थ है।

अथवा—

(क) मूलसंख्या में से २७०० वर्ष कम किए। कारण इससे गणना सरल हो जाती है।

(ख) पुनः ६२८ वर्ष कम किए: ताकि ई० पूर्व के दायरे में आ जाए।

६२००-२७०० = ३५००-६२८ = २८७२ ई० पू०;

(ग) संग्रामकाल से घटाने पर: **३१४८-२८७२ = २७६ ई० पू०।**

सभी प्रणालियों से फलितार्थ २७६ ईसवी पूर्व ही है, अतः सम्राट् अशोक ने इसी वर्ष सत्ता हस्तगत की—**यही ध्रुव सत्य है।**

२६८ : इस वर्ष की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण या साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। केवल जनश्रुति का आधार है। **न ह्यमूला जनश्रुतिः**। जनश्रुति के अनुसार सत्ता-प्राप्ति के आठ वर्ष पश्चात् अशोक का अभिषेक हुआ : २७६-८ = २६८ ई० पू० यथार्थ है।

२६० अशोक ने २६० ई० पूर्व में कलिंग पर चढ़ाई की थी। शाहबाज़ गढ़ी के अभिलेख में पढ़ा गया: **"अठ वस अभिसितस देवन"** अर्थात् उक्त शिलालेख अभिषेक वर्ष के आठवें वर्ष : **कलिंग-विजय के तुरन्त बाद** उत्कीर्ण हुआ। २६८—८ = २६० ई० पू० का साल। इस वर्ष की आप्तता यह है कि इस शिलालेख में पांच यूनानी राजाओं का उल्लेख है, **जो २६० ई० पूर्व में निश्चित रूपेण वर्तमान थे**। यथा—

(१) तुरमय : शासनकाल २८५-[२६०]-२४७ ई० पूर्व के मध्य,

(२) अन्तकिनि : ई० पू० २७७-[२६०]-२३९ के मध्य में,

(३) मक : ई० पूर्व ३००-[२६०]-२५० के मध्य में;

(४) अलिकसुन्दर : ई० पू० २७२-[२६०]-ई० पूर्व के मध्य वर्तमान थे।

(५) अन्तिओक : ई० पू० २६१-[२६०]-२४६ ई० पू० का शासनकाल है।

इसमें अन्तिओक का समय बहुत संकुल है। केवल एक वर्ष तराजू पर है। **ये सभी यूनानी राजा कलिंग-काण्ड के समकालीन हैं**। अशोक के कलिंग-काण्ड की कालावधि कलिंगनरेश वक्रराय के शिलालेख तथा उसके शासनकाल से भी हो जाती है। वक्रराय ने प्राचीनशक ३३०-३६२ : तदनुसार **ई० पूर्व २९२-२६० तक शासन किया**। इससे स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक ने खारवेलपुत्र **वक्रराय** के पुत्र विदुहराय के शासनादि वर्ष में कलिंग पर आक्रमण किया था। **यही यथार्थ है।**

२५६ गिरनार से प्राप्त अशोक का शिलालेख अभिषेक वर्ष से १२ वर्ष में उत्कीर्ण हुआ। अतः उक्त लेख **२६८-१२-२५६ ईसवी पूर्व** का मानना उचित प्रतीत होता है।

२४५ यदि जैन-जनश्रुति निराधार नहीं है, तो उसके संदर्भ में यह मानना होगा कि कुणाल [नेत्रक्षति के पश्चात्] अपने पिता के अक्षत वय में उज्जयिनी का शासक बन गया था। **कुणाल को उज्जयिनी का राजा न मानकर 'आधुनिक भाषा में 'राजपाल' लिखना कहीं अधिक संगत है**। अनुमानतः यह वर्ष २४५ ईसवी पूर्व का है।

२४२ देहली-टोपरा में प्राप्त प्रथम, परम्परागत क्रम में चतुर्थ स्तम्भलेख प्राप्त है। **'सद विसतिबस अभिसितेन**' का मतलब है, अभिषेक वर्ष से २६ वर्ष पश्चात् : २६८-२६ = २४२ ईसवी पूर्व का साल ! यह स्तम्भलेख अपना इतिहास स्वयं बता रहा है।

२३७ कुणाल केवल आठ वर्ष ही शासन कर सका। २४५—८ = २३७ ई० पूर्व में कुणाल-निधन के पश्चात् उसके पुत्र सम्प्रति को उज्जयिनी का 'राज्यपाल' पद मिला।

२३० अशोक ने अपनी विसर्जित धर्मलिपियों में अपने 'अभिषेक वर्ष' का उल्लेख तो किया है, परन्तु अपने से पहले के आगत किसी संवत् का उल्लेख नहीं किया; हालांकि उसके पूर्ववर्ती मगधराजाओं के 'संवत्' जैसे कि **'नन्द-संवत्'** [४३० ई० पू०] **'मौर्य-संवत्'** [३२२ ई० पू०] प्रयोग में आ चुके थे, किसी को नहीं अपनाया। अगर अशोक अपने से पूर्ववर्ती किसी संवत्सर को प्रयोग में लाता, तो वह अधिक विश्वसनीय होता और इतिहास-सम्मत भी होता। **परन्तु येरगुड़ी अभिलेख में उसने २५६ के अंक उत्कीर्ण कराये हैं**। ये अंक किस संवत्सर के द्योतक हैं ? इसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ। ईसवी पूर्व की पांचवी-चौथी शताब्दी में 'हर्षसंवत्' का प्रचलन था, इसमें 'दो राय' का सवाल समाप्त हो चुका है। अबूरिहाँ अल्बेरुनी ने ४५६ ई० पूर्व से हर्ष-संवत् का प्रचलन स्वीकार किया है। और

हमारे अनुभव में यह आया है कि राजा श्रीहर्ष का एक संवत् ४८६ ई० पूर्व का भी है। अधुना अनुमानलभ्य तथ्य यह है—

४८६ ई० पूर्व : राजा हर्ष के अभिषेक के अवसर पर स्थापित संवत्; और

४५६ ई० पूर्व : प्रजा के ऋणमुक्त करा,उसी महोत्सव के अवसर पर स्थापित संवत्।

'यहाँ तदनुरूप विश्लेषण करके सही निर्णय लेना चाहिए। यथा—**४८६-२५६ = २३० ई० पूर्व के साल में** येरगुड़ी का अभिलेख उत्कीर्ण हुआ। अशोक के प्रसंग में 'हर्ष-संवत्' का उल्लेख कोई अनहोनी बात नहीं है। इससे पूर्ण भी 'भहावंश' को उद्धृत कर : **४८६-२१८ = २६८ ई० पूर्व में सम्राट् अशोक की चर्चा कर ही आए हैं।**

२२७ 'उज्जयिनीश्वर सम्प्रति का निधन २२७ ई० पूर्व होना सर्वसम्मत हैं। इस बिन्दु पर आकर पौराणिक साक्ष्य तथा जैन साक्ष्य बड़े आश्चर्यदायक तरीके से सहमत हैं। पुराण शास्त्रों के अनुसार : **सम्प्रतिर्दश वर्षाणि तस्य नप्ता भविष्यति।** यहाँ सामान्य दस वर्ष है; सप्तर्षिसंवत् १० नहीं है। गणना साधु है: २३७-१० = २२७ ई० पूर्व में सम्प्रति स्वर्गस्थ हुआ। जैनग्रन्थ का साक्ष्य है:

"दिनतो मम मोक्षस्य गते वर्षशतत्रये।

उज्जयिन्यां महापुर्यां भावी सम्प्रतिः भूपतिः।"

—दीपालीकल्पः गाथा १०७॥

[वीरनिर्वाण-संवत् और जैन कालगणना: पृष्ठ ७७]

यहाँ 'भावी' से तात्पर्य शासनान्त से हैं। **वीरनिर्वाण-संवत् [५२७ ई० पू०] — ३०० = २२७ ई० पू० यथार्थ है।** हमारे 'इस अर्थाधान का आधार मुनिश्री कल्याण विजय का अन्य उद्धरण है। वे लिखते है: **"महावीर निर्वाण से २९३ वर्ष पूरे हुए तब जैन धर्म का परम उपासक राजा सम्प्रति स्वर्गवासी हुआ।"** [जैन कालगणना_पृष्ठ १६८] वीरनिर्वाण संवत् २९३ का अर्थ : **५२७ ई० पू०-२९३ = २३४ ई० पू०** का साल। 'यह विसंगति इसलिए हुई कि जैन विद्वान् उतने जागरूक नहीं पाए गए, इतिहास के लिए जितनी जागरूकता अपेक्षित रहती है। जैन साक्ष्य के अनुसार—

१. सम्प्रति वीरनिर्वाण २९३ = २३४ ई० पू० में मरा;

२. सम्प्रति वीरनिर्वाण ३०० = २२७ ई० पूर्व में राजा बना।

और हमारी कालगणना के अनुसार—

१. सम्प्रति वीरनिर्वाण-संवत् २९३ = २३४ ई० पू० में [जनश्रुति के आधार पर वीर निर्वाण संवत् २९० = **२३७ ई० पूर्व**] सम्प्रति उज्जयिनी का राजा बना।

२. सम्प्रति वीरनिर्वाण-संवत् ३०० = २२७ ई० पूर्व में दिवंगत हुआ।

२१९ अशोक के निधन के बारे में विसंवाद है। आधुनिक अनुमानजीवी इतिहासकार अशोक का निधन २२२ ई० पूर्व के लगभग मानते हैं। इनके इस कथन का आधार क्या है? यह उन्हें स्वयं ज्ञात नहीं है। हमारे पास अवलम्बन केवल पुराणशास्त्रों का है। यथा—

"षड्विंशत्तु समा राजा अशोको भविता नृषु।"—वायु ९९/३३२

सप्तर्षि-संवत् १२२६ तक अशोक राजा बना रहेगा। इसे ईसवी पूर्व में इस प्रकार पलटते हैं—

[क] मूल संख्या में ७ जमा किए: १२२६ + ७ = १२३३

[ख] इसे १४५२ से घटाया १२३३ = २१९ ई० पूर्व का साल

'फलितार्थ ग्राह्य है। यह कालगणना वंशानुगत है:

सप्तर्षि सं०	ई० पूर्व	संदर्भ
१०१५	४३०	नन्दः "एतद् वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्"।
११०३	३४२	नन्द ने ८८ वर्ष राज्य किया।
११२४	३२१	मौर्य : चतुर्विंशत्समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति।
१२२६	२१९	**चन्द्रगुप्त मौर्य के निधन से** १०२ वर्ष—

पश्चात् सम्राट् अशोक दिवंगत हुआ।

अतः यह निश्चित हुआ कि मरणोपरान्त काल से निकली संवत् गणना की शृंखला में २१९ ई० पू० से 'अशोक-संवत्' गणनाधीन है।

प्रकृतमनुसरामः।

लम्बी ऊहापोह के पश्चात् भी मन को यह विश्वास नहीं हुआ कि अशोक ने कोई संवत्सर स्थापित नहीं किया होगा। अथवा उसके अनुयायियों ने उसके नाम पर कोई कालगणना आविष्कृत नहीं की होगी। इसी उधेड़बुन में हमारी दृष्टि 'पभोसागुहालेख' पर पड़ी जिसमें हमें 'अशोक-संवत्' की झलक दिखाई पड़ी। 'पभोसागुहालेख' का पाठ इस प्रकार है—

प्रथम पाठ—

१. राज्ञो गोपाली पुत्रस्स	**[राज्ञः गोपाली पुत्रस्य]**
२. बहसपति मित्रस	**[बृहस्पतिमित्रस्य]**
३. मातुलेन गोपालिया	**[मातुलेन गोपालिका]**
४. वेहिदरी पुत्रेन	**[वैहिदरी पुत्रेण]**
५. आसाढ सेनेन लेनं	**[आषाढ सेनेन लयनं]**
६. कारितं [ ] दस	**[कारितं [उदाकस्य] दश-]**
७. में सवच्छरे [छ ?] त्र करहं	**[मे वत्सरे काशपीयानं अर्ह]**
८. तानं	**[तानाम्]**

अवशिष्ट पाठ—

१. अहिछत्राया राञो शोनकायन पुत्रस्य बंगपालस्य—**अहिच्छत्राया राज्ञः शोनकायनपुत्रस्य बङ्गपालस्य**

२. पुत्रस्स राञो तेवणी पुत्रस्य भागवत पुत्रेण **पुत्रस्य त्रैवर्णिपुत्रस्य भगवतपुत्रेण**

३. वेहिदरी पुत्रेन आसाढ सेनेन कारितं— **वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितम्॥**

—भारतीय अभिलेख : डॉ० सूबेसिंह राणा; पृ० ६४

—जैन अभिलेखसंग्रहः विजयमूर्ति एम. ए; २/१२-१३ पृष्ठ

समूचे अभिलेखपाठ से ज्ञात होता है कि **बृहस्पतिमित्र के मामा आषाढसेन ने दसवें संवत्सर में लयन [गुफा] का निर्माण कराया।** यही हमारा अनुसन्धान केन्द्र है।

प्रश्न—बृहस्पतिमित्र कौन है ?

कुछ-एक शोधविद् जनों का अनुमान है कि 'हाथीगुम्फा-अभिलेख, में पठित/ चर्चित 'बृहस्पतिमित्र' यहाँ वाँछनीय है। परन्तु हम जानते हैं कि तथाकथित बृहस्पतिमित्र की ठीक-ठीक पहचान सामने नहीं है। इसके अतिरिक्त एक खटक और भी है। हाथीगुम्फा-अभिलेख का समय हमने स्थिर किया है—३१० ई० पूर्व का साल है। पात्रों और घटनावली की समीक्षा करने से पता चलता है कि राजा खारवेलश्री के समकालीन 'बृहस्पतिमित्र' तथा पभोसा-अभिलेख के बृहस्पतिमित्र में पर्याप्त पार्थक्य है। कम से कम सौ साल की दूरी निश्चित है। अत: इस विचार-बिन्दु को यहीं छोड़ आगे बढ़ते हैं।

विद्यावारिधि डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने पुष्यनक्षत्र के अधिपति गुरु ग्रह का सूत्र थाम कर **बृहस्पतिमित्र को शुंगवंशी पुष्यमित्र से अभिन्न** मान लिया है। यह केवल अटकलबाजी है। यह इतिहासपरक अनुसन्धान भी नहीं है। ज्योतिष विद्या के धौरियों का कहना है कि **बृहस्पति पुनर्वसु-विशाखा-पूर्वा भाद्रपद-इन नक्षत्रों का स्वामी है।** फिर कहाँ रही पुष्यनक्षत्र और पुष्यमित्र की बात ?

म० म० डॉक्टर मीराशी ने शुंगवंशी पुष्यमित्र के प्रपौत्र **ओद्रक** के सामन्त बृहस्पतिमित्र को खोज निकाला है और उसे 'मित्रकुलोत्पन्न ठहराते हुए मित्रान्त नामा कुछ अन्य व्यक्तियों के नाम का प्रस्ताव भी किया है। अर्थात् अपने कल्पित बृहस्पतिमित्र को मनवाने के लिए इतिहास का नया और पूरा ढांचा खड़ा कर दिया है, बात बनी नहीं।

ये सब अटकलबाजियाँ हैं। निराधार अनुमान हैं। **सत्य एक होता है; असत्य अनेक होते हैं।** अत: ये प्रस्ताव अमान्य हैं। हमारा यह 'अस्वीकरण', निराधार भी नहीं है। शुंगवंशी पुष्यमित्र 'बृहस्पतिमित्र' का नामान्तरण है, इसलिए मंजूर किया जाना उचित है—ठीक नहीं है। यह 'नामान्तरण' का उदाहरण अपने आप में खोखला है, यह 'नामान्तरण' का उदाहरण और अकेला उदाहरण है। हमें केवल 'बृहस्पतिमित्र' चाहिए; गुरुमित्र या पुष्यमित्र नहीं। शुंगवंशी ओद्राक का मित्रनामा सामन्त भी यहाँ स्थापित नज़र नहीं आता। यहाँ निरन्तर गौरतलब बात यह है कि शुंगवंशी राजा अथवा मित्रनामान्त वाले सामन्त ब्राह्मण थे, क्षत्रिय नहीं थे। ब्राह्मण राजा वैदिक मान्यताओं के प्रति अडिग रहे हैं। क्षत्रिय राजा या सामन्त 'जैनधर्म' तथा 'बौद्धधर्म' के इतस्ततः मण्डराते रहे हैं। पभोसा-अभिलेख को पढ़कर यह निश्चित राय उभरकर आती है कि जैन-अर्हतों के लिए [पूज्य मुनि,उपाध्याय आचार्य आदि] गुफा-निर्माण केवल जैन राजा ही कर सकते हैं। यही सोचकर, पूर्वोक्त अवधारणाओं में सारवत्ता को न पाकर, उन्हें स्वीकारना महाजटिल हो गया है।

हमारा विचार कुछ-और है।

इतिहासकार अशोक-परवर्ती युग में, अर्थात् ई० पू० २१९ से १९९ ई० पूर्व के दो दशाब्दों में पहुंच गए हैं। इसी युग के इतिहास पर दृक्पात करना बहुत जरूरी है। अशोक का पुत्र-दशरथ-अपनी विरासत में मिले मगध शासन पर सत्तासीन हो गया। जैनग्रन्थों में इसे 'पुण्यरथ' नाम दिया गया है। उसके एक पुत्र का नाम बृहस्पतिमित्र है। अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है—**ईसवी पूर्व २२७ में सम्प्रति-निधन के पश्चात् उसका पुत्र और उसके बाद उसका पौत्र—जिसका नाम बृहस्पति मित्र है—उज्जयिनी की गद्दी पर बैठा।** हमारा अनुमान है—उसका शासनकाल २१७-१९७ ई० पूर्व का होना संभाव्य है। उसके मामा—आषाढसेन—ने **अशोक-संवत् १० = ई० पूर्व २०९ में** पभोसा अभिलेख उत्कीर्ण कराया। उक्त मामा-भानजे का युगपत् अस्तित्व अशोक परवर्ती दो दशाब्दों के बीचों-बीच होना संभव है।

यदि यह संभव है, तो पभोसा-अभिलेख का पाठः **लयनं कारितम् अशोकस्य दशमे वत्सरे,** इति । जैसा कि पहले पढ़ चुके हैं कि पुराण मतानुसार अशोक का निधन २१९ ई० पू० = अर्थात् सप्तर्षि संवत् १२२६ में हुआ । जैन समाज में मरणोपरान्त 'कालगणना' स्थापित मानने का रिवाज़ है । अतः समग्रतः विचार-विनिमय या विमर्श/परामर्श के बाद यह तय पाया कि पभोसा अभिलेख २०९ ई० पूर्व का है, और उसमें '**अशोक-संवत्**' का उल्लेख निर्भ्रान्त है । उसके लिए ननु-नच का कोई स्थान नहीं । अतः

[१] ई० पू० २१७-१९७ में बृहस्पति मित्र का होना और आषाढ़सेन का ई० पूर्व २०९ में होना **काल-संगति-सिद्ध** है ।

[२] 'जैन धर्म' इन्हें और अधिक निकटता प्रदान करता है ।

[३] 'बृहस्पतिमित्र' तथा 'आषाढसेन' में मातुल-भागिनेय का रिश्ता तर्कानुप्राणित एवं गरिमासूचक होकर सामने आया है ।

अन्यच्च

पभोसा गुहालेख से 'अशोक-संवत्' को आधारभूमि तो अवश्य मिल गई है, परन्तु उसे प्रयोगभूमि मिलनी शेष है । जबतक प्रयोगान्तर नहीं मिल जाता, तब तक उसे '**संवत्सर-श्रृंखला**' में कड़ी-जैसा स्थान नहीं दिया जा सकता । अतः उसके प्रयोगान्तर की तलाश करते हैं । पहले इसे पढ़िए—

शिरिक व शिवदिन्न का लेख—

अभिलेख क्रमांक	स्थान	भाषा	स्थिति
८८	मथुरा	संस्कृत	भग्न

—जैन शिलालेखसंग्रहः विजयमूर्ति एम. ए.; पृष्ठ ५४

अनुवाद : "सब सिद्धों और अर्हतों को नमस्कार हो। महाराज और राजातिराज के संवत्सर २०० + ९ + ९० **[= २९९]** के शीत ऋतु के दूसरे महीने के पहले दिन भगवान् महावीर की प्रतिमा अर्हत्_मन्दिर_, इत्यादि" इति ।

इस अभिलेख में संवत् २९९ का उल्लेख है । **यह महावीरनिर्वाण-संवत् बिल्कुल नहीं है** । वीर निर्वाण-संवत् २९९ का अर्थ है—२२८ ई० पूर्व का साल । उस समय अशोक शासनासीन था । अशोक के अतिरिक्त जैन-इतिहास में राजातिराज और कौन है ? यदि कोई अनुसन्धायक राजा खारवेलश्री का नाम ले, तब भी बात नहीं बनती । **खारवेल श्री की कोई संवत्-गणना उपलब्ध नहीं है** । महाराजस्य राजातिराजस्य के अलंकार-विशेष से किसी उच्चतम 'राजा' का संकेत मिलता है । **यह विक्रम-संवत् भी नहीं है** । (प्रायः शोधार्थि-समाज 'मंवत्' या 'संवत्सर' पढ़कर विक्रमसंवत् के बारे में सोचने लगते हैं) हमारा ध्यान 'राजातिराज' पढ़कर सम्राट्-अशोक की तरफ जाता है । जैन समाज अथवा जैन इतिहास में सम्राट् अशोक का 'स्थान' शिखर पर है । हमारा दृढ़तर अनुमान है कि संवत् २९९ निश्चय पूर्वक **अशोक-संवत् २९९** अर्थात् ईसवी सन् ८० है । यदि कोई इसके अतिरिक्त, और इससे बढ़कर अनुमान-तर्क के बल पर कोई स्थापना प्रस्तुत करेगा, उस पर भी विचार किया जा सकता है ।

अनुसन्धायकों को इस पर सश्रम और सतर्क अभ्यास करना चाहिए

पुनश्च : नेपाल-प्रसंग

हमारा गन्तव्य आद्य शंकराचार्य का समय-निर्धारण है। नेपाल की ऐतिह्य चर्चा में यह भी पढ़ने को मिलता है कि भगवान् शंकराचार्य अशोक संवत् २०० में नेपाल-यात्रा पर थे। अतः यह ज़रूरी हो गया कि 'अशोक-संवत्' पर बारीकी से विचार करें। सो इस तथ्य का खुलासा करते हुए हमने अशोक-संवत् का स्थिर बिन्दु —जहाँ से गणना आरंभ करते हैं—२१९ ई० पू० का साल माना है। **पहले 'हर्ष-संवत्' के प्रसंग में 'नेपाल' था, और अब नेपाल अशोक-संवत् के प्रसंग में आ गया है।**

भारत और नेपाल के परस्पर संबंधों की चर्चा करते हुए डॉक्टर ओम प्रकाश जी लिखते हैं—

> "एक वंशावली के अनुसार अशोक अपने गुरु उपगुप्त से अनुमति लेकर नेपाल गया। उसने इस राज्य में अनेक चैत्यों का निर्माण कराया। उसने अपनी पुत्री चारुमती का विवाह नेपाल के शासक देवपाल से किया। देवपाल ने देवपाटन नगर बसाया और चारुमती ने देवपाटन के निकट एक विहार बनवाया। लुम्बिनी और निग्लीव में अशोक स्तंभ मिले हैं। रुक्मन देई स्तम्भ अभिलेख निगनी सागर अभिलेख जो नेपाल की तराई में मिले हैं, इनसे अशोक की नेपाल यात्रा की पूरी संभावना प्रतीत होती है।"
>
> —श्रेयः वर्ष १७, अंक १-२, अक्टूबर ९२, पृष्ठ २४

यह अनुमान भी है और प्रमाण भी। हम अपने कथ्य को सही-सही रूपरेखा देने के लिए यह कहना आवश्यक समझते हैं कि सम्राट् अशोक की दो-दो तिथि तालिकाएँ हैं—

[१] अशोकअभिषेक-संवत् : २६८ ई० पू० से स्थापित।

[२] अशोक-निर्वाण-संवत् : २१९ ई० पू० से गणनाधीन।

कोई विपक्ष यह न समझे—दो-दो 'अशोक-संवत्' की स्थापनाएँ चन्द्रकान्त बाली की पेपर (बेपर) की उड़ान है। नहीं। भारतीय इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनके आधीन दो-दो काल-गणनाएँ उपलब्ध हैं। यथा—

१. प्राचीन शक	(१) ६५८ ई० पूर्व से गणनाधीन है।
	(२) ६२२ ई० पू० से स्थापित और परम्परागत उपलब्ध हैं।
२. श्री हर्ष-संवत्	(१) ४८६ ई० पूर्व से परिगणित है।
	(२) ४५६ ई० पूर्व से गणनाधीन है।
३. शालिवाहन शक	(१) ई० संवत् ३२ से गणनागत (इन्द्रप्रस्थीय नृपावली में) है।
	(२) ई० संवत् ३४ से गणनासिद्ध (पृथीराजरासो में) हैं।
४. शकारिसाहसांक शक	(१) ६६ ईसवी-संवत् से परम्परागत है। [जैसे गुप्त- संवत्]।
	(२) ७८ ईसवी से गणनाधीन [राष्ट्रिय संवत्] है।

१. अशोक-संवत्—जो उसके अभिषेक वर्षः २६८ ई० पू० से चला आ रहा है। इस गणना का उपयोग अशोक ने स्वयं किया है। इसका आरम्भिक वर्ष है—

अशोक-संवत् ०० = २६८ ई० पूर्व = २८३३ कलिसंवत्।

सम्भवतः नेपालीय इतिहास में इसका प्रयोग उपलब्ध है

२. **अशोक-संवत्**—जो उसके निधन वर्ष से गिना जाता है। यह गणना जैन-मान्यता के अनुसार है और इसके प्रयोग जैन-ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। इसका

अशोक संवत् ०० = २१९ ई० पूर्व = २८८२ कलि-संवत्

आरम्भिक वर्ष है। नेपालीय इतिहास का अनुशीलन करते समय इस द्विविध 'अशोक-संवत्' की पहचान विवेक-पूर्वक रखनी चाहिए। अशोक-संवत् को आधार मान कर सारणी तैयार है, जो इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६
नृपनामावली	**शासनकाल**	**अशोक संवत् I**	**अशोक संवत् II**	**कलि संवत्**	**ईसवी पूर्व/ पश्चात्**
५ विष्णुदेव वर्मा	४७	११७	९८	२९५०	१५१ ई. पू.
६ विश्वदेव वर्मा	५१	१६८	११९	३००१	१०० ई० पू०
अंशु वर्मा	६८	१८५	१३६	३०१८	८३ ई. पू.
७ नरेन्द्रदेव वर्मा	६८	१८७	२३६	३०६९	३२ ई. पू.
८. शिवदेव वर्मा	५०	२३७	२८६	३११९	१८ ई. संवत्
९. जयदेव वर्मा	३०	२६७	३१६	३१४९	४८ ई. सं.

अन्यच्च

१३ वृषदेव वर्मा	८२	२५७	२०८	३०९०	११ ई० पू० तक
१४ शंकरदेववर्मा	६५	३२२	२७३	३१५५	५४ ईसवी
१५ धर्मदेव वर्मा	५९	३८१	३३२	३२१४	११३ ईसवी
१६ मानदेव	५१	४३२	३७३	३२६५	१६४ ई.
१७ महीदेव वर्मा	६०	४९२	४४३	३३२५	२२४ ई.
१८ वसन्तदेव वर्मा	३६	५२८	४७९	३३६१	२६० ईसवी
१९ उदयवर्मा	३७	५६५	५१६	३३९८	२९७ ईस.
२० विष्णुदेव वर्मा	५१	६१६	५६७	३४४९	३४८ ईस.
२१ अंशुवर्मा	६८	६८४	६३५	३५१७	४१६ ईस.
२२ कीर्तिवर्मा	८०	७६४	७१५	३५९७	४९६ ईस.
२३ कण्डदेव	९३	८५७	८०८	३६९०	५८९ ईस.
—	—	८६७	८१८	३७००	५९९ ईस.
२४ वीरवरदेव वर्मा	३०	८८७	८३८	३७२०	६१९ ईस.

विमर्श-परामर्श

एक: यह सारणी कलि-संवत् के मा"यम से तैयार की है । कलिसंख्या में २८३३ घटाने पर **प्रथम अशोक -संवत्** निष्पन्न होता है और उसी संख्या में से २८८२ वर्ष घटाने पर **द्वितीय अशोक-संवत्** फलित होता है । दोनों समनामा काल-गणना में ४९ वर्षों का अन्तराल है । इति ।

दो : जैसा कि बताया गया है—अशोक उपगुप्त की आज्ञा पाकर नेपाल गया था । अशोक की नेपाल यात्रा ठाकुरी वंश के भीमवर्मा के शासन काल में होनी संभाव्य है । इसके समानान्तर पर कौन सा शासक वर्तमान था ? जिसके पुत्र जयपाल से अशोक पुत्री चारुमती का विवाह हुआ—शोध का विषय है । भीमदेव वर्मा का शासन काल इस प्रकार है—

नाम	शासनकाल	हर्षसंवत्	ईसवीपूर्व	कलिसंवत्	शासनान्त
भीमदेववर्मा	३६	२५८	१९८	२९०३	—

तीन : चर्चा यह भी है कि मानदेव वर्मा ने अपने किसी अभिलेख में ३८६ तथा ४२७ संवत् का उल्लेख किया है । यह अधिलिखित संवत् कौन सा है ? इस पर विवाद है । मानदेव वर्मा ने अपने अभिलेखों में **२६८ ई० पू० से स्थापित अशोक-संवत् का निर्देश दिया है** । विदित हो मानदेव वर्मा ने अशोक-संवत् ३८१ से ४३२ के मध्यान्तर में शासन किया था । सो इसी गणना के आधार पर **अशोक-संवत् ३८६-११८ ईसवी तथा अशोक संवत् ४२७ = १५९ ईसवी** में मानदेव वर्मा ने अपने अभिलेख विसर्जित किये । इस प्रसंग में डॉ० ओमप्रकाश का निर्णय ४६० तथा ५०५ ईसवी अमान्य है ।

चार : आद्य शंकराचार्य की नेपाल-यात्रा का उल्लेख प्रायः सभी शोधार्थियों ने किया है । डॉ० बलदेव उपाध्याय ने झिझकते-झिझकते राजा शिवदेव वर्मा तथा वृषदेव का नाम लिया है, परन्तु उनका समय बताना उनके बस का नहीं था, नहीं लिखा । हम इनका शासनचित्र उपस्थित करते हैं । यथा—

शासनारम्भ	शासनान्त
शिवदेव वर्मा -५० वर्ष	
अशोक-संवत् I १८७ = ३२ ईसवी पूर्व	अशोक-संवत् २३७ = १८ ई.
वृषदेववर्मा-८२ वर्ष	
अशोक संवत् II १२६ = ९३ ई० पूर्व	अशोक-संवत् २०८ = ११ ई० पूर्व

आद्य शंकराचार्य **शिवदेववर्मा** के निमंत्रणपर २०० अशोक-संवत् में नेपाल पधारे और **वृषदेव** का आतिथ्य स्वीकारा, सं० २०१ = १८ ईसवी पूर्व में लौट आए ।

६. विक्रम संवत् [१]

विक्रम-संवत् भारत की बहुमान्य कालगणना है । यह 'संवत्' जितना बहुमान्य है, उतना ही विवादास्पद भी है । इस संवत् के बारे में कुछ-एक आपत्तियाँ बन्धी-बन्धाई हैं और चिरपरिचित हैं । यथा—

एक क्या विक्रम-संवत् की विधिपूर्वक स्थापना भी हुई है ? या यूं ही यह चल निकला है ? विधिपूर्वक स्थापना से हमारा तात्पर्य यह है कि जिस राजा ने घोषणा करके प्रजा को ऋणमुक्त किया हो, उस राजा को **अपने नाम से संवत्-स्थापना का अधिकार है** । प्रथम शकराजा ने ६२२ ई० पू० में प्रजा को ऋणमुक्त किया था । ऋणमुक्ति से तात्पर्य यह है कि राज्य में, प्रजाजन आर्थिक तंगी से परेशान होकर ऋण लेते रहते हैं, समय पड़ने पर प्रजाजन के लिए

ऋण-निवारण कठिन हो जाता है; तब तात्कालिक राजा का यह कर्तव्य होता है वह अपने राजकोष से इतना धन वितरित करे, ताकि प्रजाजन ऋणमुक्त होकर चैन की सांस ले सकें। प्रस्तावित विक्रमादित्य ने ऐसा कोई तीर नहीं मारा। अतः विधिपूर्वक विक्रम-संवत्-स्थापना की अवधारणाएँ धूमिल हैं।

दो : विक्रम-संवत् का प्राथमिक बिन्दु [अर्थात् जिस बिन्दु से गणनाएँ आरंभ होती है] का निश्चित न होना भी विवाद की दूसरा मुद्दा है। यह संवत् गणना क्वचित् **५८ ई० पू० से आरम्भ होती है, क्वचित् ५६ ई. पू. से, और बहुधा ५७ ई० पूर्व से** गिनी जाती है। यदि सचमुच यह संवत्-शृंखला राजा के अभिषेक-वर्ष से गिनी जाती, तब उसकी यह डगमगाती स्थिति न होती। सचमुच यह चिन्ता का विषय है।

तीन : जैन-समाज ने इस विक्रम-संवत् के साथ-साथ एक ऐसा छल-छिद्र जोड़ दिया है, जो उसके विरूप होने का कारण बन गया है। अर्थात् 'विक्रम-संवत्' के साथ '**मृते विक्रमराजनि**' जैसा कुत्सित विशेषण जोड़ दिया है, जो उसे सुष्ठु काल गणना-समूह से 'बहिष्कृत' रखता है। प्रश्न पैदा होता है—'**विक्रम-अभिषेक-संवत्**' ठीक है? या फिर '**विक्रम निर्वाण-संवत्**' ठीक है? दुःखद स्थिति यह भी है कि दोनों विभिन्न सत्तात्मक काल-गणनाएं संग्रहीत हैं और प्रचलित हैं। विक्रम-निर्वाण संवत् ५० ई० पूर्व से गिना जाता है।

चार : चौथी और अन्तिम आपत्ति बड़ी दमदार है, वह यह कि विक्रमसंवत् की प्रधान सूचना १४ ई० पूर्व की है, जो शृंगेरी मठ के प्रामाणिक दस्तावेज़ में दर्ज है। और इसका विघातक तर्क यह है कि 'विक्रम-संवत् की स्थापना के पश्चात् उसके अन्य नाम **कृत संवत् २८२** तथा **मालव-संवत् ४६१** प्रचलन में आ गए और एक विसंगति का प्रादुर्भाव हो गया। यहाँ प्रबल शोध-संकट यह है कि ४४५ वर्षों के शून्यान्तर का क्या किया जाय! कालगणना के मर्मज्ञ विद्वान् '**कृत-संवत्**' '**मालव-संवत्**' तथा '**विक्रम**' **संवत्**—यह क्रम स्थापित करते हैं, और इनमें अभेद भी मानते हैं। क्या यह अवधारणाएँ ठीक हैं? इत्यादि।

हमारा प्रतिपाद्य **आद्य शंकराचार्य के समय : १४ विक्रम-अभिषेक वर्ष** की संभावनाएँ तलाश करना है, जो पूर्व प्रतिपादित चार-चार आपत्तियों के संदर्भ में संशयग्रस्त हैं। हम भूयो भूयः विचार-मंथन करके इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि 'विक्रम संवत्' की विधिपूर्वक स्थापना नहीं हुई। '**विक्रम-संवत्**' का उल्लेख या अवलंबन भरोसे लायक नहीं है। दूसरी गौर तलब बात यह है कि आद्य शंकराचार्य के अभ्युदय से मात्र छह वर्ष पूर्व विक्रमादित्य का देहावसान हो चुका था। शृंगेरी मठ में उपलब्ध दस्तावेज तैयार करते समय **विक्रमादित्य के निधन के छह-या-पांच वर्ष पश्चात् आद्य शंकराचार्य का जन्म हुआ**—ऐसा लिखा जाना संभाव्य भी था और प्रासंगिक भी; जो नहीं लिखा गया। हमारा दृढ़तर अनुमान है—विक्रमादित्य के निधन की सूचना को अमंगलकारी ठहराते हुए, उससे बचकर शृंगेरी मठ का दस्तावेज तैयार हुआ है। **दस्तावेज़-प्रस्तोता ने बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए विक्रमादित्य के अभिषेक वर्ष का उल्लेख किया है**। यही ग्राह्य है। अगर दस्तावेज में प्रक्षेपक तौर पर '**विक्रमसंवत्**' लिखा जाता, तो हम उसे अवश्य जाली कहते और उसे सिद्ध करने का प्रयास भी करते, उसे सर्वथा अमान्य ठहराते भी। शृंगेरी मठ के दस्तावेज की प्रामाणिकता इसी में है कि वहाँ '**विक्रमसंवत्**' ठुकराकर **विक्रमादित्य का अभिषेक वर्ष १४ लिखा है**। हमें यही स्वीकार्य है। एक अप्रासंगिक बात। विक्रमादित्य-पुत्र शिलादित्य का अभिषेक ५० ई० पूर्व में हुआ। शृंगेरी मठ के दस्तावेज़ तैयार करते समय **शिलादित्य-अभिषेक वर्ष छह [अथवा पांच] लिखा जाना उचित था,** जो यही लिखा गया। अनुमान के द्वारा इसके दो कारण विचाराधीन हैं—(१) विक्रमादित्य-पुत्र 'शिलादित्य' कोई ऊर्जस्वी राजा न था। उसके अभिषेक का उल्लेख होना या न होना इतिहास में बेमतलब की बात है। (२) यदि उसका अभिषेक वर्ष लिखा जाता, तो मृते विक्रमराजानि' के समकक्ष होने से अमंगलवाचक होता। यथा—**शिलादित्य संवत् ६ = मृते विक्रम राजनि ६ = ४४ ई० पूर्व में आद्यशंकराचार्य का जन्म लिखना अशुभ होता।**

हम आगे चलकर दो संदर्भों पर विचार करने वाले हैं। यथा—

१. **रस-गुण-वसु-चन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात्**—

२. **मुनि-गुण-वसु-चन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात्**—

इन संदर्भों से पता चलता है कि अभिषेक वर्ष अर्थात् राज्यारंभ वर्ष लिखने की परम्परा रही है। इस परम्परा को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'संवत्-गणना' के अभाव में 'राज्यात्' लिख कर कालगणना स्थापित करना लोकमान्य है और विश्वसनीय है। अतः **शृंगेरी मठ में उपलब्ध विक्रमादित्य के अभिषेक वर्ष १४** का उल्लेख सर्वथा आप्त है, अतः वह आदरणीय एवं संग्रहणीय है।

विक्रम-संवत् [२]

प्रथम विक्रमसंवत् [५८ ई.पू.] की अपेक्षा द्वितीय विक्रम संवत् [३६ ई.पू.] अधिक महिमावन्त है। आद्य शंकराचार्य की समकालिकता के संदर्भ में उसकी-प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। इस विलुप्त-प्राय विक्रमसंवत् : ३६-ई.पू. के, पूर्ण विकास के लिए 'पृष्ठभूमि' 'उद्‌भव' 'प्रयोग और पहचान' 'शृंखलाबद्ध विकास' के शीर्षकों के संदर्भ में यह निबन्ध प्रस्तुत है।

१. पृष्ठभूमिः यह 'विक्रम-संवत्' कोई अपरिचित-सा संवत् नहीं है, बल्कि पहले विक्रम-संवत् [५८ ई० पू०] का परिष्कृत प्रयोगान्तर है। पहला विक्रमसंवत् पितामह द्वारा स्थापित है, दूसरा विक्रमसंवत् उसके पौत्र द्वारा स्थापित है। यह जानने के लिए एक दृष्टि मौर्यवंश के इतिहास पर डालना ज़रूरी है। यथा—

१. द्रव्यवर्धनपुत्र **चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय** : १६०-१४६ ई.पू.।

२. सिद्धसेन साहसांक : १४६ ई.पू. से ११६ ई.पू. तक।

३. विक्रमार्क : ११६-९४ ई.पू.।

४. गर्दभिल्ल : ९४ ई.पू. से ७१ ई.पूर्व। } कुषाणशासन ?

५. गन्धर्व सेन : ६८ ई.पू. से—

६. विक्रमादित्य : ५८-५० ई. पू.। [विक्रम संवत् ५८ ई. का स्थापक]

७. शिलादित्य : ५० ई. पूर्व से ३६ ई. पूर्व।

८. विक्रमादित्य : ३६ ई० पूर्व से १४ ई. पू. तक। [विक्रम-संवत् : ३६-ई.पू. का स्थापक]

९. सारवाहन [अथवा शालिवाहन] १४ ई.पू. से ईसवी सन् २० तक।

१०. नरवाहन : २०-३४ ईसवी सन् तक शासनकाल।

ईसवी सन् ३४ से गन्धर्वसेन पुत्र शालिवाहन-विक्रमादित्य ने नरवाहन को परास्त कर उससे उज्जयिनी छीन ली। जैसा कि भविष्यपुराण का साक्ष्य है—

"एतस्मिनन्तरे तत्र शालिवाहनभूपतिः।
विक्रमादित्य-पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्।"

ईसवीं सन् ३४ में दूसरी बार मौर्यवंश उच्छिन्न हुआ।

संवत्-स्थापकों के वंश में तीनों विक्रमादित्य [३,६ और ८ क्रमांक] संवत्-स्थापक हुए हैं। इस मजबूत आनुवंशिक पृष्ठभूमि में उजागर हुए 'विक्रम-संवत्' की प्रासंगिकता को समझना जरूरी है।

उद्भवः लोग बाग पूछ सकते हैं– इस विलुप्त प्राय 'विक्रम-संवत्' की सूझ-बूझ कैसे उदित हुई ? उत्तर में निवेदन है कि अरब यात्री अबूरिहाँ के छोटे-से वाक्य से हमें तथाकथित संवत्-गणना की समझ आ गई। यथा—

"ज्योतिषियों का संवत् शककाल के ५८७ वर्ष पश्चात् आरम्भ होता है।"

—अलबैरुनी का भारत : तीसरा भाग, पृष्ठ ९

इस सूत्र में समग्र काल-विज्ञान तथा उस पर आश्रित इतिहास सिमटा हुआ है। यथा—

[१] इसका मूल उद्गम 'युधिष्ठिर-संवत्' है, हालाँकि वह इसमें संकेताधीन नहीं है। फिर भी है। जैसा कि विगत पंक्तियों में लिख आए हैं—भारतसंग्राम ३१४८ ई.पू. में सम्पन्न हुआ और **वहीं से युधिष्ठिर-संवत् गणनाधीन है। युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१४८ ई. पू. का साल।** यह हमारा अभिमत है। कुछ विद्वान् भारत संग्राम ३१४८ ई० पूर्व न मानकर, ई० पू० ३१४९ में उसका होना मानते हैं। वही पक्ष यहाँ प्रासंगिक है।

[२] आचार्य वराहमिहिर ने युधिष्ठिर-संवत् से २५२६ वर्ष बाद 'शककाल' का उद्भव माना है:

'आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।

षड्द्विक-पंच-द्वियातः [२५२६] शककालः तस्य राज्यस्य ॥'

सो, ३१४९-२५२६ = ६२३ ई. पू. शककाल विलुप्त हो गया है। जब कि 'राजतरंगिणी' जैसा प्रामाणिक इतिहास प्राचीन शककाल के माध्यम से लिखा गया है। अधुना ६२३ ई. पू. का प्राचीनशक यहाँ अभिप्रेत है।

[३] अबूरिहाँ अलबैरूनी के कथनानुसार पूर्वोक्त शककाल से ५८७ वर्ष पश्चात् नए संवत् का प्रादुर्भाव हुआ। गणना बड़ी ही सरल है–**६२३-५८७ = ३६ ई० पूर्व से ज्योतिषियों का संवत् चल निकला**–जिसे हमने 'विक्रमसंवत् [२] का नाम देकर अपना पक्ष स्थापित किया है।

प्रासंगिक चर्चाः चर्चा की जाती है कि विक्रमादित्य [प्रथम] ने नेपाल पर चढ़ाई की थी। इस चर्चा में हमारी भागीदारी 'शून्य' के बराबर है। विक्रमादित्य [प्र] को अपनी शासन-व्यवस्था को संभालने में ही सात-आठ वर्ष खप गए। ५० ई० पू० में उसका निधन निश्चित है, जैसा कि 'शत्रुघ्नमाहात्म्य' का यह श्लोक सिद्ध करता है—

"सप्त-सप्ततिमब्दानामतिक्रम्य चतुःशतीम्।

विक्रमात् शिलादित्यः भविता धर्मवृद्धिकृत् ॥"

महावीर निर्वाणकाल ई.पू. ५२७-४७७ = ५० ई० पू० में शिलादित्य का दिवंगत होना निश्चित है। इस अवधि में विक्रमादित्य (प्र) की नेपाल पर चढ़ाई केवल कल्पनालोक की गाथा है।

यदि सचमुच विक्रमादित्यनामा किसी व्यक्ति ने नेपाल पर चढ़ाई की होगी, तो वह मौर्यवंश का अष्टम घटक विक्रमभूपति ही हो सकता है। इस संभावना के गर्भ में संभावना यह भी है कि नेपाल में एक तरफ शिवदेव वर्मा [३२ ई.पू. से १८ ई.तक] का शासन था; दूसरी तरफ वृषदेव वर्मा का शासन रहा होगा। **प्रायः यही स्थिति आद्यशंकराचार्य के नेपाल-प्रवास काल की थी।** इस अनुमानाश्रित चर्चा के प्रति हम तनिक भी उत्साहित नही है।

श्रूयते। सुना जाता है कि विक्रम भूपति ने प्रजा को ऋणमुक्त करके विधिपूर्वक संवत्-स्थापना की थी। हमें **यह जनश्रुति भी सटीक नहीं लगती।** कारण, प्रासंगिक विक्रमादित्य के सखा 'ज्योतिर्विदाभरण' के यशस्वी लेखक कालिदास का कथन कुछ-और है—

येनास्मिन् वसुधातले शकगणान् सर्वा दिशाः संगरे।

हत्वा नव पञ्चप्रमान् कलियुगे शकप्रवृत्तिः कृता।"

—ज्योतिर्विदाभरणः २२/१३

इस पाठ के दो अभिप्राय प्रकट होते हैं—[१] विक्रमभूपति ने प्रजा को ऋणमुक्त नहीं किया। [२] शक विजय के उपलक्ष्य में ९x५ = ४५ सप्तर्षि-संवत् **[वस्तुतः ३७४५ सप्तर्षि संवत्]** =३१ ई० पूर्व में शककाल की स्थापना की।

यह ज्योतिर्विदाभरण के पाठ का अर्थाधान हमारे गले से नीचे उतरा।

शृंखलाबद्ध-विकास : प्रस्तावित विक्रमसंवत् : ३६ ई.पू., हमारे ज़हन में एकदम नहीं उतरा। हमने शोध करके देखा कि इसका प्रथम नाम **'कृतसंवत्'** है। कृतका अर्थ है—चारः ४। यह अपने वंश का चौथा संवत् है। यथा—

[१] साहसांक-संवत् : १४६ ई. पू.;

[२] विक्रम-संवत् : ११६ ई. पू.;

[३] विक्रम-संवत्: ५८ ई. पू.;

[४] कृत-संवत् = मालव-संवत् = विक्रम-संवत् : ३६ ई. पू.।

और यह परम्परा निरन्तर २०० वर्ष तक अक्षुण्ण रही। २४६ ईसवी से ४४५ ईसवी तक। कहने वाले यह प्रश्न उठाएँगे कि 'कृत संवत्' और 'मालवसंवत्' ५८ ई.पू.की कालगणना से जुड़े हुए हैं। यहाँ उनका गठबंधन कैसे हो गया? उत्तर में निवेदन कि इनका प्रयोग ३६-ई.पू. के संवत् के लिए उचित है, न कि ५८ ई.पू. के संवत् के लिए। एक उदाहरण देकर हम इसका खुलासा करेंगे। यथा

"कृतेहि ३००-३०-५ [३३५] जरा [ज्येष्ठ] शुद्धस्य पंचदशी।"

—विक्रम स्मृतिग्रन्थः पृष्ठ ५०/पंक्ति ६

पूर्वोक्त पंक्ति ज्येष्ठ शुद्धमास की पूर्णिमा का संकेत है। अर्थात् उस वर्ष ज्येष्ठ अधिक मास था। **हमने गणित करके परखा है कि ३३५-५८ = २७७ ईसवी में कोई ज्येष्ठ अधिक मास नहीं है, इसके विपरीत ३३५-३६ = २९९ ईसवी सन् में ज्येष्ठ अधिक मास है।** निष्कर्षतः हमने तय किया कि 'कृतसंवत्' ३६ ई.पू. से गिनना ही यथार्थ है, यही स्थिति **'मालव-संवत्'** की है। वैसे नृवंश-विज्ञान के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य [प्र०]: ३२२ ई. पू., से लेकर नरवाहन : ३४ ई. तक सभी 'घटक' मालव-जातीय अलंकरण के पात्र हैं, परन्तु किसी लेखक ने अपने स्तोतव्य राजा को 'मालव' नहीं लिखाः जबकि वे मालव हैं। सबसे पहले विक्रमादित्य [३६ ई. पू.] के सखा कालिदास ने अपने इष्ट पात्र को 'मालव' लिखा हैः

"मत्तोऽधुना कृतिरियं सति मालवेन्द्रे श्रीविक्रमार्कनृपराजकरे समासीत्॥

—ज्योतिर्विदाभरणः ग्रन्थाध्याये ७ श्लोकः

हमें भलीभान्ति ज्ञान है 'कृत-मालव-विक्रम संवत्' की मजबूत काल-शृंखला से प्रेरित होकर, परवर्ती शिलालेखों में विक्रम-संवत् [५८ ई. पू.] के स्थापक विक्रमादित्य के शासन को **'मालवगणस्थिति'** कहा गया। यह प्रसिद्धि की विलोम गति हमारे लिए आश्चर्यकारक है।

पहचान और प्रयोग : ३६-ई० पूर्व के विक्रमसंवत् की एक खास पहचान है। वह यह कि इस संवत् के स्थापक 'विक्रमादित्य' को विक्रमादित्य न मानकर '**विक्रमनृपति**' या इसका पर्यायवाचक विशेषण लिखा मिलता है। इस स्थापना के समर्थन में कतिपय प्रयोग उपस्थित हैं। यथा—

१. यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी।

२. श्रीविक्रमार्कनृप-संसदि—

३. सोऽयं विक्रमभूपति र्विजयते।

४. श्रीमद् विक्रमभूभुजा-

५. श्रीमद् विक्रमभूभृताऽखिल—

६. श्रीविक्रमार्क नृपसंसदि-

—ज्योतिर्विदाभरणः९ से १९ श्लोक

७. विक्रमादित्यभूभुजा अष्टाविंशति संयुक्ते शते दशगुणे सति।

—विक्रम स्मृति ग्रन्थ : पृष्ठ ५१

इस प्रकार की पहचान के संदर्भ अन्य प्रयोग भी विचारणीय हो सकते है। उक्त प्रयोग-शृंखला में चमचमाते वृहत्संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में—

हरिस्वामी

का नाम विशेष उल्लेखनीय है। **ये हरिस्वामी शतपथ ब्राह्मण के टीकाकार विख्यात हैं।** भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारण में हरिस्वामी का अस्तित्व अचूक साक्ष्य के रूप में जितना विश्वसनीय है, अतएव संग्राह्य है, वह उतना ही विवाद के आलवाल में जा पहुंचा है। पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. लक्ष्मणस्वरूप ने हरिस्वामी के काल-सूचक संदर्भ को जिस पेचीदा अर्थाधान में जा घुसेड़ा है, उस से न तो डॉ. लक्ष्मणस्वरूप की गरिमा में बढ़ोत्तरी हुई है, न ही वैदिक विद्वान् हरिस्वामी को उचित ठौर-ठिकाना ही मिल सका है। यह दुःखद गाथा अन्यत्र पढ़ने को मिलेगी। इसी श्रेणी में पं. सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे का तथा म.म. पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक का नाम लिखकर हम परेशान हैं।

"सप्तत्रिंशत्छातानि वै। चत्वरिंशत्समा श्चान्याः"

पद के तोड़फोड़ की इतनी आवश्यकता न थी, जितनी कि उक्त दोनों महानुभावों ने तोड़-फोड़ में अभ्यास किया है। हम इस दुःखदायी प्रसंग को यहीं विराम देते हैं।

हरिस्वामी विक्रमादित्य-भूभृत् का सभारत्न था, यह बता रहे हैं—ज्योतिर्विदाभरण का यशस्वी लेखक 'कालिदास।' विदित हो—हमारे अनुसंधान के अनुसार, **नाटककार कालिदास का समय : ईसवी संवत् ५०-८० है; ठीक उसी प्रकार महाकवि कालिदास का समय ईसवी संवत् ३५०-३८० है। हमारा प्रासंगिक कालिदास इन प्रसिद्धतम कालिदासों से सर्वथा भिन्न है और इनसे पूर्ववर्ती है।** ज्योतिर्विद् कालिदास प्रथम विक्रमादित्य [५८ ई.पू.] की ब्रह्मसंसत् का एक घटक है, तथा परवर्ती विक्रमादित्य राजा [३६ ई.पू.] का सखा है। इस बात का स्पष्टीकरण उसने स्वयं अभिव्यक्त किया है—

"श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि मान्यबुद्धि

तत्राऽप्यहं नृपसखा किल कालिदासः ॥ २२/१९

उसी ने पृथक्कालवर्ती उभय नृपतियों की ब्रह्मसंसत् के सदस्यों की सूचना दी है—

प्रथम विक्रमादित्य की ब्रह्म-संसत्	**द्वितीय विक्रमादित्य की ब्रह्मसंसत्**
[५८ ई० पू.]	[३६ ई.पू.]
धन्वन्तरिः क्षपणोऽमरसिंहशङ्कुः वेतालभट्ट घटकर्पर-**कालिदासाः** । ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव-विक्रमस्य **(ज्योतिर्विदाभरण २२/१०)**	शङ्कुः सुवाग् वररुचिर्मणिरङ्गुदत्तः विष्णुः **त्रिलोचन हरी** घटकर्परख्यः अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वाः यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽभी **(पूर्ववत् २२/८)**

इस ब्रह्मसंसद्-द्वयी की नामावली पढ़कर यह निर्णय आसानी से लिया सकता है कि कुछ विद्वान् पूर्व ब्रह्म-संसत् में उपस्थित थे और उत्तर ब्रह्मसंसत् में न थे; कुछ-एक घटक उत्तर ब्रह्म-संसत् में विद्यमान हैं, जो पूर्वब्रह्मसंसद् में अनुपस्थित थे। इस नामावली में चार सांसद् उभय ब्रह्म-संसत् की शोभा बढ़ा रहे थे।

१. **पूर्ववर्ती :** विक्रमादित्य प्रथम के विद्वान् सांसद हैं—धन्वन्तरि, क्षपणक, वेताल भट्ट और वराहमिहिर। इन में से कुछ वृद्ध होने से अप्रासंगिक हो गए, या दिवंगत हो गए।

२. **परवर्ती :** विक्रमादित्य नरेश [द्वितीय] के ब्रह्मसांसदों के नाम हैं—

मणि, अंगुदत्त, जिष्णु, त्रिलोचन और **हरि, अर्थात् हरिस्वामी**। ये नवागन्तुक विद्वान् निश्चयपूर्वक युवा रहे होंगे।

३. **उभयवर्ती :** ये विद्वान्—शंकु, वररुचि [सुवाक्] घटकर्पर तथा अमरसिंह विक्रमादित्य [प्र] तथा विक्रमनृपति [द्वि] के सम्मानभाजन गौरवशाली रहे होंगे।

४. **इकलौता व्यक्ति :** ज्योतिर्विदाभरण का लेखक कालिदास प्रथम विक्रमादित्य का ब्रह्मसांसद तो था ही; द्वितीय विक्रमादित्यनृपति का सखा भी था। **विक्रमादित्य द्वितीय तथा कालिदास न केवल वयोमान में समतोल बराबर थे, बल्कि रुचि-साम्य भी इनके मैत्री भाव का आधार रहा होगा।** श्रूयते, विक्रमादित्य राजा भी स्वयं ज्योतिर्विद् थे और उसकी कोई ज्योतिष-रचना भी चर्चा में सुनाई पड़ती है। यह शोध का विषय है।

अथ मीमांसा : [१] शंकराचार्य के समयनिर्धारण में उभय विक्रमादित्यों की प्रासंगिकता सुरक्षित है। प्रथम विक्रमादित्य जनता की स्मृति में हमेशा तरोताज़ा रहा। विशेषतया उसका 'राज्याभिषेक' इतिहास का मील पत्थर बनकर सद्यःस्फूर्त रहा। **यही कारण है, भगवान् शंकराचार्य के जन्मनिर्धारण में अभिषेक वर्ष—जो जनता जगत् में सम्मानपूर्वक आच्छादित रहा—का उल्लेख अब साम्प्रत लगता है।**

अथ मीमांसा : [२] विक्रमादित्य का पौत्र विक्रमादित्य नृपति आद्य शंकराचार्य का किंचित् कालवर्ती समकालिक है। विक्रमादित्य नृपति अपने दादा से मात्र ५०—१४ = ३६ **ईसवीपूर्व के गणित से परवर्ती है। आद्य शंकराचार्य का जन्म विक्रमादित्य नृपति से आठ वर्ष प्राक् हो चुका था : ३६ + ८ = ४४ ई. पूर्व। विक्रमादित्य नृपति का निधन १४ ईसवी पूर्व में हुआ, जबकि आद्यशंकराचार्य का विग्रह विसर्जन १३ ई० पूर्व का माना जाता है। केवल एक वर्ष का अन्तर है।** आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में प्रथम विक्रमादित्य का उल्लेख सटीक हैं। **काश! आद्य शंकराचार्य के समयनिर्धारण में विक्रमादित्य नृपति [द्वि] का किंचिन्मात्र भी संकेत मिल पाता, तो वह एक चमत्कार होता।** विक्रमादित्यनृपति न सही, उसका ब्रह्म-सांसद हरिस्वामी—परोक्ष ही सही—आद्य शंकराचार्य के समयनिर्धारण में अहम भूमिका निभा रहा है।

अथ मीमांसा : [३] हम अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए विक्रमादित्य नृपति-हरिस्वामी-कालिदास तथा **आद्य शंकराचार्य की** तिथि तालिका—जो बनावट में अधिक संकुल हो गई है—उपस्थित करते है, ताकि विक्रमादित्य नृपति (३६ ई.पू.) की प्रासंगिकता धवल रहे। यथा—

इधर	ईसवी पूर्व	उधर
हरिस्वामी का शतपथ टीकाकाल	३६	———
विक्रमनृपति का अभिषेक	३६	———
ज्योतिर्विदाभरण का रचना काल	३३	———
———	१९	आद्य शंकर की नेपाल-यात्रा।
———	१६	देव्यराधक्षमास्तोत्र-रचना।
विक्रमनृपति का निधन	१४	———
———	१३	आद्यशंकराचार्य का निधन

इस तिथि-चित्र में गड़बड़ की गुंजाइश नहीं है।

निश्चयपूर्वक आद्य शंकराचार्य के समयनिर्धारण में प्रथम विक्रमादित्य की प्रासंगिकता बड़ी बलवती है और प्रत्यक्ष है और विक्रमादित्य नृपति [द्वि] की प्रासंगिता शून्य है, **परन्तु उसके ब्रह्मसांसद हरिस्वामी की प्रासंगिकता छल-छिद्र रहित है।** इति।

७. गुप्त-संवत्

अपनी साध्य काल-शृंखला की अन्तिम कड़ी है—**गुप्त-संवत्**। गुप्त-संवत् हमारा प्रिय अनुसन्धान विषय रहा है। इस पर हमारा एक विस्तृत निबन्ध इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकाडमी द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक **हिन्दुस्तानी** शोध-पत्रिका (भाग २४/२ अंक : अप्रैल जून १९६३) में प्रकाशित है। तब हमने प्रतिपादित किया था: **गुप्तसंवत् ईसवी संवत् ३०७ से स्थापित हुआ था;** न कि ३१९-२० ईसवीं से। हम आज भी उस निर्णय पर स्थितप्रज्ञ है। इधर भारतीय और पाश्चात्य कालविद् विद्वानों ने अपनी विसंगतिपूर्ण टिप्पणियों से 'गुप्त-संवत्' को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया है। इस प्रसंग में भारतीय इतिहास के नव उन्नायक **पं. भगवद्दत्त बी.ए.** ने कुछ दुःसाहसपूर्ण निर्णय लिये हैं। उनके कथनानुसार **गुप्त-संवत् गुप्तों के विनाश के बाद चला।** उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह धारणा निरस्त हो चुकी है। उनकी दूसरी मान्यता के अनुसार **विक्रम-संवत्** और **गुप्त-संवत्** अभिन्न है। यदि यह बात मान ली जाय तो गुप्त-संवत् ५७ ईसा पूर्व, अर्थात् उनके विनाश के पश्चात् चला; और गुप्तों ने २४३ वर्ष राज्य किया। इस गणित से **५७ + २४३ = ३०० ईसवी पूर्व से** गुप्तों का शासनारम्भ मानने की बात बहुत जरूरी हो जाती है। हम पाश्चात्यों की बात नहीं मानते। परन्तु **पुराणशास्त्रों की अनदेखी भी तो नहीं की जा सकती!** यह सर्वविदित है और पुराणशास्त्र-सम्मत भी है कि आन्ध्रवंश के पतन के पश्चात् गुप्तों का उदय हुआ। यह बात स्वयं भगवद्दत्त की बताई हुई है। पुराणशास्त्रों में आन्ध्रों का शासनान्तकाल इस प्रकार सूचित है। यथा—

> **"समाः शतानि चत्वारि पञ्च षड् वै तथैव च।**
> **आन्ध्राणां संस्थिताः पञ्च तेषां वंशः समाः पुनः॥"**

—वायुपुराण, अध्याय ९९ श्लोक ३५२

इसका अर्थ है—४०० + ५ + ६ + ५ = ४१६ = सप्तर्षि-संवत् [४] ४१६। अन्य मतानुसार—४०० + ५ + ६ + ५ + ५ = ४२१ = [४] ४२१ सप्तर्षि-संवत् है। संख्या में लाघव रखने के हेतु २७०० कम करना सुष्ठु रहेगा। शेष जानी-पहचानी विधि से इसे ईसवी पूर्व में पलट भी सकते हैं। यथा—

[क] ४४२१-२७०० = १७२१ सामान्य वर्ष है।

[ख] इस संख्या में ७-जमा किए। १७२१ + ७ = १७२८।

[ग] इसे तीसरे सप्तर्षि-भगण से घटाने की अपेक्षा है—

१७२८—१४५२ = २७६ ई. संवत् में चन्द्रगुप्त प्रथम ने आन्ध्र राजाओं को पाटलीपुत्र से अपदस्थ कर सत्ता स्वयं संभाली।

इस प्रसंग में अपनी पक्की और अडिग राय यह है कि **चन्द्रगुप्त प्रथम ने २७७ ई. संवत् में गुप्त-संवत् की स्थापना की**। सौभाग्यवश इस विस्मृत प्राय संवत्-गणना के प्रयोग भी मिलते हैं।

दुर्भाग्यवश इस अन्तराल में विश्वस्फणि (क्वचित् विश्वस्फाणि) बीच में आटपका और चन्द्रगुप्त प्रथम को अपदस्थ कर स्वयं मगध-शासन हथिया लिया। संदर्भः

मागधानां महावीर्यो विश्वस्फणिर्भविष्यति। उत्साद्य पार्थिवान् सर्वान् योऽन्यान् वर्णान् करिष्यति।

विश्वस्फणिः महासत्त्वो युध्यते विष्णुसमो बली। विश्वस्फणिर्नरपतिः क्लीबोऽसन्तातिरुच्यते।

जाह्नवीतीरमासाद्य शरीरं यंस्यते बली। संन्यस्य स्वशरीरं तु शक्रलोकं गमिष्यति॥ वायु ३७/३७१-३७६

विश्वस्फणि ने ३० वर्ष तक शासन किया। २७७ + ३० = **३०७ ईसवी संवत् में** चन्द्रगुप्त प्रथम ने न केवल खोया हुआ राज्य प्राप्त किया, **बल्कि लुप्तप्राय 'गुप्त-संवत्' को नये सिरे से प्रतिष्ठित भी किया**। इस पौराणिक परिवेश में पं. भगवद्दत्त जी की मान्यता ३०० ईसवी पूर्व में गुप्तशासन आरम्भ हुआ और ५७ ई० पूर्व में विनष्ट हो गया और **उनके विनाश पर गुप्त-संवत् चल निकला**— कहाँ टिक पाएगी ? आखिर इस बेतुकी बात का आधार और प्रयोजन क्या है ? कोई आकर हमें समझाए। हम इस 'आग्रह' को प्रसन्नता पूर्वक छोड़ भी सकते हैं।

मनीषी जन इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि ईसवी संवत् २७७ से कोई गुप्त-संवत् चला और उसके प्रयोग भी मिलते हैं। हम इसकी खोज में अन्यत्र कहीं नहीं जा रहे। पं. भगवद्दत्त को टटोलकर अपने मन्तव्य का संदोहन करेंगे। पण्डित जी लिखते हैं—

"चामुण्डराय का गुप्त संवत् १०३३ का एक ताम्र-शासन (पत्र) भारतीयविद्या पत्र कार्तिक संवत् १९९६ पृष्ठ८०-८१ पर छपा है। चामुण्डराय के अन्य शासन १०३३ के आसपास के विक्रम-संवतों के हैं। चामुण्डपुराण शकसंवत् ९०० अर्थात् विक्रमसंवत् १०३५ में रचा गया। अतः १०३३ गुप्त-संवत् विक्रग-संवत् है।"

—भारत वर्ष का बृहद् इतिहास; भाग २/पृष्ठ ३४२

गुप्त-संवत् १०३३ + २७७ = **१३१० ईसवी संवत्** का ताम्र-शासन संभाव्य है। गुप्तसंवत् १०३३ = १३१० ईसवी साल यहाँ शोध पटल पर वर्तमान है।

९०० शक-संवत् भी यथार्थ है। शालिवाहन का १८ वाँ वंशधर विषमशील विक्रमादित्य का ई. सं. ४१२ में **मरणोपरान्त शक-संवत् स्थापित हुआ**। सो ९०० + ४१२ = **१३१२ ई. संवत्** अत्र यथार्थ है।

हमारा कथन अनुसन्धान चामुण्डराज की विस्तृत खोज पर निर्भर करता है।

पौराणिक परिवेश से बाहर आकर लौकिक इतिहासज्ञों की बात करते हैं। डॉ. फेथफुल फ्लीट ने शकसंवत् से २४१ वर्ष पश्चात् 'गुप्त-संवत्' को स्थापित माना है। **यह बात तो ठीक है, परन्तु शक-संवत् का परिचय प्राप्त किए बिना यह स्थापना अधकचरी रह गई है।** गुप्त-संवत् के आधारभूत 'शकसंवत्' का परिचय हम देंगे। यथा—

शक-संवत् [१] : ६५ ईसवी से—

जैन ग्रन्थों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि कोई शक-संवत् ६५ ईसवी से चला। इस स्थापना के पीछे एक लम्बी कहानी बताई जाती है। हम इसके इतने विस्तार में जाने वाले नहीं है। हमें तो अबूरिहाँ अलबैरुनी पर भरोसा है। इस शक-संवत् के बारे में उसका कहना है—

> "Between the time of Yudhishthir and present year, i-e the year 1340 of Alexander (or the 952nd year of the sahakal), There is interval of 3479 "year".

—भाग १/पृष्ठ ३९१ (अंग्रेजी)

इस संदर्भ में युधिष्ठिर-संवत् ३४७९ अपौराणिक होने से अमान्य है। इसमें शककाल ९५२ = १३४० अलैग्ज़ैण्डर-निधन वर्ष का उल्लेख निर्णायक है। हमने शककाल ६५ ईसवी तथा शककाल ७८ ईसवी की तुलनात्मक सारणी दी है, जिससे दोनों का बलाबल सामने रहे। यथा—

अयथार्थ गणना

(क) ९५२ + ७८ = १०३० सामान्यवर्ष;

(ख) १३४०-१०३० = ३१० ई. पूर्व का साल।

क्या सिकन्दर का निधन ३१० ई. पूर्व में हुआ था?

स्पष्ट उत्तर है—नहीं

यथार्थ गणना—

(क) ९५२ + ६५ = १०१७ सामान्यवर्ष।

(ख) १३४० —१०१७ = ३२३ ईसवी पूर्व का साल।

क्या सिकन्दर का निधन ३२३ ई० पूर्व में हुआ था?

निर्भ्रान्त उत्तर है—'हाँ'

—खारवेल प्रशस्तिः पुनर्मूल्यांकन; पृष्ठ ५६

विदित हो, अबूरिहाँ अल्बैरुनी जब मुल्तान [भारत] में था, वह वर्ष शककाल ९५२ था। अर्थात् **९५२ + ७८ = १०३० ई. साल—** में सिकन्दर का निधन वर्ष १३४० स्मरण कर रहा है। **शककाल के बारे में उसे कोई गलतफहमी न थी।** अतः इसी इकलौते संदर्भ से सिद्ध हुआ—**६५ ईसवी से चलने वाला कोई शक था!**

विचारणीय मुद्दा यह है कि गुप्तकाल के निर्धारण में शककाल-६५ की स्थिति लुंज-पुंज होने से मान्य हो सकती है? नहीं। न चाहते हुए भी शककाल [१] ६५ ई० का आधार छोड़ना ही होगा।

शक-संवत् [२] : ६६ ईसवी से—

६६ ईसवी से चलने वाला शकसंवत् भारतीय इतिहास की धुरी है। हालाँकि ६५ ई० तथा ६६ ई० से गणनाधीन शकवालों का आविष्कर्ता एक ही व्यक्ति है— **शकारि विक्रमादित्यः साहसांकः**। बस अन्तर इतना है कि एक ही संवत् की भिन्न-भिन्न धाराएँ दो विभिन्न सम्प्रदायों की पहचान बन गए हैं। **६५ ईसवी से चलने वाला 'शक' जैनजगत् को पसन्द है; जबकि ६६ ईसवी से चलने वाला 'शककाल' जैनेतर समाज की पसन्द है।**

६६-ईसवी वाले शकसंवत् के प्रयोग बहुलता में मिलते हैं। इन सब साक्ष्यों में ज़ोरदार साक्ष्य 'सुमतितन्त्र' का है। जिसका पाठ है:

"युधिष्ठिरो महाराजो दुर्योधनस्तथापि वा।

उभौ राजौ सहस्रे द्वे वर्षस्तु संप्रवर्तति—

नन्दराज्यं शताष्टं वा चन्द्रगुप्तस्ततः परम्।

राज्यं करोति तेनाऽपि द्वात्रिंशच्चाधिकं शतम्॥

राजा शूद्रकदेवश्च वर्ष सप्ताब्धिचश्विनौ।

शकराजा ततो पश्चात् वसुरन्ध्रकृतं तथा॥"

—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : प्रथम भाग पृष्ठ १६६

इसका अर्थाधान गद्य में न लिखकर, एक सारणी द्वारा स्पष्ट करते हैं—

दुर्योधन संवत्	युधिष्ठिर संवत्	नन्द संवत्	शूद्रक संवत्	मौर्य संवत्	शक संवत्	ई. पूर्व. ई०
००	—	—	—	—	—	३१६३
१४	००	—	—	—	—	३१४९
२०००	१९९६	००	—	—	—	११६३
२७०७	२९९१	७०७	००	—	—	४५७
२८२०	२८०९	८२१	११५	००	—	३४२
२९५२	२९३८	९५३	(२४७ = १३२)		—	२१० ई.पू.
३२२९	३२१५	१२२९	५२३	४०५	००	६६ ईसवी

—परिषद् पत्रिका : भाग २६/अंक २; पृष्ठ ७२

यह संदर्भ और सारणी—दोनों अनेक यथार्थों का सत्यापन करती है। [१] संग्राम-संवत् [दूसरे शब्दों में युधिष्ठिर संवत्] ३१४८ ई. पूर्व से चला। ३१६३-१५ = ३१४८ ई. पूर्व बिल्कुल ठीक है। [२] मौर्यसंवत् ३४२ ई. पूर्व में स्थापित हुआ। उससे ४०८ वर्ष पश्चात् अर्थात् ४०८ - ३४२ = ६६ ईसवी संवत् में **'शकराजा ने अपना संवत् स्थापित किया**। शकराजा = शकारि = श्री विक्रमादित्य = साहसांक—सब एक ही व्यक्तित्व के परिचायक नाम हैं।

इसी शक संवत् को सामने रखकर मियाँ अबूरिहाँ अल्बैरुनी लिखता है—

"शक-संवत् २४१ से गुप्त-वल्लभी संवत् चला।"

गणना के फलितार्थ है—२४१ + ६६ = ३०७ ई. संवत् से इधर पटना में गुप्त-संवत् स्थापित हुआ, उधर गुजरात में वल्लभी-संवत् स्थापित हुआ। दो-दो कालगणनाओं का पार्थक्य यहाँ रेखांकित है। **दो संवतों को अभिन्न मानना ऐतिहासिक भूल होगी**; हालाँकि दोनों का मूलबिन्दु एक है—शक-संवत् २४१।

शक-संवत् [३] : ७८ ईसवी से—

फेथफुल फ्लीट, कनिंघम, मार्शल वगैरा सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसी शककाल से [७८ + २४१ = ३१९ ई०] गुप्त-संवत् को मान्यता दी है, उनके पदानुगामी भारतीय विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि दोनों का संस्थापक एक ही है। यथा—

'राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्।

स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्ण-पुरुषोदयात्।

मोदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरत् वत्सरं निजम्॥

—प्रभावक चरित श्लोक ९०-९१

"विक्रमादित्य ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की, और उसे भगाकर मुल्तान के दुर्ग के बीच करूर के प्रदेश में मार डाला।" "**वे विजेता के नाम के साथ श्रीलगाकर उसका सम्मान करते हैं।**

—अल्बैरुनी।

हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—

१. दोनों काल-गणनाओं का स्थापक एक है—श्रीविक्रमादित्य।

२. संवत् का निदान एक है—प्रजाजन को ऋणमुक्त करना; दूसरे संवत् का आधार है—शत्रु पर विजय पाना।

३. दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं; ६६-ईसवी का शक इतिहासवस्तु के लिए उपयोगी है, ७८- ईसवी का 'शक' ज्योतिष गणना का आधार है।

४. **हमने ऐतिह्य साधना के लिए ६६- ईसवी का शक सामने रख लिया है,** और ज्योतिष के लिए उपयोगी और इतिहास के लिए अनुपयोगी ७८ ईसवीय शककाल को नकार दिया है।

५. मौर्य संवत् ४०८ = ६६ ईसवी से शक-संवत् ग्राह्य है—

२४१ + ६६ = ३०७ ईसवी से वस्तुतः गुप्त संवत् स्थापित हुआ। इति।

गुप्त-विक्रम संवत् : ३६३ ईसवी—

१. चन्द्रगुप्त प्रथम ने केवल सात वर्ष शासन किया—३०७-३१४ ईसवी तक

२. समुद्रगुप्त ने ४९ वर्ष राज्य किया—३१४-३६३ ई० संवत् तक।

३. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ३६ वर्ष राज्य किया—३६४-४०० ईसवी तक।

परिणामतः—

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ३६४ ई० से अपना अलग विक्रम-संवत् स्थापित किया।

इसका अखण्डनीय साक्ष्य है—आईन-ए-अकबरी। उक्त ग्रन्थ का विश्रुत लेखक अबुल्-फ़ज़ल लिखता है: **"संवत्प्रवर्तक विक्रम और आदित्य पोंवार में ४२२ वर्षों का अन्तर है।"** हमने स्वेच्छा से 'आदित्य पोंवार' का अर्थ विक्रमादित्य मान लिया है। संवत्-प्रवर्तक राजा को विक्रमादित्य न लिखकर केवल विक्रम लिखा है, इसका भी कोई न कोई लाक्षणिक अर्थ होना चाहिए। दूसरा, आंकड़ों का फलितार्थ हमारे पक्ष में जाता है—**४२२-५८ = ३६४ ईसवी** हमारा वांछनीय वर्ष है। इसी वर्ष की हमें तलाश है।

एक ऐसा साक्ष्य भी उपलब्ध है, जिसमें दो-दो गुप्त संवत्सरों का निर्देशन है—

"श्रीचन्द्रगुप्तस्य विजयराज्यसंवत्सरे पञ्चमे [५]
कालानुवर्तमानसंवत्सरे एकषष्ठे।"

जैसे कि हम पहले लिख आए हैं—चन्द्रगुप्त प्रथम ने ३०७ ईसवी में अपना संवत् चलाया और उसके पौत्र विक्रमादित्य-चन्द्रगुप्त ने अपना संवत् चलाया। इसके लिए प्रस्तुत एक सारणी:

[१] गुप्त-संवत्	[२] विजय-संवत्	ईसवी
००	—	३०७ ईसवी।
५६	०० स्थापना	३६३ ईसवी
६१	**५ संवत्**	**३६८ ईसवी**

आगे चलकर इसका नाम '**विक्रम-संवत्**' चरितार्थ हुआ।

यहाँ ज्ञातव्य यह है सुरेश्वराचार्य के १० आम्नायाधिपति का समय **विक्रम-संवत् ९ लिखा है, जो ३७३ ई० संवत् का द्योतक है।**

अनिवार्य प्रश्न—

जो हमसे पूछा जा रहा है। इतनी ताम-झाम के साथ, इतनी विस्तृत भूमिका के साथ, यह-सब लिखने की आवश्यकता क्या थी? प्रश्न जितना वक्र है, उत्तर उतना ही सरल है। आद्य शंकराचार्य के प्रथम शिष्य **सुरेश्वराचार्य** का पट्टाभिशासन १५ ईसवी संवत् में [४२ वर्षीय शासनावधि] समाप्त होता है। उनके १०वें पट्टाभिशासक 'आनन्दाविर्भावाचार्य' की शासनावधि—

"विक्रम संवत् ९ = शासनावधि १५ वर्ष"

शृंगेरीमठ के दस्तावेज़ में दर्ज है— आद्य शंकराचार्य के भ्रान्त कालनिर्णायकों में मुखर पं. उदयवीर शास्त्री विक्रम-संवत् ९ [= ४८ ईसवी पूर्व] की नाजुक शाखा पर अनुसन्धान का घौंसला बनाते-बनाते आद्य शंकराचार्य का समय ५०९ ई. पूर्व में ठेल-ठाल कर ले जाते हैं। यह बड़ी दुःखदायी बात है। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने 'आनन्दाविर्भावाचार्य' के साथ विक्रम-संवत् ९ तो पढ़ लिया, चलो थोड़े समय के लिए मान लिया, परन्तु प्रथम शिष्य सुरेश्वराचार्य के साथ लिखा, '**६९५ शककाल**' नहीं पढ़ा, पढ़ भी नहीं सकते थे। कारण, उदयवीर शास्त्री व्याकरण के शिखर ज्ञाता थे, जरूर थे; दर्शन विद्या के अग्रणी विद्वान् थे, मान लिया; परन्तु उनकी रुचि इतिहास के प्रति तथा कालगणना के प्रति इतनी गहन न थी; जितनी कि अपेक्षित समझी जाती है।

अतः हमारे लिए विक्रम-संवत्- ९ पर सयुक्तिक लिखना अनिवार्य हो गया है।

प्रश्न का दूसरा पहलू। चलो मान लिया—विक्रम संवत् ९ ठीक है, ४८ ई० पूर्व भी मान्य है! उसके समानान्तर पर विक्रम-संवत् ९ = गुप्त संवत् ३६४ ई० के विकल्प में ३७६ मान लेने में हर्ज क्या है? उत्तर स्पष्ट है—इतिहास की एक वर्ष की भूल बहुत बड़ा बंटाढार कर सकती है। हमने गुप्त-विक्रमादित्य का समय ३६४ ई० से आरम्भ हुआ—माना है। फिर ९ + १२ = २१ वर्षों की दूरी का अर्थ है आनन्दाविर्भावाचार्य का समय १५ वर्ष से २७ वर्ष का हो जाएगा। यह बढ़ोतरी हमारे लिए असह्य है।

आनन्दाविर्भाव का समय

३५८ + १५ = ३७३ ई० संवत् का साल। विक्रमसंवत् ३६४+९ = ३७३ ईसवी यथापूर्व हो जाएगा। विक्रम-संवत् ३७६ + ९ = ३८५ ईसवी वैकल्पिक पक्ष ३५८ + २७ = ३८५ ईसवी।

हम आद्य शंकराचार्य के इतिहास के प्रति श्रद्धावनत हैं। उसमें एक वर्षीय भूल की चुभन हमारे लिए असह्य है। जो लोग इस छल-छिद्र बहुल इतिहास के लिए आतुर हैं—उन्हें हमारी राम राम।

अथ सर्वेक्षण—

प्रस्तुत अध्याय में हमने **सात काल-गणनाएँ** [१.सप्तर्षि- संवत्,२.युधिष्ठिर- संवत्,३.प्राचीनतम शक-संवत्, ४ श्रीहर्षसंवत्,५. अशोक-संवत्,६ विक्रम-संवत् और ७, गुप्त-संवत्] **परिभाषित किए हैं, और उनके मूल की परम्परागत अवधारणाएँ बदल दी हैं और इनका परस्पर-गुंफित काल का मायाजाल भी बुन कर रख दिया है।** इसे घने अनुसन्धान की कसौटी पर कसने की आवश्यकता है। पहले तो भाई लोगों ने **सप्तर्षि-संवत्** को जड़-मूल से उखाड़ फैंका है। उसके अस्तित्व से बलपूर्वक इन्कार किया है। परन्तु हमने परखकर देखा है कि सप्तर्षि-संवत् को दृग्-ओझल कर देने से समूचा पौराणिक इतिहास—**राजमाता शकुन्तला से लेकर नवम नन्द तक** [मूल इतिहास] **और चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर कुमारगुप्त [२] तक** [पूरक इतिहास] तिमिराच्छन्न हो जाता है। हमें यह बात पसन्द नहीं। हम सप्तर्षि-संवत् को पूर्णतया संस्थापित करने के पक्षधर हैं। हमारा साध्य और साधन 'सप्तर्षि-संवत' है। हम सप्तर्षि-संवत् को यूं भी नहीं छोड़ सकते, क्योंकि आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में आधार-शिला स्वरूप **हरिस्वामी** का नाम है और उसने अपना समय सप्तर्षि-संवत्-३७४० लिखा है। जिन-जिन अनुसंधायकों ने हरिस्वामी को उद्धृत किया है, और सप्तर्षि-संवत् के प्रति ना-समझी दिखाई है, वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हुए; वे सभी अपनी मंजिल के रास्ते से भटक गए हैं। यथास्थान उन सबका नामोल्लेख है। परन्तु उन सबकी तुलना में हम अलग खड़े हैं। हमारी पहचान-दृष्टि हरिस्वामी पर पड़ी, जो सभी अनुसन्धायकों की प्रथम पसन्द में था; परन्तु हमने समझ लिया कि हरिस्वामी ने सप्तर्षि-संवत् ३७४० लिखा है, जिसे भाई लोगों ने कलि संवत् ३७४० [= ६३९ ईसवी] समझ लिया है। भाई लोग भी सच्चे हैं। हरिस्वामी ने **"यदाब्दानां कतेर्जग्मुः"** कलि-संवत् का उल्लेख करके सब को भ्रम में डाल दिया है। हम 'राजतरंगिणी' के निष्ठावशंवद पाठक हैं। महामति कल्हण पण्डित लिखता है,

"प्रयाते त्र्यधिकेऽप्यर्ध-समा षट्कशतेः कलेः।" – राज ८/३४०७

हमने अत्र 'कलि' शब्द पढ़कर भी कलि-संवत् ६५३ [२४४८ ई०] का ग्रहण नहीं किया; बल्कि कलि-सीमान्तर्गत **सप्तर्षि-संवत् ६५३ = ३१२३ ई० पूर्व** का ही ग्रहण किया है। वही पूर्वपठित सन्था यहाँ भी पढ़ी। अर्थात् कलि-सीमान्तर्गत **सप्तर्षि-संवत् ३७४० = ३६ ईसवी पूर्व** का साल ही स्थिर किया है।

हो सकता है, इस विषय में हमारा कोई पूर्वाग्रह हो, हमें कोई ग़लतफहमी हो, हमें किसी की भ्रान्त प्रेरणा हो! इन-सब संभावनाओं ने हमें खूब झकझोरा, अच्छी तरह कसकर देखा, एक तर्क-तराजू पर तौल करके भी परखा। इन सब परीक्षाओं में हम असफल नहीं हुए। कारण, हमें ज्योतिर्विदाभरण के ख्यातनामा लेखक **कालिदास** का अपराजेय अवलम्बन प्राप्त है। एक तो उसने अपना समय कलिसंवत् ३०६३ = ३८ ईसवी पूर्व का लिखा है; और अपने ग्रन्थ में हरिस्वामी का उल्लेख किया है। क्या यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि दो व्यक्ति एक ही नगर [उज्जयिनी] में रहते हैं और एक ही राजा-**विक्रमादित्य द्वितीय** के आश्रित हैं, परन्तु अलग-अलग काल गणनाओं में अपने अपने समय का संकेत देते हैं—

शतपथब्राह्मण का टीकाकार हरिस्वामी सप्तर्षि संवत् ३७४० = ३६ ई० पूर्व का है।

ज्योतिर्विद् कालिदास कलिसंवत् ३०६३ = ३८ ई. पूर्व का है।

यद्यपि 'ज्योतिर्विदाभरण' को जाल ग्रन्थ कहने वालों की कमी नहीं है, तथापि अब उनकी दाल गलने वाली भी नहीं है। उपर्युक्त कालिदास नाटककार कालिदास [६६-९० ईसवी] तथा महाकवि कालिदास ३६४-४०० ईसवी] से सर्वथा पृथक् और पूर्ववर्ती है। अब विक्रमादित्य [२] के सभाकवि कालिदास को फूंक मार कर उड़ाया नहीं जा सकता। कालिदास द्वारा उद्धृत, विक्रमादित्य द्वितीय के सभारत्न हरिस्वामी का ३६ ई० पूर्व का समय भी स्थिर है और **उसका उद्बोधक सप्तर्षि-संवत् भी अविचल है।** इसलिए सप्तर्षि-संवत् की परिभाषा और प्रयोग अनुसन्धान-जगत् के सामने रखना अनिवार्य समझ कर उसे **संवत्सर-प्रदीप** के अन्तर्गत प्रथम रेखा पर लिखा है।

अब **युधिष्ठिर-संवत्** काल-विज्ञान का सूत्र या स्रोत न रहकर श्रद्धा का पात्र हो गया है। यह मोम की पुतली है। जिसने जब चाहा, उसे उस दिशा में मोड़ दिया। पाश्चात्य और भारतीय-इनमें से किसी ने 'भारत-संग्राम' काल पर ईमानदारी से विचार नहीं किया। जिसके मन में जो आया, लिख मारा। यही वजह है भारत-संग्रामकाल की अधिकतम सीमा ६२२८ ई० पूर्व से लेकर निम्नतम सीमा १५०० ईसा सन् तक विचाराधीन है अथवा विवादाधीन है। इसका मतलब यह रहा—४७२८ वर्षों के बीचों-बीच 'भारतसंग्रामकाल' झूलता रहेगा और उसकी बुनियाद पर टिके हुए 'युधिष्ठिर-संवत्' को कभी इधर मानना पड़ेगा, कभी उधर मानना पड़ेगा। यह कालगत अस्थिरता अनुसन्धान के लिए कितनी घातक है?—यह सभी विवेकशील पाठक जानते हैं।

हमने **भारत-संग्रामकाल : ३१४८ ई० पूर्व स्थिर कर लिया है—**

इस आधार पर चाहें तो युधिष्ठिर-संवत् को ३१४८ ई० पूर्व का मूल बिन्दु दे सकते हैं, नहीं दे रहे। इसके कारण दो हैं—पहला कारण तो आचार्य वराहमिहिर द्वारा परिगणित युधिष्ठिर-संवत् ३१८८ ई० पूर्व से मान्य है और संहिताग्रन्थों में मिलता है। दो-दो युधिष्ठिर-संवतों में विचिकित्सा अथवा मतिभ्रम हमेशा बना रहेगा। संस्कृत के विद्वानों ने घोषित कर रखा है—**संशयात्मा विनश्यति।** इससे बचना हमारे लिए आवश्यक था। अतः लोकप्रिय होने पर भी हमने उसे अनुसन्धान का विषय नहीं बनाया। दूसरा कारण भी स्पष्ट है, यदि युधिष्ठिर-संवत् को श्रद्धापूर्वक अपना लें, तो **३१४८-२६३१ = ५१७ ई० पूर्व में** भगवान् शंकराचार्य का अवतरण मानना हमारे लिए कई कठिनाइयाँ सामने खड़ी कर देगा। वह पांचवें नन्द—देवनन्द का शासनकाल है। इन सब दिक्कतों से बचने का एक ऋजु रास्ता रह गया—युधिष्ठिर-संवत् को अनुसंधान का आधार न माना जाय। हमने ऐसा ही किया है।

परन्तु युधिष्ठिर-संवत् को छोड़ना भी हमारे लिए मुश्किल हो रहा है। क्योंकि कुछ-एक आम्नाय मठों में युधिष्ठिर-संवत् का उल्लेख है। इस दुविधा में हमें एक रास्ता मिल गया। वह रास्ता है—**हरिस्वामी का सप्तर्षि-संवतीय ३७४० का उल्लेख।** हमने युधिष्ठिर संवत् में ११०० वर्ष जमा करके **'युधिष्ठिर-संवत् को सप्तर्षि संवत् में परिणत कर डाला है।** यथा—२६३१ + ११०० = ३७३१ सप्तर्षि-संवत्। इसी युग में एक राजा प्रमर नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। उसका समय है—सप्तर्षि संवत् ३७१०। हरिस्वामी और प्रमर के मध्यवर्ती भगवान् शंकराचार्य का समय अपने स्वाभाविक रूप में उभरकर आ गया है। यथा—

महाराजा प्रमर = सप्तर्षि संवत् ३७१० = ६६ ई. पूर्व;

सप्तर्षि संवत् ३७३१ = ४५ ई० पू० = आचार्य शंकर।

हरिस्वामी = सप्तर्षि संवत् ३७४० = ३६ ई. पूर्व।

इस प्रकार हमने युधिष्ठिर-संवत् को एकदम से नकारा भी नहीं है; यदि इसे स्वीकार किया है, तो अपनी शर्त और शैली के अनुरूप ढालकर। यह हमारी काल-गणना की सूझबूझ की पराकाष्ठा है। इस पर अलग से अध्याय तैयार किया है।

युधिष्ठिर-संवत् पर ध्यान इसलिए भी केन्द्रित करना पड़ा कि उक्त संवत्सर की आधार-भूमि पर उग आए 'प्राचीनतम शक संवत्' की भूमिका अहम नज़र आती है। और अधुना उसका परिभाषायी बोध और कालिक प्रयोग को अच्छी तरह समझ लिया जाये। जिन-जिन प्रखर विचारकों ने आद्य शंकराचार्य का समय निश्चित किया है, वह एकांगी है। वह या तो 'जन्मकाल' को सामने रखते हैं और निर्वाणकाल का अनुमान लगाते हैं; अथवा, वे 'निर्वाणकाल' का उल्लेख करते हैं, और जन्मकाल का निर्देश करते हैं। विचित्र बात यह है कि महामनीषी बाल गंगाधर तिलक ने जिस 'शककाल' का उल्लेख करके भगवान् शंकर का निर्वाणकाल घोषित किया है, हम भी उसी शक का उल्लेख करके भगवान् शंकर का निर्वाणकाल स्थापित करते हैं। एक सन्दर्भ और दो-दो अर्थाधान अलग-अलग भावों और भूमि की ओर संकेत करते हैं। यथा—

युग्मपयोधिरसान्वितशाके रौद्रक-वत्सर-ऊर्जकमासे
शककाल ६४२ = रौद्र संवत्सर + ७८ =
७२० ईसवी सन्

युग्मपयोधि-रसान्वितशाके रौद्रकवत्सर-ऊर्जकमासे
शककाल ६४४ = रौद्रक संवत्सर[६५८–६४४ =
१४ ईसवी पूर्व का साल।

इतने बड़े विचित्र काल वैषम्य को समझने के लिए घने चिन्तन की अपेक्षा थी। इसी घने चिन्तन की अपेक्षा ने उक्त निबन्ध लिखने के लिए प्रेरित किया है, लिखा है, और आपके सामने है।

'शककाल' के मुख्य उद्देश्य के साथ-साथ अन्य गौण उद्देश्य भी संलग्न है। वह है—सुरेश्वराचार्य का **शककाल ९६५**। यह समय सुरेश्वराचार्य के पट्टाभिशासनकाल का समापन वर्ष है। शककाल ६४४ + ५१ = ६९५ **का अर्थ है—५१-१४ = ३७** शंकर-निर्वाणोत्तर काल। प्राचीन शककाल के विलुप्त होने पर भाई लोग सुरेश्वराचार्य का समय ७७३ ईसवी सन् मानकर शंकराचार्य का समय ६८८-७२० ईसवी ठहराते हैं। **प्राचीन शककाल की विलुप्ति से यह अनर्थ होना अवश्यंभावी था,** जो होकर रहा।

हम पूर्णतया आश्वस्त हैं कि प्राचीन शककाल की अनिवार्यता कोविद-समाज को समझ आ गई होगी।

प्रायः सभी पक्षों ने आद्य शंकराचार्य का समय खोजते-खोजते भगवान् शंकर की नेपाल-यात्रा का उल्लेख नहीं किया। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। कारण, एक तो नेपाल का इतिहास अस्पष्ट है, प्रायः धूमिल है। न तो उदयवीर शास्त्री ने शंकर की नेपाल-यात्रा का प्रसंग उठाया है ! और, न ही राजगोपाल शर्मा ने नेपाल यात्रा को प्रासंगिक समझा है। बल्कि अपनी रचना में (पृष्ठ ७० पर) नेपाल के कल्पित इतिहास का मुद्दा उठाकर उसे शंकराचार्य के अपेक्षित वृत्त से बाहर ही रखा है। परन्तु **हम भगवान् शंकर की नेपाल-यात्रा के बिना अपनी रचना को अधूरा मानते हैं।** नेपाल-इतिहास को सुधारने के लिए हमने **'श्रीहर्ष संवत्'** और **'अशोक-संवत्'** को प्रसंग में ले लिया है।

हर्ष-संवत् कोई काल्पनिक संवत् नहीं है। अबूरिहाँ अल्बैरूनी जैसे उद्‌भट यात्रा-वृत्तान्तलेखक ने 'हर्ष-संवत्' का परिचय दिया है, और उसका समय बताया है—**४५७ ई० पूर्व का साल** [अर्थात् ४०० विक्रम पूर्व] परन्तु हमने अपनी तर्क बुद्धि के बल पर—४५६ ई. पू. से हर्ष-संवत् की स्थापना को सही माना ही है, इसके अतिरिक्त **उक्त स्थापना-वर्ष से ३० वर्ष प्राक्, अर्थात् ४८६ ई० पूर्व से श्रीहर्ष का अभिषेकस्मारक संवत् भी घोषित किया है।** हमें यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि हर्ष-संवत् के दोनों प्रयोग सही सिद्ध हुए। यथा—

हर्ष-संवत्

(१) ४८६ ई.पू. : अशोक-संवत् के तिथि-निर्धारण में—

(२) ४५७ ई.पू. : नेपालस्थ ठाकुरी वंश के इतिहास के लिए।

ये दोनों प्रयोग हमारे लिए वांछनीय हैं। नेपाल के अस्त-व्यस्त [नष्ट नहीं] इतिहास में भगवान् शंकराचार्य के स्थान/समय की स्थापना के लिए उसका सरलीकरण तथा उज्ज्वलीकरण आवश्यक था। इस दुरूह कार्य की सफलता हर्षसंवत् तथा अशोकसंवत् के बिना संभव ही नहीं थी। अतः इनका विश्लेषणात्मक, प्रयोगात्मक परिचय देना यहाँ अभीष्ट था, लिखा है। मोटे तौर पर उभय संवत् एक दूसरे के उन्नायक हैं, परस्पर पूरक हैं, और स्पष्टरूप से सहधर्मा हैं। **जब आद्य शंकराचार्य नेपाल गए, तब शिवदेव वर्मा तथा वृषदेव अपने-अपने क्षेत्रों के समकालीन शासक थे और वह समय अशोक-संवत् २०० था।** २१९-२०० = १९-१८ ई.पू. में भगवान् शंकर नेपाल में थे।

बड़े खेद का विषय है—विक्रमादित्य-पौत्र विक्रमादित्य का शासन भगवान् शंकर के समकाल पर ठहरता है। यथा—

भगवान् शंकर	विक्रमादित्य द्वितीय
४५ ई. पू. जन्म;	३८ ई० पू० अभिषेक,
१४ ई. पू. निर्वाण;	१३ ई० पू० निधन।

अर्थात् ३८ ई० पूर्व से १४ ई० पू० तक [लगभग २५ वर्ष] भगवान् शंकर तथा उज्जयिनीश्वर विक्रमादित्य [२] साथ-साथ रहे; परन्तु इनके परस्पर सम्बन्धों का उल्लेख इतिहास में शून्य स्थान पर है; अलबत्ता **विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी तथा भगवान् शंकर की समसामयिकता असंदिग्ध है;** परन्तु इनके सम्बन्धों की चर्चा कहीं दिखाई नहीं पड़ती। ऐसे लगता है—एक ही मिशन पर कर्मक्षेत्र में उतरे दो महापुरुष एक-दूसरे से अनजान बने हुए हैं।

बस, यहाँ एक ही प्रश्न विचारणीय है—हरिस्वामी का समय अस्त-व्यस्त क्यों हो गया? उत्तर में निवेदन है—हरिस्वामी का अपना बताया समय—**३७४० वाँ वर्ष**—किसी की समझ में नहीं आया। किसी ने उसे कलि संवत् समझा; किसी ने उसे विक्रमादित्य (१) के अनुरूप भ्रष्ट कलिसंवत् : ३०४७—मानकर अपना मतलब साधा। यह एक कारण है। दूसरा कारण है—गर्दभिल्लवंश के विलुप्त इतिहास में से केवल **विक्रमादित्य (१)** का बचा रहना। शेष छह राजाओं के नाम—गर्दभिल्ल, गन्धर्वसेन [विक्रमादित्य को छोड़कर] शिलादित्य, विक्रमादित्य (२), सारवाहन और नरवाहन को आज कौन इतिहासकार जानता/पहचानता है?

इस गहरे संकट में गर्दभिल्ल वंश का इतिहास लिखना आवश्यक था, लिखा है। इतिहास की शृंखला इस प्रकार है—**१. विक्रमादित्य [२] के प्रकाश में आने से हरिस्वामी का अस्तित्व उजागर हुआ; २. हरिस्वामी के बलबूते पर आद्य शंकराचार्य का समय सरलतापूर्वक सिद्ध हो सका है।**

रही 'गुप्त-संवत्' की बात। हमने गुप्त-संवत् चार माने हैं—

(१) प्रथम गुप्त संवत् : २७७ ई. संवत् में स्थापित।

(२) द्वितीय गुप्त संवत् : ३०७ ई. संवत् से गणनाधीन—

(३) तृतीय [गुप्त] विक्रम संवत् ३६४ से गणनाधीन—

(४) चतुर्थ गुप्त संवत् ४७० ई० पूर्व से प्रचलित।

इस गुप्त-संवत्-चतुष्टय में से हमारा अभिप्रेत 'गुप्त संवत्' तीसरा है, **जिसे इतिहासकारों ने 'विक्रम-संवत्' नाम दिया है**। इस संवत् का स्थापक चन्द्रगुप्त (२) विक्रमादित्य है। परिचय के लिए इतना पर्याप्त है कि—**चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य सम्राट् समुद्रगुप्त का आत्मज है, रामगुप्त का कनिष्ठ भ्राता है, ध्रुवस्वामिनी के चाहक तथा शकनृपति को मारकर भाभी ध्रुवस्वामिनी का पति है**। मुद्राराक्षस नाटक के रचयिता विशाखदत्त ने अपने भारत-वाक्य में इसी चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य के लिए आशीर्वाद मांगा है और इसने **ईसवी संवत् ३६४ में विक्रम-संवत्** स्थापित किया था; दर-असल वह है—गुप्त-संवत्।

आद्य शंकराचार्य के तिथिक्रम को अस्त-व्यस्त करने के लिए इसी विक्रम-संवत् [गुप्त-संवत्] का दुष्प्रयोग भी हुआ है। सुरेश्वराचार्य के दसवें पट्टाभिशास्ता आनन्दाविर्भाव का समयः **९ विक्रमसंवत् : ३७३ ईसवी**, है और वे १५ वर्ष मात्र आम्नाय मठाधीश रहे। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् उदयवीर शास्त्री इसी "विक्रम संवत्-९" की रज्जु पकड़कर शंकराचार्य का समय ४४-१४ ई.पू. से उछालकर ५०९-४७७ ईसवी पूर्व तक ले गए। आचार्य उदयवीर शास्त्री का यह काल्पनिक तिनकों का घरौन्दा मिनटों में ढह गया; जब वे कुमारिल, गौड़पाद, गोविन्दपाद धर्मकीर्ति का समय कल्पना के बल पर स्थापित करते-करते असफल हो गए। बात बिगड़ गई।

हमारा गुप्तसंवत् (**विक्रमसंवत् नामान्तर**) पर लिखना प्रासंगिक हो गया

कलि संवत् को हमने जानबूझ कर **आलोच्य संवत्-शृंखला** से बाहर रखा है। ऐसा करने का पहला कारण यह है कि 'कलिसंवत्' के साथ 'अस्ति-नास्ति' का प्रश्न अटका हुआ नहीं है। वह सीधी-सपाट गणना है। इसका दूसरा कारण यह है कि आद्य शंकराचार्य के समय चिन्तन से 'कलि' का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। एक स्थान पर ८५ वें वर्ष का उल्लेख है, जिसका सम्बन्ध आद्य शंकराचार्य के वयोमान से जोड़ने का प्रयास अवश्य हुआ है, जो सफल नहीं हुआ। वह दर-असल ८५ = ३०८५ कलिसंदत् की परिधि में आता है **आद्य शंकराचार्य मात्र ३२ वर्ष जीवित रहे**—इस विश्रुति की रक्षा करते हुए हमने **भगवान् शंकर का वयोमान कलिसंवत् ३०५६ + ३२ = ३०८८ सिद्ध किया है**। अतः ८५ = ३०८५ कलि-संवत् इसी परिधि में आ जाता है। विवाद कलि-संवत् पर नहीं है, विवाद कलि-संवत् में बुरी तरह से उलझे हुए 'युधिष्ठिर-संवत्' पर है। युधिष्ठिर-संवत् कहीं कलिपूर्व है, कहीं वह **कलियुग का समानान्तर है**; कहीं वह कलिसंवत् २४४९ से आरम्भ हुआ माना गया [अबूरिहाँ अल्बैरुनी को संदर्भ में लेते हुए] हमें यह उचित लगा कि युधिष्ठिर-संवत् को **सप्तर्षि-संवत् में** पलट देना चाहिए। यही किया है। इस तरह युधिष्ठिर-संवत् से निरपेक्ष हुए 'कलि-संवत्' पर कोई विवाद नहीं! अलबत्ता गौरतलब बात यह कि **आलोच्य संवत्-शृंखला को सु-संबद्ध रखने की क्षमता कलि-संवत् में हैं**। जैसे नेपालीय काल-गणना में '**कलि-संवत् ३०००**' तथा '**कलि संवत् ३७००**' के उल्लेख से उसकी विश्वसनीयता समाने आई है। अब उससे छेड़छाड़ नहीं की जा सकती।

कलि-संवत् की यही उपयोगिता सर्वत्र है।

वांछित सप्त-संवत्सरों की बुनावट
युधिष्ठिर-संवत् = सप्तर्षि संवत् = कलिसंवत्
विक्रम-संवत्
भगवान् शंकराचार्य का जन्म
उपनयन संस्कार
संन्यास दीक्षा
गोविन्दपाद का शिष्यत्व ग्रहण
ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना
ज्योतिर्मठ की स्थापना
मण्डनमिश्र से असमाप्त शास्त्रार्थ
परकाया प्रवेश/ शास्त्रार्थ समाप्त
श्रृंगेरीमठ तथा शारदामठ की स्थापना
मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य हुए
दिग्विजय-यात्रा-आरम्भ
गोवर्धन-मठ की स्थापना
भगवान् शंकर की नेपाल-यात्रा
हर्ष-संवत्
नेपाल-यात्रा से वापस
अशोक-संवत्
महाराजा हाल की शरणागति
भगवान् शंकर का विग्रह-विसर्जन
प्राचीन शक
सुरेश्वराचार्य का दिवङ्गमन तथा
१० म = आनन्दाविर्भावाचार्य—
गुप्त/विक्रम-संवत्
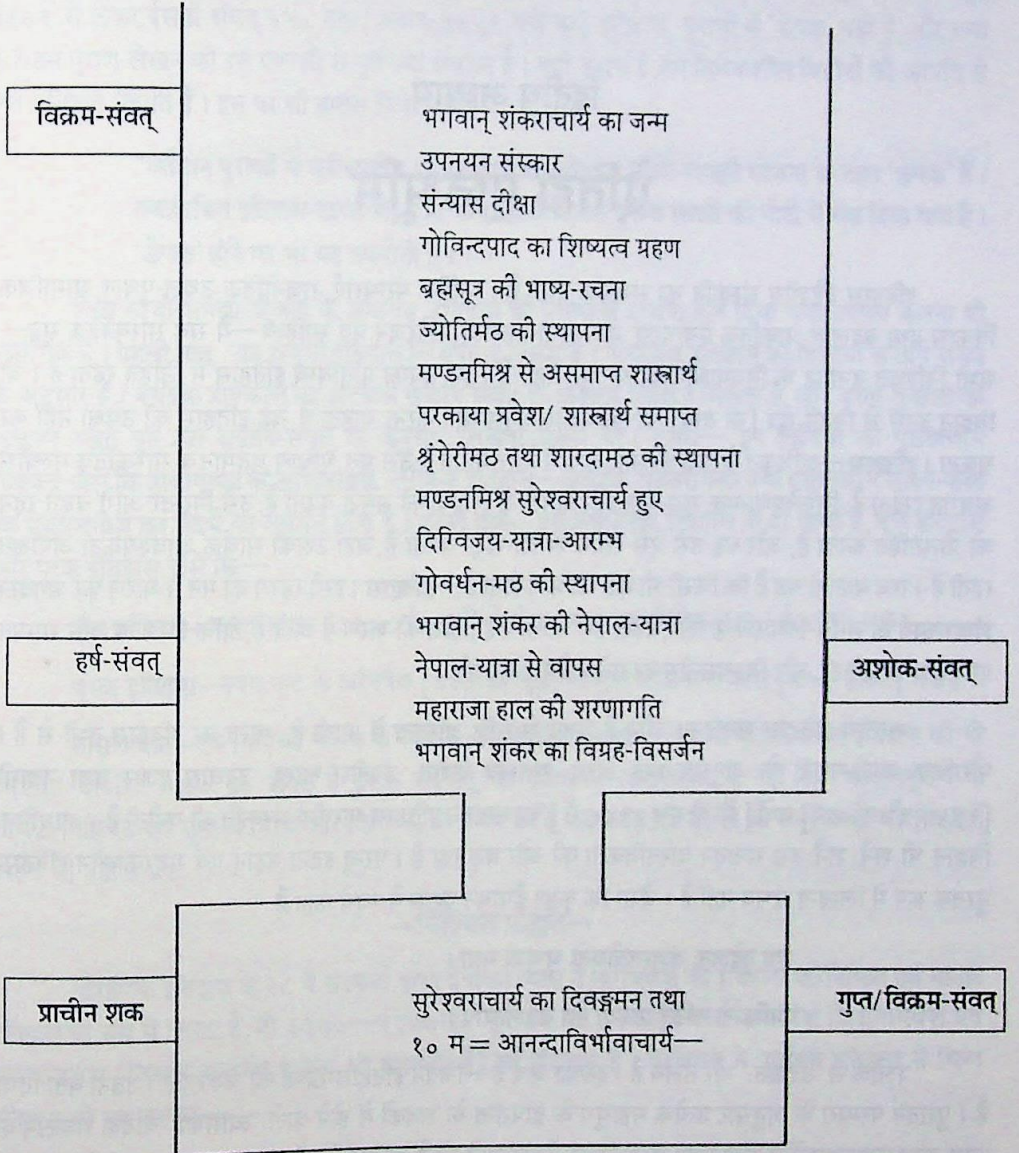
इति प्रथमोऽध्यायः

द्वितीय अध्याय

ऐतिह्य पृष्ठभूमि

इतिहास तद्देशीय संस्कृति का संवाहक होता है। धार्मिक परम्पराएँ, राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक विकास तथा बदलाव, प्राकृतिक पर्यावरण, नृत्य-संगीत-उत्सव-मनोरंजन एवं साहित्य—ये सब सांस्कृतिक सूत्र—सभी निश्चित बुनावट के नियमाधीन परस्पर जुड़े रहते हैं। इन सबका प्रतिबिम्ब इतिहास में निहित रहता है। जो विद्वान् इनमें से किसी सूत्र [या तत्त्व] पर साधिकार अनुसन्धान करना चाहता है, वह इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकता। **इतिहास**—अधिकृत लेखक को सही अर्थों में प्रेरित करता है; उसे भूत, भविष्य, वर्तमान के सांस्कृतिक मूल्योंसे अवगत रखता है; विश्लेषणात्मक सूझ-बूझ और क्षमता से लेखक को समृद्ध करता है; उसे निरन्तर आगे बढ़ते रहने को प्रोत्साहित करता है; और वह उसे ऐसे स्थान पर ला-खड़ा करता है, जहाँ उसकी सार्थक आवश्यकता अपेक्षित रहती है। सच बात तो यह है कि किसी भी देश का प्राण होता है—**इतिहास**। इसी रहस्य को मन में धारण कर **भगवान् शंकराचार्य के** समय-निर्धारण के लिए पहले हम भारतीय इतिहास की शरण में आते हैं, ताकि हम सत्य और साम्प्रत पर दृढ़ता से जमे रहें और विश्वसनीय दस्तावेज़ तैयार कर सकें।

भारतीय इतिहास सनातनकालीन है। **जब से सृष्टि अस्तित्व में आयी है,** भारत का इतिहास तभी से है। पौराणिक काल-गणना के अनुसार **एक अरब, सत्तानवे करोड़, उनतीस लाख, उनचास हजार तथा नवासी** [१,९७,२९,४९,०८९] **वर्षों** [ईसवी सन् १९८८ में] का सनातन इतिहास भारतीय संस्कृति की बपौती है। आधुनिक विज्ञान भी शनैः शनैः इस सनातन वास्तविकता की ओर बढ़ रहा है। परन्तु इतना महान् एवं सुदूरकालीन इतिहास पुस्तक रूप में लिखना संभव नहीं है। जैसा कि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने स्वयं कहा है—

एष तूद्देशतः वंशस्तवोक्तो भूभुजां मया।

निखिलो गदितुं शक्यो नैष वर्षशतैरपि ॥

श्लोक से 'उद्देशतः' गौर तलब है। इसका अर्थ है—जितने इतिहास-खण्ड की ज़रूरत है। उतना बता दिया है। पुरातन परम्परा के अनुसार प्रत्येक महायुग के द्वापरान्त के शतकों में होने वाले **'व्यासगण'** वैदिक संकलन के साथ-साथ पुराणशास्त्रों के युगानुरूप संस्करण भी तैयार करते रहे हैं; भविष्य में भी संभाव्य ४३ महायुगों के द्वापरान्त शतकों में आगन्तुक **व्यासगण** पुराणों के उत्तरवर्ती संस्करण तैयार करते रहेंगे। जैसा कि सब को विदित है; **वर्तमान पुराण शास्त्र कृष्ण द्वैपायन व्यास की प्रतिभा का चमत्कारपूर्ण प्रकाशन है**। यह संतोष का विषय है कि **अधुनातन पुराणशास्त्रों** [जैसे कि वायु, मत्स्य, भागवत, स्कन्द, पद्म तथा विष्णुनामा पुराणों में] **[निश्चित पद्धति के अनुसार समाविष्ट] इतिहास आज प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा उतरा है**। आधुनिक विवेकशील विद्वान् पुराणस्थ इतिहास को शंका की दृष्टि से देखते रहे हैं; और स्पष्टतया इसे क्षेपक भी मानते हैं। इन विद्वानों की सटीक आपत्ति हमें मंजूर है। हम जानते हैं, पुराण-लेखन के लिए कुछ-एक सीमाएँ निर्धारित हैं। जैसे कि महायुग में से कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापर

युग—इस युगत्रयी का इतिहास लिखना वांछनीय है और उसे पुराणोचित ठहराया जाता है। १. स्पष्ट हो—पौराणिक इतिहास के लिए कलिकाल का इतिहास सन्निविष्ट करना कठोरतापूर्वक वर्जित है। फिर इस कलियुग का ईसवी पूर्व ३१०१ से लेकर ईसवी संवत् ५५० तक [अंकतः ३६५१ वर्षों का] इतिहास पुराणों में 'क्षेपक' नहीं है, और क्या है? हम पुराण-लेखन की इस प्रणाली से पूर्णतया अवगत है। यही कारण है, हम विवेकशील विद्वानों की आपत्ति से शत-प्रतिशत सहमत हैं। इस पर भी हमारा निवेदन है—

> **"वर्तमान पुराणों में कलियुगीन ३६५१ वर्षों का इतिहास सोची-समझी योजना के तहत 'क्षेपक' है। तथाकथित इतिहास-खण्ड नष्ट न हो जाय, इसलिए उसे पुराण शास्त्रों की गोदी में रख दिया गया है। 'क्षेपक' होने पर भी यह उपयोगी है।"**

जिस सोची-समझी योजना के अन्तर्गत 'इतिहास' को पुराणों में प्रक्षिप्त होने दिया गया, उसका जानना भी प्रासंगिक है। **पहली बात,** यह समूचा इतिहास तिथिपूर्वक निबद्ध है। पौराणिक इतिहास की तिथियाँ सप्तर्षि-संवत् के अनुसार हैं। क्योंकि प्राक्कलि का इतिहास सप्तर्षि-संवत् के अनुसार लिखित मिलता है, और काल-शृंखला को अक्षुण्ण रखते हुए उसे सप्तर्षि-संवत् के अनुसार लिखना जरूरी था। दूसरा— इन तिथियों को पुरातत्त्वीय साक्ष्य—**जैसे कि हाथीगुम्फा के अभिलेख है,** लौकिक इतिहास—**जैसे कि राजतरंगिणी** तथा राष्ट्रान्तरीय साक्ष्य-**जैसा कि मेगास्थनीज़ का संदर्भ** का समर्थन प्राप्त है। **दूसरी बात—** इस प्रक्षेपीकृत इतिहास के दो खण्ड हैं, मूल इतिहास और पूरक इतिहास, जैसे कि—

मूल इतिहास—भारत-संग्राम [३१४८ ई० पूर्व] से लेकर नवमनन्दाभिषेक [४३० ई० पूर्व] तक।

पूरक इतिहास—नवम नन्द के अभिषेक [४३० ई० पूर्व] से गुप्त शासनान्त काल [४७० ईसवी] तक।

तीसरी बात—एक निश्चित परिधि के पश्चात् : **कलिर्वृद्धिं गमिष्यति**—पुराणों के प्रक्षेपीकृत इतिहास की भी निश्चित अवधि—**५७० ई० संवत्** है इसके पश्चात् का इतिहास पुराणशास्त्रों में नहीं है। भविष्यपुराण के साथ—निश्चित एवं समाप्य विधि और तिथि का उल्लंघन करके छेड़-छाड़ की गई है, जो अनुचित है और यह हमें पसन्द भी नहीं है।

—निश्चित पद्धति—

पौराणिक इतिहास के २८ वें संस्कर्ता कृष्ण द्वैपायन व्यास ने मागधवंश का इतिहास **परिनिष्ठित एवं मानक इतिहास के रूप में** लिखा है, जो ३१७७—२१७७ ई० पूर्व तक का है। उसके बाद प्रद्योतवंश शिशुनागवंश एवं महानन्दिवंश [जिसके अन्तर्गत ९-नन्द भी समाहित हैं] का इतिहास है। वेदव्यास ने पूर्वोक्त इतिहास से भिन्न इतिहास को यह कहकर—

> **"तुल्यकाला भविष्यन्ति सर्व एव महीक्षिताः।**
>
> **—ब्रह्माण्डपुराण : २/३/७४/१३८,**

हासिए पर छोड़ दिया है। इतना सब होने पर भी अपवाद रूप में आन्ध्रवंश का इतिहास पूरा लिख दिया है। सप्तर्षि-संवत् की तिथियों के अनुसार लिखा है। जब कि वह भी हासिए पर लिखने योग्य था।

इसके पश्चात् वेदव्यास ने पूरक इतिहास के लिए भी पाटलीपुत्र [पटना] के राजवंशों का इतिहास—अर्थात् मौर्यवंश, शुंगवंश, काण्वायनवंश और आन्ध्रवंश के चार राजा तथा विश्वस्फणितक, परिनिष्ठित इतिहास के रूप में लिखा है। शेष इतिहास हासिए पर छोड़ दिया है और कहीं-कहीं संकेत मात्र लिखा है।

कहना न होगा ! प्रस्तुत रचना में **भगवान् श्रीमच्छङ्कराचार्य का** समय स्थिर करने के लिए, सप्तर्षि-संवन्निबद्ध पौराणिक पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रमुख तथा गौण-उभय इतिहास का आकलन किया है तथा मानक इतिहास को मेरुदण्ड के रूप में लिखा है, और शेष इतिहास को हासिए पर ही लिखा है । यह सब इसलिए किया है कि भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारणार्थ **सुदृढ़ ऐतिह्य पृष्ठभूमि** सामने रहे ।

—प्रथम भाग—

[उज्जयिनी]	मागधकालक्रम	[प्रतिष्ठानपुर]
—	**नवम नन्द**	**शातकर्णि [१]**
	सप्तर्षि सं० ११०३ = ३४२ ई० पूर्व	३२० ई० पूर्व
—	**चन्द्रगुप्त मौर्य**	**पूर्णोत्संग**
	सप्तर्षि सं० ११२४ = ३२२ ई० पू०	३०२ ई० पू०
—	**बृहस्पतिमित्र [बिन्दुसार]**	**स्कन्दस्तम्भी**
	सप्तर्षि सं ६२०० = २७६ ई० पूर्व	

अथ विमर्श-परामर्श १)

१. नवम नन्द के शासनकाल के अवसान के साथ मूल इतिहास की अंतिम कड़ी समाप्त होती है । पुराणशास्त्रों में नन्द का शासनारम्भ काल लिखा है । यथा—

"..........यावन्नन्दाभिषेचनम् ।

"एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम् ॥"

अर्थात् सप्तर्षि-संवत् १०१५ में उसका अभिषेक हुआ। उसने ८८ वर्ष राज्य किया। **१०१५ + ८८ = ११०३ सप्तर्षि-संवत्** तक । इस बात की पुष्टि हाथीगुम्फा अभिलेख से हो जाती है । यथा—"**पञ्चमे चेदानीं वत्से नन्दराज ति-वससत ओघाटितं तनसुलिय बाटा पनाडिंनगरं प्रवेसयति ॥**" (छठी पंक्ति) १०३ = ११०३ समानरूपेण ग्राह्य है । कारण, सप्तर्षि-संवत् में हज़ार का अंक छोड़कर लिखने का वैकल्पिक नियम है । उक्त संख्या को ई० पूर्व में पलटने का नियम यह है—[क] ११०३ + ७ अपनी ओर से जमा किए १११० सिद्ध हुआ । घटाया : **[ख] १४५२-१११० = ३४२ ई० पूर्व का साल** । यही पूरक इतिहास की प्रथम तिथि है ।

२. शातकर्णि (१) से पहले दो राजा हुए—१. सिमुक और २ कृष्ण । तिथि है, उक्त सातवाहन वंश का शासन स्थापना वर्ष है—३७६ ई० पूर्व । प्रमाण—

[१] कलेर्गतैः सायकनेत्रवर्षैः [२५] सप्तर्षिवर्य्याः त्रिदिवं प्रयाताः ॥

—वूल्हररिपोर्ट, पृष्ठ ६०

[२] सप्तविंशैः शतैर्भाव्या आन्ध्राणां तेऽन्वयाः पुनः ।

—पुराणपाठ

कलि संवत् २५ = ३०७६ ई० पूर्व का साल के बराबर है । उससे—२७००[= ३७६ ई० पूर्व] वर्ष के पश्चात् से आन्ध्रवंश प्रतिष्ठानपुर [पैठन] में शासनारूढ हुआ । उनका शासन काल इस प्रकार है—

सप्तर्षि	ई० पूर्व	नाम	संदर्भ
[३४]२३	३५३	सिमुक	त्रयोविंशत्समा राजा शिशुकस्तु भविष्यति।
३४४१	३३५	कृष्ण	अष्टौ भ्राता च वर्षाणि तस्माद्दश भविष्यति।

इसके पश्चात् शातकर्णि का शासन आरम्भ होता है—

[३४]५६	३२०	शातकर्णि	पञ्चाशतैः समाः षट् च शातकर्णि र्भविष्यति।

सामान्यतया आन्ध्रवंश का अभ्युदय नवम नन्द के शासनकाल [४३०-३४२ ई० पूर्व] से ३४ वर्ष पहले हो गया था।

शातकर्णि (१) चन्द्रगुप्त मौर्य नितान्त समकालीन है।

बेहद आश्चर्य की बात है कि कलिंग-नरेश खारवेलश्री ने अपने विसर्जित शिलालेख—हाथीगुम्फा में चन्द्रगुप्त मौर्य का समय ३२२ ई० पूर्व का तथा शातकर्णि का समय ३२१ ई० पूर्व का संकेत साथ-साथ दिया है। हाथीगुम्फा-अभिलेख से पौराणिक काल-गणना की प्रामाणिकता पुष्ट ही हुई है।

३. उपर्युक्त आश्चर्य के साथ गौरतलब आश्चर्य यह भी है कि यूनानी राजदूत-मेगास्थनीज़— ने भी उक्त सप्तर्षि-कालांकित गणनाओं की पुष्टि की है। वह लिखता है—मागध सत्ता में तीन बार रिपब्लिक स्थापना हुई, उनके वर्ष हैं—६४५१, ६०४२, १२० और ३००। पहले दो अंक सप्तर्षिसंवत् के हैं, अन्य दो अंक भिन्न-भिन्न शककालों के हैं। यथा—

(क) सप्तर्षि-संवत् ६४५१ में ७ अपनी ओर से जमा किए; **६४५१ + ७ = ६४५८;** घटाया : **६८८८-६४५८ = ४३० ई० पूर्व का साल,** जब नवम नन्द ने शासन हस्तगत किया था। पुराण शास्त्रों में यह समय लिखा है—**एतद् वर्ष-सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्।** तथा च ६४५१-५४३६ [२७१८ + २७१८] = **१०१५ सं. संवत्**

(ख) दूसरे अंक भी सप्तर्षि-संवत् के हैं, परन्तु उनमें चार वर्षों की चूक रह गई है। पूर्ववत् ७ वर्ष अपनी ओर से जमा किए : ४ + ६०४२ + ७ = ६०५३; पुनः घटाया: ६४८३-६०५३ = **४३० ई० पूर्व पहले की तरह प्रतिफलित है।**

(ग) १२० अंक शककाल के हैं। ईरान के राजा सायरस ने भारत पर आक्रमण करके जीता और अपना शककाल स्थापित किया जो ५५० ई० पूर्व से गिना जाता है। सो गणनानुसार-५५०-१२० = **४३० ई० पूर्व सामने** है, जैसा कि मेग़ास्थनीज़ दो विभिन्न अंकों में प्रकट कर चुका है।

(घ) ३०० अंक भारतीय प्राचीन शक के हैं। भारत-संग्रामकाल ३१४८-२५२६ = ६२२ ई० पू० से चल निकले **प्राचीन शक ३०० + ३२२ = ६२२ ई० पू० के हैं।** विदित हो पुराणमतानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनान्त ३२२ ई० पूर्व का लिखा है और हाथीगुम्फा-अभिलेख से भी इसकी पुष्टि होती है।

इन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में यह कहना उचित लगता है कि ३२५ ई० पू० में सिकन्दर के आक्रमण-काल में शातकर्णि [१] तथा चन्द्रगुप्त मौर्य अपने-अपने राज्य में शासनारूढ थे।

४. चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसका पुत्र सिंहासनासीन हुआ। उसका नाम क्या था? इस पर विवाद है। परिशिष्ट पर्व के प्रणेता का कहना है—उसका नाम **'बिन्दुसार'** है। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य तथा शातकर्णि के समकालिक **कलिंगनरेश खारवेलश्री ने उसका नाम बृहस्पतिमित्र लिखा है।** खारवेलश्रीका अभिषेक ३२२ ई० पूर्व में सम्पन्न हुआ। प्रामाणिकता की दृष्टि से राजा खारवेलश्री आचार्य हेमचन्द्र से अधिक आप्त है।

(उज्जयिनी)	पुनश्च	(प्रतिष्ठानपुर)
कुणाल	**अशोकवर्धन**	**श्रीशातकर्णि (२)**
२३७ ई० पूर्व तक	सप्तर्षि-संवत् १२२६ = २१९ ई० पूर्व	२२० ई० पूर्व
सप्तति [संप्रति]	**बन्धुपालित**	**लम्बोदर**
२२७ ई० पूर्व तक	सामान्य वर्ष ८ = २११ ई० पूर्व	२०२ ई० पूर्व।
पुष्यमित्र [मौर्य]	**इन्द्र पालित**	**अपीलक**
२१० ई० पूर्व तक	सामान्य वर्ष १० = २०१ ई० पूर्व	१९० ई० पूर्व तक
बलमित्र-भानुमित्र-	**देववर्मा**	**मेघ स्वाति**
	सामान्यवर्ष ७ = १९४ ई० पूर्व	१७२ ई० पूर्व।
१९२ ई० पूर्व तक	**शतधार**	
	सामान्यवर्ष८ = १८६ ई० पूर्व	
द्रव्यवर्धन	**बृहदश्व**	**स्वाति**
१५८ ई० पूर्व।	सामान्य वर्ष ७ = १७९ ई० पूर्व	१५८ ई० पूर्व

अथ विमर्श-परामर्श (२)

१. बिन्दुसार, कुणाल और अशोकवर्धन—इनके नामों पर विवाद है।

'अशोकावदान' के अनुसार उक्त नाम-त्रयी की विवरणी इस प्रकार है—

असली नाम : बृहस्पति मित्र	महेशाख्य	धर्मविवर्धन
बोलता नाम : बिन्दुसार	अशोक	कुणाल

(क) हाथीगुम्फा-अभिलेख के अनुसार तात्कालिक मगधनरेश का नाम 'बृहस्पति मित्र' है। जैसा कि पाठ है: **"मागधं च राजानं बृहसपतिमित्तं च पादे वंदापयति"** (१२ वीं पंक्ति) यहाँ तात्कालिक से हमारा तात्पर्य ३२२ ई० पूर्व में अभिषिक्त मगधनरेश से है, **जो बिन्दुसार को छोड़कर और कोई नहीं**। परिशिष्ट पर्व की कहानी कुछ और है—

> **"इति तस्या विपन्नायास्तदोदरं विदारयात्।**
> **तस्माद् गर्भमाचकर्ष मुक्तां शुक्तिप्रदादिव ॥ ४४२ ॥**
> **विषविन्दुश्च संक्रान्तः तस्य बालस्य मूर्धनि।**
> **ततश्च गुरुभिः बिन्दुसार इत्यभिधायि सः ॥ ४४३ ॥**

परिशिष्टपर्व, अष्टम सर्ग

इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्यपुत्र का नाम बृहस्पतिमित्र उर्फ बिन्दुसार प्रसिद्ध हुआ।

(ख) यही स्थिति बिन्दुसार-पुत्र-अशोक की है। 'अशोकावदान' के अनुसार **"महेशाख्यो राजाऽशोको बभूव"**। महेशनामा राजपुत्र के जन्म के पश्चात् उसकी जननी ने ठंडी सांस लेते हुए कहा—**"अस्य दारकस्य जातस्य**

अशोकास्मि संवृत्ता। "तस्य अशोक इति नाम कृतम्॥" अतः तब से प्रसिद्ध हो गया 'अशोक'। दर असल महेशाख्य उर्फ अशोक—इस प्रकार समझना चाहिए।

(ग) अशोकपुत्र कुणाल का भी असली नाम 'धर्मविवर्धन' है। जैसा कि हम पढ़ते हैं—

"प्रीतिः परा मे विपुला ह्यवाप्ता

मौर्यस्य वंशस्य पराविभूतिः।

धर्मेण राज्यं मम कुर्वतो हि

जातः सुतो धर्मविवर्धनोऽस्तु॥

तस्य धर्मविवर्धन इति नाम कृतम्॥

परन्तु **"ततो राज्ञाभिहितः कुमारस्य कुणालसदृशानि नयनानि। भवतु कुमारस्य कुनाल इति नाम।"** राजा अशोक ने कुमार के नेत्रों की तुलना कुनाल से करते हुए उसका नाम 'कुणाल' ही विश्रुत किया।

२. आन्ध्र वंश की शासनावधि इस प्रकार है—

सप्तर्षि	ई० पूर्व	नाम	संदर्भ—
[३५]५६	२२०	श्री शातकर्णि	पंचाशतैः समाः षट् च शातकर्णिर्भविष्यति
३५७४	२०२	लम्बोदर	दश चाष्टौ च वर्षाणि तस्य लम्बोदरः सुतः
३५८६	१९०	अपीलक	अपीलको दश द्वे च तस्य पुत्रो भविष्यति।
३६०४	१७२	मेघस्वाति	दश चाष्टौ च वर्षाणि मेघास्वातिर्भविष्यति।
[३६]१८	१५८	स्वाति	स्वातिश्च भविता राजा समास्त्वष्टादशैव तु॥

३. पुष्यमित्र मौर्य से पहले बृहस्पति, वृषसेन पुष्यधर्मा-तीन राजा हुए। वे अल्पकालिक राजा थे। पूरा एक वर्ष शासन किसी ने नहीं किया। अतः सबका शासन पुष्यमित्र के शासनकाल में समाहित हैं।

पुष्यमित्र मौर्य शुंगवंशी पुष्यमित्र से ३१-वर्षीय प्राग्वर्ती है। फिर भी अनेक इतिहासकारों ने 'पुष्यमित्र' के भ्रम में "मौर्यवंश' 'शुंगवंश' की अनदेखी करते हुए दोनों को अभिन्न समझ लिया है। मौर्य पुष्यमित्र ने बौद्ध सन्तों पर महद् अत्याचार किये। यथा--"**देव, द्वाभ्यां कारणाभ्यां नाम चिरं स्थास्यति। राज्ञाऽशोकेन चतुरशीतिः धर्म-राजिका-सहस्त्रं स्थापितम्। अतः तस्य नाम चिरं तिष्ठति। यदि भवाँस्तेत् तानि नाशयेत् भवतो नाम चिरतरं स्थास्यतीति।**" अपने मन्त्री के बहकावे में आकर ८४००० मठ गिरवा दिए। भ्रान्त इतिहासकारों ने जैन राजा मौर्य वंशी पुष्यमित्र के अत्याचार ब्राह्मणराजा शुंगवंशी पुष्यमित्र के नाम मढ़ दिये हैं। हमने यह प्रसंग इसलिए उठाया है कि दो-दो पुष्यमित्रों की पहचान कायम रहे।

मौर्य पुष्यमित्र निःसन्तान मरा। उसके पश्चात् तिष्यरक्षिता के आत्मज-**तिष्यगुप्त**-के जुड़वाँ पुत्र-**बलमित्र** और **भानुमित्र**-१९२ ई० पूर्व तक शासन में रहे।

इनका उत्तराधिकारी द्रव्यवर्धन हुआ। विदित रहे प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् **आचार्य वराहमिहिर** (जीवनकाल १९३-११३ ई० पूर्व) द्रव्यवर्धन का राजसभा-पण्डित था।

पुनश्च

—शुंगवंश—

पुष्यमित्र

चन्द्रगुप्त मौर्य [२]	सप्तर्षि सं० १३६० = ८५ ई० पूर्व	स्कन्दस्वाति
१४६ ई० पूर्व	——	१५१ ई० पूर्व
साहसांक	अग्निमित्र	मृगेन्द्रस्वाति
११६ ई० पूर्व	सामान्य वर्ष ८ = ७३ ई० पूर्व	७३ ई० पूर्व
विक्रमार्क [आदित्य]	वसुमित्र	कुंतल
९५ ई० पूर्व	सामान्य वर्ष ७ = ६५ ई० पूर्व	६८ ई० पूर्व
गर्दभिल्ल [वंशादि]	अग्निमित्र	स्वातिकर्ण
७० ई० पूर्व	सामान्य १० = ५५ ई० पू०	६७ ई० पूर्व
गंधर्वसेन	अन्ध्रक	पुलुमावी
६१ ई० पूर्व	सप्तर्षि १४०२ = ४३ ई० पूर्व।	४६ ई० पूर्व
विक्रमादित्य [१]	पुलिन्दक	
५० ई० पूर्व	सप्तर्षि सं० १४१० = ३५ ई० पूर्व	
शिलादित्य	अश्वघोष	
३६ ई० पूर्व	सामान्य वर्ष ३ = ३२ ई० पूर्व	कृष्ण
विक्रमादित्य (२)	वज्रमित्र	२१ ई० पूर्व
१४ ई० पूर्व	सप्तर्षि सं. १५०३ = ५८ ई० संवत्	
सारवाहन	भागवत	
(?)	सप्तर्षि सं० १५३१ = ८६ ईसवी	
नरवाहन	क्षेमभूमि	
३२ ई० [शासनान्त]	सामान्य वर्ष १० = ९६ ईसवी	(हाल)
		२१ ई० पू० आरम्भ

अर्थ विमर्श-परामर्श (३)

१. मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त मौर्य २. तथा शुंगवंशी पुष्यमित्र थोड़ा आगे-पीछे करके समकालीन हैं। जैसे कि भगवान् पतञ्जलि का कथन है—"पुष्यमित्रसभम्" "चन्द्रगुप्तसभम्"। यही सन्दर्भ व्याकरण ग्रन्थ 'काशिका' में पढ़ने को मिलता है। इस युग में दो राजाओं के शासनकाल दीर्घकालिक हैं। इनमें एक हैं—पुष्यमित्र, तथा दूसरा है—महाराजा हाल। खारवेल द्वारा विसर्जित हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार भारत में यूनानियों का शासनारम्भ ३१२ ई० पूर्व से मान्य है। पुराणमतानुसार—

"अशीतिः द्वे च वर्षाणि भोक्तारो यवना महीम् ॥"

—ब्रह्माण्डपुराण उ० ३/७४/१७४

अर्थात् ८० + ८० = १६० वर्ष यूनानियों ने भारत पर शासन किया। जो ३१२-१६० = **१५२ ई० पूर्व में शुंग नरेश पुष्यमित्र ने यूनानियों को भारत से खदेड़ना आरम्भ किया।** तत्पश्चात् पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसका संकेत 'महाभाष्य' में है।

यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि भगवान् शंकराचार्य के जन्म लेने से पूर्व, परिस्थितियाँ जो करवट लेने लगी थीं, उसका स्पष्ट विवरण सामने रहे।

२. द्रव्यवर्धन के सभापण्डित **आचार्य वराहमिहिर** ने अपने जीवनकाल में मौर्य [२] तथा उसके आत्मज साहसांक राजा की राज्यसभा को भी अलंकृत किया। जैनग्रन्थानुसार आचार्य भद्रबाहु वराहमिहिर के कनिष्ठ भ्राता थे। यथा—**"प्रतिष्ठानपुरे वराहमिहिर-भद्रबाहू द्विजौ बान्धवौ प्रव्रजितौ। भद्रबाहोराचार्यपददाने रुष्टः सन् वराहो द्विजवेषमाहत्य वाराहीसंहितां कृत्वा निमित्तैर्जीवति।"**—कल्प किरणावली १६३। यहाँ गौरतलब बात यह है कि आचार्य भद्रबाहु का शिष्यत्व ग्रहणकर चन्द्रगुप्तमौर्य (२) जैन साधु बनकर **'विशाखाचार्य'** नाम से विश्रुत हुए। श्रवणबेल गोला जैनतीर्थ में वर्तमान एक शिलालेख में उक्त घटना उत्कीर्ण हैं और उस पर [प्रा०] शक ५२२ अंकित है। **यह घटना ६२२-५२२ = १०० ई० पूर्व की है।** निश्चयपूर्वक चन्द्रगुप्त मौर्य (२) **उर्फ विशाखाचार्य** एक दीर्घजीवी राज-संन्यासी था।

३. चन्द्रगुप्त मौर्य (२) का पुत्र साहसांक १४६ ई० पूर्व में उज्जयिनी का शासक बना। वह साल १४६ ई० पूर्व का है। आचार्य वराहमिहिर ने साहसांक के अभिषेक-वर्ष में रचना लिखी, जिस पर **युधिष्ठिर-संवत् ३०४२ लिखा।** विदित हो, युधिष्ठिर के प्रथम अभिषेक के समय ३१८८ ई० पूर्व में युधिष्ठिर-संवत् स्थापित हुआ। बात तो सटीक है—**३१८८-३०४२ = १४६ ई० पूर्व का फलागम सुरक्षित है।** स्पष्ट लिख दें—भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारण में **उभय युधिष्ठिर-संवत् अवांछनीय हैं।**

४. विशेष ध्यातव्य यह है कि उज्जयिनी में मौर्य वंश के शाखान्तर के रूप में गर्दभिल्लवंश की स्थापना हुई। कायदे के अनुसार गर्दभिल्ल भी मौर्यवंशी है और साहसांक का वंशधर है; परन्तु अपनी भिन्न प्रकृति के कारण यह वंश जैन रामाज [अथवा धर्म] से विच्छिन्न हो गया। विशेष उल्लेखनीय यह है—**(१) गर्दभिल्ल के शासनकाल में कुषाणवंश ने भारत में प्रवेश लिया था; (२) गर्दभिल्ल-कुषाण संघर्ष की लुप्त ऐतिह्य कड़ी को उजागर करना हमारा लक्ष्य है। (३) इसी गर्दभिल्ल के तीसरे वंशधर-विक्रमादित्य के अभिषेक वर्ष के १४ वें वर्ष में भगवान् शंकर का जन्म हुआ।** अवशिष्ट प्रतिष्ठान पुर की वंशावली इस प्रकार है—

सप्तर्षि	ई० पूर्व०	नाम	संदर्भ—
३६३५	१५१	स्कन्दस्वाति	स्कन्दस्वातिस्तथा राजा सप्तैव तु भविष्यति।
(३७०)३	७३	मृगेन्द्र स्वाति	मृगेन्द्रस्वातिकर्णिस्तु भविष्यति समाः त्रयः।
३७०८	६८	कुन्तल	कुन्तलस्वातिकर्णिस्तु भविताष्टौ समा नृपः।
३७०९	६७	स्वातिकर्ण	एकं संवत्सरं राजा स्वातिकर्णिर्भविष्यति।
३७३०	४६	पुलुभावी	(अनुमान और परम्परा के अनुसार)
३७५५	२१	कृष्ण	भविता नेमिकृष्णस्तु वर्षाणां पञ्चविंशतिः।
आरम्भ	**	(हाल)	(शतवर्षीय शासनकाल)

५. शुंग वंशी राजाओं की काल-परीक्षा कर लें—

ज़रा (क) पुष्यमित्र का राज्यावसान सप्तर्षि-संवत् १३६० में हुआ। इसमें ७ वर्ष जमा किए : १३६७ हुए, घटाया: १४५२-१४६७ = ८५ ई० पूर्व का फलागम ठीक है।

(ख) अन्धक राजा ने सप्तर्षि स० १४०२ पर्यन्त शासन किया। गणना—१४०२ + ७ = १४०९, घटाया-१४५२-१४०९ = ४३ ई० पूर्व०; अर्थात् उसने १२ वर्ष शासन किया।

(ग) पुलिन्दिक ने स० स० १४१० तक शासन किया। गणना-१४१० + ७ = १४१७; घटाया १४५२-१४१७ = ३५ ई० पूर्व तक पुलिन्दिक का शासन ठीक है।

(घ) वज्रमित्र का शासनान्त सप्तर्षि-संवत् १५०३ में हुआ। गणना १५०३ + ७ = १५१०; घटाया १५१०-१४५२ = ५८ ईसवी संवत् तक उसका शासन दीर्घकालिक था। अर्थात् ९३ वर्षीय उसका शासन था।

(ङ) भागवत १५११ स० संवत् तक शासनारूढ रहा। गणना १५३१ + ७ = १५३८, घटाया १५३८-१४५२ = ९६ ई० संवत् का फलागम यथार्थ है।

पुनश्च

(उज्जयिनी)	काण्वायन	(प्रतिष्ठान पुर)
शालिवाहन	**काण्वायन वंश**	**हाल**
३४ ई०	सप्तर्षि सं. १६०९ = १६३ ई०	७८ ईसवी
महेन्द्रादित्य	——	**मण्डलक**
४५ ई० संवत्	——	८३ ईसवी
भर्तृहरि	——	**पुरीन्द्रसेन**
६५ ई० संवत्	——	१०४ ई० संवत्
साहसांक-श्रीविक्रमादित्य	——	**सुन्दर + चकोरस्वाति**
८० ईसवी	——	१०६ ई० संवत्
उदयादित्य	——	**शिवस्वाति**
११० ईसवी	——	१३३ ई०
चष्टन	**भूमिमित्र**	**गौतमी पुत्र**
१२१ ईसवी	सामान्य वर्ष १४ = १७७ ईसवी	१४५ ईसवी
जयदामन	**नारायण**	**पुलुमावी**
१३८ ईसवी संवत्	सामान्य वर्ष १२ = १८९ ईसवी	१७३ ईसवी
रुद्रदामन	**सुशर्मा**	**शिवश्री**
१९० ईसवी संवत्	सामान्य वर्ष १० = १९९ ईसवी	१८० ईसवी
शशाङ्क		**शिवाकन्द**
२१५ ईसवी संवत्	यज्ञश्री	१९८ ईसवी

सामान्य वर्ष २९ = २२८ ईसवी

हर्ष विक्रमादित्य **विजय** ?

२५५ ईसवी सप्तर्षि-संवत् ४०६ = २६० ईसवी

प्रतापादित्य **चन्द्रश्री**

२६५ ईसवी सप्तर्षि-संवत् ४१० = २६५ ईसवी ?

देवापि **पुलुमावी ?**

२७१ ईसवी सामान्य वर्ष ७ = २७६ ई० संवत् —

अथ विमर्श परामर्श (४)

१. इस दशक में इतिहास पूरी तरह से करवट लेता है। ९५ ई० पूर्व से स्थापित गर्दभिल्लवंश ३२ ई० संवत् में समाप्त हो गया। यथा—

"एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहनभूपतिः।

विक्रमादित्यपौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्॥"—भविष्यपुराण,

"हूणवंशे समुत्पन्नः शालिवाहनभूपतिः।

गन्धर्वसेनतनयः पृथिवीमनृणां व्यधात्"

इस श्लोक में शब्दावलि का चयन बड़ी सावधानी से किया गया है। इसमें **'हूणवंश'** शब्द गौरतलब है। हूण विदेशी आक्रान्ता नहीं थे। **हूण का अर्थ है—नाग!** शालिवाहन विक्रमादित्य **हूणवंशी नाग ब्राह्मण था।**। उसने मालव विक्रमादित्य के पोते से राज्य अधिगृहीत किया। **वह उसका पितृराज्य था।** नरवाहन के पिता का नाम शालिवाहन था। इतिहास के पृष्ठों में कौन शालिवाहन विजेता है ? कौन शालिवाहन विजित है ?—इस असमञ्जस्य को समाप्त करने के हेतु **'पितृराज्यम्'** लिखा है। हमने भी इस भ्रम के भय से उसे **सार (शालि) वाहन** लिखा है। पाठकगण इसे समझने का प्रयास करें।

२. शालिवाहन विक्रमादित्य के नाम से दो संवत् चलते हैं। (१) पहला संवत् उज्जयिनी-विजय के उपलक्ष्य में स्थापित हुआ—जो ३२ ई० से गिना जाता है। स्वामी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में संकलित **'इन्द्रप्रस्थीय राजावली'** की विश्लेषणात्मक व्याख्या में अनुसंधायक को इसी 'कालगणना' की उपलब्धि होगी। (२) दूसरा संवत् उसने प्रजा को ऋणमुक्त करके स्थापित किया, जो ३४ ईसवी से ठीक-ठीक गिना जाता है और उसका परिचायक नाम है—**'विक्रमशक'**। अनुसंधायक को इसके दो प्रयोगान्वय मिलेंगे। यथा—

विक्रमशकाब्द ?

ऐहोल शिला लेख	पृथीराजरासो में
(५५६ + ३४ = ५९० शकाब्द)	**(१११५ + ३४ = ११४९ ई०)**

३. गर्दभिल्लवंश का उज्जयिनी में उत्सादन करके शालिवाहनवंश ने सत्ता स्थापित की। इसके १८ वंशधरों ने ३८० वर्ष उज्जयिनी पर शासन किया, जैसा कि पौराणिक साक्ष्य है—

"शतानि त्रीण्यशीतिं च शका ह्यष्टादशैव च।"—मत्स्यपुराण

३२ ईसवी से लेकर ४१२ ई० तक [४१२-३२ =] ३८० वर्ष तक यह शालिवाहन-वंश उज्जयिनी में डटा रहा। गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा शालिवाहन वंशधर विषमशील विक्रमादित्य **समकालीन शासक हैं।**

४. पहले आन्ध्र वंशीय राजावलीका शासनकाल स्थिर कर लें—

सप्तर्षि	ईसवी	नाम	विवरण-
३८५४	७८	**महाराजा हाल**	ततः संवत्सरं पूर्णं हालो राजा भविष्यति।
३८५९	८३	मंडलक	पञ्च मण्डलको राजा भविष्यति महाबलः।
३८८०	१०४	पुरीन्द्रसेन	पुरीन्द्रसेनो भविता समाः (?) सोप्यैकविंशतिः
३८८१	१०५	सुन्दर-चकोर सात.	सुन्दरसातकर्णिस्तु अब्दमेकं भविष्यति।
३९०९	१३३	शिवस्वाति	अष्टाविंशतिवर्षाणि शिवस्वातिर्भविष्यति।
३९२१	१४५	गौतमीपुत्र शातकर्णि	राजा च गौतमीपुत्रः एकविंशत्समा नृपः।
३९४९	१७३	पुलुमावी	(अनुमान तथा परम्परा के अनुसार)
३९५६	१८०	शिवश्री	शिवश्री वै पुलोमा तु सप्तैव भविता नृपः।
३९७४	१९८	शिवस्कन्द	शिवस्कन्दः शान्तिकर्णात् (अनुमानतः १८ वर्ष)

अथ विमर्श-परामर्श (५)

(क) हमने अपने प्रस्तावित अनुसन्धान को सुचारु रखने के लिए, कुछ लक्ष्मणरेखाएँ, नियम स्थिर किए हुए हैं। यथा—(अ) समाः = सप्तर्षि-संवत् के अंक है; उदाहरणः "**राजा गौतमी पुत्रः एकविंशत्समा नृपः**। अत्र एकविंशत् समाः से प्रयोजन है—**सप्तर्षिसंवत् २१ = ३९२१** (ईसवी सन् १४५) इति। अब्द = वर्ष = (या अन्य कोई पर्याय वाचक) सामान्य काल-सूचक है, उदाहरणः "**अष्टाविंशतिः वर्षाणि**" अथवा **पञ्च मण्डलको राजा**" अथवा "**अब्दमेकं भविष्यति**"—से तात्पर्य मात्र २८ वर्ष, पांच वर्ष तथा एक वर्ष ही ग्रहण किया जाएगा। ये संख्याएं **शृंखलानुबद्धता** से रहित हैं किसी संवत्-विशेष के द्योतक भी नहीं हैं।

परन्तु पुरीन्द्रसेन के लिए "**समाः [?] सोऽप्येकविंशतिः**" सप्तर्षि संवत् २१ 'समा' के अर्थ में ग्राह्य होने पर संगति न मिलने पर सामान्य वर्षों के रूप में आकलित किया है। नोट रहे।

(ख) सुन्दर-सातकर्णि तथा चकोर सातकर्णि का शासनकाल १८ मास सिद्ध होता है, परन्तु १२ मास (अर्थात् एक वर्ष) का ही ग्रहण किया है। परिणामतः शिवस्वाति के वर्ष संकलन में एक वर्ष की भूल उभरती है। यह भूल स्वयमेव गौतमी-पुत्र के शासनकाल में समाहित भी हो जाती है।

(ग) शिवस्कन्द प्रतिष्ठानपुर का अन्तिम शास्ता है। इसके पश्चात् 'यज्ञ श्री' का शासन आरम्भ होता है। परन्तु वह काण्वायनवंश के अन्तिम राजा 'सुशर्मा' को पाटलिपुत्र से अपदस्थ कर कब सत्तासीन हुआ? इसका खुलासा वहीं है। अनुमानतः **शिवस्कन्द ईसवीसन् १९८ के अप्रैल-मई में दिवंगत हुआ और उसका दायाद 'यज्ञश्री' राजा बना;** अनुमान यह भी है कि **यज्ञश्री ने ईसवी संवत् १९८ के अक्टूबर-नवम्बर में पाटलिपुत्र-सत्ता हथिया ली थी।** यज्ञश्री का शासनकाल ई० संवत् १९८ से गणनाधीन रहेगा—यह नोट रहे।

(१) समस्या महाराजा हाल की

शालिवाहन विक्रमादित्य ने दो-दो नरवाहन राजाओं से संमर्द किया। पहला राजा नरवाहन भड़ोच का शासक है और बलमित्र-भानुमित्र ।(पिता-पुत्र) का उत्तराधिकारी है। **यह राजवंश भी १०० वर्ष निरन्तर शासक बना रहा—ईसवी पूर्व १२२ से २२ ई० पूर्व तक**। यथा—

बलमित्र का शासनकाल	१२२ ई० पूर्व से आरम्भ। (६० वर्ष)
सरस्वती-अपहरण काण्ड	७४ ई० पूर्व : वीर संवत् ४५३
नरवाहन का शासनारम्भ	६२ ईसवी पूर्व से (४० वर्ष)
नरवाहन का शासनान्तः	२२ ई० पूर्व में।

संघर्ष में राजा हाल ने शालिवाहन को सहयोग दिया।

(१) साहसांक (२) विक्रमांक २ ने कुषाण वंश के उत्पाटन में साहसांक राजा को सहयोग दिया

[२] समस्या महाराजा हाल की

शकवंश

महाराजा हाल की १०० वर्षीय सत्ता

शालिवाहन विक्रमादित्य

[स्वयम्]

भरुकच्छपुरेऽत्रासीत् भूपतिर्नरवाहनः।
स समृद्धात्मकोशश्च श्रीमदय्यवमन्यते॥
इतः प्रतिष्ठानपुरे पार्थिवः शालिवाहनः
बलेनातिसंवृद्धः स रुरोध **नरवाहनम्**।
मिलितोऽसि किमर्थं त्वं सोऽवदन्न मिलाम्यहम्
अथान्तः पुरभूषादिद्रविणैस्तदाऽक्षिपत्।
हालेनाऽपि पुनरायाते निर्द्रव्यत्वान्निनाश सः।
नगरं जगृहे हालो द्रव्य-प्रणिधिरोषिका॥

पुत्र महेन्द्रादित्य

साहसांक विक्रमादित्य

—एक—

हाल-वासुदेव-शूद्रक-साहसांक

—राजशेखर

—दो—

द्रौपदी विक्रमादित्य : साहसाङ्कः शकान्तकः
शूद्रकस्त्वाग्निमित्राख्यः हालः स्यात् सातवाहनः।

—क्षीरस्वामी

विक्रम-स्मृतिग्रन्थः पृष्ठ-७४

—०—

पुनश्च--

मागध-नृपावलि

(उज्जयिनी) | **(प्रतिष्ठानपुर)**

उदयादित्य-चष्टन

१२१ ईसवी संवत्

जयदामन्-रुद्रदामन्

यज्ञश्री (१)

सामान्यवर्ष ३१ = २३० ईसवी

विजयश्री (१)

?

१९० ईसवी संवत्	सप्तर्षि-संवत् ६ = २५१ ईसवी
शशांक + हर्ष विक्रमादित्य	**चन्द्रश्री (३)**
२५५ ईसवी संवत्	सप्तर्षि संवत् १० = २६९ ईसवी ?
प्रतापशील + देवापि	**पुलोमा (४)**
२७१ ईसवी संवत्	सामान्यवर्ष ७ = २७६ ईसवी
देवदूत	**विश्वस्फणि—**
२७५ ईसवी	सामान्यवर्ष ३० = ३०७ ईसवी
गन्धर्वसेन + शंख	**१. चन्द्रगुप्त प्रथम**
३३४ ईसवी	सामान्यवर्ष ७ = ३१४ ईसवी
विक्रमादित्य (बेताल)	**२. समुद्रगुप्त सम्राट्**
३५४ ईसवी	सामान्यवर्ष ४९ = ३६३ ईसवी
महेन्द्रादित्य	**३. रामगुप्त**
२७५ ईसवी	कुछ-एक मास = ३६४ ईसवी
विषमशील-विक्रमादित्य	**४. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य**
४१२ ईसवी संवत्	सामान्य वर्ष ३६ = ४०० ईसवी
	५. कुमारगुप्त (प्रथम)
	सामान्यवर्ष ३६ = ४३६ ईसवी
	६. स्कन्दगुप्त
	सामान्यवर्ष २५ = ४६१ ईसवी
	७. कुमारगुप्त द्वितीय
	सामान्यवर्ष ४९ = ५०० ईसवी

—इति—

अथ विमर्श-परामर्श (६)

द्वितीय अध्याय के प्रथम भाग में अच्छी तरह समझने से पूर्व कतिपय महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार करना अत्यन्त प्रासंगिक है। यथा—

४००३	२३०	यज्ञश्री	नवविंशति वर्षाणि यज्ञश्रीः शातकर्णितः
४००६	२५१	विजय	षडेव भविता सम्मात् विजयस्तु समास्तलः।
४४१०	२६९	चन्द्रश्री	चन्द्रश्रीः शातकर्णिस्तु दश पुत्रः समादश,
४४१७	२७६	पुलुमावी	पुलोमा सप्तवर्षाणि ततस्तेषां भविष्यति॥
		चन्द्रगुप्त प्रथम	

विश्वस्फणि

—	३१४	चन्द्रगुप्त प्रथम	इन राजाओं की तिथियाँ
—	३६३	समुद्रगुप्त	पुराणशास्त्रों में उल्लिखित नहीं हैं।
—	३६४	रामगुप्त	ऐतिह्य साक्ष्यों के आधार पर निश्चित की हैं।
—	४००	चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य	
—	४३६	कुमारगुप्त (१)	
—	४६२	स्कन्दगुप्त।	
—	५१०	कुमारगुप्त (२)	

१. महद् आश्चर्य का विषय है कि प्रतिष्ठानपुर के राजाओं की तिथियाँ सप्तर्षि-संवत् के काश्मीर-सम्प्रदायानुरूप हैं, और मागध राजाओं की तिथियाँ पाटलीपुत्रीय सम्प्रदायानुसार है; **आन्ध्र राजा जबतक प्रतिष्ठानपुर में रहे, वे परम्परा-प्राप्त काल-गणना को अपनाए रहे; ज्यों ही वे प्रतिष्ठानपुर से उठकर मगध पर सत्तासीन होने के पश्चात् उन्होंने मागध कालगणना [सप्तर्षि-संवत्] को अपना लिया।** ऐसा करने पर कहीं काल-विशृंखलता देखने को नहीं मिलती; हालाँकि दोनों काल-गणनाओं में—जैसा कि हम पूर्व पृष्ठों पर लिख चुके हैं—४०५ वर्षों का अन्तर है। परन्तु **सत्ता परिवर्तन के साथ-साथ गणना-परिवर्तन हो गया, परन्तु सौर-वर्ष श्रृंखला में कोई टूट-फूट नहीं हुई।** दोनों भिन्न प्रकृतिक गणना-शैलियों की प्राप्तियाँ-अभिन्न हैं—

समः भोक्ष्यन्ति पृथिवीं पुनरन्ध्रान् गमिष्यति।

—मत्स्यपुराण

सप्तर्षि संवत् ४४०० में मगध का शासन पूर्णतया आन्ध्रों के आधीन हो गया। यथा—

काश्मीर सप्तर्षिसम्प्रदाय	**पाटलीपुत्र सप्तर्षि सम्प्रदाय**
३९७४ सप्तर्षि संवत्	४४०० मूल संख्या
--६२८ नियमानुसार घटाया	−२७१८ एक सप्तर्षि घटाने पर
३३४६ सामान्य वर्ष	१६८२
[३१४८] ई० पूर्व भारत-संग्रामकाल	**−१४५२ = दूसरा मील का पत्थर**
१९८ ईसवी सन्	**२३० ईसवी सन्**
+ ३१ यज्ञश्री का शासन	यही वर्ष यज्ञश्री का शासनान्त काल है।
२२९ ईसवी	**२३० ईसवी सन्**

यज्ञश्री शातकर्णि ने १९८ ईसवी संवत् में उदित होकर पाटलीपुत्र-सत्ता को हथिया लिया, **उस पर ३०-३१ वर्ष शासन भी किया।** ठीक सप्तर्षि संवत् ४४०० = २३० ईसवी में उसका शासनान्त हुआ।

महद् अन्तर होने पर भी ईसवी संवत् में परिणत फलागम 'एक' है।

२. इसी शृंखला में एक अन्य पौराणिक साक्ष्य भी उल्लेखनीय है। आन्ध्रवंश ने मगध सत्ता पर १९८ ईसवी से २७७ ईसवी तक। **[कुल मिलाकर ७८ वर्ष]** राज्य किया। साक्ष्य—

समाः शतानि चत्वारि पञ्च षड् वै तथैव च।

आन्ध्राणां संस्थिताः पञ्च तेषां वंशः समाः पुनः ।

इसमें सप्तर्षि-संवत् नियमानुसार हज़ार का अंक परित्यक्त है। उसे संख्या में लेने पर [४] **४००+५+६+५+५=४४२१ योग हुआ** । इसका गणना-विधान इस प्रकार है—

४४२१ मूल संख्या ।

---२७०० = गणना लाघव के लिए (संसर्पकाल रहित) पूरा एक सप्तर्षिचक्र घटाया = **शेष १७२१**

+७ = अपनी ओर से जमा किए =

१७२८

−१४५२ = मील पत्थर के निश्चितांक को घटाया ।

ई. संवत् २७९ प्राप्त संख्या में शेष संसर्पकाल के जमा किए = १ = **२७७ ईसवी में चन्द्रगुप्त प्रथम ने** चतुर्थ आन्ध्रनरेश पुलुमावी को-जिसने केवल सात वर्ष ही शासन किया था, मार गिराया और सत्ता हथिया ली । जैसा कि पौराणिक साक्ष्य है—

वर्षैस्तु सप्तभिः प्राप्तं राज्यं वीराग्रणीरसौ ।
तत्पुत्रं तु पुलोमानं विनिहत्य नृपार्भकम् ।
आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यापहरिष्यति ॥ —वायु

परन्तु वह इस सत्ता पर चिरकाल के लिए कायम नहीं रह सका । शीघ्र ही उस पर प्रत्याक्रमण करके विश्वस्फणि ने उससे मगध-सत्ता छीन ली ।

३. ज़रा विश्वफणि का चर्चा करलें ।इस विषय का पौराणिक संदर्भ इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४३ पर उद्धृत है । उस संदर्भ से यह पता नहीं चलता कि विश्वस्फणि किस वंश का है और कहाँ का शासक है ? मागध-सत्ता हथियाने के लिए सेना की बहुत बड़ी संख्या अपेक्षित है, जिसकी कोई चर्चा नहीं है । वह नपुंसक भी था । उसने गंगा में डूब कर आत्महत्या क्यों की ? इसका भी कोई खुलासा नहीं है । विश्वस्फणिकी आत्महत्या से चन्द्रगुप्त प्रथम का पुनरुदय जुड़ा हुआ है । बस इतनी बात गौरतलबहै कि ई० संवत् २७७ से ३०७ तक का अन्तरालकालमात्रविश्वस्फणि का इतिहास है ।कुछ इतिहासकारों का कहना है—वायुपुराण का विश्वस्फणि-विषय संदर्भ प्रक्षिप्त है । हम उनसे सहमत नहीं है । यदि उक्त संदर्भ प्रक्षिप्त है तो निश्चयपूर्वक २७७-३०७ ईसवी का समय अन्धकारयुग स्थिर होगा और उसका वैकल्पिक समाधान खोजना भी मुश्किल हो जाएगा । अतः वायुपुराण का संदर्भ यहीं पर स्थिर मानना उचित है ।

इस बात की पुष्टि मियाँ अबूरिहाँ अलबैरुनी के कथन से भी हो जाती है । उसने लिखा है—**शककाल में २४१ वर्ष जोड़ने पर गुप्त-संवत् बनता है** । हम ने श्रीविक्रमादित्य = शकारि = साहसांक द्वारा स्थापित **शककाल के ६६ + २४१ = ३०७ ईसवी से गुप्त-संवत्** की घोषणा चिरकाल से की हुई है । अब पौराणिक काल-गणना से उसकी पुष्टि हो गई है ।

४. शकवंशीय विषमशील विक्रमादित्य तथा चन्द्रगुप्त (२) विक्रमादित्य नितान्त समकालीन हैं । यथा—

विषमशील विक्रमादित्य ईसवी संवत् ३७५-४१२	**विक्रमादित्य-इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके**	**चन्द्रगुप्त [२] विक्रमादित्य ईसवी संवत् ३६४-४००**

४. विषमशील का पुस्तकीय परिचय प्रासंगिक है। विषमशील-विक्रमादित्य भी इतिहास का तीसरा **'दादा-पोता विक्रमादित्य'** का उदाहरण है। इसका दादा—**विक्रमादित्य**-वही है, जिसके साथ बेताल कथाएँजुड़ी हुई हैं। राजा विषमशील जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी जीवन के अन्तिम चरण में 'जैन' हो गए थे। विषमशील विक्रमादित्य ने 'मेघदूत' के तर्ज़ पर 'नेमिदूत' काव्य लिखा और रचना का चौथा चरण वही रहने दिया, जो मेघदूत काव्य के श्लोकों का अन्तिम चरण है। भविष्यपुराण में इसका परिचायक श्लोक इस प्रकार है—

"विक्रमादित्य-पर्यायः महेन्द्रादित्य-सम्भवः।

असौ विषमशीलो हि साहसाङ्क शकोत्तरः॥"

इसका अर्थ इस प्रकार है—**विक्रमादित्य पर्यायः** = विक्रमादित्य (शालिवाहन) का वंशधर; विदित हो यह शालिवाहन का १८ वाँ वंशधर है। इसके राज्यावसान के साथ-साथ शकवंश की ३८० वर्षों की कालावधि भी समाप्त हो जाती है: **३२ + ३८० = ४१२ ईसवी** को विषमशील स्वर्ग सिधार गया। ग़ौर तलब यह है कि इसके मरणोपरान्त 'विक्रम-संवत्' स्थापित हुआ। यह जैन काल-गणना है। महान् आश्चर्य का विषय यह है कि जब चन्द्रगुप्त प्रथम ने आन्ध्र-सत्ता का उत्सादन करके २७७ ई० में **'गुप्तसंवत्'** की प्रथम स्थापना की, यह अलग बात है कि वह संवत् भी चन्द्रगुप्त की पराजय के साथ ही विलुप्त हो गया। उससे ठीक १३५ वर्षों के बाद मरणोपरान्त-विक्रम-संवत् चल निकला। यथा—**२७७ + १३५ = ४१२ ईसवी**। यह बात हमने इसलिए लिखी है, गुप्त वंशी चन्द्रगुप्त प्रथम का अभिषेक दो बार हुआ; जैसे युधिष्ठिर का अभिषेक दो बार हुआ था। चन्द्रगुप्त प्रथम का पहला अभिषेक **२७७ ई० में हुआ** जब उसने आन्ध्रनरेश पुलुमावी को मार गिराया था, उसका दूसरा अभिषेक विश्वस्फणि की आत्महत्या के उपरान्त हुआ, तभी **३०७ ई० में गुप्त-संवत्** चला। ई० संवत् ३१४ से गुप्त-संवत् का 'अस्तित्व' ऐतिहासिक आयाम के अभाव में अमान्य है।

५. बस अन्तिम बात। गद्‌र्दभिल्लवंशी **विक्रमादित्य-प्रथम** ने अपना कोई **'विक्रम-संवत्'** स्थापित नहीं किया; जैसी कि उस समय संवत्स्थापना की परम्परा जम चुकी थी। उक्त विक्रमादित्य ने तो नहीं, उसके पोते—**विक्रमादित्य ने** संवत्स्थापना की रवायत को पूरा किया और प्रजा को ऋण मुक्त करके संवत् स्थापित किया। परन्तु भाग्य का खेल कुछ-और ही प्रकट हुआ। जब तन्तुवाय-बिरादरी ने सूर्यमन्दिर का उद्धार किया और एक कालबोधक शिलालेख उत्कीर्ण किया, **वह स्वयमेव एक मील पत्थर बन गया**। उस उत्कीर्ण शिलालेख में हम पढ़ते हैं—

"मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।

त्रि-नवत्यधिकेऽब्दानाग् ऋतौ सेव्यघनस्वने।

वत्सरशतेषु पञ्चसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु।

यातेष्वभिरम्य तपस्यमास शुक्लद्वितीयायाम्॥"

इस मूल में दो संवत्सरों का उल्लेख है—**मालवगणस्थितिकाल ४९३** तथा **संवत् ५२९**; जो ४३५ ईसवी के समकक्ष है। यथा—

	५२९-संवत्	४९३
पूर्ववर्ती विक्रम-	−९४ =	−५८ = मालवगणस्थिति
	४३५ ईसवी	**४३५ ईसवी**

विदित रहे गर्दभिल्लवंशी विक्रमादित्य ने ई० पूर्व ९४ में उज्जयिनी हस्तगत की और उसके नाम से मालवगणस्थिति [१] प्रथम प्रसिद्ध हुआ। पूर्ववर्ती विक्रमादित्य के चतुर्थ वंशधर **विक्रमादित्य [१]** ने ५८ ई० पूर्व

में दूसरी बार गणस्थितिकाल स्थापित किया। पक्के तौर पर स्मरणीय यह भी है कि सूर्यमन्दिर के जीर्णोद्धार के समय कुमारगुप्त [प्रथम] के शासन के अन्तर्गत बन्धुवर्मा की अमलदारी थी। ऐतिहासिक साक्ष्य यह भी है कि **ई० संवत् ४३६ कुमार गुप्त [१] का देहावसान और शासनान्त हो गया था।** उससे १-वर्ष पहले सूर्यमन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ; तब **संवत् ५२९ = संवत् ४९३ = ४३५** ईसवी का साल था।

प्रश्न--हमने यह प्रसंग क्यों उठाया है?

उसका समाधायक विवरण इस प्रकार है—ईसवी संवत् ४३५ एक ऐसी इतिहास-विभाजक रेखा है, जो परम्पराओं को विभाजित करती है और कुछ तथ्यों को उजागर करती है, जिन्हें हृदयंगम करने की निहायत ज़रूरत है। यथा—

एक—ई० पूर्व ५८ से लेकर ई० संवत् ४३५ पर्यन्त **[४९३ वर्ष]** 'विक्रम-संवत्' का कोई उल्लेख नहीं। अगर उल्लेख है तो **विक्रम-भूपति-संवत्** का है, जो ३६ ई० पूर्व से गिना जाता है। यह विक्रमादित्य के पोते विक्रमादित्य [२] का संवत् है। परन्तु **ई० संवत् ४३५ के पश्चात् अचानक ५८ ई० पू० का संवत् चल निकला, और विक्रमभूपति संवत् लुप्त हो गया।**

दो—उक्त विक्रम-संवत् का नाम 'मालवगणस्थितिकाल' है, विक्रम-संवत् नहीं।

तीन--जैन समाज के सम्पर्क के कारण ४३५ ई० संवत् के पश्चात् विक्रम-काल-गणना **५८ ई० पूर्व की न रह कर, ५७ ई० पूर्व की** होकर रह गई।

हमारे सामने आए प्रश्न के उत्तर का शेषांश है—भगवान् शंकराचार्य के जन्म का समय लिखा है: **विक्रमादित्य के अभिषेक का १४ वाँ वर्ष था**—यह तो बिल्कुल ठीक है, परन्तु अगर **'विक्रम-संवत् १४'** लिखा होता, तो वह अनैतिहासिक होने से अमान्य होता। कारण, विक्रमादित्य ने कोई 'विक्रम-संवत्' स्थापित नहीं किया है। अधुना **विक्रम-संवत् रूढिवशात् चल रहा है।**

—इति—

अथ सर्वेक्षण

भारतीय अनुसन्धान अद्यावधि अपरिपक्व स्थिति में है। पाश्चात्य विद्वानों ने विश्वविद्यालयों में सर्वोच्च पद पाकर जो अनुसन्धान-प्रक्रिया स्थापित की, वह अब तक ज्यों की त्यों बरकरार है। वही—गाईड की देखरेख में लिखना; तीन-तीन प्रस्तावित परीक्षक; एक बार मौखिक परीक्षा की नाटकीयता—सब चल रहा है, चलता जाएगा। विश्वविद्यालयों के परिसर के बाहर मान लिया गया कि—कोई अनुसन्धान कर ही नहीं सकता। **एक दुःखद स्थिति यह है। दूसरी दुःखद स्थिति यह भी है**--जो विश्वविद्यालयों के परिसर से बाहर अनुसन्धान करते भी हैं, वे मन मानी प्रक्रिया और फलागम को पराकष्ठा तक पहुँचा देते हैं। उदाहरण के लिए हम पं० भगवद्दत्त बी.ए. का नाम ले सकते हैं। पं. जी ने सप्तर्षि-संचार को मंजूर तो कर लिया, पर उसे अनुलोमगतिक न मानकर विलोमगतिक ठहरा दिया। **जो न केवल अवैज्ञानिक था, प्रत्युत वह अनैतिहासिक भी था।** फिर क्या हुआ? उन्हें कुछ अनुयायी भी मिल गए। आचार्य उदयवीर शास्त्री उनके विख्यात अनुयायी है। उसी चक्कर में फँसकर उदयवीर शास्त्री ने इतिहास के साथ खिलवाड़ करते हुए **आचार्य शंकर का समय ५०९-४७७ ई० पूर्व** तक पहुंचा दिया। यह तो हुई विश्वविद्यालय-परिसर के बाहर की अनुसन्धानिकप्रक्रिया, जो सर्वथा विश्रृंखल भी है, उच्छृंखल भी है। विश्वविद्यालय परिसर में क्या हो रहा है? इस पर अलग से अनुसंधान की ज़रूरत है। जितने विश्वविद्यालय हैं, उतने अनुसंधान है; उनमें निर्णय

भिन्नता-न्यूनाधिकता के साथ सर्वत्र है। **मैंने स्वयं कालिदास विषयक थीसिस मंगवा कर पढ़े हैं, उनमें कहीं भी सामञ्जस्य नहीं है,** इस विषम परिस्थिति में कोई लिखें तो क्या लिखें ?

आद्य शंकराचार्य का समय-निर्धारित करते समय हमें दो-दो अनुलंघ्य और विषम चट्टानें साफ-साफ दिख रही हैं—

शांकर-काल ५०९-४७७ ई० पू०) **(शांकर काल ७८८-८२० ईसवी।**

१२९७ वर्षों का घनान्तराल

किसका पक्ष लें ? दोनों में उपलब्ध छल-छिद्रों की अनल्पता से हम परिचित हैं। हमारी स्पष्ट मान्यता यह है कि इतिहास के प्रति दोनों पक्ष अन्यमनस्क या उदासीन हैं। **मानो, शांकर काल-निर्धारण में इतिहास का कोई लेना-देना नहीं है।** हमने स्थितप्रज्ञता से यह निर्णय लिया है—इन दो-दो सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्वियों से अपने बचाव का तथा उक्त उभय पक्षों पर सीधे आक्रमण करने से पहले, सही पौज़ीशन ले लें, जो कि **इतिहास का कवच धारण करने से ठीक-ठीक मिलती है।** यही सोचकर हमने ऐतिह्य-पृष्ठभूमि में पौराणिक इतिहास के साथ-साथ लौकिक इतिहास तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य को समझने का तौर-तरीका सामने रख लिया है। **हम स्पष्ट लिख दें**—पौराणिक ऐतिह्य संगति के लिए, हमने किसी विचारक या अनुसन्धायक का पदानुगमन नहीं किया, **हमने जो कुछ लिखा है, अपने विवेक से लिखा है।** यह अच्छा बन पड़ा है; यह तुच्छ बन पड़ा है ?—इसका दायित्व हम पर है। यही कारण है, हमने उन सब विषयों को—जिनकी बार-बार चर्चा होती रही है; जिनपर मतभेद भी खूब उभर कर सामने आए हैं—फिर से लिखना पसन्द किया है और बारीकी से लिखा भी है; ताकि विवेकशील पाठक हमारे अनुसन्धान की सीमा पहचान सकें, हमारे निष्कर्ष/निर्णय पर घन चिन्तन कर सकें। इससे अधिक हमारा कोई अन्य प्रयोजन नहीं है।

हमने इतिहास की उपयोगी शृंखला नवम नन्द [निधन ३४२ ई० पूर्व] से शुरु की है। क्या यह समय आचार्य शंकराचार्य के अनुरूप है ? आचार्य शंकर के दादा गुरु [गौड़ पाद] भगवान् पतञ्जलि की परम्परा में आते हैं ? प्रश्न—भगवान् पतञ्जलि को नन्द-युग में ले जाना क्या आसान काम है ? ऐसा करने से पहले हमें पौराणिक इतिहास का तीआ-पांचा तो करना ही होगा—जो सर्वथा अनैतिहासिक कुकृत्य है। क्या हम उसके लिए तैयार हैं ? समाधान है—नहीं। यही सोचकर हमने समग्र पौराणिक इतिहास की पूरक कड़ी को—**जिसके ठीक बीचों-बीच:४४-१३ ई० पूर्व का समय भगवान् शंकराचार्य के लिए सुनिश्चित है**—विमर्श-परामर्श की कसौटी पर परखकर लिखा है। अगर हम गंभीर प्रयत्न न करते, निश्चयपूर्वक भगवान् शंकर का समय-निर्धारण लुंज-पुंज रह जाता, जो हमें पसन्द नहीं है। क्या समझे ?

द्वितीय भाग

अब रहीम मुश्किल पड़ी गाढ़े दोऊ काम।

साँचे को तो जग नहीं झूठे मिले न राम ॥

—अब्दुल रहीम खान खाना।

जीवन में कभी-कभार दुर्लङ्घ्य सीमा-रेखाएँ भी आती हैं, जिन्हें पार करना मुश्किल होता है; अगर पार कर भी लें, तब भी अफल सफल की आशंका बनी रहती है—**रहीम के दोहे का यही अर्थाधान है।** हमारे जीवन में तो क्या ऐसी दुर्घटनाएं आएँगी ? आएँगी-जब आएँगी; फिलहाल इतिहास को पृष्ठभौमिक आयाम देते-देते हमें रहीम की विख्यापित कठिनाई का सामना हो गया है। गत २०० वर्षों से भारतीय इतिहास पर पाश्चात्य और भारतीय विद्वान्, सभी जुटे हुए हैं। परन्तु अनुसन्धान करने में पाश्चात्य कोविदों ने पहल कर ली। एक मुहावरा प्रसिद्ध है—**पहल**

करे सो पहलवान। अतः अनुसंधानक्षेत्र में उनका दबदबा कायम हो गया। आज अनुसन्धानजगत् में उनका सिक्का चलता है। उनकी मानें तो ठीक, न माने तो मुश्किल। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास, संस्कृति, भाषा, धर्म और भूगोल पर सश्रम और सक्षम अनुसन्धान किया है, उनकी नामावली बड़ी लम्बी है; जिनमें से कुछ उल्लेखनीय नाम ये हैं—कॉलबुक, कीलहार्न, कर्न, कीथ कनिंघम गोल्डस्टकर, गेल्डर, गाईगर, ग्रिफ्ट, ग्रिम, ग्रियरसन, गेल्डनर; जैकोबी, पिश्चल, फैड्रिकवान पार्जीटर फेथफूल फ्लीट पीटरसन, ब्लूमफील्ड, बॉय, बाहलिंग, बर्नफ, बेवर, मैक्डॉनल मार्टिगहाग, मोनियर विलियम, मैक्समूलर, राथ, रोज़न, व्यूवरम्यूर, विल्सन, विल्हेल्मवान विंटरनित्स लूडर्स, लुईस, श्लेगल, हॉपकिन्स, हैमिल्टन, ऑगल्ट, स्मिथ तथा स्टीन—इत्यादि। आज की स्थिति यह है कि भारत में शताधिक विश्वविद्यालय हैं, उन सब में संस्कृत, [पुराण, वेद, दर्शन-आदि] इण्डोलॉजी, पुरातत्त्व तथा इतिहास—ये सब विषय पढ़ाए जाते हैं। इन विविध विषयों पर सहस्रों की संख्या में शोध-छात्र कार्यरत हैं। उन सब पर पाश्चात्य विद्वानों का वैचारिक मुलम्मा चढ़ा हुआ है। ये सब छात्र वही सोचते हैं, जो उन्हें विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त 'गाईड' निर्देश देते हैं। परीक्षक भी भारी-भरकम-शुल्क तथा मार्ग-व्यय लेकर वही निर्णय लेते हैं, जो गाईड और छात्र के प्रतिकूल न जाय। **यह सब लौह मायाजाल है, जो १७८४ ई० से भारत को अपनी गिरफ्त में लिये हुए है और वह आज तक** [समाप्त प्राय बीसवीं शताब्दी तक] **कायम है।** हमें यह स्वीकारने में संकोच नहीं करना चाहिए। कि इन पाश्चात्य विद्वानों ने **अनुसन्धानमार्ग को** प्रशस्त किया है और आज हम भारतीय उसी अनुसन्धान के रास्ते पर चल पड़े हैं। यह अलग बात है, इन अनुसन्धायकों के इरादे श्रेष्ठ और पवित्र नहीं हैं, **आज पाश्चात्य विद्वानों के विशालतम अनुसन्धान से समस्त भारतीय भयभीत हैं।** "आर्य [भारतीय]" बाहर से आकर यहाँ बस गए हैं—यह बात किसी भारतीय के गले से नीचे उतर ही नहीं रही। ऐसी अन्य अनेक बातें हैं— जिन पर समस्त भारतीय समाज को आपत्ति है और आपत्तियों के सन्दर्भ में उन पर अस्वीकृति का ठप्पा भी लगा हुआ है। फिर भी वही मान्यताएँ अभी तक चल रही हैं। **यह एक दुर्गम घाटी है।**

और दूसरी दुर्गम घाटी है—

जो भारतीय इतिहासकार खम ठोककर मैदान में उतर आए हैं; सब के सब अपरिपक्व बुद्धि के हैं। इन सब में से जो यत्नपूर्वक शिखर स्थान पर पहुंचे हैं—कहने भर के लिए वे इण्डोलॉजी के भारतीय मर्मज्ञ विद्वान् है; परन्तु उनके भ्रामक अनुसंधान से 'भारतीय इतिहास' और अधिक गहरे गर्त में जा गिरा है। यहाँ हम केवल तीन नामों की चर्चा करेंगे। वे नाम हैं पं. भगवद्दत्त बी.ए., डॉ० देवसहाय त्रिवेद और डॉ. कुंवरलाल 'व्यासशिष्य'। यथा—

पं. भगवद्दत्त बी.ए.—पं. भगवद्दत्त के इतिहास क्षेत्र में उतरने से पर्याप्त पहले पार्जीटर महोदय ने पुराण-शास्त्रों का परिशीलन आरम्भ कर दिया था। उसने ही सबसे पहले 'सप्तर्षि-संवत्' को रेखाङ्कित एवं परिभाषित करना आरम्भ कर दिया था। भारतीय विद्वान्, पार्जीटर के प्रति इस बात के लिए आभारी हैं। पार्जीटर ने सप्तर्षि-संवत् के दायरे में **"सप्तर्षि-दिवस-१ = सौर वर्ष ७॥,** जो एक दिवसीय परिभाषा दी है, वह भारतीय गणना-पद्धति के सर्वथा अनुरूप है। यथा—

३६०x७ = २५२० + १८० = २७०० एक सप्तर्षिचक्र—

ऐसा लगता है, पार्जीटर ने 'सप्तर्षि-संवत्' की चाबी से भारतीय इतिहास पर जड़े हुए कालिक ताले को खोल दिया है। परन्तु पं. भगवद्दत्त ने सप्तर्षियों को विलोमगति [वक्रगति] घोषित कर इतिहास-जगत् में **भूल की पराकाष्ठा कर दी है।** विदित हो, दो ग्रह नित्यवक्री हैं—राहु और केतु, दो ग्रह नित्यमार्गी हैं—सूर्य और चन्द्रमा; शेष पाँच ग्रह नियमानुसार वक्री-मार्गी होते रहते हैं। पं. भगवद्दत्त बी. ए. ने **सप्तर्षि-गण को भी राहु-केतु के वर्ग में डाल दिया है।** इससे इतिहास का महान् अनर्थ हुआ है। और-तो-और, स्वयम् उनका लिखा **"भारतवर्ष का बृहद् इतिहास"** [दो

भाग] सहस्रों प्रश्नों के आलवाल के घेरे में आ गया है। भारतीय साहित्य में विशेषतया संस्कृत कथा-साहित्य में शीर्ष स्थान पर 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' है। उसके कहानी-लेखक को कोई पूछ नहीं रहा, इतिहासजगत् में सप्तर्षियों को अनुलोमगतिक माना है, यथा—

"ब्राह्मणेनोक्तं यदा सप्तर्षिमण्डलम् रेवतीनक्षत्रस्य प्रथमचरणे स्थितम्, तदा मया हवनं प्रारब्धम्। इदानीम् अश्विनीभे मण्डले तिष्ठति। होमं कुर्वतो मे वर्षशतं गतम्।"

—द्वात्रिंशत्पुत्तलिका

इससे सप्तर्षियों का अनुक्रम = पर्यायगति = मार्गी होना सिद्ध है। इसी बहाने 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' का रचनाकाल भी **सप्तर्षि-संवत् १२५ = ११३४ ईसवी संवत्** सिद्ध होता है। इतनी निर्भ्रान्त परम्परा के रहते पण्डित भगवद्दत्त बी.ए. मौके पर कैसे चूक गए ? पण्डित जी का मन्तव्य और गन्तव्य भारतीय इतिहास की पौराणिक पृष्ठभूमि को फोकस में लाना था। इनका 'संकल्प' सत्य था ! उनका प्रकल्प शिवम् न था। अतः उसके परिणाम को 'सुन्दरम्' कहने का अवसर ही नहीं आया; आना भी नहीं था। **स्थाली-पुलाक न्याय से इतना पर्याप्त है।**

डा. देवसहाय त्रिवेद—इतिहास को भ्रष्ट दिशा देने में डॉक्टर त्रिवेद का [अब दिवंगत] स्थान पहला है। हम डॉ. त्रिवेद की मात्र दो भूलों पर प्रकाश डाल रहे हैं।

पहली भूलः ईरान के राजा सायरस ने भारत पर आक्रमण किया। उसने आक्रमण-स्मृति को सजीव रखने के लिए **'शक-संवत्'** की स्थापना की, जो ५५० -ईसवी पूर्व से प्रचलित है। परन्तु विद्वान् लेखक ने अपनी रचना 'इण्डियन क्रानोलॉजी' में ५५० ई० पूर्व से चलने वाले शककाल का नाम **'आन्ध्रशक'** विख्यापित किया। इसमें भी अग्रणी भूल यह है कि आन्ध्रों का कोई **'शक'** या संवत् उपलब्ध नहीं है। चलो, मान लेते हैं—हम **'आन्ध्रशक'** से अपनी अल्पज्ञता के कारण अपरिचित हैं। परन्तु इतना तो पौराणिक आधार पर—

"सप्तर्षयस्तदा प्राप्ताः पित्र्ये पारिक्षिते शतम्।

सप्तविंशैः शतैः भाव्या आन्ध्राणां तेऽन्वयाः पुनः।"

—वायुपुराण ९९/४१८; मत्स्य २७३/३९; ब्रह्माण्ड ३/७४/२३०

निश्चयपूर्वक जानते ही हैं कि भारतवंशी राजा परीक्षित के शासन काल में सप्तर्षियों का मघाशतक ७०० = ३०७६ ई० पू० सम्पन्न हुआ था, उससे भी २७०० वर्ष पश्चात्, अर्थात् **सप्तर्षिसंवत् ३४०० = ३७६ ईसवी पूर्व** में आन्ध्रवंश सत्ता में आ गये थे। विचारणीय मुद्दा यह है कि **आन्ध्रवंश का उदय ५५० ई० पूर्व में हुआ ?** अथवा ३७६ ई० पूर्व में हुआ था ? ५५० ई० पूर्व की स्थापना का कोई आधार नहीं, जबकि सप्तर्षि-संवत् ३४०० का आधार नितरां स्पष्ट है:

"सप्तर्षयो मघामुक्ताः काले पारीक्षिते शतम्।

आन्ध्राश्च सचतुस्त्रिंशे भविष्यन्ति शतं समाः॥"

—ब्रह्माण्डपुराण ३/७४/२३६

सप्तर्षि संवत् ३४०० का उल्लेख निर्विवाद है। **इसे ईसवी पूर्व में परिणत करने की विधि इस प्रकार है।** यथा—

(क) ३४०० – ६२८ = २७७२ शेष; **[भारत-संग्राम ६२८ सं. संवत् में हुआ था]**

(ख) इस संख्या को भारत-संग्राम काल **३१४८ ई० पू० से घटायाः-२७७२ = ३७६**

ई० पूर्व फलित हुआ।

इस स्पष्ट गणित-फलोदय के आगे आन्ध्रवंश के उदय के लिए ५५० ई० पूर्व की स्थापना कहाँ टिकती है ?

दूसरी भूल : डॉ० देवसहाय त्रिवेद ने पं. भगवद्दत्त का अन्धानुकरण तो किया, परन्तु उसे विकृत रूपरेखा देकर अपने आपको उपहास का पात्र बना डाला। पं.भगवद्दत्त ने सप्तर्षि संचार को वक्रगतिक माना, ठीक; डॉ.देवसहाय ने उसे पूर्णतया भ्रष्ट कर दिया। यथा—

सं.	नक्षत्र नाम	कलि-संवत्	विशेष वक्तव्य
१	मघा	क.पू.१३२ से ३२ क.पू.	परीक्षित का जन्म ३६ कलिपूर्व हुआ। कलि प्रारम्भ से ठीक २५ वर्ष बाद युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने इस लोक से प्रस्थान किया। **सप्तर्षिचक्र भी प्रायेण पूर्ण हो चुका था। अतः अन्तिम चक्र केवल ५७ वर्ष माना गया। स्यात् उन्हें ज्ञात था कि चक्र को पूरे २७०० वर्ष नहीं लगते। अपितु पाण्डवों की स्मृति और पुष्य नक्षत्र शुभ समझ नई गणना आरम्भ हुई।**
२.	आश्लेषा	क.पू.३२ से **कलि-संवत् २५**	

—हिन्दुस्तानी, त्रैमासिक, इलाहाबाद; जन-मार्च १९४७,

सप्तर्षि-संचार में ४३ वर्ष लुप्त भी हो सकते हैं, डॉ. देवसहाय की इस भ्रान्तिगर्भ सूझ-बूझ से इतिहास का कितना भला होने वाला है ? यह आप समझ सकते हैं। यह पूरा गणित भ्रम-जाल की मनोहारी बुनावट मात्र है। कलिपूर्व ३२ का मतलब है—३१३४ ई० पूर्व का साल। श्रीत्रिवेद के कथनानुसार-भारत संग्राम ३१३८ ई० पूर्व में घटित हुआ; उस समय सप्तर्षि संवत् १०१५ था। वक्रगति के अनुसार १५ वर्षों का अनुक्रमशः क्षरण ३१२३ ई० पूर्व में संभव था; परन्तु त्रिवेद शास्त्रीय गणित के अनुसार वह ३१३४ ई० पूर्व में हो गया। हो गया न कमाल ? इस **कपोल-कल्पित गणना के पीछे कौन सा जादू सक्रिय है ?**—हम समझ नहीं सके।

डॉ. कंवरलाल व्यासशिष्य : सभी इतिहासविद् जानते हैं, कि यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ३१२ ई० पूर्व में भारत की राजधानी पाटलीपुत्र आया था। उसने राजधानी के कुछ राजकीय वृत्त एवं वर्ष संख्या के साथ साथ कुछ नोट लिखें ! हमारी दृष्टि में उन संदर्भों का समाधान इस प्रकार है—

१	२	३	४
६४५१	६०४२ + [४]	१२० सा० शक	३०० प्रा. शक
४३० ई० पूर्व	४३० ई० पूर्व	४३० ई० पूर्व	३२२ ई० पूर्व
नवम नन्द का अभिषेक	यथावत्	यथावत्	मौर्य का निधन

परन्तु श्री व्यासशिष्य इसे किस प्रकार गलत दिशा में ले गए हैं—

> "पुराण गणना से मान्धाता पंचदश युग में अर्थात् ८९८० वि.पूर्व से ८६२० वि.पूर्व के मध्य में हुए। गांधारपति अंगार, आंग बृहद्रथ पौरव, मरुत्, जनमेजय, सुधन्वा, नृग, गय, असित धान्य असुर [डायनोसिस-मैगास्थनीज़] इसी युग अर्थात् मान्धाता समकालिक राजर्षिगण थे। मेगास्थनीज के अनुसार असित धान्वासुर [डायनोसिस] और सिकन्दर में ६४५१ वर्षों का अन्तर था। तदनुसार, उसका समय आज से ८७६१ वर्ष पूर्व आता है। युग गणना से यह समय ८९८० विक्रम वर्ष पूर्व था। हमारी पुराण-गणना युगगणना और मेगास्थनीज़ निर्दिष्ट-काल में कोई २००० वर्ष का अन्तर

है, मेगास्थनीज़ के दो अंक (६४५१ वर्ष ६०४२ वर्ष) मिलते हैं, और उसने ३०० वर्ष और १२० वर्ष की (कुल ४२० वर्ष) के अराजक काल का निर्देश किया है। अत: ६४५१ में ४२० जोड़ने पर ६८७१ वर्ष होते हैं। अत: मान्धाता और असित धान्वासुर का पुराण-निर्दिष्ट समय ८६४२ वि. पू. ही सत्य है। इसी समय पन्द्रहवें व्यास त्र्यारुणि हुए।"

—पुराणों में इतिहास विवेक : व्यास शिष्य, पृष्ठ १३१,

नोट = ०० विक्रम पूर्व = ५७ ईसवी पूर्व।

इस सन्दर्भ से हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। विवेकशील पाठकों ने इसे समझ लिया होगा—यह अनुमान तो लगा ही सकते हैं।

इतो भ्रष्टः, ततो भ्रष्टः।

उधर कुंआ है और इधर खाई है।

अगर भारतीय इतिहास को संवारने के लिए हम पाश्चात्य विद्वानों का मतावलम्बन लें—**मन नहीं मानता।** यदि हम भारतीय प्रतिभाशाली स्वतंत्र इतिहासकारों की शरण लें—तब **गहरे गर्त में गिरना पक्की बात है।** अतः इस विषमस्थिति में हमें उचित लगता है—**स्वयमेव मृगेन्द्रता।**

कुषाण-युग

भारतीय इतिहास में कुछ-एक दुर्भेद्य ग्रन्थियाँ हैं; जिन्हें समझे और सुलझाए बिना इतिहास सरल होने वाला नहीं है। उन दुर्भेद्य ग्रन्थियों में एक हैं—**'कुषाण-युग'**। हम गत २० वर्षों से निरन्तर सूचना दे रहे हैं कि कुषाणवंश का इतिहास संशोधन चाहता है। यथा—

१. गर्दभिल्ल राजा	९४ ई० पूर्व से गणसत्ता कायम	(शासनकाल २३ वर्ष)
२. गन्धर्वसेन	६९ ईसवी पूर्व से—	(शासनकाल ४ वर्ष)
३. विक्रमादित्य	**५८ ईसवी पूर्व से पुनः गणस्थिति**	**(शासनकाल ८ वर्ष)**
४. शिलादित्य	५० ईसवी पूर्व से —	(शासनकाल १५ वर्ष)
५. विक्रमादित्य (२)	**३६ ईसवी पूर्व से —**	**(शासनकाल २८ वर्ष)**
६. सार वाहन	१३ ईसवी पूर्व से —	(शासनकाल २० वर्ष)
७. नरवाहन	१२ ई० से ३२ ईसवी—	(शासनकाल २० वर्ष)
	संवत् (शासनान्त)	

टिप्पणी—(१) पुराण साक्ष्य : सप्तगर्दभिल्लाः भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।

(२) [क] ७१ ईसवी पूर्व से ६८ ई० पू० तक—

(२) [ख] ६२ ई० पूर्व से ५९ ई० पूर्व तक उज्जयिनी पर कुषाण वंश ने शासन किया।

—कुषाणवंश की तालिका—

नाम	इतिहासकारों का अभिमत	अनुसंधान
१.कदफिस	४०-४८ ईसवी	८२-६९ ई० पूर्व
२.विमकदफिस	४८-७७ ईसवी	६९-५८ ई० पूर्व
३. कनिष्क (१)	**७८-१५० ईसवी**	**५६ ई० पूर्व से**
४.वासिष्क	१५०-१६७ ईसवी	१६/१२ ईसवी सन्
५.हुविष्क	१६७-१८६ ईसवी	१२-३२ ईसवी सन् ।
६.कनिष्क (२)	१८६-१९६ ईसवी	३२-७८ ईसवी ।
७. वासुदेव	**१९६-२१० ईसवी**	**७८-९९ ईसवी ।**

७१ ई० पूर्व से **शक-संवत्** की स्थापना

५६ ई० पूर्व से **पुनः शक-संवत्** की स्थापना

(क) ७८ ईसवी से तीसरे **शक-संवत्** की स्थापना ।

(ख) वासुदेव-सातवाहन-शूद्रक-साहसांक । —राजशेखर ।

—**सम्मेलन-पत्रिका** : चैत्र भाद्रपद १८९९ शक; पृष्ठ १४९

यह हमारे पूर्व-संकल्प का प्रकाशन है । अधुना इस प्रसंग में कुछ नई उपलब्धियाँ हुई हैं । कुछ नये प्रकल्प सामने आए हैं। कुल मिलाकर हमारे इस प्रस्ताव में संशोधन हुआ है—**परिवर्तन नहीं** । 'संशोधन' किसी भी अनुसन्धान की प्रक्रिया, प्रगति और सजीवता का चिन्ह होता है ।

हम कुछ प्रश्न सामने रख लेते हैं—(१) **कुषाणवंश की मूलभूमि कौन सी है ? (२) कौन कुषाणों को बुलाकर भारत लाया; (३) कुषाणों का किन-किन राजवंशों से संघर्ष हुआ ? (४) कुषाणों को भारत से निकालने का श्रेय किस वंश को है ? (५) कुषाण-कुल के कितने राजा भारत में शासक बनकर रहे; (६) भारतीय संस्कृति के विकास में कुषाणों का योगदान और (७) कुषाणों से संबद्ध संवत्-गणनाएँ;** इति । इस प्रश्नमाला का सतर्क और साक्ष्य-संबद्ध समाधान इस प्रकार है ।

१. कुषाणवंश की मूलभूमि कौन सी है ?

यह प्रश्न जितना सरल है, इसका उत्तर उतना सरल नहीं है । पाश्चात्य विद्वानों ने इस समस्या को उलझाने में कोई कमी नहीं छोड़ी है । जब यह स्थिर कर लिया गया कि 'आर्यजन' बाहर से आकर भारत में बस गए—तब अन्य किसी वंश या समुदाय के लिए 'कुछ' भी कहा जा सकता है । आर्यजन कहाँ से आए ? इस पर गंभीर मतभेद पाया जाता है । **सत्य सदैव एकमेव रहता है । विविधता अथवा भिन्नता के परिसर में सत्य का कोई स्थान नहीं है ।** अतः 'आर्यजन' बाहर से आकर भारत में बस गए— यह भारतीयों के गले से नीचे नहीं उतर रहा । तथैव कुषाणों के बारे में भी विविध पक्ष उग आए हैं, जिनकी निरर्थकता उनकी विविधता में ही छिपी हुई है । कुषाण वंश पर लिखने वाले चतुर लेखक **'राजतरंगिणी'** अथवा **'कालकाचार्य'** का उल्लेख अवश्य करते हैं; परन्तु वे इन ग्रन्थों के संदर्भ में तालमेल बैठाने में सफल नही हुए । श्री एफ.डब्लू. थामस इन का सम्बन्ध शकों से जोड़ते हैं । **थामस का मन्तव्य यदि 'शकस्तान' के राष्ट्रिय समाज से है**—तब इस पर गंभीरता पूर्वक तथा सहानुभूति पूर्वक विचार किया जा सकता है ।

हुल्स के कथनानुसार कुषाण लोग तुर्क थे; अन्य विद्वान् इन्हें मंगोल और ईरानी भी बताते हैं। ये सब बातें अटकलपच्चू हैं; साक्ष्य या प्रमाण नहीं हैं।

हम अपनी बात 'राजतरंगिणी' से आरम्भ करते हैं। उसमें लिखा है—

"अथाभवन् स्व-नामाङ्क-पुर-त्रय-विधायिनः।

हुष्क-जुष्क-कनिष्काख्याः त्रयः तत्रैव पार्थिवाः॥ १६८॥

ते तुरुष्कान्वयोद्भूता अपि पुण्याश्रया नृपाः।

शुष्कलेत्रादिदेशेषु मठ-चैत्यादि चक्रिरे॥ १७०॥

तदा भगवतः शाक्यसिंहस्य परिनिर्वृतेः।

अस्मिन् महिलोकधातौ सार्धवर्षशतं ह्यगात्॥ १७२॥

राजतरंगिणी के इन श्लोकों में अन्तिम श्लोक निर्णायक हैं। कनिष्क के अभ्युदय तक भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण को १५० वर्ष ही बीते थे। **वायुपुराण तथा स्कन्दपुराण के सम्मिलित निर्णयानुसार १२७६-१२१२ ई० पूर्व में भगवान् बुद्ध जीवित रहे।** इसी संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में तथाकथित कनिष्क का समय १२१२-१५० = १०६२ ई० पूर्व से मान्य है और उसने ३५-४० वर्ष राज्य किया। इससे स्पष्ट है—

१. राजतरंगिणी का कनिष्क : १०६२-१०२२ ई० पूर्व का है।

२. प्रासंगिक कनिष्क [प्रथम] : ७२-५६ ईसवी पूर्व तक का है।

दो-दो कनिष्क के मध्य १००० वर्ष का अन्तराल विचारणीय है। अतः तथाकथित 'कनिष्क' तथा भारतीय इतिहास के शलाका-पुरुष 'कनिष्क' को अभिन्न तो नहीं ठहराया जा सकता। अलबत्ता **इतिहास के कतिपय सूत्र खोजकर, काश्मीरी कनिष्क के सन्दर्भ में आधुनिक कनिष्क पर सशक्त टिप्पणी लिखी जा सकती है।** यथा—

(१) 'कनिष्क' एक काश्मीरी लोकभाषा का शब्द है, जिसका प्रयोग दो अलग-अलग युगों में तथा दो अलग-अलग व्यक्तियों ने अपने अभिधान के लिए किया है। **अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं—दोनों राजा काश्मीरी हैं।** अभिन्न नहीं है। सिवाए इसके कि काश्मीरी कनिष्क तुर्कान्वयी है।

(२) कुषाण नाम भी काश्मीरी भाषा का है, जो वंशनाम के लिए स्वीकारा गया है। पुनरपि गौरतलब यह है कि काश्मीरी कनिष्क का वंशनाम 'शक' अज्ञात है; इस पर कल्हण पण्डित का कोई निर्णायक संकेत उपलब्ध नहीं है; आधुनिक कनिष्क का वंशनाम कब से चरितार्थ हुआ है? यह सब अनुसन्धान का विषय है।

(३) सार्थक अनुमान यह भी है कि काश्मीर के पठार में बस गए **'कुषाण'** नागजाति की किसी शाखा के हैं; जिन्हें (आगे चलकर) कालकाचार्य ने **'शाखी'** नाम से याद किया है। स्मरण रखने की बात यह भी है कि कुषाणनामा काश्मीरी नाग जाति ने पठार में १००० ई० पूर्व से २०० ई० पूर्व तक निर्बाध शासन किया।

इतिहास-शृंखला में 'राजतरंगिणी' के पश्चात् 'भागवतपुराण' का नामोल्लेख प्रासंगिक है। यथा—

काश्मीर के पठार में बस गए कुषाणवंशी नागों ने अपना राज्य फैलाना आरम्भ किया। कुषाण-नागों से सबसे पहले हिन्दुकुश पर अधिकार किया। **इस पर्वत का नाम हिन्दुकुश तो बाद मे चरितार्थ हुआ, इससे पहले इस पर्वत का नाम क्या था? यह-सब अज्ञात है। निष्कर्षपूर्ण बात यह है कि कुषाण नागों के विनाश के कारण इस पर्वत का नाम 'हिन्दुकश' पढ़ा।** उसके पश्चात् कुषाण नागों ने शक स्थान पर अधिकार किया। अन्ततोगत्वा अफगानिस्तान, सूबा-ए-मुल्तान तथा सिन्ध पर भी अधिकार किया। **पुराणशास्त्रों ने इस नाग-शासित भूभाग को 'म्लेच्छराज' नाम**

दिया है। 'म्लेच्छराज' कब से चरितार्थ हुआ ? इसका समाधान विश्वास पर आधृत है; अलबत्ता 'सन्देश रासय' के मुसलिम कवि ने मुल्तान के लिए **'तपनतीर्थ'** तथा **'मिच्छदेश'** नामों का उल्लेख किया है। 'तपनतीर्थ' से तात्पर्य मुल्तान के प्रसिद्ध सूर्य मंदिर से हैं; मिच्छ देश अपने अर्थ से ही स्पष्ट है। यह सब लिखने का हमारा मन्तव्य यह है कि भागवतपुराण से लेकर संदेश रासय तक मुल्तान म्लेच्छ देश की एक सीमा माना जाता था। भागवतपुराण का साक्ष्य है—

"सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।

भोक्ष्यन्ति शूद्राः म्लेच्छा व्रात्याश्चाब्रह्मवर्चसः ॥"

—भागवत १२/२/३७

इस पुराण-पाठ में 'व्रात्याः' शब्द विशेष ध्यान चाहता है। वहीं भागवतकार ने 'व्रात्य' की व्याख्या भी कर दी है—

"व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः ॥" १२/२/३६

अर्थात् मुल्तान सीमा के अन्तर्गत रहने वाला द्विज [ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य] 'शूद्र' हो गया था। वह विदेशी रक्त नहीं था, जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रम फैला रखा है।

'राजतरंगिणी' तथा 'भागवत पुराण' के अतिरिक्त जैन ग्रन्थ भी इस शृंखला में आ जाते हैं। आश्चर्य यह है कि कुछ-एक मार्मिक रहस्य जैनग्रन्थ और अबूरिहाँ अल्बैरूनी के संदर्भों को दो दर्पणों की तरह आमने-सामने रखकर परखने से स्पष्ट होते हैं। यथा—

अल्बैरूनी—

"विक्रमादित्य ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की और उसे भगाकर मुल्तान और लोनी के दुर्ग के बीच करूर के प्रदेश में मार डाला। अब वह तिथि विख्यात हो गई। क्योंकि अत्याचारी की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रजा को बड़ा आनन्द हुआ। और लोग, विशेषतः ज्योतिषी इस तिथि का एक संवत् आरम्भ के रूप में प्रयोग करने लगे। **वे विजेता के नाम के साथ 'श्री' लगाकर उसका सम्मान करते हैं. उसे श्रीविक्रमादित्य कहते हैं।** जो संवत् विक्रमादित्य का संवत् कहलाता है, उसके और शक के मारने वाले के बीच लम्बा अन्तर है। इसलिए हम समझते हैं कि वह विक्रमादित्य जिससे संवत् का नाम पड़ा है वही व्यक्ति नहीं, जिसने शक को मारा था, वरन् केवल उसका समानाम धारी है।

—अलबैरूनी का भारत.

३ भाग, पृष्ठ ८

जैन संदर्भ

१. शकानां वंशमुच्छेद्य
कालेन कियतापि हि
राजा श्री विक्रमादित्यः
सार्वभौमोपभऽभवत्

२. ततो वर्षशतैः पञ्चत्रिंशता सन्धिके (१३५) पुनः
तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः।

—प्रभाचन्द्राचार्य सं० १३३४

३. पापीयानित्यवध्योऽयं मुनिस्तं निरवासयत्।
स्थितिज्ञः स्थापयामास **मूलस्थानेऽथ शाखिनम्**

४. शककुलाद् यदा याताः
शकास्ते प्रथितास्तदा।
जित्वा तान् विक्रमार्कोऽभूत् पुनः शकभूपतिः

—माणिक्य सूरि

५. वट्टंते तो कालान्तरेण **सिरि** विक्कमाइच्चो।

—कालककथासंग्रहः ३०

कालिक शृंखला को जोड़ने के लिए तथा संदर्भान्तरगत मूल्यों की खोज के लिए निम्न साक्ष्य प्रासंगिक हैं—

(क) शका नाम म्लेच्छजातयो राजानः। ते यस्मिन् काले विक्रमादित्येन व्यापादिताः स शक सम्बन्धीकालः 'शाक' इत्युच्यते।

खण्डखाद्यक (कलकत्ता संस्करण)

(ख) शकानाम म्लेच्छजातयो राजानस्ते यस्मिन् काले विक्रमादित्यदेवेन व्यापादिताः, स कालः लोके 'शक' इति प्रसिद्धः।

—तदेव (बनारस संस्करण)

उपर्युक्त दो अलग-अलग ग्रन्थों से आए संदर्भों की रोशनी में अस्पष्ट तथा अवशिष्ट तथ्यों को यह 'खण्ड खाद्यक' के पाठ और पाठान्तर से अच्छी तरह समझा जा सकता है। वह काल कौन सा था ? इसका विवरण निम्न ज्योतिष ग्रन्थों से पता चलता है—

(१) नन्दाद्रीन्दुगुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः।

—भास्कराचार्य (सिद्धान्त शिरोमणिः)

(२) याता कलेः नवनगेन्दुगुणाः शकान्ते।

—श्रीपतिः सिद्धान्तशेखर

(३) कलेर्गोऽगैकगुणाः शकान्तेऽब्दाः।

—ब्रह्मगुप्त : ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त

अर्थात् कलि संवत् ३१७९ = (-३१०१) ७८ ईसवी संवत् फलीभूत हुआ।

टिप्पणी—(१) हमारा प्रश्न था—कुषाणवंश की मूलभूमि कौन सी है ? इसका समाधान सांगतः सिद्ध है कि ७८ ईसवी में म्लेच्छ जातीय शकों को विक्रमादित्य ने मुल्तान के समीप जाकर मारा—**वही म्लेच्छ राज्य की अवर सीमा है, और उसका ऊर्ध्व सीमान्तर्गत क्षेत्र ही कुषाणों की मूलभूमि है।**

२. कौन कुषाणों को बुलाकर भारत लाया ?

यह एक दुःखद प्रश्न है। इसका समाधान भी सुख-दायक नहीं है। स्पष्ट कथन यह है—**उज्जयिनी पर शासन कर रहे अनिल-पुत्र गर्दभिल्ल के सरस्वती-अपहरण काण्ड से आहत कालकाचार्य ही कुषाणों को भारत बुला लाए।** यह बात बड़ी अप्रिय है, पर अस्वाभाविक नहीं है। जैन-साहित्य में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कालक कथाएँ केवल 'कथा-साहित्य' नहीं हैं; बल्कि उपवास-समापन पर अनिवार्य कथनीय/श्रवणीय धर्म-चर्चाओं में वे स्थान पा चुकी हैं। इसमें 'लज्जा' अथवा 'अराष्ट्रीयता' की बात भी नहीं है। कारण, कथा में सर्वत्र **सिन्धुनद पार करके** वहाँ के शास्ता को—**जिसे हिन्दू शास्त्रों में म्लेच्छराजा**—माना है, बुलाने का काम कालकाचार्य ने किया। पदे-पदे वहाँ के क्षेत्र को—सिन्धु पार शकशासित राज्य को—**हिन्दुग देश कहा गया है।** सर्वप्रथम श्री जिनदास महत्तर ने संवत् ७३३ (= ६७६ ई०) में हिन्दुग देश की सूचना दी है। हमारी कालगणना के अनुसार संवत् ७३३ का अर्थ है—६१७ ईसवी वर्ष। हम ऐसा क्यों मानते हैं ? इसका समाधान यह है कि **लम्बे समय तक जैन समाज में 'विक्रम-संवत्' अलोकप्रिय रहा है। उस समय तक संवत् (११६ ई० पूर्व से स्थापित) का अर्थ वही समझा जाता था, जो हमने लिखा है।** सारांशतः ई० संवत् ६७६ तक सिन्धुपार भूभाग पर **म्लेच्छ राजा का शासन था, वह हिन्दूराज्य होकर भी स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए था। वह परराष्ट्र हरगिज़ न था।** भारत के प्रसिद्ध जैन-सन्त कालकाचार्य म्लेच्छ राजा को भारत

के प्रसिद्ध मालववंशी राजा पर आक्रमण के लिए बुला लाए। **इसे पराए राष्ट्र का भारत पर आक्रमण नहीं मानना चाहिए।**

३. कुषाणों का किन-किन राजवंशों से संघर्ष हुआ ?

प्रश्न ज़रा जटिल है। इतिहास-जगत् के मनीषी विद्वान् प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा का कथन है—"**५७ ईसा पूर्व विम कदफिस (कुषाण शकनरेश) के पश्चात् कनिष्क का अभ्युदय अनेक इतिहासकारों को अभिप्रेत है। यहाँ तक कि ५७ ईसापूर्व" से चलने वाले संवत् को कनिष्क से जोड़ने का यत्न भी किया गया है।**" ये दोनों बातें स्वल्प-संशोधन के साथ स्वीकार्य हैं। पहला संशोधन यह है कि भारत पर आक्रमण करने वाले विम कदफिस का समय ५७ ईसवी पूर्व नहीं है, **बल्कि ७१ ईसवी पूर्व का समय है**। उस समय उज्जयिनी पर अनिल पुत्र गर्दभिल्ल का शासन था। गर्दभिल्ल सुदूरवर्ती मौर्यवंश का वंशधर, है, और उसने अपने वंश का पृथक् अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे **गर्दभिल्ल-वंश** नाम दिया, जो पुराणकार को मंजूर हो गया : **सप्तगर्दभिल्लाः चैव भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।** दूसरा संशोधन यह कि ५८ ईसवी पूर्व में गर्दभिल्ल-पौत्र विक्रमादित्य ने कुषाणवंश से उज्जयिनी छीन ली और **एक संवत् की परम्परा चल निकली**। उज्जयिनी से निष्कासित और आहत कनिष्क प्रथम ने मथुरा पर आक्रमण किया और उसे हस्तगतकर **५६ ई. पूर्व से नये (शक--) संवत् की स्थापना की**। ये गणनाएँ निरन्तर प्रयोग में देखी गई हैं। विशेषतया पंजाब और काश्मीर में ये कालगणनाएँ लोक-प्रिय रही हैं। इस संशोधित डॉ. ईश्वरीप्रसादीय मान्यता का फलितार्थ यह है कि कुषाणवंश का प्राथमिक संघर्ष गर्दभिल्ल वंशी मालव राजाओं से हुआ; जिस में गर्दभिल्ल, गन्धर्वसेन और विक्रमादित्य ने बराबर-बराबर भाग लिया, और **यश मिला विक्रमादित्य को**।

मालववंशी उज्जयिनी पर शासनकर ही रहे थे कि उनके समानान्तर शालिवाहन वंश भी उभरने लगा। यहाँ यह याद दिलाना बहुत ज़रूरी है कि **शालिवाहन हूणवंशी है**। हूणवंश भी काश्मीरी नागवंश की शाखान्तर से था। यथा—

हूणवंशे समुत्पन्नः शालिवाहनभूपतिः।
गन्धर्वसेनतनयः पृथिवीमनृणां व्यधात्॥

—पुरातनप्रबन्धसंग्रहः

इस बात का ज्वलन्त प्रमाण यह है कि काश्मीर में परम्परागत शासकवर्ग में से पूर्वाधिकृत नागवंश जब अपदस्थ हो गया, तब उसी नागवंश की शाखान्तर में हुए विक्रमादित्य की सन्तान : **प्रतापादित्य** को काश्मीर नरेश स्थापित किया गया। **यह विक्रमादित्य और-कोई नहीं था—शालिवाहन ही था**। यह समानान्तर का उभार मालववंशी तथा हूणवंशी राजाओं के मध्य संघर्ष का कारण बन गया।

शालिवाहन विक्रमादित्य ने ३४ ईसवी के लगभग प्रजा को ऋणमुक्त करके अपना संवत् स्तापित किया। **जो अब ३४ ईसवी से गणनाधीन है**। इससे पहले शालिवाहन विक्रमादित्य ने ३२ ईसवी में उज्जयिनी से मालववंश को उखाड़ कर अपनी सत्ता कायम की—

एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहनभूपतिः।
विक्रमादित्यपौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्॥

और अपना नया संवत् स्थापित किया। शालिवाहन विक्रमादित्य का निधन ९१ वर्ष की वय में ईसवी संवत् ३५ में हो गया। उसके पश्चात् शालिवाहन-पौत्र ६० ईसवी में शकारि = श्री विक्रमादित्य = साहसांक उज्जयिनी का अधिपति प्रतिष्ठित हुआ। **कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी श्रीविक्रमादित्य ने कनिष्क द्वितीय को मार भगाया।**

ज्योतिष ग्रन्थों में यही विक्रमादित्य अभीष्ट हैं। जैन ग्रन्थों में उक्त विक्रमादित्य की यशोगाथाएँ व्याप्त हैं। कालकाचार्य के नाम के साथ-साथ श्रीविक्रमादित्य भी शलाका-पुरुष हो गए हैं।

कहना न होगा ! कुषाणवंश का अन्तिम संघर्ष हूणवंशी शालिवाहन-वंशधर साहसांक से हुआ और इसे **'शकान्तक'** का विरुद् मिला। शकान्तक विक्रमादित्य का निधन ईसवी संवत् ८० में हुआ। भर्तृहरि और शूद्रक इसी श्रीविक्रमादित्य के सहोदर भाई थे। महाराजा हाल इसी शकान्तक का समकालीन है।

४. कुषाणवंश को भारत से खदेड़ने का श्रेय किसे है ?

इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि 'कुषाण वंश' भारत में कितने वर्ष रहा ? यह समाधान का बिन्दु कुछ इस आधार पर भी पेचीदा हो गया है कि **भारत में कुषाणवंश का स्थितिकाल** अन्य विषयों की तरह मतभेदों से घिरा हुआ है। सामान्यतया इतिहासविद् जनों ने भारत में कुषाण-नरेशों का शासनकाल इस प्रकार क्रमबद्ध किया है:

कुषाणवंश तालिका—

(१) कदफिस : ४०-४८ ईसवी; (२) विमकदपिस : ४८-७८

(३) कनिष्क प्रथम : ७८-१५० ईसवी; (४) वासिष्क : १५०-१६७ ई०

(५) हुविष्क : १६७-१८६ ईसवी (६) कनिष्क द्वितीय १८६-१९६ ई०

(७) वासुदेव : १९६-२१० ईसवी —जैसा कि पहले लिख आए हैं।

यह तालिका अनुमान-प्रसूत तो है; प्रमाण-प्रसूत नहीं है। इस तालिका को किसी भारतीय सन्दर्भों का आधार भी प्राप्त नहीं है। ऐसा लगता है—कुषाणवंश का 'उपसंहार' गुप्तवंश को देने की लालसा में आकर इतिहासकारों ने काफी खींचातान से काम लिया है। यहाँ तक कि 'वासुदेव द्वितीय' तथा ''कनिष्क तृतीय' की कल्पना से भी काम निकाला गया है। परन्तु किसी भी स्रोत या आधार पर 'कुषाणवंश' बनाम 'गुप्तवंश' जैसा टकराव इतिहास के पृष्ठों पर नज़र नहीं आता। कनिष्क से लेकर कनिष्क तक का शासन निर्बाध लिखने की परम्परा पक्की हो चुकी हैं। हम ऐसा भी नहीं मानते। हमारी दृष्टि में कुषाणवंश तालिका इस प्रकार है—

संशोधित कुषाणवंश तालिका—

(१) कदफिस : ९२-८४ ई० पू०; (२) विमकदफिस ८३-७१ ई० पू०;

(३) कनिष्क I : ९९-५९ ई० पू०; (४) हुविष्क : ५७-१४ ई० पू०;

(५) वासिष्क : १४ ई० पू०-४ ई० पूर्व; **(६) कनिष्क II ११ ईसवी से**

(७) वासुदेव : ७८ ईसवी से ९९ ईसवी तक।

हम निम्न संदर्भों के आधार पर उपर्युक्त निष्कर्ष तक पहुंचे हैं—

१. डॉ. ईश्वरीप्रसाद ९२ ई० पूर्व से कुषाणवंश का इतिहास आरम्भ करते हैं। हमें यह उचित प्रतीत हुआ है।

२. कालकाचार्य सिन्धुनद पार करके हिन्दुग देश के जिस 'शक राजा' को बुला लाए थे, वह **विमकदफिस** था। उसी ने उज्जयिनी हस्तगत करके **७१ ई० पूर्व से नया शक स्थापित किया था।**

३. कनिष्क प्रथम ने ५६ ई० पूर्व में मथुरा हस्तगत की और **दूसरा शक स्थापित किया, जो ५६ ई० पू० से गिना गया।**

४. वासुदेव-हाल-साहसांक की 'समकालिकता' संस्कृत साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रहा है।

उपर्युक्त स्थिति का आकलन करते हुए हमें यह निष्कर्ष साधार और संभव लगता है कि **शालिवाहन के वंशधरों ने कुषाणों को भारत से खदेड़ कर बाहर किया।** कुषाणवंश के जो अवशेष अर्थात् क्षत्रप भारत में रह गए थे, उन्हें—

(क) नहपान को रुद्रदामन् ने १४१ ईसवी में—

(ख) उसके दामाद उषवदात्त को पुलोमावी (आन्ध्रनरेश) ने १४५ ईसवी में भारत से बाहर किया या मार भगाया।

५. कुषाणराजाओं ने कुल कितने वर्ष भारत में शासन किया?

(क) विमकदफिस ने ई० पूर्व ७१ में भारत में अपनी सत्ता स्थापित की और उज्जयिनी को राजधानी बनाकर ६८ ई० पूर्व तक **कुल चार वर्ष शासन किया।**

(ख) उसी कुषाणराजाओं ने ६६ ई० पूर्व में पुनः सत्ता स्थापित की **और आठ वर्ष शासन किया।**

(ग) उज्जयिनी से उत्सन्न होकर कनिष्क प्रथम ने **५६ ई०पूर्व में मथुरा को राजधानी बनाकर शासन आरम्भ किया।**

(घ) कनिष्क पुत्र वासुदेव ने ९९ ईसवी तक मथुरा पर शासन किया

इस गणित से कुषाणवंश १७० वर्ष भारत में शासक बनकर रहे और १७०—४ = १६६ वर्ष सत्ता का उपभोग किया।

यदि कदफिस शासन को गणित में लें तो ९२ + ९९ = १९१ वर्ष कुषाणवंशीय इतिहास स्पष्ट है।

६. भारतीय संस्कृति के विकास में कुषाणों का योगदान कितना है?

निःसंदेह, वर्तमान समय तक भारतीय संस्कृति लहराती, बल खाती जिस रूपरेखा में दृग्गोचर हुई है, उसमें बहुत बड़ा हिस्सा इन कुषाण राजाओं का योगदान है। हम क्रमानुसार कुषाणराजाओं का सांस्कृतिक मूल्यांकन करते हैं। यथा—

साहित्य: 'साहित्य' संस्कृति का प्रमुख अंग है, कनिष्क प्रथम [ई० पूर्व ६६-५८] के समय में उदित **अश्वघोष** प्रथम नाटककार है, जिसने संस्कृत नाट्यसाहित्य को मार्गदर्शन दिया था। यह यथार्थ है कि भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र लिखकर-अपना क्षेत्र तैयार कर लिया था; परन्तु उसे समृद्धि की ओर ले जाने का श्रेय अश्वघोष को ही है। संस्कृत के विद्वान् मुंह में अंगुली रखकर इस वाक्य को पढ़ेंगे कि **नाटककार कालिदास अश्वघोष का परवर्ती नाट्य लेखक हैं;** भले ही वह उससे अप्रभावित हो! प्रकृत लेखक इस बात का भी दावेदार है कि नाट्यकार **कालिदास कनिष्क [द्वितीय] का सभारत्न था।** साहसांक द्वारा परास्त कनिष्क (२) से आश्रयछिन्न होकर कालिदास पर्याप्त समय तक स्वतन्त्रचेता बना रहा। विक्रमादित्य और विक्रमांक के प्रति उदासीन रहा—**"अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः"**। यह स्थिति दीर्घकालीन न थी। शीघ्र ही वह अग्निमित्र [अन्यनाम शूद्रक और विक्रमांक] की ब्रह्मसभा का सदस्य हो गया और अपने एक नाटक में उसने—

"सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।"

का संकेत भी दे दिया। अन्ततोगत्वा कालिदास—

"रसभावविशेषदीक्षागुरोः साहसाङ्कस्य 'श्रीविक्रमादित्यस्य"

इस तरह के यशोगीत गाता हुआ श्रीविक्रमादित्य की सभा में जा पहुंचा। वास्तव में वह महाराजा कनिष्क [२] की सांस्कृतिक उपलब्धि है।

धर्म : चिरकाल से वैदिक धर्म और जिनधर्म समानान्तर पटरी पर चल रहे थे। **२२ वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि भगवान् कृष्ण के समकालिक हैं।** महाराजा बिम्बसार के जमाने में [१२७६-१२१२ ई० पूर्व] बौद्ध धर्म अस्तित्व में आ गया। समय-समय पर जिस धर्म को राजाश्रय मिलता रहा, वह धर्म फलता-फूलता था। कलिंग नरेश खारवेलश्री ने जैन धर्म को प्रश्रय दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर कुणालवंशधरों तक-सब ने जैन धर्म को अवलम्बन दिया, और अन्य वंशधरों ने बौद्ध धर्म को आश्रय दिया। **कहने की आवश्यकता नहीं कि शुंग नरेशों ने वैदिक धर्म को अखण्ड रखा।** इतिहास के पन्ने पलटते-पलटते जब हम 'कुषाणयुग' में पहुंचते हैं, तब हम क्या देखते हैं कि **"ये तीनों धर्म दार्शनिक स्तर पर संघर्ष-रत हैं।** जैन-समाज [धर्म नहीं] मन से कुषाण राजाओं के प्रति कृतज्ञता-पूर्वक जुड़े रहे और कुषाण राजा **बौद्धधर्म के प्रति निष्ठावान् तथा परायण बने रहे।** बड़ी प्रसिद्ध बात है कि द्वितीय बौद्ध-संगीति (सम्मेलन) कनिष्क (प्र०) के सान्निध्य में—**लगभग ६० ई० पूर्व**—सम्पन्न हुई।

> **अत्र अविस्मरणीय बात यह है लि राजाश्रय न मिलने पर भी भगवान् शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का ध्वज ऊँचा रखा।**

मुद्रा : यद्यपि वैदिक साहित्य से पता चलता है कि ऋषि वर्ग को दक्षिणा के रूप में प्रभूत द्रव्य मिलता था; पर परम्परा को देखते हुए यह कहना भी अयथार्थ नहीं है कि युधिष्ठिर, बिम्बसार अथवा अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य तक के राजाओं की नामांकित अथवा चिह्नलांछित मुद्राएँ नहीं मिलीं। **भारत में मुद्राओं का प्रचलन कुषाण राजाओं की देन हैं।** यद्यपि मालव राजा विक्रमादित्य [द्वितीय] के समय दीनारनामा मुद्रा की चर्चा सुनने में आती है, पर वह **उज्जयिनीश्वर भी तो कषाण-युग के बीचों-बीच [३६-१४ ई.पू.] में पड़ता है।**

गुप्तकालीन मुद्राएँ कुषाण-परवर्ती युग की है।

वास्तुकला : भारतीय संस्कृति को रमणीय योगदान में कुषाण राजाओं का **'वास्तुकला'** में योगदान अभूत पूर्व हैं। यद्यपि भारत पर क्रूर आक्रान्ताओं ने उक्त वास्तु-सम्पदा को नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई कमी नहीं छोड़ी है; परन्तु महान् आश्चर्य तो यह है कि जो कुछ बच गया है—**वह आज भी लोकोत्तर है।** भारत के प्रमुख म्यूज़ियम नष्ट परन्तु अद्‌भुत वस्तु-समूह से समृद्ध नज़र आते हैं। **मथुरा का संग्रहालय तो कुषाणयुग का जीवन्त इतिहास है।** कहने की आवश्यकतां नहीं मथुरा कुषाण राजाओं की राजधानी रहा है, कुषाणयुग की समग्र वास्तुकला की राजधानी **मथुरा संग्रहालय** ही है।

भारत की मूर्तिकला पर इतिहासकारों की टिप्पणी गौर तलब है। मूर्तिकला की विशिष्ट शैली—**जिसे गान्धार कला कहना अधिक उचित है।**—का विकास कुषाणयुग में ही, अर्थात् भारत आगमन से पूर्व द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व [२००-१०० ई० पू०] विकसित हो चुकी थी। इस विकासोन्मुख मूर्तिकला-के साथ ही गृहनिर्माणकला भी—केन्द्र या तो पेशावर था, या फिर स्वाति घाटी का पठार। कहने का तात्पर्य यह कि वह गान्धारकला भी एक तरह से भारतीय कला थी। सिकन्दर के आक्रमण तक तक्षशिला/पेशावर तथा अफगानिस्तान भारत ही तो था।

७. कुषाणवंश द्वारा स्थापित काल-गणनाएँ—

भारत कुछ-एक विशिष्टताओं में विश्व का अग्रणी देश है। इन विशिष्टताओं में उल्लेखनीय 'विशेषता' है—**विविध कालगणनाएँ।** भारत में बहुत अधिक प्रचलित गणनाएँ ८१ से अधिक हैं; जिस में से केवल सात संवत्सरों की परिभाषाएँ और गणनाएँ प्रथम अध्याय में लिख चुके हैं। कुछ-एक काल-गणनाएँ प्रचलन में तो कम दिखती है; परन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। **ऐसी वैसी कम-प्रचलित, परन्तु मूल्यवती काल-गणनाओं में चार यहाँ**

प्रासंगिक हैं। उन सबका स्थापना वर्ष तथा प्रयोगों की समीक्षा करके इतिहास के उस दायरे को सामने लाने का प्रयास करेंगे, जहाँ से **शांकर काल-निर्धारण में** समग्रभाव से नहीं, आंशिक स्तर पर, प्रत्यक्षतः नहीं, परोक्षतः सहायता मिलती है। यथा—

[१] प्रथम [कुषाण] शक : ७१ ई० पूर्वः—

भारत के महान्-से-महान् संघर्ष अथवा एकदेशीय संघर्ष **'महिला-काण्ड'** से जुड़े हुए हैं। रामायण और महाभारत जैसे 'महासंग्राम की पृष्ठभूमि में 'सीता' अथवा 'द्रौपदी' हैं। तद्वत् यहाँ भी मालव-कुषाण संघर्ष में **'सरस्वती-अपहरण'** जैसी घृणित घटना जुड़ी हुई है। जैन सन्त कालकाचार्य अपनी साध्वी बहन 'सरस्वती' के साथ उज्जयिनी में विहार पर थे। वहाँ के दर्पी राजा गर्दभिल्ल ने सरस्वती का अपहरण कर लिया। कालकाचार्य ने बड़ी अनुनय-विनय की, जब उसका कोई असर नहीं हुआ तब वह 'शककुल' में जाकर वहाँ के राजा को यहाँ बुला लाया। **यह घटना वीर-निर्वाण से ४५३ = ७४ ई० पूर्व की है।** संभवतः उस कुषाणराजा का नाम—'कदफिस' था। अन्ततोगत्वा संमर्द हुआ। मालवों के हाथ से उज्जयिनी छिन्न गई। राजा कदफिस ने विजय के उपलक्ष्य में एक संवत् की स्थापना की—**जो ७१ ई० पूर्व से गिना गया।**

इस प्रसंग में डॉ. सत्येन्द्र के विचार चर्चा के योग्य हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध रचना : **'पाण्डुलिपि-विज्ञान'** के पृष्ठ २६० पर इस प्रकार लिखा है :

> **"यह विदित होता है, शकों ने अपने प्रथम भारत-विजय के उपलक्ष्य में ७१ या ६१ ई० पूर्व में एक संवत् चलाया था। इसे पूर्वकालिक शक-संवत् कह सकते हैं। विमकदफिस का राज्य-काल इसी संवत् के १९१ वें वर्ष में समाप्त हुआ था। यह संवत् उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्र में उपयोग में आया था।"**

डॉ. सत्येन्द्र ने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ भी है और अयथार्थ भी। यथार्थ इस सीमा तक ग्राह्य है—[क] इसे पूर्वकालिक शक-संवत् कह सकते हैं; [ख] विमकदफिस का राज्यकाल इसी संवत्—[ग] उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ भागों में-इत्यादि। अयथार्थ इस सीमा तक है—[क] ६१ ई० पूर्व से नहीं- ६६ ई०पू० से राजा प्रमर का शक संवत् मिलता है। विदित हो, प्रमर विक्रमादित्य-शालिवाहन का पितामह है; [ख] कनिस्क प्रथम का अपना शक-संवत् है, ५६ पूर्व से गिना जाता है, यहाँ उत्तर-पश्चिमी भारत की अपेक्षा 'काश्मीर' लिखना कहीं अधिक संगत है।

डॉ. सत्येन्द्र का इतना निर्णय ग्राह्य है कि ७१ ई० पूर्व का कोई पूर्वकालिक शक-संवत् है—परन्तु वह कदफिस द्वारा स्थापित है— यह हमारा अनुसन्धान हैं।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयानक ने **'पृथिवीराजविजय'** नामक काव्य लिखा है। जयानक काश्मीरी कवि है। उसने पृथिवीराज चौहान का जन्म समय **संवत् १२२० लिखा है,** जो १२२०-७१ = ११४९ ईसवी के बराबर है। इसे पूर्वकालिक शक-संवत् कह सकते हैं।

आगे चलकर हम इस गणना को पुनः प्रमाणित करेंगे।

(२) द्वितीय (कुषाण) शकः ५६ ई० पूर्व :

कालकाचार्य के आह्वान पर भारत पर आक्रमण करने आए कदफिस ने दर्पी गर्दभिल्ल राजा को परास्त किया। राजा कदफिस केवल तीन वर्ष ही अस्थिर शासन कर सका। शीघ्र ही ६८ ई० पूर्व० में उसे गर्दभिल्ल पुत्र गन्धर्व सेन से सामना करना पड़ा। **आक्रान्ता कुषाणवंश एक बार उज्जयिनी से अपदस्थ हो गया।**

जैन-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि 'गन्धव्वय' ने १०० वर्ष शासन किया। इतिहास बुद्धि के वशीभूत हमने इसका तात्पर्य यह समझा है कि उत्तरवर्ती-वंशधरों सहित गन्धव्वय [गन्धर्वसेन] ने सौ साल राज्य किया। हम मालव-वंश-शासन की निम्नवर्ती सीमा से पूर्णतया अवगत हैं, जिसे हम विगत पृष्ठों पर लिख भी आए हैं—**ईसवी संवत् ३२।** अतः १०० - ३२ = ६८ ई० पूर्व में गन्धर्वसेन कदफिस को हराकर मालवगण स्थिति-काल स्थापित करने में सफल हो गया। परन्तु त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति [८६] के कथनानुसार :

"वीरजिणं सिद्धिगदे चउसद इगि सट्ठिवास परिमाणे।

कालम्मि अदिक्कं ते उप्पणो एक सगराओ।"

वीर निर्वाण-संवत् ई० पूर्व ५२७-४६१ = ६६ ई० पूर्व में गन्धर्वसेन अपना शासन खो चुका था। **कदफिस पुनः सत्तासीन हो गया।** अब कि बार कुषाण वंश आठ वर्ष शासन कर पाया। शीघ्र ही उसे **वीर विक्रमादित्य ने एकदम से अपदस्थ कर स्थिर भाव से मालवगणस्थिति कायम की।** अनुमान यह भी है—इस बार कदफिस दिवंगत हो गया था।

उज्जयिनी का राजसिंहासन इधर से उधर और उधर से इधर झूले की तरह डाँवा-डोल रहा। यथा—

मालववंश	**उज्जयिनी**	**कुषाणवंश**
मालव-शासन : ई० पूर्व ७२ तक		
		७१ ई० पूर्व : कुषाणवंश ने सत्ता स्थापित की।
गन्धर्व सेन ने पुनः सत्ता प्राप्त की ६८ ई० पू०		
		६६-५९ ई० पूर्व में कुषाण वंश पुनः सत्ता में आ गए
वीर विक्रमादित्य ने ५८ ई० पूर्व में पक्के तौर पर सत्ता स्थापित की और उसके ५ वंशधरों ने उज्जयिनी पर शासन किया		उधर उज्जयिनी से अपदस्थ होकर विमकदफिस ने मथुरा को अपने आधीन किया और ५६ ई० पू० **में नए शक की** स्थापना की और उसके ५ वंशधरों ने मथुरा पर शासन किया।
—विक्रम संवत् ५८ ई० पूर्व—		**—परकालिक शक ५६ ई० पूर्व**

ये दो कालगणनाएँ नितान्त आमने-सामने प्रचलित रहीं। एक ही उदाहरण से इसे समझा जा सकता है:—

कार्तिकसितपञ्चम्यां अग्रटनाम्नासु सूत्रधारेण प्रारब्धं

देवगृहं काले वसुशून्यदिक् संख्ये॥ दशदिक् विक्रमकाले

वैशाखे शुद्धसप्तमीदिवसे। हरिरिह निवेशितोऽयं घटितप्रतिमो वराहेण॥

—विक्रमस्मृतिग्रन्थ : पृष्ठ ५१

इसमें एक तिथि देवगृह-निर्माणारम्भ की है, दूसरी तिथि देवप्रतिमा स्थापित करने की है। यथा—

मनीषी जनों ने मन्दिर निर्माण कार्य १८ मास ठहराकर इस काल संदर्भ का अर्थाधान विख्यापित किया है। परन्तु हमारी राय इस मत से भिन्न है। '**विक्रमकाले**' से विक्रम-संवत् की ग्राह्यता स्पष्ट है; परन्तु अन्यत्र स्थित '**काले**' का सम्बन्ध 'विक्रम' से कदाचित नहीं है। हमारे विश्लेषण और मान्यता के अनुसार—

—मन्दिर निर्माण—	१००८		१०१०	**—प्रतिभा स्थापन—**
कार्तिक शुक्लपक्ष	--५६		–५७	शुद्ध वैशाख
पंचमी [शक]	९५२		९५३	सप्तमी (विक्रम सं०)

इस सन्दर्भ में दो-दो काल भिन्न संवत्सरों के बोधक हैं। हमारे सामने अधिक परेशानी यह भी है कि **ई० संवत् ९२०, ९३९, ९५८ तथा ९९६** में अधिक वैशाख मास तो है, परन्तु ई० ९५२-९५३ में कोई अधिक मास नहीं है। **यहाँ विक्रम-संवत् का परित्याग करके ही अनुसन्धान करना होगा**। सामान्य सभाधान यह है कि 'शुद्ध सप्तमी' को 'शुक्ल सप्तमी' मान लिया जाये। और 'काल' से 'शककाल' का ग्रहण किया जाय!! शेष विक्रम संवत् है! मन्दिर-पीठ का निर्माण सात महीनों में सम्पन्न हुआ—बस यही यथार्थ है।

[३.] कनिष्क-संवत् : ९ ई० पूर्व—

—द्वितीय कुषाण शक : ५६ ई० पू०

कैसा विचित्र संयोग है—विमकदफिस का निधन ९ ई० पूर्व में हुआ और विक्रमादित्य पौत्र विक्रमादित्य (२) का निधन भी ९ ईसवी पूर्व में हुआ। हमारे सामने जैन शिलालेखसंग्रहः द्वितीय भाग रखा है। जिसमें कनिष्क-वसिष्क-हुविष्क-कनिष्क-वासुदेव नाम से अलंकृत नाना संवतों का विवरण है, यथा—

—तिथिचित्र—

क्रमांक	**पृष्ठ**	**संवत्**	**शासक**	**ई० पूर्व**	**विवरण—**
१७	१८	४	?	५ ई० पू०	पुष्यमित्र की शिष्या का लेख
१८	१९	५	?	४ ई० पू०	—शाखा के वाचक आर्य—
१९	१९	५	कनिष्क	४ ई० पू०	उच्चनगरी की क्षुद्रा देवी का लेख
२०	२०	५	?	४	उच्चनगरी की ब्रह्म दासिका—
२१	२०	५	?	४	आर्य गिरिक का लेख—
२२	२१	—	—	—	ज्येष्ठहस्तिन के शिष्य आर्य मिहिर
२३	—	—	—	—	ज्येष्ठहस्तिन के शिष्य आर्य मिहिर
२४	२२	७	कनिष्क	२ ई० पू०	आर्य नागभूविकीय आर्य वृद्ध
२५	२३	९	**कनिष्क**	**१ ईसवी**	कोटियातो गणतो—
२६	२३	१५	**कनिष्क**	**६ ई०**	आर्य जयभूति-कुमार मित्रा
२७	२४	१८	कनिष्क	९ ई०	वत्सलीय कुल के गणी
२८	२५	१८	कनिष्क	९ ई०	आर्य बलदिन की शिष्या—
२९	२५	१९	कनिष्क	१० ई०	आर्य बलदिन की शिष्या सुचिल—

क्रमांक	पृष्ठ	संवत्	शासक	ई० पूर्व	विवरण—
३०	२६	२०	कनिष्क	२१ ई०	स्थानीय कुल/शिष्या दीना
३१	२७	२०	हुविष्क	११ ई०	आर्य सिंह की दत्त शिष्या—
३२	२८	२०	„	११ ईसवी	आर्यसिंह की दत्त शिष्या—
३३	२८	२२	„	१३	आर्य मातृ दत्त/ धर्म शोभा का शिला—
३४	२९	२२	„	१३	धारण कुल की पेतिवासिक—
३५	२९	२५	„	१६	उच्च नगरी की जभक की बहू—
३६	३०	२५	„	१६	आर्य ब्रह्मत्रात की शिष्या का शिला—
३७	३०	२९	„	२०	पुष्यमित्र के कुल में बोधिनन्दि—
३८	३१	२९	„	२०	नागदत्त की शिष्य—[?]
३९	२१	२९	„	२०	[?]
४०	३२	३१	„	२२	देवल की पत्नी गृहश्री का—
४१	३३	३२	„	२३	आर्यनन्दि की शिष्या जितमित्रा
४२	३३	३५	„	२६	आर्य बलदत्त की शिष्या कुमार मित्रा
४३	३४	३९	„	३०	शिवदास के पुत्र रुद्रदास ने—
४४	३५	४०	„	३१	जयनाग की धर्म पत्नी—
४५	३६	४४	„	३५	भगनन्दि की शिष्य आर्य नागसेन
४६	३६	४५	„	३६	धर्मवृद्धि की—[?]
४७	३६	४७	„	३८	ओघनन्दि के शिष्य पुष्यदत्त—
४८	३७	४७	[?]	३८	ओज नन्दि के शिष्य—
४९	३७	४७	हुविष्क	३८	देविल का दान—[?]
५०	३८	४८	„	३९	उच्चनगरी शाखा के—
५१	३८	५०	„	४१	आर्य चेर के शिष्य शुद्धदत्त—
५२	३८	५०	„	४१	आर्य जिनदासी विजयश्री—
५३	३९	५०	[?]	४१	अहिछत्र का शिलालेख
५४	४०	५२	हुविष्क	४३	वज्राशाखा के आर्य मङ्क्षहस्ति—
५५	४०	५४	„	४५	आर्य हस्तहस्ति के शिष्य माघहस्ति
५६	४१	६०	„	५१	वाचक आर्य वृद्धहस्ति—
५७	४२	६२	„	५३	श्राविका वैहका—
५८	४२	६२	„	५३	वारण गणी आर्य कर्कश—

५९	४२	७९	"	७०	वृद्धहस्ति दत्ता श्राविका ने—
६०	४३	८०	"	७१	संघ निधि की बहू ने—
६१	४३	८१	हुविष्क	७२	श्राविका दत्ता के कहने पर—
६२	४४	८३	वासुदेव	७४	
६३	४४	८६	हुविष्क	७७	संगमि का शिष्य वसुला ने—
६४	४५	८७	हुविष्क	७८	उच्चनगरी के कुमार नन्दि के शिष्य

—जैन शिलालेख संग्रह [द्वितीयभाग]

कतिपय अनिवार्य निष्कर्ष—

[१] पं० विजयमूर्ति एम.ए. शास्त्राचार्य ने इस संग्रह में उत्कीर्ण काल शृंखला को अक्षुण्ण रखा है। संवत्संख्या ठीक है। परन्तु शासकों की नामावली 'यथाक्रम' नहीं है। इस पर अनुसन्धान होना चाहिए।

[२] मालव नरेशों से संघर्ष लेने वाले राजा 'कुषाणवंशी' ही थे। अन्य कोई नहीं।

[३] कुषाण राजाओं के संवत् को आत्मसात्कर्ता जैन श्रावक, जैन गणी आदि की परम्परा से ज्ञात होता है कुषाणों को आर्यावर्त में लाने वाला तथा उन्हें प्रश्रय देने वाला 'जैन समाज' है।

[४] उज्जयिनी से आहत होकर पलायन करते-करते कुषाण राजा ने **५६ ईसवी पूर्व में मथुरा के शासक बने बैठे कुषाणवंश का संक्षिप्त इतिहास**, इन भग्न एवं विरल शिलालेखों के परिप्रेक्ष्य में, आसानी से समझा जा सकता है।

[५] जैन समाज प्रायशः **'मरणोपरान्त'** कालगणना का पक्षधर है। परन्तु इस शिलालेख-संग्रह से यह पता नहीं चलता कि यह शृंखला मरणोपरान्त है अथवा अभिषेकोपरान्त काल-गणना है ?

[६] अनुसन्धान करते-करते हम इस मंजिल तक आ पहुँचे हैं, कि अब सार्वभौम इतिहास की कड़ियों में इसे स्थापित किया जा सकता है।

[७] वासुदेव के पिता का नाम 'कनिष्क' [२] है। परन्तु उपर्युक्त संवत्-शृंखला में उसका कोई स्थान नज़र नहीं आता। इस पर **गहन-अनुसंधान की अपेक्षा** नज़र आती है। इति।

वासुदेव युग—

क्षीर-तरंगिणी के यशस्वी लेखक क्षीरस्वामी ने कुषाणवंशी वासुदेव के इतिहास का पूर्व पृष्ठ खोलकर सामने ला दिया है—

द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः।

शूद्रकस्तु अग्निमित्राख्यः हालः स्यात् सातवाहनः।

—अमरकोश की टीका

द्रौपदीगुप्त = विक्रमादित्य = साहसांक = शकान्तक—ये सभी नाम एक ही व्यक्ति का बोध कराते हैं; शूद्रक = अग्नि मित्र भी एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। परन्तु सातवाहन राजा का नाम एकमेव है—**हाल**। ये समकालीन राजा हैं। मान लो—**इन सबका समय ७८ ईसवी संवत् है**। अब इतिहास की महती एवं स्मृति-स्फूर्त घटना घटी। यथा—

"विक्रमादित्य ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की और उसे भगाकर मुल्तान और लोनी के दुर्ग करूर के प्रदेश में मार डाला। अब यह तिथि विख्यात हो गई। क्योंकि अत्याचारी की मृत्यु सुन कर प्रजा को बड़ा आनन्द हुआ और विशेषतः ज्योतिषी-इसी तिथि का संवत् प्रारम्भ के रूप में प्रयोग करने लगे। वे विजेता के नाम के साथ 'श्री' लगाकर उसका सम्मान करते हैं, उसे श्रीविक्रमादित्य कहते हैं।

—अल्बैरुनी का भारत : भाग ३, पृष्ठ ६-७

अत्र 'श्री' का विशेषण सम्मान-बोधक नहीं, परिचायक बन गया है। यथा—

"रसभावविशेषदीक्षागुरोः साहसाङ्कस्य श्रीविक्रमादित्यस्य—

—अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

"राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्।"

—प्रभावक चरित। १/९०

ऐसे कई अन्य उदाहरण भी संकलित किये जा सकते हैं।

मुल्तान की चर्चा भी खूब रही। हमारा दृढ़ विश्वास है—कुषाणों की मूलभूमि 'मुल्तान' ही थी। अल्बैरूनी का साक्ष्य अकाट्य है ही, साथ में जैनसाक्ष्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैः

"पापीयान् इत्यवध्योऽयं मुनिस्तं निरवासयत्।

स्थितिज्ञः स्थापयामास मूलस्थानेऽथ शाखिनम्॥ ६२॥

—श्री माणिक्य सूरिविरचित : कालकाचार्य कथा।

मुल्तान में जाकर मारा या वहाँ स्थापित किया—गरिमा तो मुल्तान की ही प्रकट होती है।

श्रीविक्रमादित्य के हाथों मरने वाला शाखि/शक और कोई नहीं था, वही कुषाणवंशी कनिष्क (२) ही था। उसके पश्चात् उसका पुत्र वासुदेव मथुरा के सिंहासन पर विराजमान हुआ। परम्परागत 'कुषाण-संवत्' के साथ 'वासुदेव' का नाम भी जुड़ गया। यथा—

क्रमांक	पृष्ठ	संवत्	शासक	ईसवी	विवरण—
६५	४५	८७	वासुदेव	७८	[?]
६६	४५	९०	"	८१	मझभालो शाखा—वधू—
६७	४६	९३	"	८४	गणी नन्दि के आदेश से—
६८	४६	९५	"	८६	धामथा के आदेश से—
६९	४७	९८	"	८९	परिधाषिक कुल वैलाल पुत्रिका
७०	४७	९८	वासुदेव	८९	उच्च नगरी की शाखा—

—जैनशिलालेख संग्रहः विजय मूर्ति एम. ए.

इतिहास के इस निर्णायक एवं अंतिम वासुदेव युग का समापन-सूत्र दिया है इतिहास ने—

वासुदेव	सातवाहन	शूद्रक	साहसांक	—महाकवि राजशेखर
९९ ईसवी	८० ईसवी	९५ ईसवी	१०० ईसवी	[निधन काल]

उपर्युक्त समकालीन चार राजाओं का निधनकाल कुछ प्रमाणित है, और कुछ अनुमान-सिद्ध । महाराजा हाल ने १०० वर्ष शासन किया— २० ईसवी पूर्व से ८० ईसवी संवत् पर्यन्त । **विवेकशील पाठक हाल का सौ वर्षीय कालिक आयाम विगत पृष्ठों पर पढ़ चुके हैं ।** वासुदेव के शासन की निम्न सीमा [१४५ ईसवी] उनके क्षत्रप [गवर्नर] नहपान और उषवदात्त के सतर्क समय-निर्धारण से जुड़ी हुई है । यह अग्रस्थ पृष्ठों पर पढ़िए । इसी प्रसंग के आधार पर शूद्रक और साहसांक का समय भी अनुमान-गम्य है ।

वासुदेव-युग की इतिश्री—

कनिष्क-पुत्र वासुदेव ने २१ वर्ष मथुरा पर शासन किया । ई० संवत् ७८ से ९९ पर्यन्त । महाराजा हाल का निधन बहुत पहले हो चुका था । शेष शूद्रक और साहसांक का निधन भी थोड़ा आगे-पीछे हो गया । **यहाँ कुषाण नरेश वासुदेव का निधनवर्ष-९९ ईसवी हमारे अनुसन्धान की कसौटी बन गया है ।** विदित रहे—वासुदेव के निधन के पश्चात् 'नहपान' तथा उसका दामाद 'उषवदात्त' मथुरा के बतौर क्षत्रप शासन करते रहे । नहपान ने अपने अभिलेखों में स्व-शासनकाल के ४१ तथा ४२ वर्षों का उल्लेख किया है । **ऐतिह्य दृष्टि से नहपान का ४२ वाँ वर्ष उसके शासनान्त का सूचक है और हमारे लिए शलाका-परीक्षा का स्थल है ।** नहपान के निधन के पश्चात् उसका दामाद उषवदात्त शासनासीन हुआ । उसने भी पूर्वागत काल शृंखला के ४४ वें और ४६ वें वर्ष का उल्लेख किया है । **यहाँ भी उषवदात्त का ४६ वाँ वर्ष** (पूर्वागत) **भी उसके शासनान्त का बोध कराता है, और यथापूर्व शलाका-परीक्षा का स्थान है ।** उज्जयिनी के रुद्रदामन् ने ईसवी संवत् १४१ में नहपान को परास्त कर अपना एक 'शक-संवत्' चलाया, जिसकी चर्चा आगे भी पंक्तियों में हम पढ़ेंगे । उसी प्रकार प्रतिष्ठानपुर के वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने १४५ वें ईसवी वर्ष में उषवदात्त को मार गिराया । यथा—

जयदामन् का राज्यान्त १३८ ईसवी में हुआ और रुद्रदामन् ने ईसवी १३८-१९० वर्षों तक शासन किया । रुद्रदामन् ने १४१ ई० में नहपान को मारा ।

{ नहपान के शासन काल का ४२ + ९९ = १४१ ईसवी में अवसान हो गया । उषवदात्त का वर्ष ४६ + ९९ = १४५; वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी द्वारा निधन }

गौतमी पुत्र शातकर्णी के सप्तर्षि सं० ३९२१ = १४५ ईसवी में निधन हुआ और पुलुमावी ने ई० १४५-१७३ तक शासन किया । उसने ई० १४५ में 'खखरातवंसनिर्वस' करते हुए उषवदात्त को मार गिराया ।

ये दोनों वर्ष—**ईसवी संवत् १४१ तथा १४५**—हमारे काल-आकलन को बड़ा मजबूती के साथ जकड़े हुए हैं । कहीं एक-वर्षीय शिथिलता समूचे ढांचे को ध्वस्त कर सकती है । हमारी शोध-गणना के अनुसार **कुषाणवंशी वासुदेव**—जो भारत में कुषाणवंश का अंतिम शासक था—**का निधन ९९ ईसवी में होना तय है और अपरिवर्तनीय है ।** वासुदेव से पूर्व-पूर्वोत्तरवर्ती राजाओं का शासन-काल कूतना, कोई समस्या बनकर सामने आने वाला नहीं है । विगत पंक्तियों में हम पढ़ आए हैं—उज्जयिनी के राजा रुद्रदामन् ने ईसवी सन् के १४१ वें वर्ष में नहपान (नखवाँ) को परास्त कर नया शक-संवत् स्थापित किया; जिसका प्रयोग 'चम्बा राज्य की प्रत्न वस्तुएँ' नामक ग्रन्थ में पढ़ने को मिलता है, जो इस प्रकार है—

"शास्त्र संवत् ४६ = विक्रमजीत संवत् १७२८ = शक संवत् १५२९"

—रचना पूर्वोक्त [अंग्रेजी] भाग २/पृ १५६

इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

शास्त्र संवत् ४६ = ५४४६ = १६७० ईसवी पूर्व प्रतिपादित सुगम विधि से शास्त्रसंवत् को ईसवी साल में—

"शास्त्र संवत् ४६ = ५४४६ | १६७० ईसवी	१. सुगमविधि : उक्त विस्तृत संख्या से ६२८ [भारत संग्राम के सप्तर्षि वर्ष] कम किए : ५४४६-६२८ = ४८१८ **इस संख्या को भारत-संग्राम के ई० पूर्व से घटाया : ४८१८ -३१४८ = १६७० ई० सन् यथार्थ** है।
	२. क. जटिल विधि: विस्तृत संख्या से पूरा सप्तर्षि चक्र घटाया : ५४५६—२७१८ = २७२८; इसमें अपनी ओर से जमा किए : ७ + २७२८ = २७३५; इसमें से तीसरे मील पत्थर के अंक घटा दिए :२७३५-१०४७ = १६८८; इसमें पुनः, १८ वर्ष कम किए : १६८८-१८ = १६७० सिद्ध है।
	२/ख. अन्य जटिल विधि: विस्तृत संख्या से दो सप्तर्षि चक्र घटाए : ५४४६-५४३६ = १० शेष रहे; अपनी ओर से जमा किए७ + १० = १७, इस संख्या में चतुर्थ मील पत्थर के अंक जमा किए : १६७१ + १७ = १६८८ पुनः घटाए-१८ = १६७० **परिणाम ही साधु और संग्राह्य है।**
संवत् १७२८ = १६७० ई०	विक्रमजीत संवत् १७२८-५८ = १६७० ईसवी साल। इसमें गौर तलब संज्ञा है—विक्रमजीत, जो विक्रमादित्य का परिवार्तित प्रयोग है।
शक संवत् १५२९ = १६७० ईसवी	शक संवत् १५२९ में + १४१ जमा किए = १६७० ई० संवत् रूपान्तरित हुआ। खोजने पर इसके अन्य प्रयोग भी मिल सकते हैं।

इस प्रकार सुष्ठु परिणाम-बोधक प्रस्तुत गणनाचक्र द्वारा कुषाण वंश की पर सीमा ७१ **ईसवी पूर्व** तथा अवर सीमा ९९ **ईसवी** (कुल मिलाकर १७० वर्ष) हमारे सामने है।

कर्कश अभिमत—

विवेकशील पाठक को हम से यह पूछने का पूर्णाधिकार है कि **आखिर यह तामझाम क्यों? अनावश्यक इतिहास का प्रसंगीकरण क्यों?** प्रश्न वजनदार हैं। ऐसे प्रश्नों से जागरूक शोधार्थीजन की मानसिक निष्कपटता तो प्रकट होगी ही; साथ में **शोध-प्रक्रिया भी अधिक-से-अधिक सरल और सटीक हो जाएगी।** एतन्निमित्त निवेदन है—

इसी अध्याय के विशिष्ट भाग में, भारतीय संस्कृति में कुषाणवंश का योगदान के अन्तर्गत '**धर्म**' एक अनुच्छेद लिख आए हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि इतिहास के लम्बे-चौड़े आयाम में 'कुषाणयुग' ही **दार्शनिक विकास का श्रेय अर्जित करता हुआ**—दीख पड़ा है। कुषाणयुग से पहले 'मौर्ययुग' [३४२ ई० पू० से २०० ई० पूर्व तक]

बौद्ध-धर्म के प्रचार में अग्रणी रहा है । **प्रचार का अर्थ-विकास नहीं होता** । मौर्य युग में भारतीय दार्शनिक चिन्तन का उल्लेखनीय स्थान नहीं है । मौर्ययुग की प्रचारात्मकता से उक्त दार्शनिक विकास की भूमि अवश्य तैयार हो गई—यह मान लेना उचित है । इस विचार से 'मौर्ययुग' की अहमीयत कम नहीं हो जाती, अलबत्ता उसका रंग ज़रूर बदल जाता है । **सचमुच दार्शनिक विकास की दृष्टि से 'कुषाणयुग' को 'स्वर्णयुग' का कहना अधिकतम यथार्थ है।** कुषाणयुग में [७१ ई० पू० से ईसवी ९९ तक] बौद्धधर्म का विकास हुआ—यह तो सर्व स्वीकृत सिद्धान्त है—इसमें कोई चमत्कार भी नहीं है; **चमत्कारपूर्ण बात यह है कि अद्वैत दर्शन का पूर्ण विकास इसी कुषाणयुग [४४ ई०पू० से १०० ईसवी तक] में संभव हुआ ।** 'ब्रह्मसूत्र' का आविर्भाव सप्तर्षिसंवत् १००० = ३१६३ ई० पूर्व में बादरायण व्यास द्वारा हुआ । समय-समय पर 'ब्रह्मसूत्र' के व्याख्यातृ-जन-जैसे कि बोधायन, उपवर्ष, ग्रहदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, भर्तृमित्र और भर्तृप्रपंच प्रभृति आचार्य-हुए; परन्तु अद्वैतवाद की परिपक्वता, योजनाबद्ध प्रसार और प्रचार तथा मठाम्नाय-शृंखला तो **आद्य शंकराचार्य [४४-१३ ई० पूर्व]** के आविर्भाव से बनती है । यही इतिहास है । १०० ई० पू० से १०० ईसवी तक भारत में शासन कर रहे राजाओं में वैदिक धर्मानुयायी राजा नहीं थे—यह कहना तो ठीक न होगा; परन्तु यह कहना भी बहुत जरूरी है कि तत्कालीन राजाओं का अस्तित्व कुषाण वंशी राजाओं के सामने प्रभावहीन नज़र आते हैं । राजा सुधन्वा का उल्लेख ज़रूर मिलता है । पर 'इतिहास' ने उसे 'शलाका पुरुष' कहाँ स्वीकारा है ? इतिहास के सच्चे अर्थों में उल्लेखनीय राजा '**हाल**' का अस्तित्व शंकर-युग के गौरव को बढ़ाता है; परन्तु **राजा हाल भी तो कुषाणयुग का कीर्ति-स्तम्भ है**; दूसरी बात—**राजा हाल का अभ्युदय : २० ई० पूर्व का होने से इतना महत्त्वपूर्ण नज़र नहीं आता, जितना कि उसे होना चाहिए** । एक तो उस समय भगवान् शंकराचार्य नेपाल-यात्रा के लिए निकल चुके थे; दूसरा, जब थक-थकाकर भगवान् शंकर वापस लौटे तो महाराजा हाल शालिवाहन-विक्रमादित्य के सहयोगी बनकर रन-कच्छ में युद्ध तत्पर थे । यहाँ कहने का सारांश यह है कि कुषाणयुग में उद्दीप्त और सक्रिय बौद्धधर्म के दार्शनिक विद्वानों को जहाँ कुषाण-शासन का प्रश्रय प्राप्त था, उनकी तुलना में **अद्वैत-दर्शनवाद स्वतः स्फूर्त था और राजसत्ता के आश्रयाभाव में भी ऊर्जस्वित था**; फिर भी अद्वैत सिद्धान्त के विकास का श्रेय कुषाण-राजाओं को न मिलने पर भी परोक्षरूप से कुषाणयुग को जाता है । अगर किसी को हमारे कथनपर विश्वास न हो, वह राजशेखर की इस पंक्ति के—

"वासुदेव-हाल-शूद्रक-साहसांङ्क" अनुसंन्धान में जुट जाये ।

अब असली मुद्दे पर आते हैं । कुषाण युग में बौद्ध दार्शनिक विद्वानों का जमघट जुड़ गया था । ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे जा रहे थे । उन बौद्ध दार्शनिकों की सूची इस प्रकार है—

१. अश्वघोष	६. असंगभद्र	११. दिङ्नाग
२. नागार्जुन	७. आर्यदेव	१२ चन्द्रकीर्ति
३. नन्दीश्वर	८. कुमारजीव	१३ भाव विवेक
४. वसबन्धु	९. बुद्धघोष	१४ धर्मकीर्ति
५. असंग	१०. बुद्धपालित	१५ गुणमति ।

—वेदान्त दर्शन का इतिहास; पृष्ठ४०६

यह नामावलि सचमुच इसी क्रम से है, अथवा इसमें संशोधन का अवकाश है—ये सब बातें विवादास्पद हैं । इसका समय-निर्धारण भी मिथ्यावधारणाओं पर टिका हुआ है । सच कहूं—**बौद्ध दार्शनिक विद्वानों का इतिहास फिर से लिखने की ज़रूरत है** । ज्यों-ज्यों इन दार्शनिक विद्वानों का इतिहास उजागर होगा, त्यों-त्यों भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति स्पष्ट से स्पष्टतर हो जाएगी ।

इस समय तक प्रचलित बौद्ध दार्शनिकों का समय अनुसन्धायक समाज के सामने है और उस पर आचार्य उदयवीर शास्त्री की बेतुकी टिप्पणी पढ़ने को मिली है, उस पर एक नज़र—

दार्शनिकों के नाम	पाश्चात्य अभिमत	उदयवीर शास्त्री
१. अश्वघोष,	७८ ईसवी सन्	१२५० ई० पू०
२. नागार्जुन	१५० ईसवी	१२०० ई० पू०
३. नन्दीश्वर	१७० "	११५० ई० पू०
४. वसुबन्धु	२८०-३१० ईसवी	११०० ई० पू०
५. असंग	३२०-३३० ईसवी	१०७५ ई० पू०
६. असंगभद्र	३२० ई०	१०५० ई० पू०
७. आर्यदेव	३५० ईसवी	१००० ई० पू०
८. कुमारजीव	३८० ईसवी	९०० ई० पू०
९. बुद्धघोष	४०० "	८६० ई० पू०
१०. बुद्ध पालित	४०० "	८५० ई० पू०
११. दिङ्नाग	४८० "	७४० ई० पू०
१२. चन्द्रकीर्ति	५५० "	६६० ई० पू०
१३. भावविवेक	६०० ईसवी	६०० ई० पू०
१४. धर्मकीर्ति	६३५ "	५५० ई० पू०
१५. गुणमति	—	—

—वेदान्त दर्शन का इतिहास : पृष्ठ ४१४

इस पर टिप्पणी लिखना सार्थक नहीं है। परन्तु अनुसन्धान-किरकिरी से परेशान हम कुछ तो लिखेंगे ही। यथा—

१. अश्वघोष

संस्कृत का महाकवि तथा बौद्ध दर्शन का अप्रतिम विद्वान् 'अश्वघोष' कुषाणयुग की अमर देन है। जब तक इतिहास है, जब तक कुषाणयुग की स्मृति तरोताज़ा है, तब तक 'अश्वघोष' की चर्चा बनी रहेगी। हमने भारत में कुषाण-शासन का आगमन ७१ ईसवी पूर्व से स्थापित माना है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने १२० ईसवी सन् में अश्वघोष की स्थापना मानी है, कुछ ने ७८ ई० सन् भी स्वीकारा है। इस अभिमत के पीछे उनकी छल-छिद्र बहुल कुषाण विषयक सोच है। हम इन पाश्चात्य विद्वानों को इतना गया बीता भी नहीं मानते, जितना कि संस्कृत के विद्वान् उन्हें मान रहे हैं। **हमारी विचारधारा कुछ अलग-सी है**। जब हमने जैन-साहित्य के बलबूते पर **कुषाणयुग को ई० पू० ७१ से ईसवी सन् ९९** तक स्थापित किया है, तब कुषाणयुग की अमर सम्पदा 'अश्वघोष' को यथास्थान अवस्थित रखना अनिवार्य हो गया था; ऐसा किया भी है। परन्तु उदयवीर शास्त्री का कथन किसी भी सूरतेहाल में मानने योग्य नहीं है। श्री शास्त्री जी ने अश्वघोष का समय १२५० ई० पूर्व घोषित किया है; वह सर्वथा निराधार प्रतीत होता है। **पुराण शास्त्रों का परिशीलन करते हुए हमें लगा कि भगवान् बुद्ध को १२५० ईसवी पूर्व में बोधिलाभ हुआ था**। हमारी इस स्थापना के पीछे जैन-साहित्य है और महावंश भी है। हमने भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध तथा अजातशत्रु की सम्मिलित तिथितालिका तैयार की है, जो इस प्रकार है—

महावीर स्वामी/ गोशाल	ईसवी पूर्व	भगवान् बुद्ध / अजातशत्रु
महावीर स्वामी का जन्म	१२९८	——
——	१२७६	महात्मा बुद्ध का जन्म
महावीर स्वामी की दीक्षा	१२६९	——
——	१२५६	महात्मा बुद्ध का गृहत्याग
——	१२५० (राजगृह)	महात्मा को बोधिलाभ
महावीर स्वामी का वर्षावास	१२४३	**महात्मा बुद्ध का वर्षावास**
महावीर स्वामां का निधन	१२२७	———
——	१२१२	महात्मा बुद्ध का निधन
——	११९६	**अजातशत्रु का निधन**

—परिषत् पत्रिका : वर्ष २६/अंक १/१९८६

विवेकशील विद्वान् स्वयं विचार करें—१२५० ई० पू० में उधर महात्मा बुद्ध को बोधिलाभ हुआ और इधर [मथुरा में] अश्वघोष बौद्ध दर्शन के निष्णात विद्वान् हो गए। **'चपलातिशयोक्ति' काव्यक्षेत्र में अलंकार है और इतिहास क्षेत्र में दोष है।** आचार्य उदयवीर शास्त्री की मान्यता कहाँ टिकती हुई नज़र आती है—इस पर कोई भी आसानी से सोच सकता है।

२. नागार्जुन—

पाश्चात्य विद्वानों ने नागार्जुन का समय १५० ईसवी सन् माना है। ऐसा मानना उनकी परवश-अनुसन्धान-प्रक्रिया का दोष है। वे तो ऐसा लिखेंगे ही। पाश्चात्य अभिमत पर बार बार लिखना हमारे लिए रुचिकर नहीं। पर उदयवीर शास्त्री कहाँ भटक गए? यहाँ हमारे चिन्तन और चिन्ता का विषय यही है। अगर वे इस विषय पर पण्डित भगवद्दत्त बी० ए० के [भारत वर्ष का बृहद् इतिहास/ भाग २/ पृष्ठ २९७] को समझने का यत्न कर लेते, तो अच्छा रहता। पं० भगवद्दत्त लिखते हैं—

समकालिक शातकर्णि — **श्रीकालकाचार्य** —समय ई० पू० ७५ ई० सन्२०

↓

शकारि-शूद्रक-सातवहन — **पादलिप्तक**

↓ ↓

तिब्बत के ग्रन्थों के अनुसार कालिदास-नागार्जुन-सातवाहन —समकालिक हैं। — **स्कन्दिलाचार्य**

↓

सिद्धसेन दिवाकर — **श्रीविक्रमादित्य का समकालीन**

हम चाहते हैं—विद्वज्जन एक बार विहंगम-दृष्टि से 'कुषाण युग' को देख लें। तब उपरोक्त काल-चित्र को समझने में आसानी होगी।

[*] कालकाचार्य गर्दभिल्ल के दण्डनार्थ कुषाणवंश को भारत लाये—यह हम पढ़ चुके हैं। कुषाणों का आगमन (आक्रमण) काल ७३-७२ ईसवी पूर्व है।

[*] कालक-कथाओं में यह आम चर्चा का विषय है कि किसी सातवाहन राजा ने गर्दभिल्ल के अपराध के विपरीत दण्ड-प्रक्रिया से मुक्त हुए **कालकाचार्य** को चतुर्थी व्रत पारायण के लिए राजभवन में आमन्त्रित किया। प्रश्न होता है—यह शातकर्णि कौन है? **वह कुन्तल सातकर्णि है, जिसका समय ३७०८ सप्तर्षि संवत् = ६८ ईसवी पूर्व का है।** हाल का युग इसके बाद आता है।

[—] ये तीनों पादलिप्तक के समकालीन हैं। पादलिप्तक कालकाचार्य के पट्टधर [शिष्य] हैं। हमने इनका समय ७० ईसवी सन् स्वीकारा है। तीन राजा समकालिक पहले स्तर पर हैं। यथा—

७० ईसवी	**—क्षीरस्वामी का कथन—**	**७० ईसवी**
साहसाङ्कः शकान्तकः	शूद्रकस्त्वग्निमित्राख्यः	हालः स्यात् सातवाहनः
वासुदेव-हाल-शूद्रक-साहसांक		↓
७८ ईसवी		७८ ईसवी

और चार समकालिक राजा परवर्ती हैं। गौर तलब है—पूर्ववर्ती समकालिक राजाओं में **वासुदेव [कुषाण-राजा]** का नाम नहीं है। स्पष्टतया विदित होता है—चार समकालिक राजाओं से पहले पादलिप्तक दिवंगत हो चुके थे।

[] हमने कालिदास को अश्वघोष से परवर्ती समय का माना है। स्पष्ट हो—**अश्वघोष, प्रथम कनिष्क का समकालीन है** और कालिदास द्वितीय कनिष्क का समकालीन है। तिब्बत की परम्पराएँ कालिदास-**नागार्जुन**-सातवाहन हाल का समकालीन मानते। यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि नागार्जुन का समय ८० ईसवी पर्यन्त है। कहाँ ८० ईसवी का नागार्जुन? कहाँ उदयवीर-सम्मत १२०० ईसवी पूर्व का नागार्जुन?

[] सिद्धसेन दिवाकर, श्रीविक्रमादित्य का समकालीन है। श्रीविक्रमादित्य [शकारि] का निधन १०० ईसवी का है। हमारा अनुमान है सिद्धसेन दिवाकर का समय ९०-१२० ईसवी सन् है। सिद्धसेन दिवाकर कालकाचार्य से पांचवाँ शिष्य है। औसतन ४० वर्ष प्रतिपीढ़ी के अनुपात से २००-१२० = ८० ईसवी सन् में सिद्धसेन दिवाकर का होना संभव है। कारण-भृगुकच्छ का राजा बलमित्र १२०-[६० + ६०] ईसवी पूर्व तक सत्तासीन था। मामा होने के नाते कालकाचार्य उससे कुछ बड़े ही थे। आश्चर्य है—नागार्जुन भी कुषाणयुग का बौद्धाचार्य निकला!

अथ मीमांसा (१)

कालकाचार्य को व्रत-पारायण के लिए अपने राजभवन में बुलाने वाला सातवाहन महाराजा 'हाल' नहीं है। कारण, कालकाचार्य के भागिनेय बलमित्र के पुत्र भानुमित्र को **शालिवाहन और हाल ने मिलकर २० ई० पूर्व में** हराया था। समय की विषमता के अतिरिक्त राजनीतिक वैमनस्य-युग-प्रधान कालकाचार्य तथा हाल को अलग-थलग ही रखते हैं। परन्तु कुछ कालककथा प्रणेता वीर-निर्वाण संवत् ९९३ = २३४ ई० पूर्व की बात करते हैं। जैसे कि—

[क] वीरनिर्वृतेः नवसु वर्षशतेऽषु अतीत्या त्रिनवत्या वाधिकेषु इयं वाचना जाता।

—कालककथा-संग्रह, पृष्ठ १७० टि०

[ख] वीरात् ९९३ चतुर्थ्यां पर्युषणाकारकोऽन्यः कालिकाचार्यः ।

—पूर्वोक्त, पृष्ठ १४८,

इस कालकाचार्य का समकालीन श्रीमल्लशातकर्णि द्वितीय है । यदि गद्र्दभिल्ल से रुष्ट कालकाचार्य ही अत्र आदेय है, तब प्रतिष्ठानपुर का राजा कुन्तल शातकर्णि ही ग्राह्य है; शालिवाहन अथवा हाल-सातवाहन यहाँ बिल्कुल अप्रासंगिक हैं ।

अथ मीमांसा [२]

राजतरंगिणी में भी एक नागार्जुन हैं । आचार्य उदयवीर शास्त्री अपनी ऐतिह्य अनभिज्ञता से बचने के लिए उस नागार्जुन की ओट लेते हैं । हम 'राजतरंगिणी' के नागार्जुन को पहचानते हैं । वह बौद्ध ज़रूर है, उसने काश्मीर में बुद्ध-विहार भी बनवाए हैं । परन्तु **उक्त नागार्जुन अभिमन्यु का समकालवर्ती छोटा मोटा राजा मात्र है । वह बौद्ध दार्शनिक विद्वान् नहीं है** । उसका समय भी १००० ईसवी पूर्व के आसपास में पड़ता है । राजतरंगिणी का नागार्जुन बौद्ध इतिहास में नगण्य स्थान पर है ।

उपसंहार

द्वितीय अध्याय को हमने ऐतिह्य पृष्ठभूमि के रूप में चुना है । इसके प्रथम भाग में एक केन्द्रीय राजावली है—**जो चन्द्रगुप्त मौर्य से आरम्भ होती है और उसका अन्त कुमारगुप्त द्वितीय तक अक्षुण्ण है** । केन्द्रीय राजावली के पार्श्व में प्रतिष्ठानपुर के आन्ध्रराजाओं की सूची है; और उज्जयिनी के इतर पार्श्व में मौर्यवंश-गर्दभिल्ल वंश-शकवंश की राजावली का उल्लेख है ।

ऐतिह्य पृष्ठभूमि के द्वितीय भाग में कुषाणयुग का पूरा इतिहास है । पाश्चात्य विद्वान् 'कुषाणयुग' की अहमीयत समझते थे । यह अलग बात है—वे कुषाणयुग को ठीक ढंग से स्थापित नहीं कर सके । हमने **कुषाणवंश का पुनर्वास किया है, ताकि कुषाणयुग की पहचान बनी रहे** । चूंकि भारत के 'दर्शन-शास्त्र' का इतिहास कुषाणयुग में सिमटा हुआ है—अतः उसका उद्घाटन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना हमें उचित लगा, लिखा है । चूँकि अद्वैत-सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन से भी प्राचीनतम है, समय पाकर उसका पुनर्जागरण नैसर्गिक था, हुआ । और हम—**अद्वैत-दर्शन के पुनर्जागरण का श्रेय भगवान् शंकराचार्य को मिल रहा है और सौभाग्यवश भगवान् शंकर कुषाणवंश में अपना स्वर्णिम स्थान बनाए हुए हैं**—यह देखकर कैसे तटस्थ रह सकते थे ? सो हम ने बड़ी तामझाम के साथ कुषाणयुग का इतिहास फिर से लिखा है । विश्वास है—इतिहास-धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् हमारी इस चपलता का स्वागत करेंगे ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीय अध्याय

निरस्त पूर्वपक्ष

जैसा कि अनुसन्धान का नियम है, पहले पूर्वपक्षपर सांगोपांग विचारना एक उत्तम अनुसन्धान-प्रक्रिया है। **हम भी इस प्रक्रिया का पालन कर रहे हैं**। हम सखेद लिख रहे हैं—पूर्वपक्ष किसी एक बिन्दु पर टिका हुआ नहीं है। विपक्ष के 'बिन्दु' अनेक हैं, उसके व्याख्याता भी अनेक हैं। **अगर पूर्वपक्ष किसी एक बिन्दु पर मतैक्य धारणकर टिक जाय! वह सिद्धान्तपक्ष पका-पकाता है ही। विवेच्य बिन्दु की विविधता ही पूर्वपक्ष की सही पहचान है**। भगवान् शंकराचार्य का तिथिनिर्धारण करता 'एक पूर्वपक्ष' भी दो शिविरों में बँट गया है। एक पक्ष—वह है, जो आद्य शंकराचार्य की जन्म तिथि [जो भी हो] डंका बजाकर घोषित करता है, परन्तु भगवान् के निर्वाणवर्ष पर मौन नज़र आता है। इसके विपरीत **दूसरा पक्ष**—वह है, जिसके पास भगवान् शंकराचार्य का निधनवर्ष पूर्णतया सुरक्षित है, परन्तु उनके जन्मवर्ष पर, वह चुप्पी साधे हुए हैं। **चूंकि लोक-विश्रुति में आद्यशंकराचार्य का वयोमान ३२ वर्ष पक्के तौर पर परम्परागत है,** इसका सहारा लेकर एक पक्ष भगवान् शंकराचार्य का निधनवर्ष कूत-कातकर बता देता है। यही स्थिति दूसरे पक्ष की भी है। ऐसा कोई विपक्ष हमारे सामने नहीं है—जो डंका बजाकर उभय तिथियों का [जन्म और निधन] स-विश्लेषण, सयुक्तिक और सप्रमाण विवरण दे सके।

भगवान् शंकर का 'जीवन विषयक' अध्याय लिखने वाले अनल्प हैं। विचार-विमर्श के लिए किसे लें, किसे न लें, यह दुविधा हमारे सामने हमेशा रही है। **और-तो-और, एक समय था, जब हम भी एक पक्षधर थे; अनुसंधान के वशीभूत हमने अपने-आपको पूर्वपक्ष में खड़ा कर दिया है**। अनुसन्धान-पटल पर हम कितने पापीयान् है? और कितने आचारवान् हैं? यह निर्णय हमारा विवेकधनी पाठक ही करेगा। पुनरपि भगवान् शंकराचार्य के सशक्त विपक्षी काल-चिन्तकों में से कुछ गिने चुने नाम ही सामने रखकर विचार-विमर्श किया है। पूर्वपक्ष के तथ्यों, तर्कों तथा साक्ष्यों का मूल्यांकन करते हुए हम उनके प्रति कितना न्याय कर सके हैं? अथवा हमसे उनके प्रति- चाहते हुए भी—कितना अन्याय हो गया है?—**इन प्रश्नों का उत्तर केवल इतिहास के पास है**। समय आने पर उसके अभिज्ञान से सब सहमत होंगे। इति।

आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री

भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारण में आचार्यश्री उदयवीर शास्त्री ने घनघोर परिश्रम किया है। उन्होंने एक अद्वितीय ग्रन्थ लिखा है—**वेदान्तदर्शन का इतिहास**। रचना का अधिकांश भाग आदि शंकराचार्य पर लिखा है। यथा—

१. दशम अध्याय : आचार्य शंकर और उसकी गुरु-परम्परा।

२. एकादश अध्याय : आचार्य शंकर का काल।

३. द्वादश अध्याय : आचार्य शंकर क उक्त काल में आपत्ति विवेचन।

४. त्रयोदश अध्याय : आचार्य शंकर और बौद्ध दार्शनिक।

५. चतुर्दश अध्याय : भगवान् बुद्ध और बौद्ध दार्शनिकों का काल।

—पृष्ठ २८५ से ४३८ तक

हम इस ग्रन्थ की मुक्तकंठ से स्तुति करते हैं। इस विषय पर इतना सांगोपांग विवेचन अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। **परन्तु इतने विस्तृत आयामी विवेचन के बाद भी वांछनीय परिणाम नहीं मिला, जिसके प्रति उत्कण्ठा थी।** उनके सभी निर्णय एकांगी और अधूरे रह गए हैं। इसका जो कारण हमें सूझ रहा है, **वह है आचार्यश्री अपरिभाषित युधिष्ठिर-संवत् पर जरूरत से ज्यादा ध्यान केन्द्रित करना है और येन-केन प्रकारेण भगवान् शंकर का काल ५०९ ईसवी पूर्व स्थिर करना है।** आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री संस्कृत के शिखामणि पण्डित हैं। इस पाण्डित्य के बल बूते पर उन्हें 'इतिहास' जैसे दुर्गम विषय में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं मिल जाता। श्री शास्त्री जी ने यही किया है। आचार्य शंकर को **ईसवी-पूर्व ५०९-४७७** में प्रतिष्ठित कर देने से न तो इतिहास के साथ उसकी संगति' बैठी है और न ही आचार्य शंकर की छवि में निखार आया है। इससे आचार्य शंकर उपहासास्पद हो गए हैं और श्रीशास्त्री स्वयम् ओछेपन के शिकार हुए हैं। आचार्यश्री शास्त्री ने अपने मन्तव्य को मूर्तरूप देने के लिए **'युधिष्ठिरसंवत्'** का अवलम्बन लिया है, जिसका अस्तित्व संदिग्ध है। श्रीशास्त्री जी ने महाराजा युधिष्ठिर का अभिषेक काल [?] स्वयं निर्धारित नहीं किया; बल्कि पं० भगवद्दत्त बी० ए० द्वारा बताए ३१३८/३७ ईसवी पूर्व में संशोधित करके उसे **३१४० ई० पू०** बना डाला है। आखिर क्यों ? इसलिए कि मूंछ का बाल ऊँचा रहे। श्रीशास्त्री जी का एतद्विषयक वक्तव्य इस प्रकार है—

"आचार्य शंकर के प्रादुर्भावकाल के विषय में आधुनिक इतिहास-लेखकों का ऐकमत्य नहीं है। मध्यकालिक जिन आचार्यों ने अपनी रचनाओं में रचनाकाल का निर्देश किया है, आधुनिक पाश्चात्य ईसाई लेखकों द्वारा उनके निर्देशों को भी संदिग्ध बनाए जाने का प्रयत्न हुआ है। अनेक भारतीय लेखकों ने अपनी परिस्थिति का ध्यान रखते हुए उन्हीं का अन्धानुकरण किया। फिर जिन प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं में अपने अथवा अपनी रचना आदि के काल का कोई निर्देश नहीं किया, उसके विषय में तो कहना ही क्या ?

शंकर महान्—आचार्य शंकर हमारे देश का एक महान् व्यक्ति हुआ है, जिसने अपने अनुपम वैदुष्य एवम् अध्यात्मसाधना के बल से भारतीय विद्वत्समाज के पूर्व प्रवृत्त विचार प्रवाह को बदल डाला। आज न केवल भारत का, अपितु समस्त संसार का विद्वत्समाज उसकी विद्वत्ता, विचारशैली एवम् उसके स्थापित सिद्धान्तों के प्रति नतमस्तक है। ऐसे मूर्धन्य लोककर्ता नेतृ-पुरुष के विषय में विद्वत्समुदाय सन्दिहान है, कि उसका प्रादुर्भाव कब हुआ ? वस्तुतः देखा जाय, तो अभी तक सन्देहों को दूर करने की जगह उनको बढ़ाने की दिशा में अधिक कार्य होता रहा है। जब आचार्य के आविर्भाव के विषय में सन्देहजनक अनेक विकल्प प्रस्तुत कर दिये गये, तब अनन्तरवर्ती लेखकों ने उनकी गणना कर देने में ही अपना कल्याण समझा, उनका विवेचन कर अन्तर्हित तथ्य को खोजने का बहुत कम प्रयास हुआ। जो सत्प्रयास थोड़ा-बहुत इस दिशा में हुआ भी, उसकी ओर—ऐसे विषयों में अपने आपको ठेकेदार मानने वालों ने—कभी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। वे पाश्चात्य ईसाई विद्वानों द्वारा इस विषय में किये गए निराधार मिथ्या प्रलापों को पत्थर की लकीर समझ कर निश्चिन्त बैठे हैं, उन्हीं के हाथ में आज वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई विचार प्रचार-प्रसार पा जाते हैं।

"शंकर-चरित्र के लिए प्रयास—शंकर के जीवन के विषय में लिखने की प्रवृत्ति आरम्भिक काल से विद्वानों में रही है। कहा जाता है—आचार्य के शिष्य पद्मपाद ने आचार्य के दिग्विजय आदि का वर्णन अपने 'विजयडिण्डिम' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया था; पर दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। अन्य परवर्ती विद्वानों द्वारा

लिखे गये शंकर-जीवन सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, पर मुद्रित रूप में दो-चार ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। मठों एवं चरितग्रन्थों की तथा समस्त साहित्य में बिखरी आचार्य विषयक अन्य-सामग्री को सम्मुख कर उसके काल-विवेचन में पूर्ण प्रयास अभी तक नहीं हुआ, सत्य के प्रकाश के लिए जिसकी अतिशय अपेक्षा है। यह कार्य साधन-सम्पन्न संस्थानों द्वारा किया जा सकता है।"

"हमारा विचार है—शंकरकाल-विषयक उपलब्ध सामग्री में आचार्य-संस्थापित मठों की सुरक्षित सामग्री को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए। मठों की अधिकतर सामग्री स्वाभाविकरूप से घटनाक्रम के अनुसार प्रस्तुत की जाती रही है; उसमें किसी निमित्त विशेष को लेकर अन्यथा लिखे जाने की संभावना कम रही हैं। यदि कहीं अन्यथा लेख हुआ है, तो अन्य प्रामाणिक आधारों पर उसका संशोधन अनायास संभव है। सर्वप्रथम यहां मठों की सुरक्षित सामग्री को प्रस्तुत कर देना उपयुक्त है। उसके आधार पर अन्य सामग्री-समूह का विवेचन व सन्तुलन सुगम होगा"।

"**आचार्य के मठों की परम्परा**—आचार्य के मठों में प्रत्येक मठ के आज तक के शंकराचार्यों की नामावली तथा उनके पीठाध्यक्ष-काल का निर्देश उपलब्ध है। उसके अनुसार शारदापीठ की वंशानुमातृका में सर्वप्रथम आद्य आचार्य शंकर का विवरण इस प्रकार है—

जन्म—वैशाख शुक्ल पंचमी, २६३१ युधिष्ठिर-संवत्

उपनयन—चैत्र शुक्ल नवमी, २६३६।

संन्यास—कार्तिक शुक्ला एकादशी, २६३९, आरम्भ

शिक्षा (गोविन्दपाद से)—फाल्गुन शुक्ला द्वितीया, २६४० तक

भाष्यादि रचना—(बदरिकाश्रम में)—ज्येष्ठ वदि अमावास्या, २६४६ तक

ज्योतिर्मठनिर्माण—इसी अन्तराल में

मण्डनमिश्र से वाद—मार्गशीर्ष वदि तृतीया, २६४७

(यह वाद कई मास चला)

शारदामठस्थापन—कार्तिक वदि त्रयोदशी, २६४८

शृंगेरीमठनिर्माण—फाल्गुन शुक्ला नवमी, २६४८

मण्डन का संन्यासग्रहण—(सुरेश्वराचार्य नाम)—चैत्र शुक्ला नवमी, २६४९

सुधन्वा राजा से सम्पर्क—मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी, २६४९

सुरेश्वराचार्य का शारदापीठाभिषेचन—माघ शुक्ला सप्तमी, २६४९

दिग्विजयारम्भ—वैशाख शुक्ला तृतीया, २६५०

दिग्विजय प्रसंग के अन्तराल में अन्य कार्य—

त्रोटक का आना—श्रावण शुक्ला सप्तमी, २६५३

हस्तामलक का आना—आश्विन शुक्ला एकादशी, २६५४

त्रोटक का ज्योतिर्मठ में
हस्तामलक का शृंगेरी में } अभिषेचन संकेत—पौष शुक्ला पौर्णमासी, २६५४

गोवर्द्धनमठस्थापन—वैशाख शुक्ला दशमी, २६५५

पद्मपाद का वहां अभिषेचन—वैशाख शुक्ला दशमी, २६५५

दिग्विजय कार्य— } भाद्र पौर्णमासी, २६५५ से
काश्मीर में शारदापीठवास— } पौष अमावस्या, २६६२ तक

देहावसान—कार्त्तिक पौर्णमासी, २६६३।

"**शंकर का जन्म व आयुमान**—इस विवरण के अनुसार साधारण स्थूलमान से आचार्य शंकर का आयुमान ३२ वर्ष, ६ मास, १० दिन होता है। शंकर का जन्म २६३१ युधिष्ठिर संवत् में बताया है। युधिष्ठिर संवत् कलिसंवत् से ३८ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ युधिष्ठिर का राज्याधिरोहणकाल है। ३६ वर्ष युधिष्ठिर ने राज्य किया, उसके दो वर्ष अनन्तर कलि का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार ख्रीष्ट संवत् प्रारम्भ होने से ५०९ वर्ष पूर्व शंकर का जन्मकाल अथवा प्रादुर्भावकाल आता है। आचार्य के आयुमान के लगभग ३२ वर्ष, जन्मकाल की वर्ष संख्या में कम करने पर [५०९—३२ = ४७७] ईसा पूर्व ४७७ में आचार्य का अवसानकाल आता है"।

अथ मीमांसा [१]

आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री अपने ही कथन पर खरे नहीं उतर रहे; दूसरे लेखकों पर वे अंगुली कैसे उठा सकते हैं? यथा—

एक : शास्त्री जी लिखते हैं—'आचार्य शंकर के प्रादुर्भाव काल के विषय में आधुनिक इतिहास लेखकों का ऐकमत्य नहीं है।' एतद्विषयक विविध मतों में श्रीशास्त्री जी का एक मत शामिल हो गया है। इससे समस्या बढ़ी है, उसमें कमी नहीं आई है।

दो : श्रीशास्त्री जी का यह कथन—"वे पाश्चात्य ईसाई विद्वानों द्वारा इस विषय में किए गए निराधार मिथ्या प्रलापों को पत्थर की लकीर समझ कर निश्चिन्त बैठे हैं, उन्हीं के हाथ में आज वह शक्ति है, जिनके द्वारा कोई विचार प्रचार-प्रसार पा जाते हैं।"—भी बेतुका और बेमानी है। आचार्य शंकर के बारे में ये प्रसिद्ध श्लोक—

१. प्रासूत तिष्यशारदामतियातवत्याम्—

२. जाया सती शिवगुरोः निजतुंगसंस्थे—

३. ऋषिर्वारस्तथा भूमिः—

४. निधिनागेभ वह्न्यब्दे विभवे मासि माधवे—

ये सब ईसाई विद्वानों की छन्दोरचनाएँ नहीं हैं। फिर अकारण ईसाई विद्वानों को ठेल-ठाल कर प्रासंगिक बनाने का क्या लाभ? क्या इसीलिए कि जनता की संवेदनशीलता को उभारकर आप अपनी अहमीयत का ढिंढोरा पीट सकें?

तीन : भगवान् शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों में उपलब्ध सामग्री की चर्चा करते हुए शास्त्री ने लिखा है—"आचार्य संस्थापित मठों की सुरक्षित सामग्री को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।" शिकायत तो इसी बात की है कि **श्रीशास्त्री जी ने शृंगेरीमठ में वर्तमान दस्तावेज़ का कहीं उल्लेख तक नहीं किया;** आखिर क्यों?

जहाँतक हमने सुना है—शृंगेरीमठ में सुरक्षित दस्तावेज़ों में **(१) विक्रम-अभिषेक काल १४ वर्ष (२) सुरेश्वराचार्य का प्राचार्यत्वकाल शककाल ६९५ वर्ष**—उल्लिखित है। चूंकि श्रीशास्त्री जी बलपूर्वक आदि शंकराचार्य को ५०९ ई० पू० रखना/ देखना चाहते थे, अतः उन्होंने जानबूझ कर इन दस्तावेज़ों की उपेक्षा की है।

युधिष्ठिर-संवत् [?]

युधिष्ठिर-संवत् की आधारशिला है—**भारत-संग्राम के विजयी महाराजा युधिष्ठिर का अभिषेक वर्ष**। इस पर भारत के मनीषी-समाज ने जरूरत से ज्यादा हो-हल्ला मचा रखा है। मनीषी समाज ने 'भारत-संग्राम' को इतिहास की दृष्टि से कभी नहीं देखा; बल्कि उसे तमाशा समझ कर उस पर विचार किया है; अन्यथा 'भारत -संग्राम' पर इतने मतभेद होने का क्या मतलब ? जैसा कि कोल्हापुर के श्रीराम साठे ने आकलन[१] किया है—

ई० पू० का वर्ष :		निर्णायक	ई० पू० का वर्ष :	निर्णायक
६२२८	—	श्री बी० आर० लेले	३१४०	—राम एस० वी०
६०००	—	व्हीलर.	३१४०	**—उदयवीर शास्त्री**
५५६७	—	बी० वी० वर्तक	३१३८	— देवकर्णी, वेदव्यास ई०
५०००	—	जे० बी० मोडक	३१३७	— देवसहाय त्रिवेद,
३४७५	—	स्वामी महादेवानन्द गिरि	३१३६	— भगवद्दत्त बी.ए.
३२०१	—	डी० आर० मनकड़	३१३५	—वेदानन्द विद्यावागीश
३२००	—	बनी देशपाण्डे	३१०२	— गौरीशंकर आचार्य
३१८५	—	जी० एस० आप्टे	३१०१	— बाबू वृन्दावन दास
३१५२	—	नृसिंहस्वामी S.P.L.	२४४८	— अबूरिहाँ अलबेरूनी
३१४८	**—**	**चन्द्रकान्त बाली**		

युधिष्ठिर-संवत् के लिए समस्या खड़ी हो गई, किसे सही मानें और किसे गलत ? इस विषम स्थिति में **भगवान् शंकर का समय** हमेशा झूले पर ही रहेगा। जैसे—

६२२८ ई० पूर्व	३१४० ई० पू०	२६३१ यु० संवत्
२६३१ यु० संवत् =	२६३१ यु० संवत् =	२४४८ ई० पू०/ यु० सं०
३५९७ ई० पू० शंकराचार्य का जन्म	५०९ ई० पू०	१८३ ईसवी ?

प्रश्न पैदा होता है कि इनमें से किस पक्ष को अधिमान दें ? आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री के मन्तव्य में ऐसा कौन सा जादू है ? जो उसे सभी निर्णीत वर्षों में प्रथम रेखापर पहुंचा दें। हम दूसरों की बात नहीं करते; हम स्वयं महाराजा युधिष्ठिर का 'अभिषेक-पर्व' दो बार हुआ मानते हैं—**प्रथमतः सत्ता-विभाजन के पश्चात् ३१८८ ई० पूर्व में; परतः भारतसंग्राम-विजय के उपलक्ष्य में ३१४८ ई० पूर्व में;** इनमें से किस बिन्दु से गिनकर शंकराचार्य का समय स्थिर करें ? ऐसी विषम स्थिति में इस समस्या का समाधान क्या होगा ? यथा—

युधिष्ठिर संवत्०० = ३१८८ ई० पूर्व	**यु० संवत् ०० = ३१४८ ई० पूर्व**
—२६३१ =	—२६३१ =
५५७ ई० पू०	५१७ ई० पूर्व—

१. —Sareh for the year of mahabharat war, पृष्ठ ३४-३८

भगवान् शंकराचार्य का समय-निर्धारण अपनी प्रतिभा को तिलांजलि देकर इस प्रकार अस्थिरता के हवाले नहीं किया जा सकता।

ऐतिह्य परिवेश

चलो, मान लेते हैं—भगवान् शंकराचार्य का जन्मवर्ष ५०९ ई० पूर्व ठीक हो सकता है, जैसा कि आचार्य श्रीउदयवीर मानते हैं, उस समय 'इतिहास' किस परिवेश में होगा ? यह सभी किस्म के निर्णय लेने से पहले सोचना होगा। हम इस प्रसंग में पुराण-शास्त्रों का उल्लेख नहीं कर रहे। कारण, हम जानते हैं, पौराणिक इतिहास सप्तर्षि-संवत् के माध्यम से लिखा गया है, और आचार्यश्री सप्तर्षि-संवत् से सर्वथा अपरिचित हैं। एक बात खास। **आर्यसमाज के सभी विद्वान् ऐतिहासिक चिन्तन केलिए अग्रणी पण्डित भगवद्दत्त के पीछे चल पड़े हैं। उनमें श्री उदयवीर शास्त्री भी है।** साम्प्रदायिक तकाजा भी यही है। अतः हम पुराण शास्त्रों को हाशिए पर रखकर पुराणेतर साक्ष्य की बात करते हैं।

पं० भगवद्दत्त ने 'सुमतितन्त्र' नामक अज्ञात परन्तु सशक्त साक्ष्य ढूंढ निकाला है, जिसका पाठ और तन्निर्भर सारिणी इस प्रकार है—

युधिष्ठिरो महाराजो दुर्योधनस्तथापि वा
उभौ राजौ सहस्रे द्वे वर्षस्तु संप्रवर्तति।
नन्दराज्यं शताष्टं वा चन्द्रगुप्तस्ततो परम्।
राज्यं करोति तेनाऽपि द्वात्रिंशच्चाधिकं शतम्।
राजा शूद्रकदेवश्च वर्षसप्ताब्धिचाश्विनौ।
शकराजा ततो पश्चात् वसु-रन्ध्र-कृतं तथा॥

सुमतितन्त्र के उक्त सन्दर्भ की अपाणिनीय संस्कृत उसे प्राचीन रचना सिद्ध करती है। इस सन्दर्भ की लम्बी चौड़ी व्याख्या में न उतर कर हम एक सारिणी ही उपस्थित किए देते हैं—

दुर्योधन संवत्	युधिष्ठिर संवत्	नन्द संवत् —	शूद्रक संवत्	मौर्य संवत्	ई० पू० —
००	—	—	–	—	३१६३
१५	००	—	—	—	३१४८
२०००	१९८६	००	—	—	११६३
३७०७	२६९१	७०७	००	—	४५७
२८२०	२८०९	८२१	११५	००	३४२
२९५२	२९३८	९५३	२४७	१३२	२१०
३२२९	३२१५	१२२९	५२३	४०८	६६ ई०

सुमतितन्त्र का पाठ और सारिणी-स्थापना का एक मात्र उद्देश्य यह है कि आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री द्वारा शंकराचार्य का :५०९ **ई० पूर्व** का समय इतिहास के किस दौर से गुजर रहा है। सारिणी के अवलोकन से पता चलता है कि **ई० पूर्व ११६३ से ३४२ ई० पूर्व तक** (८२१ वर्ष) नन्दों का शासन काल रहा है। ५०९ ई० पूर्व में नौ नन्दों में से किस नन्द का शासन था—यह देखने के लिए निम्न सारिणी अवलोकनीय है—

घटक	शासनवर्ष	ई० पूर्व	घटक	शासन वर्ष	ई० पूर्व
*नन्दिवर्धन	९	११०६	५ प्रियानन्द	८०	५८०
*महानन्दि	१०१	१००५	६. देवनन्द	८०	५००
१.नन्द	९१	९११ [४]	७.यज्ञनन्द	४०	४६०
२.प्रनन्द	९१	८२०	८.मौर्यनन्द	३०	४३०
३.परानन्द	८०	७४०	९.पद्मनन्द	८८	३४२
४.समानन्द	८०	६६०	१०. चन्द्रगुप्त मौर्य	३१	३२१ ई० पू०

—भविष्यपुराण के आधार पर

—परिषद् पत्रिका : वर्ष २६/अंक २,१९८६ ई० पृ० ७५

इस सारिणी को पौराणिक पृष्ठभूमि भी उपलब्ध है। यथा—

"प्रमाणं वै तथा चोक्तं महा + पद्मान्तरं च यत्।

अन्तरं तच्छतान्यष्टौ षड्त्रिंशच्च समाः स्मृताः॥"

यह कूट श्लोक है। एतदनुसार महानन्दि से लेकर पद्मनन्द पर्यन्त ८००-३६=७६४ **वर्ष** व्यतीत हुए। देखिए सारिणी—प्रथम राजा नन्दिवर्धन का शासनकाल ११०६ ई० पूर्व में समाप्त हुआ और **महानन्दि का शासनकाल आरम्भ हुआ।** सो ११०६-७६४=३४२ ई० पू० में पद्मनन्द का शासनकाल समाप्त हुआ। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन आरम्भ होता है। आचार्य श्रीउदयवीरशास्त्री ने **शंकराचार्य का समय ५०९-४७७ ई० पूर्व** का स्थिर किया है, जो देवनन्द तथा यज्ञनन्द का शासकीय सन्धि स्थल है। यज्ञनन्द को योगनन्द उर्फ सत्यनन्द भी कहते हैं। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि **श्रीशंकराचार्य का जन्म (५०९ ई० पू०) देवनन्द के समय और निर्वाण यज्ञनन्द के समय में हुआ था?** हम अपने विश्वास और गणना के अनुसार भगवान् पाणिनि को देवनन्द का समकालीन मानते हैं। फिर प्रश्न होता है कि क्या आचार्य शंकर और भगवान् पाणिनि समकालीन हैं?

हम बड़ी छानबीन के पश्चात् इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि आचार्य उदयवीर शास्त्री ने ऐतिहासिक विश्लेषण किए बिना और पौराणिक विधि-विधान का मंथन किए बिना बलपूर्वक निर्णय कर डाला कि **आचार्य आदिशंकर का समय ५०९-४७७ ई० पूर्व का है**—जो समालोचना की कसौटी पर खरा नहीं उतरा।

आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री को अपनी उपस्थापित मान्यता पर उठने वाली आपत्तियों का भान था और उन आपत्तियों के उल्लेख के साथ-साथ अपनी ओर से समाधान भी उन्होंने जोड़ दिया है। आपत्तियाँ पुरज़ोर नहीं उठाई गई। केवल संकेत मात्र दे दिया है। इसी समतौल पर श्रीशास्त्री महानुभाव का समाधान भी लड़खड़ाता नज़र आता है। यथा—

"शङ्कर के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में बौद्ध पण्डित धर्मकीर्त्ति का उल्लेख किया है। ये धर्मकीर्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्त्ति से अभिन्न थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। धर्मकीर्त्ति का समय प्रायः ६३५ से ६५० [ई० सन्] माना जा सकता है। **ये धर्मकीर्त्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे** और धर्मपाल के परवर्त्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये धर्मकीर्त्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के भी शिष्य थे। इन्होंने प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु प्रभृति ग्रन्थों का निर्माण कर बौद्ध न्यायशास्त्र को विशेषरूप से गौरवान्वित किया था। श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक प्रभृति मीमांसा

ग्रन्थों के रचयिता भट्ट कुमारिल इनके समकालीन थे, ऐसी प्रसिद्धि है। तिब्बतीय लामा तारानाथकृत बौद्धधर्म के इतिहास के कुमारिल तथा धर्मकीर्त्ति का परस्पर कैसा सम्बन्ध था, इस विषय में बहुत-सी बातें प्रतीत होती है। धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षलक्षण- 'कल्पनापोढमभ्रान्तं, (द्रष्टव्य-न्यायबिन्दु ११, बनारस) का श्लोकवार्तिक में खण्डन किया गया है। यह लक्षण धर्मकीर्ति का ही है, दिङ्नाग का नहीं क्योंकि दिङ्नाग के प्रत्यलक्षण में 'अभ्रान्तं' यह विशेषण नहीं था। दिङ्नागाचार्य के प्रमाणसमुच्चय नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्षलक्षणकारिका इस प्रकार दी गई है—

नापि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्यात् स्मृतादिवत्।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्॥ ३॥

(द्रष्टव्य, दिङ्नागकृत प्रमाणसमुच्चय, मैसूर संस्करण, पृ० ८)।

यह आपत्ति कितनी खोखली है? यह इसी से ज्ञात होता है। कि धर्मकीर्ति का समय बौद्ध विद्वानों में क्या निश्चित किया है? उसे बिना किसी फेर-बदल के सामने रखना चाहिए था। नहीं रखा। इस पर श्रीशास्त्री जी का समाधान देखिए—

"इन सभी प्रसंगों के विषय में एक साधारण परिस्थिति यह है, कि बौद्ध दार्शनिकों का काल पाश्चात्य एवं भारतीय आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ निर्धारित किया है, वह सर्वथा अभ्रान्त एवं त्रुटिरहित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ में पहले भी इसका निर्देश किया जा चुका है कि सभी बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में अपने काल का उल्लेख नहीं किया। आधुनिक लेखकों ने उस विषय में जो कुछ किया है, वह सब बाह्य साधनों के आधार पर उनके काल-निर्धारण का प्रयासमात्र है। यद्यपि शंकराचार्य आदि ने भी अपने काल का उल्लेख नहीं किया, पर उसके स्थापित अनेक मठों की परम्परा अक्षुण्णरूप में आज तक प्रवृत्त है। क्या इतने निश्चित आधार के साम्मुख्य में उन आधुनिक उल्लेखों को प्राधान्य व महत्त्व देना न्याय्य है; जो केवल कल्पना-प्रकल्पनाओं पर आधारित हैं, एवम् उन्हीं लेखकों द्वारा संदेह व वैविध्य के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। उन लेखों में—"प्रतीत होता है, संभव है, ऐसा रहा होगा, यदि ऐसा मान लिया जाय" इत्यादि वाक्यों की भरमार रहती है। निश्चित है—वे लेखक उक्त विषय में स्वयं सन्दिग्ध हैं, यद्यपि उन विषयों में विभिन्न दिशा-निर्देशन के लिए ऐसे लेखक का महत्वपूर्ण रूप में माननीय रहे; पर इतने से त्रिषय का निर्धारण नहीं हो पाता इसके विपरीत आचार्य के मठों की परम्परा एक निर्धारित रूपरेखा को प्रस्तुत करती है, जिस पर विश्वास किए जाने में कोई बाधा नहीं। अतः शंकराचार्य का काल निर्धारण करने के लिए बौद्ध दार्शनिकों का कल्पना-मूलक तथाकथित स्वीकृत काल, निभ्रान्त आधार नहीं माना जा सकता। शांकर मठों की अक्षुण्ण परम्परा के अनुसार शंकर का प्रादुर्भाव काल निर्धारित है, तब उसकी अनुकूलता में बौद्ध दार्शनिकों के काल-निर्धारण के लिए प्रयास करना उपयुक्त होगा, न कि शिथिल एवं कल्पनाप्रधान आधारों पर खड़े किये बौद्धदार्शनिक काल के अनुकूल शंकर का काल निर्धारण करना; यह तो वास्तविकता का शीर्षासन कर देने के समान है।"

—वेदान्तदर्शन का इतिहास पृष्ठ ३५१-३५३,

अथ मीमांसा [२]

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री से इस समस्या का समस्त पंक पाश्चात्य विद्वानों पर तथा 'आधुनिक' विद्वानों पर उछालते हुए अपने आप को 'बचाकर' एक तरफ खड़ा मान लिया है। देखा जाय तो **'आधुनिक'** वे भी हैं।

एक दोष—**अपने समय का उल्लेख न करना**—उभयत्र विद्यमान है। बौद्ध दार्शनिकों ने भी अपने समय का संकेत नहीं दिया और श्री शंकराचार्य ने भी ऐसा नहीं किया। **आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री श्रीशंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों में उपलब्ध परम्परा का अवलम्बन लेकर अपने-आप को गंगा-स्नात समझ लिया है।** रोना तो इसी बात का है कि उन्होंने शांकर मठों में उपलब्ध सामग्री को समझा ही नहीं, और जो समझा है, उसकी संगति कहीं बैठती

नज़र नहीं आती। एक उदाहरण सामने हैं। शृंगेरी मठ में **शंकराचार्य के पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य का समय शक ६९५ लिखा है**—क्या इस पर श्रीशास्त्री जी ने विचार किया ? क्यों नहीं किया ? यदि आधुनिक विद्वान् [जिन्हें वे आधुनिक मानते हैं] इस संदर्भ को **६९५ + ७८ = ७७३ ईसवी मान लेते हैं**—इसमें उन तथाकथित आधुनिकों का क्या अपराध हैं ? हम पाश्चात्य विद्वानों का उल्लेख नहीं कर रहे। हम जानते हैं—**शास्त्रीजी पाश्चात्य अन्वेषकों के नाम पर खार खाए बैठे हैं**। शककाल ६९५ का बोधक-संदर्भ शृंगेरी मठ की देन है। यह **आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी का उपहार नहीं है**। इस पर सतर्क विचार-विमर्श क्यों नहीं हुआ ?

आचार्य श्रीउदयवीर शास्त्री ने विषय की गंभीरता को नहीं समझा। हमारा प्रतिपाद्य विषय आदि शंकराचार्य का समय स्थिर करना है। उसे स्थिर करने में बौद्ध दार्शनिकों का अस्तित्व आड़े आता है। क्यों न हम—**पाश्चात्य विद्वानों की तथा आधुनिक विद्वानों की सर्वथा उपेक्षा करके**—बौद्ध दार्शनिकों का समय स्थिर करें ?

खैर। आगे चलें—

"**सुरेश्वराचार्य का लेख**—सुरेश्वराचार्य द्वारा धर्मकीर्त्ति के उल्लेख की परीक्षा करनी चाहिए। **बृहदारण्यक भाष्यवार्त्तिक** [आनन्दाश्रम-संस्करण ४/३/७५३ श्लोक। १५१५ पृष्ठ] में सुरेश्वराचार्य की उक्ति है—

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्त्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥

बौद्धदर्शन में साध्य की सिद्धि के लिए तीन गमक [—बोधक-निमित्त] माने गये हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। इन तीन हेतुओं में से दो हेतु [स्वभाव और कार्य] वस्तु की विधि को बतलाते हैं। शेष अनुपलब्धि वस्तु के प्रतिषेध को बताता है। एक स्थान में निसर्गतः इन तीनों के नियत होने पर साधन अर्थ, साध्य अर्थ को बतलाता है। फलतः ये तीन ही साध्य अर्थ को सिद्ध कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। कारण यह है, कि जो जहाँ निसर्ग से प्रतिबद्ध नहीं है, उसका अप्रतिबद्ध विषय में अव्यभिचार के नियम का अभाव रहता है। इसलिए स्वभाव से अप्रतिबद्धों में अव्यभिचार नियम अथवा अविनाभावनियम नहीं बन सकता। गम्य-गमकभाव अविनाभावनियम से ही होता है।"

"आचार्य सुरेश्वर ने बौद्धदर्शन के इस सिद्धान्त का बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक के उक्त प्रसंग में प्रत्याख्यान किया है। प्रथम निर्दिष्ट पद्य [७५३] से थोड़ा पहले सुरेश्वर ने इस सिद्धान्त की चर्चा की है। तथा अनेक विकल्पों का उत्थान कर इसका विवेचन किया है। इस प्रसंग में एक स्थिति ऐसी प्रस्तुत की गई है, जिससे 'स्वभाव' और 'कार्य' की एकता अथवा अभिन्नता प्राप्त हो जाती है। उस दशा में तीन में ही अविनाभाव से साध्य की सिद्धि होती है—यह धर्मकीर्ति की प्रतिज्ञा उखड़ जाती है।

अपनी रचनाओं में धर्मकीर्त्ति ने इस विषय का उपपादन कहाँ किया है ? यह सब यहीं टिप्पणी में निर्दिष्ट कर दिया गया है। आचार्य सुरेश्वर का यह लेख सूर्य के समान इस यथार्थता पर प्रकाश डालता है कि धर्मकीर्त्ति उससे पूर्ववर्ती है। तब धर्मकीर्त्ति के आचार्य शङ्कर से पूर्ववर्त्ती होने में कोई बाधा नहीं रहती; क्योंकि सुरेश्वर-शङ्कर दोनों समकालिक हैं। कुमारिल और सुरेश्वर के लेखों का सन्तुलन करने से ऐसा अवश्य प्रतीत होता है, कि धर्मकीर्त्ति इससे अधिक पूर्ववर्त्ती नहीं था। कदाचित् वह कुमारिल भट्ट का पूर्व-समकालिक रहा हो। कुमारिल के देहावसान से कुछ पहले ही धर्मकीर्त्ति का देहावसान हो चुका हो। कुमारिल ने अपनी रचनाओं में उसका उल्लेख नहीं किया, जैसा कि अभी आगे विवेचन किया जायेगा। संभव है, आयु आदि में कुछ बड़ा होने पर भी समकालिक होने से उसको कुछ महत्त्व न दिया हो। सुरेश्वर आदि के द्वारा ग्रन्थ रचना किये जाने के काल तक विद्वत्समाज में धर्मकीर्त्ति का सम्मान बढ़ चुका था, तथा बौद्धसमाज का एक मूर्द्धन्य व्यक्ति माना जाने लगा, इस कारण सुरेश्वर ने विशेषरूप से उसका उल्लेख किया।"

—पूर्ववत् पृष्ठ ३५४

अथ मीमांसा [३]

प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष-प्रणाली से यह सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति **[जिसे क्वचित् क्वचित् 'कीर्त्तिः' नाम से स्मरण किया गया है]** आचार्य शंकर से पूर्ववर्ती हैं। शंकराचार्य वयोमान में सुरेश्वराचार्य से कनिष्ठ थे। जहाँ तक हमारी गणना का सवाल है, हम **सुरेश्वराचार्य का समय शककाल ६०५-६९५ : तदनुसार ७० ई० पूर्व से १९ ईसवी संवत् पर्यन्त**—स्थापित करते हैं। धर्मकीर्ति और कुमारिल 'पूर्वापर' के क्रम में समकालवर्ती हैं। कुमारिल अपनी ढलती उमर में थे और मण्डनमिश्र अपनी चढ़ती उमर में थे। कुमारिल का निधनकाल निश्चित है—**२१ ईसवी पूर्व**। उस समय तक मण्डनमिश्र ४४-वर्षीय थे और सुरेश्वराचार्य नाम के साथ आश्रमान्तर कर चुके थे। इसी नाप-तोल के अनुसार **धर्मकीर्ति का समय ११०-५० ईसवी पूर्व का कूतना कुछ-भी बोझिल नहीं है**। इसके विपरीत आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री ने बौद्धाचार्यों का जो समय स्थिर किया है, नितान्त हास्यास्पद है। यथा—

बौद्ध आचार्यों के नाम	**पाश्चात्य अभिमत [अनुमानाश्रित]**	**उदयवीर शास्त्री (राजतरंगिणी)**
१. अश्वघोष	१२० अथवा ७८ ई० सन्	१२५० ई० पूर्व
२. नागार्जुन	१५० ईसवी सन्	१२०० ई० पूर्व
३. नन्दीश्वर	१७० ई० स०	११५० ई० पूर्व
४. वसुबन्धु	२८०-३१० ई० स०	११०० ई० पू०
५. असंग	३२०-३३० ई० स०	१०७५ ई० पू०
६. असंगभद्र	३२०-ई० स०	१०५० ई० पू०
७. आर्यदेव	३००-३५० ई० स०	१००० ई० पूर्व
८. कुमारजीव	३८० ई० स०	९०० ई० पू०
९. बुद्धघोष	४०० ई० स०	८६० ई० पू०
१०. बुद्धपालित	४०० ई० स०	८५० ई० पू०
११. दिङ्नाग	४८० ई० स०	७४० ई० पू०
१२. चन्द्रकीर्ति	५५० ई० स०	६६० ई० पूर्व
१३. भावविवेक	६०० ई० स०	६०० ई० पूर्व
१४. धर्मकीर्ति	**६३५ ई० सन्**	**६०० ई० पू०**
१५. गुणमति	[अज्ञात]	[??]

—वेदान्तदर्शन का इतिहास : पृष्ठ ४१४

इस पर टिप्पणी लिखना सार्थक नहीं है। परन्तु अनुसन्धान-किरकिरी से परेशान हम कुछ तो लिखेंगे ही। यथा—

हम निम्न पंक्तियाँ बड़ी वेदना के साथ लिख रहे हैं। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध का समय क्या है? इस पर श्री शास्त्रीजी ने कभी विचार नहीं किया। इन महापुरुषों के सम्प्रदायानुयायी—अर्थात जैन समाज और बौद्ध समाज—अपने-अपने धार्मिक शिखर पुरुषों का समय क्या मानते हैं? इस पर भी शास्त्री जी ने विचार नहीं

किया। उनका अवलम्बन है—'राजतरंगिणी'। सखेद निवेदन है कि श्रीशास्त्री जी 'राजतरंगिणी' के पारीण पण्डित नहीं है। केवल **'इकोयणचि'** पढ़ते-पढ़ाते शास्त्री जी 'राजतरंगिणी' का नैपुण्य हासिल नहीं कर सके। पौराणिक काल-गणना तथा इतिहास का धाकड़ पण्डित भगवद्दत्त जैसा व्यक्ति भी चूक गया; वहाँ उदयवीर शास्त्री की क्या गिनती है? वायु/मत्स्यपुराण और स्कन्दपुराण तथा जैन ग्रन्थों के समवेत चिन्तन से—

महावीर स्वामी	**महात्मा बुद्ध**	**अजातशत्रु**
ई० पू० १२९८ जन्मकाल	ई० पू० १२७६ जन्मकाल	१२२० ई० पू० अभिषेक
ई० पू० १२२७ निर्वाणकाल	ई० पू० १२१२ निर्वाणकाल	११९६ ई० पू० निधन

परिषत् पत्रिका : वर्ष २६/अंक १/१९८९

हमने ये फलितार्थ प्राप्त किये हैं। इस गणना-पटल को महावंश का समर्थन भी प्राप्त है। ज़रा सोचिए—१२५० ई० पू० में महात्मा बुद्ध को बोधिलाभ हुआ; उसके तुरन्त समकाल में अश्वघोष अस्तित्व में आ गया? यह कैसी भयावह विडम्बना है?

हम कहीं श्रीशास्त्री जी से अन्याय तो नहीं कर रहे। ज़रा इस पर सोचें। मान लेते हैं—**बौद्ध आचार्य अश्वघोष का समय १२५० ई० पू० यथार्थ है**। इसका मतलब यह है कि **महात्मा बुद्ध को अश्वघोष से कम-से-कम १५० वर्ष पूर्ववर्ती होना चाहिए**। अर्थात् **महात्मा बुद्ध का समय १५००-१४०० ई० पू० मानना चाहिए**। परन्तु इसका ठोस आधार बताए बिना यह समय स्थापित करना भी महादुष्कर कार्य है। इधर पण्डित भगवद्दत्त बी० ए० ने एक पौराणिक पाठ के अर्थाधान को गलत दिशा में मोड़ते हुए **पद्मनन्द का समय कलि संवत् १५००-१६०० अर्थात् १६००-१५०० ई० पूर्व का बताया है**। प्रश्न– पण्डित उदयवीर शास्त्री द्वारा प्रतिपाद्य बुद्धकाल नन्दपूर्ववर्ती है? या नन्दपरवर्ती है? इन प्रश्नों को सुलझाए बिना बौद्ध-आचार्यों का समय स्थिर करना, और उनके परिप्रेक्ष्य में शंकराचार्य का समय खोजना **मानो बालुका के घरौन्दे को ताजमहल के सामने खड़ा करना है**।

[२]

"शङ्कराचार्य ने स्वयं शारीरकभाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के २८ वें सूत्र के भाष्य में धर्मकीर्त्ति की एक कारिका का कुछ अंश, योगाचार की समालोचना के प्रसङ्ग में, उद्धृत किया है। धर्मकीर्त्ति की कारिका यह है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥

इस कारिका के **'सहोपलम्भनियमादभेदः'** इतने अंश का उल्लेख शंकराचार्य ने किया है। (इस श्लोक की प्रथम पंक्ति धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय तथा दूसरी पंक्ति उनके प्रमाणवार्त्तिक में मिलती है।)" —पृष्ठ ३५२

भगवान् शंकराचार्य ने धर्मकीर्ति की 'कारिका' आलोच्यवस्तु के रूप में चुनी है। 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या पर टिप्पणीकार वाचस्पतिमिश्र ने धर्मकीर्ति का नामोल्लेख करके भ्रम-भंजन ही किया है। वाचस्पति और धर्मकीर्ति में कौन पहले है और कौन बाद में—प्रश्न यह नहीं है; प्रश्न और समाधान यह है कि वाचस्पति ने इस बात को स्वीकार किया है कि **बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ही आचार्य शंकर का विवेच्य व्यक्ति है**।

"आचार्य शंकर के भाष्य और कारिका में केवल **'सहोपलम्भनियमादभेदः'** इतना अंश समान है। धर्मकीर्ति के काल से पहले भी बौद्धदर्शन में **'विषय-विज्ञान के सहोपलम्भनियम'** सिद्धान्त को माना जाता रहा है, इस व्यवस्था व नियम का अभिज्ञापन करने के लिए अध्ययनाध्यापन की परम्परा एवं पारस्परिक चर्चाओं आदि में ऐसे पदों का

प्रयोग संभव है । उस परम्परा से प्राप्त पदों का धर्मकीर्त्ति ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख कर दिया । वही आधार शंकर का हो सकता है । यह संभव है, इस आनुपूर्वी का बौद्ध साहित्य में सर्वप्रथम उल्लेख धर्मकीर्ति ने किया हो ।

"जब धर्मकीर्त्ति से पहले इस सिद्धान्त का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो उसे धर्मकीर्त्ति या उसके काल के साथ जोड़ा नहीं जा सकता । कारिका के 'नीलतद्धियोः' पद इसके उपोद्बलक कहे जा सकते हैं । हेतुपद-सहोपलम्भनियम के साथ प्रयुक्त होने वाले परम्पराप्राप्त 'विषय-विज्ञान' अथवा 'प्रत्यय-विषय' पदों के स्थान पर छन्द में आबद्ध करने की भावना से 'नील-लद्धी' पदों का धर्मकीर्त्ति ने प्रयोग किया; पर आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में साधारण परम्पराप्राप्त पदों का ही प्रयोग किया है । यह निर्देश इन दोनों बातों का परिचायक है, कि धर्मकीर्त्ति के पहले यह सिद्धान्त इन्हीं पद-प्रयोगों के साथ चालू था, और आचार्य शङ्कर द्वारा इस सिद्धान्त का विवरण देने के अवसर पर यह आवश्यक नहीं था कि उसके मस्तिष्क में धर्मकीर्त्ति की उक्त कारिका उभर रही हो" ।

"वस्तुतः धर्मकीर्ति ने जिस प्राचीन परम्परा के आधार पर इस सिद्धान्त का उल्लेख किया; आचार्य शङ्कर ने उसी परम्परा के आधार पर इसका विवेचन किया । शङ्कर द्वारा प्रस्तुत विवेचन का आधार धर्मकीर्त्ति का लेख ही रहा हो, यह आवश्यक नहीं है । वैसे इसके लिए हमारा कोई आग्रह भी नहीं है । पर 'सहोपलम्भनियमादभेदः' पदों के शङ्कर द्वारा किये गये प्रयोग को धर्मकीर्त्ति का उद्धरण कहना प्रमाणित प्रतीत नहीं होता ।"

—पूर्ववत् ३५७

अथ मीमांसा [४]

धर्मकीर्ति के प्रसंग में श्रीउदयवीर शास्त्री मात खा गए । विवाद इस बात पर नहीं है कि श्रीशंकराचार्य ने जिस सिद्धान्त के निराकरण के लिए कलम उठाई है, वह धर्मकीर्ति-प्रतिपादित सिद्धान्त है ? अथवा कीर्ति पूर्ववर्ती काल से चला आ रहा **कोई सिद्धान्त है, जिसका व्याख्याता धर्मकीर्ति है और आचार्य शंकर उसका निराकर्ता है ।** बात केवल इतनी है कि धर्मकीर्ति शंकर से पहले है या शंकराचार्य धर्मकीर्ति से पहले ? हम आगे चलकर बतायेंगे कि **धर्मकीर्ति कुमारिल से भी प्राग्वर्ती है** । फिर धर्मकीर्त्ति और श्री शंकराचार्य के दरम्यान 'पूर्वापर' का प्रश्न ही खत्म हो जाता है । धर्म-कीर्ति पहले है, और आचार्य शंकर ने उसका निराकरण किया है ।

पूर्वागत [३] और [४] भी

"(ग) दिङ्नाग की आलम्बनपरीक्षा से भी शंकर ने 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तत्' इस वचन का उद्धार किया है (२/२/२८)।"

दिङ्नाग बौद्ध विद्वानों में सर्वोच्च स्थान पर है । हमारे विश्वास में दिङ्नाग इतना परवर्ती नहीं है, जितना बताया जाता है । आचार्य उदयवीर शास्त्री की टिप्पणी विचारणीय है—

"(ग) दिङ्नाग के नाम से कथित सन्दर्भ अवश्य शांकरभाष्य में उद्धरणरूप से उपलब्ध होता है । ब्रह्मसूत्र [२/२/२८] के शांकरभाष्य में इस प्रसङ्ग का पाठ है"—

"अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते—'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते' इति ।"

"आगे कारिका के 'बहिर्वत्' पदों का विस्तृत विवेचन किया है । इस सन्दर्भ के उद्धरण होने में किसी प्रकार की बाधा या आशंका नहीं उठाई जा सकती ।"

"उक्त आधार पर यह कहने में कोई आपत्ति नहीं, कि आचार्य शंकर दिङ्नाग का परवर्ती है । आपत्ति उस स्थल पर है, जहां शंकर के निर्धारित काल से दिङ्नाग को परवर्ती बताया जाता है; एवं दिङ्नाग का अशुद्ध काल निर्धारण कर उसके आधार पर शंकर के प्रमाणित व अभिमत-काल को झुठलाने का प्रयास किया जाता है । वस्तुतः

इस सब घोटाले का मूल कारण है—भगवान् बुद्ध के काल का अशुद्ध निर्धारण। इस ऐतिहासिक विवेचन की अत्यन्त आवश्यकता है, कि महाभारत युद्धकाल के अनन्तर भारत के मुख्य राजवंशों की परम्परा का गम्भीरता के साथ निष्पक्ष भाव से संशोधन तथा साथ ही भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव काल का भारतीय एवं एशियायी दृष्टिकोण से यथार्थ निर्णय करने का प्रयास किया जाय। युरोपीय पादरी लेखकों ने अज्ञानान्धकार में आवृत इस विषय को विवेचन व संशोधन के नाम पर और भी अधिक धूमिल कर दिया है। यहां हमारा केवल इतना अभिप्राय है, कि दिङ्नाग के तथाकथित काल पर शंकर के काल को नहीं घसीटना चाहिये, प्रत्युत मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर निर्धारित शंकर के काल के अनुसार दिङ्नाग के काल को समझने का प्रयास होना चाहिए।" पूर्ववत्, ३५८

अथ मीमांसा [५]

यहाँ पहुंचते-पहुंचते श्रीशास्त्री जी ने मान लिया है कि दिङ्नाग शंकर परवर्ती है। खुलासा तौर पर समझ लें—**शंकर ५०९ ई०पूर्व का है,** जैसे कि शास्त्री जी ने माना है, **दिङ्नाग ४८० ई० सन्** जैसा कि आधुनिक विद्वान् मानते हैं। यहाँ शास्त्री जी की खीझ देखने की वस्तु है।

यहाँ यह विषमता क्यों पैदा हुई ? इसका जवाब हमारे पास है। श्रीशास्त्री जी के लिए उचित यह था, पहले इतिहास का परिशीलन करते और बाद में दिङ्नाग का समय निर्धारित करते। हम जानते हैं—शास्त्री जी इतिहासविद् नहीं हैं। सचाई यह भी है कि इतिहास के प्रसंग में **शास्त्रीजी पर-प्रत्ययनेयबुद्धि हैं** वे पं. भगवद्दत्त पर [इतिहास के बारे में] अवलम्बित हैं। अतः श्री शास्त्री जी इधर-उधर झांक रहे हैं। सम्राट् अशोक के पश्चात् महाराजा कनिष्क [कुषाणवंशी] के नेतृत्व में बौद्ध-संगीति हुई, और उसमें **उभर कर दिङ्नाग शीर्षस्थान पर जा पहुंचे।** शास्त्री जी के लिए यह उचित था—पहले कुषाणकाल पर विचार प्रस्तुत करते। ऐसा न करके शास्त्री जी मंझधार में जा फंसे हैं, जहाँ उन्हें अपने ही उद्धार का रास्ता नज़र नहीं आ रहा। इति।

"(घ)—ब्रह्मसूत्र [२/२/२२ तथा २/२/२४] के भाष्य में जिन दो वचनों को उद्धरण रूप बताया गया है, और कहा गया है, कि पहला वचन गुणमतिकृत अभिधर्मकोशव्याख्या में मिलता है; वस्तुतः वह वचन उद्धरण नहीं है। भाष्य का वह पाठ इस प्रकार है—

"अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं चेति। तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रति-संख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते। त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते।"

श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज ने अभिधर्मकोश की गुणमतिकृत व्याख्या में उक्त सन्दर्भ के देखे जाने का उल्लेख किस आधार पर किया है, अपनी रचना [अच्युत पृ० २८] में निर्देश नहीं किया। उक्त व्याख्या अभी तक अप्रकाशित व अनुपलब्ध है। यदि यह सत्य है कि गुणमति की व्याख्या से यह सन्दर्भ लिया गया है, तो गुणमति को शंकर का पूर्ववर्ती माना जाना चाहिए। पर उस अवस्थाओं में गुणमति का तथाकथित काल [६३० ६८० ख्री०] असंगत होगा। शंकर के निर्धारित काल के अनुसार गुणमति का काल समझने का प्रयास होना चाहिए। शंकर के मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर शंकर का काल निश्चय किया जाना अधिक प्रामाणिक है।"—पृ. ३५८

"दूसरे स्थल [२/२/२४] में कतिपय उद्धृत-जैसे वाक्य लिखे गये हैं। पर वे वाक्य आचार्य शंकर ने स्वयं लिखे हैं, या कहीं अन्यत्र से उद्धृत किये हैं? यह विचारणीय है। भाष्य का पाठ इस प्रकार है—**"सौगते हि समये—'पृथिवी भगवः किंसन्निश्रया' इत्यस्मिन् प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसन्निश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसन्निश्रयः इति।"**

"निश्चित ही यह किसी ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर रूप से कहे गये अर्थ का उल्लेख हुआ है। उसी का अनुवाद करते हुए आचार्य शंकर ने कुछ पद मूलग्रन्थ के यहाँ उद्धृत किये हैं, जो सन्दर्भ के मध्य में अन्योक्ति चिह्न से परिवेष्टित

हैं। उसके पहले वाक्य में 'भगवः' सम्बोधन पद यह संकेत करता है, यह रचना किसी बौद्ध ग्रन्थ की होनी चाहिए। प्रश्नोत्तर रूप में वर्णित यह सन्दर्भ किस बौद्ध-रचना का है, यह अभी तक ढूंढा नहीं जा सका। ऐसी अनिश्चित व अज्ञात-कालिक रचना का उद्धरण आचार्य शंकर के किसी निश्चित काल में होने का स्वतन्त्र साधक नहीं हो सकता। ग्रन्थ व ग्रन्थकाल के काल का निश्चय होने पर शंकर के काल का निश्चय करने में यह उद्धरण अवश्य विचारणीय होगा।"

"(घ) ब्रह्मसूत्र (२/२/२२ तथा २/२/२४) के भाष्य में शंकराचार्य ने जिन दो बौद्धाचार्यों का उद्धार किया है, उनमें से पहला वचन गुणमतिकृत (६३०-६४० ख्री०) अभिधर्मकोषव्याख्या में मिलता है।"

—३५३ पृष्ठ

पिर वही बात। बार-बार अन्तः साक्ष्य, अर्थात् मठान्तर्गत दस्तावेज़ की दुहाई देकर अपनी बात को पुष्ट नहीं किया जा सकता। शास्त्रार्थ करने के तौर-तरीके व विधि-विधान अलग होते हैं। वे विधि-विधान इतिहास लेखन-कार्य में बेमतलब हो जाते हैं। शास्त्री जी बार-बार इतिहास-प्रणाली को शास्त्रार्थ में ले-जाकर स्वयम् उपहास के पात्र बनते जा रहे हैं। इतिहास लेखन में निम्न तीन शर्तें अवश्य पालनीय होती हैं—

१. सुपरिचित और सुपरीक्षित कालगणना,

२. सहवर्ती घटक और घटनाओं से तालमेल, और

३. पूर्वाग्रह का सर्वथा अभाव।

शास्त्री जी की विषय-विस्तृति में हमें तीनों बातें नज़र नहीं आ रहीं। शास्त्री जी आदि शंकराचार्य को ५०९ ई० पूर्व के युग में ले जाते हैं; वहाँ इन बौद्ध-आचार्यों का सर्वथा अभाव है। बौद्ध विद्वानों का पहला जमावड़ा अशोक युग में हुआ। **हमारी दृष्टि में अशोक युग २७६-२१९ ई० पू० का है।** हम बौद्ध विद्वानों की बात न करें, बौद्ध-सिद्धान्तों की बात करें; बौद्ध-सिद्धान्तों का उद्भव अथवा प्रचार-प्रसार का समय तो बताना ही होगा। अन्यथा इतिहास की शृंखला में न तो आचार्य शंकराचार्य को बैठा सकते हैं; न बौद्ध विद्वानों को; जो धर्मकीर्ति या दिङ्नाग न सही, कोई अन्य आचार्य हो; तारीख तो बतानी ही पड़ेगी। हम देख रहे हैं—शास्त्री जी का पक्ष नितान्त दुर्बल है। इति।

"(ङ) जैनमत खण्डन प्रसंग में शंकर ने जिस मत का उद्धार किया है वह दिगम्बराचार्य अकलंक के गुरु समन्तभद्र का प्रतीत होता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसङ्ग में समन्तभद्ररचित आप्तमीमांसा का वचन भी उद्धृत किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत्॥ (२/२/३३)

अकलंक साहसतुङ्ग राजा के सभासद् थे। यह राजा साहसतुङ्ग राष्ट्रकूटराज दन्तिदुर्ग का नामान्तर हैं। इनका शासनकाल ६७५ शकाब्द अथवा ७५३ ख्रीष्टाब्द है। वे अकलंक अष्टसाहस्रीकार विद्यानन्द के गुरु थे।"

बौद्धमत के पश्चात् जनमत पर लिखते हुए आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री ने अपनी अल्पज्ञता का परिचय दिया है। वे लिखते हैं—

(ङ) शंकर-काल के विवेचन प्रसंग में अन्तिम विचारणीय बात कही गई है—**"जैनमतखण्डनप्रसंग में शंकर ने जिस मत का उद्धार किया है, वह दिगम्बराचार्य अकलङ्क के गुरु समन्तभद्र का प्रतीत होता है।'** इसमें उपोद्बलक हेतु यह दिया गया है—**"भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में समन्तभद्ररचित आप्तमीमांसा का वचन भी उद्धृत किया है।"**

वस्तुतः लेखक महोदय की यह अपनी कल्पना है। वह स्वयम् अपने कथन के प्रति असन्दिग्ध नहीं है, ऐसे कथन से एक अनभिमत स्थिति को शंकर पर बलात् थोपना उस पर अत्याचार के समान हैं। आचार्य ने एक साधारण सिद्धान्त के रूप में जैन दर्शन के स्याद्वाद का विवेचन प्रस्तुत किया। क्या यह आवश्यक है, कि इस विवेचन के लिए शंकर को समन्तभद्र के ग्रन्थ का आश्रय लेना पड़े ? जैन दर्शन का यह वाद उस दर्शन के प्रारम्भिक काल से है। शंकर के लेख में कोई ऐसा संकेत नहीं, जिससे अंशतः भी यह समझा जाये, कि उसने समन्तभद्र की किसी रचना का उस प्रसंग में आश्रय लिया है। — पूर्ववत् ५९०

"वाचस्पति मिश्र ने समन्तभद्र की रचना से उस प्रसंग का कोई वचन उद्धृत किया, तो उसका इतना तात्पर्य हो सकता है, कि वाचस्पति मिश्र समन्तभद्र का परवर्त्ती है; एवं प्रस्तुत विषय को उसने किसी रूप में समन्तभद्र की रचना में देखा है। इतने से यह परिणाम निकालना नितान्त अन्याय्य है कि शंकर ने समन्तभद्र की रचना को देखा होगा। प्राचीन दर्शनशास्त्र में पदार्थों की आशुगति का उल्लेख आता है। यदि आज का लेखक प्राचीनशास्त्र के तद्विषयक विवरण प्रसंगों में उदाहरण के लिए वायुयान, स्पुतनिक अथवा राकेट आदि का उल्लेख कर दें, तो उसका यह आशय नहीं निकाला जा सकता कि प्राचीन शास्त्रकारों ने स्पुतनिक आदि को, देखकर आशुगति का उल्लेख किया है। आधुनिक स्पुतनिक आदि के कर्त्ता जैसे आशुगति ज्ञान के उपज्ञ नहीं है, इसी प्रकार समन्तभद्र आर्हतदर्शन में '**स्याद्वाद**' का उपज्ञ नहीं है। आचार्य ने सामान्य सिद्धान्त को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, इस सिद्धान्त की जानकारी के लिए किस ग्रन्थ व किन आचार्यों का आश्रय लिया होगा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर ऐसे निश्चय में कोई साधक प्रमाण नहीं है, कि शंकर ने इस विषय को समन्तभद्र की रचना से जाना।"

—पूर्ववत् ३६०

अथ मीमांसा [६]

अधुना प्रसंग में हम श्रीशास्त्री जी की सहायता करते हैं। जैन विद्वान् जैन-इतिहास के बारे में नितान्त पंगु हैं। हम तो स्वयं जैन-कालगणना की विसंगतियों को उजागर करने वाले हैं। (द्रष्टव्य—जैन काल गणना) आचार्य समन्तभद्र एक नहीं अनेक हैं।[१] एक समन्तभद्र निश्चय पूर्वक शंकर-पूर्ववर्ती हैं। कुमारिल भट्ट ने उसका उल्लेख किया है। दूसरे समन्तभद्र शक ६७५ [७५३ ई०] में वर्तमान साहसतुंग राजा के सभारत्न थे। 'स्याद्वाद' के स्थापक प्रथम समन्तभद्र हैं। साहसतुंग राजा के सांसद समन्तभद्र की रचना देखने सुनने में नहीं आई। अगर किसी ने अपर [अर्थात् परवर्ती] समन्तभद्र की कोई ऐसी रचना हमारे दृग्-गोचर में दी और उसका सम्बन्ध शंकर साहित्य से हुआ, तो हम सभी विचार-धाराओं का त्याग कर, उसे सहर्ष अपनाएँगे

विमर्श/परामर्श—

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री ने जिस धूम-धड़ाके के साथ इस अध्याय का शुभारम्भ किया था, वे उसका निर्वाह नहीं कर सके। इसका कारण क्या हो सकता है ? यह कोई लुकी-छुपी बात नहीं है। वे दर्शनशास्त्र के पारंगत पण्डित हैं। वेदान्तदर्शन पर भी उनका अधिकार अलौकिक है। यह सब उनके ग्रन्थ [सांख्यदर्शन इतिहास और वेदान्तदर्शन का इतिहास] पढ़ कर पता चलता है। **परन्तु दर्शनतत्त्व पर चिपका हुआ इतिहास इनकी असफलताओं का कच्चा-चिट्ठा मालूम पड़ता है।** इतिहास लिखने की फिलासफी [दर्शनतत्त्व] कुछ भिन्न किस्म की है, जिससे वे अपरिचित नज़र आते हैं। जिन बिन्दुओं पर वे अप्रत्याशित रूप से फिसल पड़े हैं, उसकी चर्चा हम विगत पंक्तियों में कर आए हैं। उन पर फिर से विचार करके परामर्श करना अधुना प्रासंगिक नज़र आता है। लीजिये—

१. हमने एतद् विषयक एक पत्र जैन विद्वान् डॉ० परमेर सोलंकी से प्राप्त किया है। जिसे ज्यों का त्यों अभिमत संग्रह में छाप रहे हैं।

१. मठों से प्राप्त सामग्री : आचार्य श्री इधर-उधर की बातों पर तर्क जुटाना उचित नहीं मानते । वे सीधे मठों के तहखाने में पहुंचते हैं और वहाँ सुरक्षित पड़े दस्तावेज़ को खुली चर्चा में ले जाते हैं । इसी प्रयास का फल है—**युधिष्ठिर-संवत्** । इस पर हमारा पूछना यह है कि मठों के तहखाने में सुरक्षित दस्तावेजों में यह भी पढ़ा गया है—**आचार्य शंकर के जन्म के समय [तक] विक्रमादित्य के अभिषेक के १४ वर्ष बीत चुके थे । सुरेश्वराचार्य का आचार्यत्व काल शक ६९५ है** ।—वे इसे प्रकाश में क्यों नहीं लाए ? एक सामान्य-सा उत्तर [जो हमें सूझ रहा है] यह हो सकता है कि ऐतिहासिक सत्य 'एक' होता है, दो नहीं । किसी एक तत्त्व का अधिग्रहण होना था, सो श्री शास्त्री जी ने युधिष्ठिर-संवत् को चुन लिया है, बस । इस पर फिर प्रश्नों की झड़ी—युधिष्ठिर-संवत् में ही ऐसी क्या खूबी है, जो दूसरे दस्तावेज़ में नहीं हैं । प्रश्न और भी हैं । विषयविस्तार से उन पर ढक्कन रखना ही उचित है ।

२. बौद्ध-विद्वानों की चर्चा : भगवान् आदिशंकराचार्य ने 'कीर्त्तिः' नाम के साथ धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है । कुछ बौद्ध आचार्यों के नाम तो नहीं लिये, पर भगवान् शंकराचार्य ने उनके सिद्धान्तों का निराकरण किया है । उन अज्ञातनामा चर्चित बौद्धविद्वानों का नामोद्घाटन किया है—भामती टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने । भगवान् शंकराचार्य को ७७७-८२० ईसवी सन् में ले जाने वाले ईसाई लेखकों तथा आधुनिक भारतीय विद्वान् इन्हीं बौद्ध-विद्वानों की ओट में बैठे हैं और मजबूती से अपना पक्ष रख रहे हैं । आचार्य उदयवीर शास्त्री का उनसे लोहा लेना उचित भी था, आवश्यक भी । परन्तु उदयवीर शास्त्री अपने दुर्बल पक्ष के कारण पदे-पदे स्वयं पस्त होते नज़र आए । उदारणतः—ईसाई लेखकों के प्रति वे तर्क नहीं जुटा पाए; केवल आक्रोश से काम लिया । दर्शन शास्त्रों की यह सूक्ति बड़ी प्रसिद्ध है—**शेषं कोपेन पूरयेत्** । आचार्य महोदय ने वही किया । 'आक्रोश' दुर्बल पक्ष का सजीव चिह्न है । दूसरा—आधुनिक शोधक समाज ने बौद्ध-आचार्यों के लिए '**अनुमान मंच**' तैयार किया है । द्रष्टव्य-वेदान्त दर्शन का इतिहास; ४०६] आचार्य महोदय का नैतिक कर्तव्य था—उन-उन बौद्ध विद्वानों का ऐतिह्य मंच तैयार करते, जिसके वे पात्र थे; शास्त्री महोदय ने ऐसा न करके अनुमान को अनुमान से टकरा दिया (देखें—वही पृष्ठ ४१४) परिणामतः पानी की धारा सम्मुखस्थ पानी की धारा से टकराई नहीं, बल्कि एक धारा दूसरी धारा में लीन हो गई । यहाँ भी वही कुछ हुआ । **एक अनुमान दूसरे अनुमान में खो गया** । यथार्थ फिर भी प्रकट नहीं हुआ ।

३. गुरु-परम्परा : भगवान् शंकराचार्य से पूर्व-पूर्वतरवर्ती गुरुपरम्परा का जिक्र भी श्री शास्त्री जी ने किया है । उस गुरु-शिष्य शृंखला में '**शुक** का नाम आ गया । यह 'शुक वही है—कृष्ण द्वैपायन का पुत्र और उनकी समस्त विद्याओं का उत्तराधिकारी । हम जानते हैं—**गुरु-शिष्य परम्परा में शुक का उल्लेख आदि-आचार्य के रूप में होना उचित है** । इसका अर्थ यह नहीं है—शुक के साक्षात् शिष्य गौड़पाद हैं । शुक के निराकरण के लिए केवल एक पंक्ति पर्याप्त थी—"**यहाँ शुक का उल्लेख भारतीय मिथक शैली का एक उदाहरण मात्र है । बस** ।" [यह पंक्ति लिखकर उदयवीर शास्त्री को तटस्थ हो जाना चाहिए था] परन्तु इसके खण्डन में शास्त्री जी डटे रहे और **आवश्यक और प्रमुख प्रसंग उनसे छूट गया** । अर्थात् शुंगवंशी पुष्यमित्र के सभासद् : पतञ्जलि पर उचित ध्यान नहीं दिया गया । हमारी दृष्टि में वेदान्त ज्ञान के मुख्य साधन 'योगविद्या' के महान् सन्त **पतञ्जलि** का स्थान सर्वोच्च है । यथा—

व्याकरण ← **पतञ्जलि** → **योगविद्या**

भर्तृहरि

(वाक्यपदीय का प्रणेता)

योगविद्या
↓
[चन्द्राचार्य] गौडपाद
↓
गोविन्दपाद
↓
शंकराचार्य

इतना सब होते हुए आचार्य उदयवीर शास्त्री इस पर लिखना नहीं चाहते थे, क्योंकि इससे 'युधिष्ठिर-संवत्' की जड़ें खोखली हो जातीं और सारी तीमारदारी ढह जाती।

४. **राजतरंगिणी :** आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने साध्य और साधन को यथार्थ का आयाम देने लिए 'राजतरंगिणी' का आश्रय लिया है। इसमें भी वे सफल नहीं हुए। हमें पता है—डॉ० एम. ए. स्टीन तथा ठाकुर रघुनाथसिंह (पूर्व सांसद) जैसे धाकड़ राजतरंगिणीविद् अपने अपने प्रयास में सफल नहीं हुए, **वहाँ उदयवीर शास्त्री का सफल होना पक्के तौर पर संदिग्ध ही था।** श्रीशास्त्री जी ने तीन अवसरों पर 'राजतरंगिणी' की शरण ली है। [१] एक तो चन्द्राचार्य के प्रसंग में। चन्द्राचार्य [जिसका पूर्व नाम जयन्त शर्मा है] का संन्यस्त नाम '**अज्ञात** है। शास्त्री जी ने चन्द्राचार्य को काश्मीर-नरेश अभिमन्यु के राज्याश्रय में रह-रहे चन्द्राचार्य से भिड़ा दिया है। अभिमन्यु का समय [हमारी दृष्टि में] १०७१-१०३१ ईसवीपूर्व का है। ज़रा सोचिए—**कहाँ १०३१ ई० पूर्व का चन्द्राचार्य और कहाँ १५०-१०० ई० पूर्व का चन्द्राचार्य?** है कोई तालमेल? निःसन्देह, आप हमारी बात अस्वीकार कर सकते हैं; परन्तु वाक्यपदीयकार भर्तृहरि द्वारा स्मृत चन्द्राचार्य और उसके समकालवर्ती चन्द्राचार्य **[संन्यस्त नाम अज्ञात]** में कुछ तो अन्तराल होना चाहिए; ९०० वर्ष न सही, ३००-४०० वर्षों के अन्तराल से कम पर विचार किया ही नहीं जा सकता था। इस बेतुके प्रसंग पर अधिक लिखना अर्थहीन है।

[२] दूसरा प्रसंग है—कुषाण वंश का। **कुषाण भारत में आए और यहाँ कुछ समय के लिए शासन भी किया। इतिहासकारों की दृष्टि में उनका भारत में शासन काल ७८ ई० से २१० ई० तक है।** हमारा विचार इनसे भिन्न है। हम भारत में [अर्थात् उज्जयिनी तथा मथुरा में] कुषाणवंश का शासन काल ७१ ई० पूर्व से ई० सन् ९९ तक रहा मानते हैं। इस पर एक दृष्टि डालिए—

कुषाणवंश तालिका—

	इतिहासकारों का अभिमत	हमारा अभिमत
१. कदफिस	४०-४८ ईसवी	८२-६९ ई० पूर्व
२. विमकदफिस	४८-७७ ईसवी	६९-५७ ई० पूर्व
३. **कनिष्क [१]**	७८-१५० ईसवी	**५६ ई० पूर्व से** [मथुरा में]
४. वासिष्क	१५०-१६७ ईसवी	५६ई० पू० १२ ईसवी।
५. हुविष्क	१६७-१८६ ईसवी	१२-३२ ईसवी।
६. **कनिष्क [२]**	१८६-१९६ ईसवी	३२-६५ ईसवी
७. वासुदेव	१९६-२१० ईसवी	**६६-ई० से ९९ तक**

[द्रष्टव्य : सम्मेलन पत्रिका : भाद्रपद १८९९, भाग ६३/२-३]

उज्जयिनी और मथुरा के कुषाणवंशी कनिष्क आदि को काश्मीर के कनिष्क से अभिन्न ठहराते हुए शास्त्री जी ने कितना अनर्थ किया है; यह गम्भीर चिन्ता का विषय है। हमारे विचार में कनिष्कादि राजाओं ने काश्मीर में कब शासन किया? यह प्रश्न सदा निरुत्तर ही रहेगा

यह निम्नतालिका से ज्ञात होगा—

राजा	शासनकाल	सप्तर्षि संवत्	ई० पूर्व
दामोदर	४०	२५७९	११९१
हुष्क	४०	२६१९	११५१
जुष्क	४०	२६५९	११११
कनिष्क	४०	२६९९	१०७१
अभिमन्यु	४०	२७३९	१०३१

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग ६८/१-२ पृ० १८

टिप्पणी—यद्यपि यह शासनकाल अनुमानाश्रित हैं, फिर भी अनुसन्धेय है। क्योंकि कनिष्क से १५० वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध हुए। सो १०७१ + १५० = १२२१ **[संशोधन-९ = १२१२ ई० पूर्व]** में भगवान् बुद्ध निर्वाण पुराण-सम्मत है और महावंश-सम्मत भी। अनुसन्धायक स्वयं विचार कर लें—काश्मीर के शासक कनिष्क में तथा मथुरा के शासक कनिष्क में वंशानुगत अथवा कालानुगत कितना अन्तर है? [३] शास्त्री जी ने नागार्जुन का समय स्थिर करने में एक बार फिर राजतरंगिणी की शरण ली है। आधुनिक बौद्धविद्वान् नागार्जुन का समय १५० ई० मानते हैं और शास्त्री जी उसका समय १२०० ई० पूर्व मानते हैं। राजतरंगिणी वर्णित नागार्जुन का समय [हमारी दृष्टि में] १०५० ई० पूर्व संभाव्य है। १२०० ई० पूर्व में उसे ले जाने में विसंगति दोष आता है। असली बात यह है कि काश्मीरी नागार्जुन अभिमन्यु के शासन कालीन बहुत बड़ा बौद्धभक्त भूस्वामी था। **वह निश्चय पूर्वक बौद्धविद्वान् न था**। अतः अनुसन्धान करते समय काश्मीरी नागार्जुन को १०५० ई० पूर्वकालीन मानकर परवर्ती बौद्धविद्वान् नागार्जुन से अलग-थलग ही समझना चाहिए।

निष्पन्नार्थ यह है कि आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री ने शंकराचार्य का समय स्थिर करने में अप्रासंगिक छानबीन खूब की है; असली मुद्दा अकेला और अचर्चित रह गया है। इति।

अज्ञातनामा जैनविद्वान्

जैन-साहित्य में जहाँ-तहाँ 'जिनविजय' की चर्चा की जाती है; वहाँ उसके कर्ता के बारे में प्रायः सभी मुनि उपाध्याय तथा आचार्य गण मौन धारण किए हुए हैं; और तो और 'जिनविजय' के रचनाकाल के बारे में भी कुछ नहीं बताया जाता। सच्ची बात तो यह है कि कोई भी **जैन-विद्वान् दावे के साथ यह नहीं कह सकता कि मैंने 'जिनविजय' ग्रन्थ को देखा है**। ऐसी अश्रुतपूर्व तथा अदृष्टपूर्व रचना में कुमारिलभट्ट तथा शंकराचार्य का समय उट्टंकित है, जिसे हम नीचे लिख रहे हैं—

१. कुमारिल भट्ट का समय :

ऋषिर्वारस्तथा पूर्णं मर्त्याक्षौ वाममेलनात्, एकीकृत्य लभेताङ्कः क्रोधी स्यात्तत्र वत्सरः। भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डैकवादिनः, ज्ञेयः प्रादुर्भवः तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके॥

२. शंकराचार्य का जन्म-वर्ष :

ऋषिवर्षाणस्तथा भूमिः मर्त्याक्षौ वाममेलनात् एकत्वेन लभेताङ्कः ताम्राक्षः तत्र वत्सरः॥

इन प्रमाण-द्वयी के परिशीलन से जो फलितार्थ निकले हैं, वे ये हैं—

[१] जिन-विजय का लेखक 'युधिष्ठिर-संवत्' से परिचित है।

[२] युधिष्ठिर-संवत् किस बिन्दु से आरंभ करें ? इसका खुलासा 'जिनविजय' ग्रन्थ में नहीं है। अलबत्ता, 'क्रोधी' 'ताम्राक्ष' नामा संवत्सरों के बलबूते पर हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि

युधिष्ठिर संवत् ०० = कलिसंवत् ४६८ = ई० पूर्व २६५४

से उक्त काल-गणना आरम्भ हुई।

[३/क] ऋषि = ७, वार = ७, पूर्ण = ० तथा मर्त्याक्षि = २ ; अंकानां वामतो गतिः' के नियमानुसार २०७७ युधिष्ठिर-संवत्, अर्थात् ५५७ ई० पूर्व में कुमारिल भट्ट का जन्म हुआ।

[३/ख] ऋषि = ७, बाण = ५, भूमिः १ तथा मर्त्याक्षि = २; 'अंकानां वामतो गतिः' के नियमानुसार २१५७ युधिष्ठिर-संवत् में भगवान् शंकराचार्य का जन्म हुआ। युधिष्ठिर-संवत् २१५७ = ४७७ ई० पूर्व की बात सामने है।

[४] क्रोध [३८] तथा ताम्राक्ष [५८] संवत्सर-गणना दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार किया गया है। स्मरण रहे—दाक्षिणात्य षष्टि-संवत्सर गणना प्रमाथी [१३] संवत्सर से आरम्भ होती है। **"प्रमाथी प्रथमं वर्षं सर्गादौ ब्रह्मणा स्मृतम्।"**

अथ विमर्श/परामर्श—

एक : जो बात निर्विवादात्मक स्तर पर सामने आई है, वह है—आचार्य उदयवीर शास्त्री द्वारा उपस्थापित युधिष्ठिर-संवत् **[३१४० ई० पू० से गणनाधीन]** तथा 'जिनविजय' द्वारा आत्मीकृत युधिष्ठिर-संवत् **[२६५४ ई० पूर्व से गणनाधीन]** के फलितार्थ भिन्न होते हुए करीब-करीब एक ही युग में सन्निहित हैं। यथा—

उदयवीर शास्त्री के मतानुसार **शंकर-जन्म ५०९ ई० पूर्व**

[शंकर-निर्वाण ४७७ ई० पूर्व]

[शंकर-जन्म ४७७ ई० पूर्व]

शंकर-निर्वाण ४४५ ई० पूर्व जिनविजय-मतानुसार।

अन्तर इतना है कि ४७७ ई० पूर्व में जैनेतर पक्ष श्री शंकराचार्य का निर्वाण मानता है, और जैनपक्ष उसी वर्ष शंकराचार्य का जन्म मानता है। **आखिर यह भूल या विसंगति क्यों हुई ?** यह गम्भीरतापूर्वक सोचने का विषय है। हमें जैनपक्ष में सार्थकता इस बात में नज़र आती है कि उसने ताम्राक्ष (रक्ताक्ष) की गणना देकर अपने साक्ष्य को प्रमाणीकृत बनाकर सामने रखा है; जबकि जैनेतर पक्ष में ऐसी प्रमाणीकरण प्रक्रिया नज़र नहीं आती।

दो : जैन पक्ष कुमारिलभट्टाचार्य के समय-निर्धारण में बुरी तरह से अस्त-व्यस्त या विफल रहा है। यथा—[१] जैन पक्ष कुमारिल भट्ट का जन्म युधिष्ठिर-संवत् २०७७ = ५५७ ई० पूर्व मानता है और भगवान् शंकराचार्य का जन्म युधिष्ठिर संवत् २१५७ = ४७७ ई० पूर्व का मानता है। **इस प्रकार दोनों स्थापनाओं में ८० वर्ष का अन्तराल** है। यथा २०७७ + ८० = २१५७ युधिष्ठिर-संवत्। इसमें पहली विसंगति यह है कि कुमारिल ८० वर्ष शायद ही जीवित रहे हों। अनुश्रुति के अनुसार कुमारिल ४८ वर्ष ही शंकराचार्य से ज्येष्ठ थे। जैनेतर पक्ष के अनुसार शंकर जन्म ५०९ + ४८ = ५५७ **कुमारिलजन्म** में अन्तराल स्पष्ट है। कुमारिल-शंकराचार्य की परस्पर भेंट का समय १२-वर्ष अलग से रख लें, तब ४८ + १२ = ६० वर्षों की संभावना बुद्धिगम्य है। कुमारिल की आयु ८० वर्ष मानना,

मानो कालगत अनेकों विसंगतियों को बुलाने के बराबर हैं। [२] दूसरी बात यह है कि कुमारिल आन्ध्र ब्राह्मण थे। भारत में आन्ध्र-सत्ता का अभ्युदय ३७६ ई० पूर्व में हुआ था—यह पौराणिक अभिमत है। अतः कुमारिल को ३७६ ई० पूर्व से निम्नतर शताब्दी में होना चाहिए;३७६ ई० पूर्व से ऊर्ध्ववर्ती शताब्द : अर्थात् ५५७ ई० **पूर्व में होना** एकदम से विसंगत है और ऐतिह्य गणना पर भारी पड़ता है।

तीन : घुणाक्षर न्याय से जैनेतर युधिष्ठिर-संवत् तथा जैन युधिष्ठिर-संवत् एकमेव फलितार्थ में सन्निहित हैं। [देखो अनुच्छेद-एक] अन्यथा जैन-सम्मत 'युधिष्ठिर-संवत्' की पहचान या प्रयोग या फिर उसके स्थापना वर्ष का अता पता किसी जैन ग्रन्थ में भी नहीं मिला। जैनेतर ग्रन्थ से उसके मिलने का सवाल ही पैदा नहीं होता। यहाँ तो प्रकृत लेखक ने साहस जुटाकर येन-केन प्रकारेण जैन युधिष्ठिर-संवत् का शुरुआती साल : **२६५४ ई० पूर्व का साल**—खोज निकाला है और हठपूर्वक स्थापित किया है। इसके लिए कोई ठोस प्रमाण या आधार उसके पास नहीं है। यदि कोई योग्य और कृतश्रम अनुसन्धायक इसके हेतु नया वर्ष या बिन्दु खोज निकाले और हमारी स्थापना को निरस्त कर सके—**हम उसका स्वागत करेंगे**। खोज का रास्ता हम बताए देते हैं। यथा—

ऊर्ध्ववर्ती गणना—

१—प्रभव = २८९४ ई० पूर्व;

१—प्रभव = २८३४ ई० पूर्व;

१—प्रभव = २७७४ ई० पूर्व;

१ = प्रभव = २७१४—६० = २६५४ ई० पूर्व = १ प्रभव

निम्नवर्ती गणना

२५९४ ई० पू०

२५३४ ई० पू०

२४७४ ई० पू०

२४१४ ई० पू०

विधि—२६५४ ई० पूर्व को १ – प्रभव संवत्सर = ०० युधिष्ठिर-संवत् को केन्द्र में रखकर हमने गणना की है। यदि कोई इस 'केन्द्र' से पहले षष्टि-चक्र में ले जाना चाहे, अथवा केन्द्र से बाद के षष्टि चक्र में गणना करना चाहे, वह आसानी से क्रोधी संवत्सर [३८] रक्ताक्ष संवत्सर [५८] खोज सकता है।

—उपसंहार—

हम जैन कालगणना के कटु-'आलोचक' हैं। परन्तु हमने यहाँ अपनी मानसिक कटुता या पूर्वाग्रह को किनारे पर रखकर विचार किया है। जो काल-गत विसंगतियाँ नज़र आई, वे सबके सामने परोस दी हैं। संभव है, किसी के पास इनका समाधान सुरक्षित हो; हम उसकी प्रतीक्षा करेंगे और उसका स्वागत भी। हम जानते हैं, जबतक **'जिन विजय'** महाकाव्य सर्व-सुलभ नहीं हो जाता; तब तक इसके निराधान य समाधान के लिए जो कुछ भी लिखा जाएगा—सब अटकलपच्चू होगा। ठोस, सतर्क एवं साम्प्रत अनुसन्धान नहीं होगा।

विविध काल-सारिणी : एक अनुशीलन

१	२	३	४	५	६	७
सप्तर्षि सं० काश्मीर-पक्ष	**युधिष्ठिर जैनेतरपक्ष**	**युधि० सं० जैन पक्ष**	**षष्टि-संवत्सर दा० परम्परा**	**कलि पूर्व कलि संवत्**	**ईसवी पूर्व** —	**टिप्पणी** —
६००*	—	—	—	७४	३१७९	मघा शतक

६२८	—	—	—	४६	३१४८	**भारत-संग्राम**
६७४	४६	—	**प्रमाथी** [१३]	००	३१०२	कलि आरम्भ
७००	७१	—	क्रोधी ३८	२५	३०७९	—
११४२	५१४	००	प्रभव-१	४६८	२६५४	जैन-स्थापना
३२१९	२५९१	२०७७	क्रोधी [३८]	२५४५	५५७	
३२५९	२६३१	२११७	तारण [१८]	२५८५	५१७	[?]

* सप्तर्षि-संवत् के बारे में विस्तृत जानकारी संवत्सर-प्रदीप : अध्याय प्रथम से प्राप्त करें। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि यह काश्मीर-सम्प्रदाय की काल-गणना है।

पौराणिक काल-गणना के अनुसार भारत-संग्राम सप्तर्षि-संवत् १०१५ = ३१४८ ई० पूर्व में घटित हुआ। काश्मीर-सम्प्रदाय के अनुसार तब ६२८ वाँ वर्ष था।

कलि-युगारम्भ के समय दाक्षिणात्य मतानुसार 'प्रमाथी' [१३] संवत्सर था। जैसा कि सिद्धान्तशिरोमणि का अभिमत है—**प्रमाथी प्रथमं वर्षं सर्गादौ ब्रह्मणा स्मृतम्**

वूल्हर की रिपोर्ट के अनुसार कलि-संवत् २५ में मघा शतक समाप्त हुआ और सप्तर्षि पूर्वाफाल्गुन में प्रविष्ट हुए—

"कलेर्गतैः सायक नेत्र [२५] वर्षैः सप्तर्षिवर्याः त्रिदिवं प्रयाताः।

लोके हि संवत्सर-पत्रिकायां सप्तर्षि-मानं प्रवदन्ति सन्तः।—वूल्हर

जैन-पक्ष द्वारा 'युधिष्ठिर-संवत्' की स्थापना। इसका स्रोत क्या है? अभी तक पता नहीं चला। हमने बलपूर्वक यह गणना स्थापित की है।

ऋषिर्वारः तथा पूर्णं मत्याक्षौ वाममेलनात् [२०७७]

एकीकृत्य लभेताङ्कः क्रोधी [३८] स्यात्तत्र वत्सरः॥ कुमारिल-जन्म।

उदयवीर शास्त्री ने २६३१ युधिष्ठिर-संवत् को ३१४० ई० पूर्व से गिनकर **३१४०-२६३१ = ५०९ ई० पूर्व माना है,** जो अशुद्ध है। इसकी खोज के लिए अग्रस्थित पंक्तियों का अवलोकन करें—

१	२	३	४	५	६	७
३२६७	२६१९	२१२५	नन्दन[२८]	२५९३	५०९	[?]
३२९१	२६६३	२१४९	अनल[५०]	२६१७	४८५	
३२९९	२६७१	२१५७	**ताम्राक्ष**[५८]	२६२५	४७७	+?
२७३२	३१०४	२५९०	**ईश्वर** [११]	३०५८	४५	मुख्य स्थापना
३८८९	३२६१	२७४७	**विभव** [२]	३२१५	११३ ई० संवत्	
४६६३	३९३५	३४२१	**विभव** [२]	३८८९	७८७	**आधुनिक मत**

पक्षान्तर में पढ़ा गया—"षड्विंशे शतके श्रीमान् युधिष्ठिर-शकस्य वै एकत्रिंशेऽथ वर्षे तु हायने नन्दने शुभे।

ठीक युधिष्ठिर-संवत् २६३१ = नन्दन संवत्सर = ५०९ ई० पूर्व होने पर भी युधिष्ठिर-संवत् ३१४० ई० पूर्व से चला—सन्दिग्ध है।

जैन पक्ष के अनुसार—"ऋषिर्बाणस्तथा भूमिः मर्त्याक्षौ वाममेलनात्। एकत्वेन भवेदङ्कः ताम्राक्षस्तर्हि वत्सरः।

एक ही बिन्दु पर दो परस्पर विरोधी निर्णय एक दूसरे का खण्डन करते हैं।

इसी के समर्थन में यह पाठ विचारणीय है—

"तिष्ये प्रयात्यनल-शेवधि-बाण नेत्रे।

ये नन्दने दिनमणा उद्गध्वभाजि ॥"

तिष्य का अर्थ कलियुग है। गणना शृंखला इस प्रकार है—

कलिसंवत् २५९३ = युधिष्ठिर संवत् २६३१ = नन्दन संवत्सर = ५०९ ई० पूर्व इस प्रकार दो-दो गणनाएँ समाहित नज़र आती हैं। केवल कलियुग की गणना मान्य होने पर युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१४० ई० पूर्व चिन्त्य है।

शृंगेरी मठ के सुरक्षित दस्तावेज़ के अनुसार कलि संवत् ३०५८ = ईश्वर संवत्सर [११] = ४५ ई० पूर्व के अनुसार शंकर-जन्म स्वीकृत है।

हमने सोचा, सप्तर्षि-संवत् ३८८९ = विभव संवत्सर के अनुसार शंकर का जन्म-समय स्थिर मान लें—परन्तु हमने अपना पक्ष निर्णय स्वयं वापस ले लिया।

यह आधुनिक विचारधारा के अनुरूप है—

"निधि-नागेभ-वह्नयब्दे विभवे मासि माधवे।

शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शंकरार्योदयः स्मृतः ॥

कलि संवत् ३८८९ = विभव संवत्सर = ७८७ [३३ = ८२० ईसवी में निधन] में शंकराचार्य का समय आधुनिक विद्वानों की सोच है।

परन्तु ये सभी पक्ष एकांगी हैं। ये पक्ष शंकराचार्य महाराज का जन्म वर्ष तो मानते हैं, परन्तु अन्य घटनावलियों के बारे में मौन हैं।

यह समूचे पूर्वपक्ष का कालचित्र है।

महामनीषी पण्डित बाल गंगाधर तिलक

अनुसन्धान एक दुष्कर कार्य है। जिनके लोकोत्तर चरित्र एवं स्पृहणीय गुणों का अनुवाद करते-करते कभी थकावट महसूस नहीं होती; जिनके अपारावारीण वैदुष्य के आगे नतमस्तक रहना अपना धर्म हो जाता है; दुर्भाग्यवश [दुर्भावनावश नहीं] उनके छल-छिद्रों की ओर ध्यान देना पड़ता है। **इससे बढ़कर अनुसन्धायक का दारुण कर्म और क्या हो सकता है?** हम यही दुष्ट कर्म करने जा रहे हैं:—.

राजनीति के अपराजेय खिलाड़ी राष्ट्रवाद के शलाका पुरुषों के शिखर-मणि महामनीषी बाल गंगाधर तिलक ने श्रीमद्भगवद् गीता की स्वर्णिम टीका करते समय 'ब्रह्मसूत्र' की सोदेश और सटीक चर्चा की। 'ब्रह्मसूत्र' के नाम के साथ आदि शंकराचार्य का पवित्र नाम सन्नद्ध है। इसी प्रसंग में पण्डितप्रवर बाल गंगाधर तिलक लिखते हैं—

"प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठक ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर श्रीशंकराचार्य का जन्मकाल ७४५ विक्रमी संवत् (६१०) निश्चित किया है। परन्तु हमारे मत से इस काल के सौ वर्ष और भी पीछे हटना चाहिए। क्योंकि महानुभाव पन्थ के 'दर्शन-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में यह कहा है, कि "युग्मपयोधिरसान्वितशाके" अर्थात् शक ६४२ (विक्रमी संवत् ७७७) में शंकराचार्य ने गुहा में प्रवेश किया; और उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। अतएव यह सिद्ध होता है, कि उनका जन्मशक ६१० (संवत् ७४५) में हुआ हमारे मत में यही समय—प्रोफैसर पाठक द्वारा निश्चित किए हुए काल से—कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।"

—गीता की बहिरङ्गपरीक्षा; गीता रहस्य; पृष्ठ ५६९,

भारत में धर्म प्रचारक अनेक सम्प्रदाय है, उनमें एक सम्प्रदायिक का नाम—'**महानुभाव पन्थ**' है। उस पन्थ के रचित ग्रन्थों में 'दर्शनप्रकाश' नामक एक ग्रन्थ है। 'दर्शन-प्रकाश' के रचयिता ने अपने से पूर्ववर्ती किसी पुस्तक का श्लोकांश उद्धृत किया है। यह उद्धृत पाठ कितना पुराकालीन है ? कोई नहीं जानता। भगवान् तिलक में श्लोकांश ही उद्धृत किया है; काशी के महापण्डित बलदेव उपाध्याय में उक्त श्लोकांश को समग्र श्लोक में व्यापृत करके लिखा है:

युग्मपयोधिरसान्वितशाके
रौद्रकवत्सर-ऊर्जकमासे।
वासर ईज्य उताचलमाने
कृष्णातिथौ दिवसे शुभ योगे।
शंङ्करलोकमगान् निज गेहं
हिमगिरौ प्रविहाय हठेन।

—शंकर पद्धति [?]

इस श्लोक को उद्धृत करने वाले 'दर्शन-प्रकाश' का समय निश्चित है—१५६० शकाब्द = १६३८ ईसवी। इस श्लोक के आधार पर भगवान् आदि शंकराचार्य का समय शकाब्द ६४२ = ७२० ईसवी संवत् ठहरता है। **यह विलोम गणना है।** चाहिए था—जन्मकाल बताना; उस के वज़न पर निधनकाल स्थिर करना ही उचित है। यहाँ जन्मकाल की अपेक्षा निधन काल—शकाब्द ६४२ बताकर शकाब्द शंकराचार्य के जन्मकाल सोचने का मार्ग अपनाया गया है।

अन्तर केवल सौ वर्षो का है—

पहली आपत्ति : किसी महापुरुष की 'जन्मतिथि' इतनी संकुल बिन्दुओं पर चर्चित नहीं होती। सत्य दो नहीं होते और साथ-साथ नहीं होते। तथाकथित दो 'सत्य' अपनी प्रघातक किरणों द्वारा अपने को 'यथार्थ' और समीपस्थ वस्तु को 'अयथार्थ' सिद्ध कर देता है। स्वर्ण अपनी आकर्षक चमक से समीपस्थ वस्तु को 'पीतल' बता देता है। सौभाग्य वश, सम्मुख दोनों वस्तुएँ स्वर्ण हैं, पीतल नहीं हैं। दोनों की पहचान नितरां स्पष्ट है—

	शकाब्द ६४२ = रौद्रक संवत्सर	**तिरोधानकाल**
	कलिसंवत् ३७२१ = रौद्रक संवत्सर	
जन्मकाल	**शकाब्द ७१० = विभव संवत्सर ।**	
	कलि संवत् ३८८९ विभव संवत्सर ।	

षष्टि-संवत्सर की शृंखला किसी भी पक्ष में कमज़ोर नहीं होने देगी । समतौल पर स्थित दोनों मान्यताएँ सयुक्तिक हैं । **दोनों पक्ष एक दूसरे को अपदस्थ करने में सक्षम हैं ।**

दूसरी आपत्ति : जो अनुसन्धायक 'कलिसंवत्' के रास्ते पर चल पड़े हैं; वे कुछ सीमा तक सक्षम हैं । कारण, कलिसंवत् की परिभाषा और शृंखला निश्चित है । प्रत्येक प्रदेश में कलि संवत् की गणना 'एकमेव' है । परन्तु शकाब्द की गणना और शृंखला भिन्न-भिन्न है । काश्मीर में परम्परागत शक-गणना ६२२ ई० पूर्व से जाती मानी है । काश्मीर के नीचे धरातल पर शक संवत् ६६ ईसवी से गिना जाता है दक्षिण का शकाब्द उससे १२ वर्ष परवर्ती है । **यह ठीक है—दक्षिण की काल-गणना के अनुसार शकाब्द ६४२ = रुद्र संवत्सर गणना-सिद्ध है ।** इस पर कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती । परन्तु यह कैसे सिद्ध हो—यह शकाब्द परम्परासिद्ध है ? जब कि इसके आसपास शकाब्दों का जाल बिछा हुआ है । इन शंकाओं का निवारण परमावश्यक है ।

उचित परामर्श—

हमने 'राजतरंगिणी' का निष्ठापूर्वक अध्ययन करते समय **६२२ ईसवी पूर्वकालीन शकाब्द** खोज निकाला है । स्कन्दपुराण के शकाब्द-बोधक पाठ का अर्थाधान प्रस्तुत करते हुए भी उसकी एक अन्य शाखा **६५८ ईसवी पूर्वकालीन** भी मानी है । अगर 'शंकर-पद्धति' के श्लोक का अर्थाधान इस रीति से मान लें, बात बन भी सकती है । यथा—

"युग्मपयोधिरसान्वितशाके"

पयोधि = समुद्र । समुद्र 'चार' अंकों का द्योतक है । युग्म का अर्थ है—जोड़ा । जो वस्तुएँ दो से जुड़ी हुई हैं—उन्हें 'युग्मक' कहा जाता है । **जुड़वाँ सहोदरों को 'युग्मक' कहते ही हैं ।** अत: यहाँ युग्म का अर्थ 'दो' नहीं है; बल्कि समुद्र युग्मक है । यथा—

युग्म	पयोधि		—रसान्वितशाके =
४	४	६ =	वामतोगतिः ६४४

अर्थात् प्राचीन शक के ६४४ वें वर्ष में आदि शंकराचार्य ने गुफा में प्रवेश किया है । "युग्म-पयोधि-रसान्वित शाके" का अर्थ ६४२ नहीं है, बल्कि **६४४ शकाब्द है,** इसे परिपुष्ट कर रहा है, श्लोकार्थ में उपस्थित **रौद्रक संवत्सर** [५४] इसका गणना-विधान इस प्रकार है—

औदीच्य गणना	**दाक्षिणात्य गणना—**
३१०१ = ईसवी पूर्व का वर्ष	३१०१ = ईसवी पूर्व का वर्ष
—१४ न्यून किए;	+ ७२० = ईसवी वर्ष में परिणत
३०८७ = कलि-संवत्सर	+ १३ = प्रमाथी वत्सरांक
+ २७ = विजयवत्सरांक	**३८३४ समग्रयोग**

शेषांक पृष्ठ १२१ पर

३११४ = समग्र योग
÷ ३०० विभक्त किया
११४ [६०x६ = ३६०]
−६०
५४ रौद्रक संवत्सर।

—३६० [६०x६ = ३६०]
२३४
—१८० [६०x३ = १८०]
५४ रौद्रक संवत्सर।

उभय गणनाओं में वर्तमान मौलिक अन्तर को समझना आवश्यक है। जबकि दोनों का समाहार 'रौद्रक-संवत्सर [५४] में है; यथा—

क—(१) औदीच्य गणना कलिसंवत् ३०८७ पर केन्द्रित है।

(२) दाक्षिणात्य गणना कलिसंवत् ३८२१ पर केन्द्रित है।

दोनों गणनाओं में ७३४ वर्षों का व्यवधान है।

ख—(१) औदीच्यगणना 'विजय संवत्सर' (२७) से आरम्भ होती है।

(२) दाक्षिणात्य गणना 'प्रमाथी संवत्सर (१३) से आरम्भ होती है।

उभय गणनाओं में १४ वर्षीय पौर्वापर्य क्रम वर्तमान है।

ग—(१) औदीच्य गणना में ६४४ शक = १४ ई० पूर्व ग्राह्य है।

(२) दाक्षिणात्य गणना में ६४२ शक = ७२० ईसवी वर्ष ग्राह्य है।

घ—(१) औदीच्य गणना में अनेकों बहिः साक्ष्यों का समर्थन प्राप्त है।

(२) दाक्षिणात्यगणना में बहिः साक्ष्य-समर्थन का प्रायः करके अभाव है।

ङ—(१) औदीच्य गणना प्राचीनतम है।

(२) दाक्षिणात्य गणना अधुनातम है।

च—(१) जब औदीच्य गणना में रौद्रक संवत्सर था, तब दाक्षिणात्य गणना में भाव (८) नामक संवत्सर था।

(२) जब दाक्षिणात्य गणना में रौद्रक संवत्सर था, तब औदीच्य गणना में भाव (८) नामक संवत्सर था।

—पूर्ववत् १४ वर्षीय पूर्वापर क्रम

[५४ + १४ = ६८—६० = ८ भाव]

यह गणना-चित्र सामने रखना इसलिए आवश्यक था कि कहीं इसमें शंका-कीटाणु प्रवेश कर इसे प्रदूषित न करें। इस षष्टि-संवत्सर चक्र का नियमित एवं पुनः पुनः प्रत्यावर्तन इस प्रकार है—

७३४ ÷ ६० [१२x६० = ७२०] शेष १४

वास्तव में 'शंकर-पद्धति' का काल-बोधक शकाब्द = रौद्रक संवत्सर किसी प्राचीन परम्परा का अवशेष था, जिसे पण्डित प्रवर बाल गंगाधर तिलक ने उसे अभीष्ट ढांचे में ढालकर उसे कहीं से कहीं ला पटका। और-तो-और किसी अभिनवशंकराचार्य का समय ८२० ईसवी से १०० वर्षीय पहल कदमी से उसे भी संशयास्पद बना दिया। संस्कृत में एक सूक्ति प्रचलित है—**यः स्वयमसिद्धः, स कथं अन्यान् साधयिष्यति?** महामनीषी तिलक महोदय न तो पूर्वपक्ष को ग्रहण कर सके, न परवर्ती पक्ष को। **वह पक्ष स्वयं तो असिद्ध था ही।**

हम महामान्य बाल गंगाधर तिलक के प्रति अपनी अक्षय निष्ठा का पालन करते हुए—**बड़ी विनम्रता के साथ उनके पक्ष को अमान्य ठहराते हैं।**

इलाहाबाद के विद्वान् पण्डित इन्द्र नारायण द्विवदी ने इस अभिमत पर टिप्पण अंकित करते हुए लिखा है :

"लोकमान्य तिलक ने 'दर्शनप्रकाश' के कर्त्ता महानुभाव पन्थ जी के वचन में क्या विशेषता पायी, और क्यों पाठक जी की अपेक्षा पन्थ जी के लेख को अधिक सयुक्तिक लिखा, यह तो भगवान् जानें, किन्तु प्रोफेसर पाठक जी के पक्ष में हमको अधिक प्रमाण मिलते हैं। आर्य विद्यासुधाकर में यज्ञेश्वर शास्त्री ने लिखा है कि—

शंकराचार्य-प्रादुर्भावस्तु विक्रमार्कसमयादतीते पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशतीमिते [८४५] संवत्सरे केरलदेशे कालपीग्रामे..। तथा **च साम्प्रदायिका आहुः**—'निधिनागेभवह्नयब्दे विभवे मासि माघवे। शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शंकरार्योदयः स्मृतः॥ इति ३८८९ ॥ तथा च **शंकरमन्दारसौरभे नीलकण्ठभट्टा** अपि एवमाहुः—'प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्यामेकादशाधिकशतोनचतुसहस्र्याम्" ॥ ३८८९ ॥

अर्थात्—शंकराचार्य का प्रादुर्भाव ८४५ विक्रम संवत् में केरल देश के कालपी ग्राम में हुआ था, जैसा कि सम्प्रदाय के जानने वालों ने कहा है कि ३८८९ [कलियुगीय] गताब्द में, विभव नामक संवत्सर, वैशाख मास, शुक्लपक्ष की दशमी तिथि को शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार 'शंकरमन्दारसौरभ' में नीलकण्ठ भट्ट ने भी लिखा है कि कलियुगीय चार हजार गताब्द में से एक सौ ग्यारह वर्ष घटा देने से जो संख्या शेष रहती है, उतने कलिगताब्द में शंकराचार्य प्रादुर्भूत हुए हैं! इन सबके मत से **शंकराचार्य** का प्रादुर्भाव काल वि० संवत् ८४५ ही होता है।"

—कल्याण, गोरखपुर; ११/अंक ८

एक अभिमत के सामने अन्य अभिमत रख देने से 'टिप्पणी' सजीव नहीं, निर्जीव रह जाती है। हम मानते हैं—महानुभाव पन्थ का साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'दर्शन-प्रकाश' एक आप्त रचना है। उसमें 'शंकरपद्धति' को उद्धृत करके एक पुरागत स्थापना को हमारे पास तक पहुंचाया है—यह बहुत बड़ी बात है। बस भगवान् तिलक ने अभीष्ट फ्रेम में उतारा है; जब कि हमने उसी के रूप रंग को—जो उसे परम्परा में प्राप्त है—निखार दिया है। हमारा तिलक महोदय से मतभेद है, जो उचित है; उनके प्रति रुसवाई नहीं है; होती तो अनुचित होती।

पण्डित देवव्रत जी, पाण्डिचेरी,

प्रकृत लेखक अरविन्दाश्रम पाण्डिचेरी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित देवव्रत जी का विचारोत्तेजक लेख पढ़कर अभिभूत हुआ। उक्त लेख वाराणसी से प्रकाशित 'वेदवाणी' [वर्ष १९/अंक ५] में प्रकाशित है। उसे संस्कृत के महारथी पण्डित उदयवीर शास्त्री ने अपने रचित ग्रन्थ 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' में पुनः प्रकाशित किया है। उक्त निबन्ध पं० उदयवीर शास्त्री का पृष्ठ-पोषण करता है। हमने पं० उदयवीर शास्त्री को 'पूर्वपक्ष' में लेते हुए उन पर यत्किंचित् लिखा है। यहाँ पुनरुक्ति के भय से पं० देवव्रत जी पर लिखना उचित नहीं लग रहा; तथापि निबन्ध में से कुछ नवीनता लिये हुए कथ्य पर टिप्पणी लिखने के मोह से हम मुक्त नहीं हो सके। लिख रहे हैं। यथा—

"वास्तविकता तो यह है कि भृंगेरी के शंकराचार्य श्रीनृसिंहभारती के पूर्व ये शोधक श्रीशंकराचार्य के जन्मस्थान तक का पता नहीं लगा सके थे, जबकि शंकराचार्य के जन्मकाल से अधिक विवादग्रस्त विषय भारत के इतिहास में शायद ही और कुछ हो। विदेशी और भारतीय शोधकों ने इतिहास को अप्रामाणिक मानकर निम्नांकित प्रमाणों के आधार पर शंकराचार्य को ८वीं शती का माना है और आज उन्हीं प्रमाणों का क्रमशः विश्लेषण करके हम देखेंगे कि वे कहां तक उचित ठहरते हैं। इस दिशा में सर्व श्री कोट्टावेंकटाचलम्, नारायण शास्त्री, नटराज अय्यर और लक्ष्मीनृसिंह शास्त्री ने पर्याप्त शोध करके इन प्रमाणों की अप्रामाणिकता सामने रख दी है"

हम इस निबन्धांश में कुछ-अधिक जोड़ना चाहते हैं। श्रीमान् नृसिंहभारती जी एक ऐसी भगवान् शंकराचार्य की परवर्ती शिष्य-परम्परा की मध्य रेखा पर अवस्थित है; जहाँ श्रीमच्छकराचार्य के वस्तुजाल को सविवाद/निर्विवाद रूप में पाते हैं। अर्थात् नृसिंहभारती से पूर्व शांकर इतिहास विवाद में आ गया है और उनसे परवर्ती इतिहास पर किंचित्-किंचित् भरोसा किया जा सकता है। हम समझते हैं—**शंकराचार्य की तिथि तालिका को युधिष्ठिर-संवत् का आयाम देने का काम श्री नृसिंहभारती महानुभाव ने किया है।** श्रीनृसिंहभारती से पूर्व उक्त तिथि तालिका किसी अन्य संवत्सर के साथ संलग्न थी। **हमारा अनुमान यह भी है कि वह कालगणना 'सप्तर्षि-संवत्' की थी!** जो हो, उस तथाकथित कालगणना को अज्ञान-कंथा पहना कर आचार्य प्रवर नृसिंहभारती जी ने कोई बढ़िया काम नहीं किया। उसे युधिष्ठिर-संवत् का आयाम देना सचमुच चमत्कार पूर्ण कार्य होता, यदि **श्री नृसिंहभारती युधिष्ठिर-संवत् को भाषा-निबद्ध कर जाते।** नहीं किया। सो गड़बड़ हो गई। किसी ने युधिष्ठिर-संवत् का मूल बिन्दु। [कहाँ से गणना आरम्भ होती है] ३१७२ ईसवी पूर्व ठहरा लिया है, और किसी ने ३१४० ईसवी पूर्व। जो बात साफ झलकती है—वह है भगवान् शंकराचार्य ३२ वर्ष जीवित रहे। इन ३२ वर्षों के वज़न पर **युधिष्ठिर-संवत् ३१७२/३१४० ई० पूर्व** की कल्पना भी की गई है, जो सर्वथा अपौराणिक है। पुराणमतानुसार सप्तर्षि संवत् १०१५ = ३१४८ ई० पूर्व में भारत संग्राम धटित हुआ और वहीं से 'युधिष्ठिर-संवत्' मानना उचित है। कल्पना और यथार्थ की मध्य रेखा हैं—**आचार्य श्री नृसिंहभारती।**

"सर्वप्रमुख प्रमाण है—कम्बोडिया का शिलालेख। कम्बोडिया बृहत्तर भारत का एक अंश था और वहां शिवसोम-लिखित ८वीं शती के शिलालेख में कहा गया है—

> **येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छङ्कराह्वयात्।**
> **निश्शेषसूरिमूर्द्धालिमालालीढाङ्घ्रिपङ्कजात्॥**

शिवसोम ने जयवर्मन् के पौत्र इन्द्रवर्मन् को देखा था। जयवर्मन् का काल ८०२ ई० है और ८७८ ई० में इन्द्रवर्मन् का राज्य होने के कारण यह शिवसोम शंकराचार्य का सबसे छोटा शिष्य रहा होगा और शंकराचार्य इन्द्रवर्मन् ने कुछ पहले तक अवश्य रहे होंगे। श्री टाइल के से श्री पाठक द्वारा समर्थित इस मत को इस शिलालेख से पूरा समर्थन प्राप्त होता है कि शंकराचार्य का समय ७८८-८२० ई० था।

किन्तु, यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या यहां शंकराचार्य से आशय आदि शंकर से है या किसी पीठ के अन्य शंकराचार्य से? परम्परानुसार इस काल में हम अभिनवशंकर को काञ्ची में मठाधिपति के रूप में पाते हैं। इनका काल ७८७—८४० ई० है। ये ३८ वें आचार्य है और पाँचवें व्यक्ति हैं, जिनके नाम के साथ मठाधीशों में शंकर शब्द जुड़ा है। वाक्पतिभट्ट ने इनकी जीवनी प्रसिद्ध ग्रन्थ **'शंकरेन्द्रविलास'** में लिखी है और ये कई अन्य विद्वानों द्वारा भी भूल से आदि शंकराचार्य समझ लिये गये हैं। आदि शंकर के नाम पर प्रचलित आनन्दलहरी और सौन्दर्यलहरी कृतियां वास्तव में आदि-शंकर की नहीं, अभिनवशंकर की हैं।

अभिनवशंकर **'चिदम्बरम्'** के एक ब्राह्मण विश्वजित् के पुत्र थे और सन्त व्याघ्र पाद ने? इनका यज्ञोपवीत कराया था। (मनोरञ्जक बात यह है कि **'कलादी'** की खोज के पूर्व विद्वान् चिदम्बरम् को ही शंकराचार्य का जन्म स्थान मानते थे)। मठ पर आने के बाद इन्होंने दिग्विजय किया। कश्मीर दरबार के प्रसिद्ध पण्डित वाक्पतिभट्ट को शास्त्रार्थ में हराया और तीस वर्ष मठाधीश रहने के बाद वे कैलास गये और आत्रेय पर्वत की दत्तात्रेय गुफा में विलीन हो गये। यही गुहाप्रवेश बाद में आदि-शंकर के गुहाप्रवेश के रूप में प्रसिद्ध हो गया, जबकि आदि-शंकर ने ४७७ ई० पूर्व में काञ्ची में ही देहत्याग किया था। अतः शिवसोम के जीवनकाल ७८८ से ८४८ ई० के बीच तो अभिनवशंकर ही काञ्ची के शंकराचार्य थे। अभिनवशंकर आदि-शंकर के समान ही प्रतापी थे और शिवसोम ने इन्ही का उल्लेख

शिलालेख में किया है। रहा शब्द भगवान्, तो प्रत्येक शिष्य को अधिकार है कि अपने गुरु को भगवान् माने और यह भी सम्भव है कि काञ्ची से कम्बोडिया जाते-जाते शिवसोम ने अभिनव शब्द को भगवान् कर दिया हो।"

अथ मीगांसा

हम कम्बोडिया के इतिहास से अनभिज्ञ हैं। उस पर साधार एवं सयुक्तिक लिखना हमारी सीमा से परे हैं। परन्तु 'राजतरंगिणी' में हमारा यत् किंचित् दखल है। उसमें लिखा है—

"कविर्वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यादिसेवितः।

जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुति विन्दिताम्॥" राज ४/१४४

'वाक्पतिकविराजा' ललितादित्य का सभाकवि था। **हमारी काल-गणना के अनुसार ललितादित्य का समयः**

सप्तर्षि संवत् ४३५५ = प्राचीन शक १२०१ = ईसवी ५९९

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका : ६८/१-२; संवत् २०२० पृष्ठ २३,

है। इसे ध्यान में रखते हुए किसी अन्य शंकर अपरनामा व्यक्ति की खोज करनी चाहिए। यह संभव नहीं है—इन्द्रवर्मा का गुरु शिवसोम शंकराचार्य का कनिष्ठतम शिष्य हो उसका समय शंकरपरवर्ती (७८८-८२० ई०) समय ले जाना इतिहास के विपरीत होगा। हमारी कालगणना में ३०-४० वर्षों का आगे-पीछे होना संभव है; परन्तु २०० वर्षों को पारकर (५९९ + २०० = ७९९) वाक्पति-शिवसोम-इन्द्रवर्मन् को इतिहास की सीमारेखा पर लाना सम्भव नहीं है।

हम समझते हैं—कम्बोडिया के इतिहास का पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए।

[२]

"पूर्वमीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य कुमारिल भट्ट से शंकर की भेंट एक ऐतिहासिक घटना है, और पूर्वमीमांसा का काल ७०० ई० के पूर्व नहीं माना जाता। कुमारिल से छोटे होने के कारण शंकराचार्य ७ वीं शती के अन्त में रहे होंगे। यह उनका दूसरा प्रमाण है।

इतिहास में कुमारिल भट्ट का समय निश्चित नहीं है, कुमारिल के विरोधियों ने आक्रोशपूर्ण शब्दों में उनका समय निश्चित कर दिया है। जैनों के ग्रन्थ 'जिनविजय' के अनुसार—

आन्ध्रोत्कलानां संयोगे पवित्रे जयमङ्गले।

ग्रामे तस्मिन् महानद्यां भट्टाचार्यकुमारकः॥

आन्ध्रजातिस्तैत्तिरीयो माता चन्द्रगुणा सती।

यज्ञेश्वरः पिता यस्य...... ॥

अथ आक्रोशपूर्ण शब्द सुनिये—

महावादिर्महाघोरः श्रुतीनां चाभिमानवान्।

जिननामान्तकः साक्षाद् गुरुद्वेष्यतिपापवान्॥

स्पष्ट है कि कुमारिल यज्ञेश्वर और चन्द्रगुणा के पुत्र आन्ध्र ब्राह्मण थे। इसी ग्रन्थ में पारम्परिक रूप से कुमारिल की जन्मतिथि भी ठहरती है—

ऋषिर्वारस्तथा पूर्ण मर्त्याक्षौ वाममेलनात्।

एकीकृत्य लभेताङ्कं क्रोधी स्यात्तत्र वत्सरः ॥

भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डैकवादिनः ।

ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके ॥

इस श्लोक का अर्थ समझने से पहले भारतीय इतिहास-परम्परा में प्रयुक्त संवतों से परिचय आवश्यक है।

(क)—कलि-संवत्—यह ३१०२ ई० पूर्व से प्रारम्भ होता है।

(ख)—हिन्दू युधिष्ठिर-संवत्—कलि से ३६ वर्ष पूर्व या ३१३८ ई० पूर्व से प्रारम्भ होता है।

(ग)—जैन युधिष्ठिर-संवत्—४६८ कलि या २६३४ ई० पूर्व से प्रारम्भ होता है।

अब श्लोक देखें—ऋषि = ७, वार = ७, पूर्ण = ०, मर्त्याक्षौ = २, इन्हें बाई तरफ से रखने पर (अंकानां वामतो गतिः) जैनों का २०७७ युधिष्ठिर-संवत् आता है।

अब २६३४ ई० पूर्व से २०७७ युधिष्ठिर-संवत् घटा देने पर ५५७ ई० पूर्व को हमें कुमारिल भट्ट का जन्मकाल मानना होगा।

शङ्कराचार्य के सहपाठी और प्रथम जीवनीकार एवं शिष्य चित्सुखाचार्य ने बृहत्शङ्करविजय ग्रन्थ में लिखा है कि कुमारिल शङ्कराचार्य से ४८ वर्ष बड़े थे, यानी ५५७ से ४८ निकाल दीजिये, तो शंकराचार्य का जन्मकाल ५०९ ई० पूर्व ही ठहरता है।"

अथ मीमांसा

हमारे आदरणीय विद्वान् देवव्रत जी आदरणीय जैनग्रन्थ प्रतिपादित शंकराचार्य से पूर्ववर्ती कुमारिल भट्ट का समय युधिष्ठिर-संवत् २०७७ स्वीकारते हैं और ५५७ ई० पूर्व में उसे वर्तमान भी मानते हैं। मामला बड़ा गम्भीर है।

कुमारिल आन्ध्र ब्राह्मण थे। प्रतिष्ठानपुर के आन्ध्र जब सत्ता में आए, तभी कुमारिल का उदय युक्ति-संगत है। आन्ध्रवंश का उदय ३७६ ई० पूर्व में हुआ—यह पौराणिक मान्यता है। जैसा कि ब्रह्माण्डपुराण का पाठ है—

"सप्तविंशैः शतैर्भाव्या आन्ध्राणां तेऽन्ययाः पुनः।

सप्तर्षियों का मघा शतक ३०७६ ई० पूर्व में समाप्त हुआ, जैसा कि वूल्हर की रिपोर्ट से पता चलता है; उससे २७०० वर्ष पश्चात्, अर्थात्—

३०७६-२७०० = ३७६ ई० पूर्व।

३७६ ई० पू० में आन्ध्र सत्ता में आए। **तर्क का तकाज़ा है—३७६ ई० पू० से पहले कुमारिल भट्ट को ले जाना सर्वाङ्गतः अनैतिहासिक है।**

दूसरी बात श्री देवव्रत जी ने लिखी है—(१) हिन्दू युधिष्ठिर-संवत् कलि से ३६ वर्ष पूर्व या ३१३८ ई० पूर्व से आरम्भ होता है। (२) जैन युधिष्ठिर-संवत्—४३८ कलि या २६३४ ई० पूर्व से आरम्भ होता है।

यहाँ पहुंचकर पं० देवव्रत गच्चा खा गए। प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या 'भारत-संग्राम' दो बार हुआ? पहला ३१३८ ई० पूर्व में दूसरा २६३४ ई० पूर्व में? इनमें एक का चुनाव होना चाहिए। सत्य एक होता है, दो नहीं। यहाँ दो-टूक चुनाव और निर्णय लेना इसलिए आवश्यक है कि भारत-संग्राम के बाद युधिष्ठिर का अभिषेक होना जुड़ा हुआ है और अभिषेक के पश्चात् युधिष्ठिर-संवत् की बात जुड़ी हुई है।

चूंकि जैन युधिष्ठिर संवत् के आधार पर कुमारिल का समय निश्चित होना है, जैसा कि पं० देवव्रत जी ने लिखा है : **युधिष्ठिर संवत् २६३४-२०७७ = ५५७ ई० पूर्व में कुमारिल का जन्मकाल मानना होगा।** वह अपनी बात की पुष्टि के लिए तर्कान्तर भी खोजकर लाते हैं और लिखते हैं—**शंकराचार्य के सहपाठी चित्सुखाचार्य लिखते हैं—कुमारिल शंकराचार्य से ५८ वर्ष बड़े हैं।** बात बड़ी सटीक है। शंकराचार्य का समय ५०९ ई० पूर्व में मानने वाले गिरोह में श्री देवव्रत जी खड़े हो गए हैं। सो ५०९ + ४८ = **५५७ ई० पूर्व** का खण्डन कोई कैसे कर सकता है। पं० देवव्रत जी के उपर्युक्त कथन से निम्न तथ्यों का संदोहन कर सकते हैं। यथा—

[१] जैन ग्रन्थों की तुलना में देवव्रतजी पुराणशास्त्र को नगण्य मानते हैं। अब हमें इतिहास को खंखालने के लिए जैन शास्त्रों का अवलम्बन लेना होगा।

[२] अगर तर्कान्तर या प्रमाणान्तर से किसी मिथ्या स्थिति का पोषण होता है, उसे सत्य या यथार्थ मान लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। हमें परिताप इस बात का भी है कि श्रीयुत देवव्रत जी ने कुमारिल का समय शोध करते समय 'हरिस्वामी' का उल्लेख नहीं किया; हालांकि वह कुमारिल भट्ट एवं आद्य शंकराचार्य के मध्य में 'कालसेतु' की स्थिति रखता है। यह समूचा संदर्भ नवीन और अलग से शोध/लेख का विषय है।

बात अभी खत्म नहीं हुई। ५५७ई० पूर्व में कुमारिल भट्ट का जन्म प्रतिपादित करने वाले जैन ग्रन्थ कुमारिल तथा शंकराचार्य की आपस में हुई 'भेंट' का उल्लेख नहीं करते, क्यों ? इसका उत्तर चाहिए।

"जिनविजय में शंकराचार्य की मृत्युतिथि इस प्रकार दी गई है—

ऋषिर्बाणस्तथा भूमिर्मर्त्याक्षौ वाममेलनात्।

एकत्वेन लभेताङ्कस्ताम्राक्षा तत्र वत्सरः॥

अर्थात् ऋषि = ७, बाण = ५, भूमि = १, मर्त्याक्षौ = २, इन्हें बाईं ओर से देखिये, तो २१५७ युधिष्ठिर संवत् आया। अब २६३४-२१५७ = ४७७ ई० पूर्व शंकराचार्य का मृत्युवर्ष निश्चित हुआ।

पुण्यश्लोकमञ्जरी के अनुसार भी शंकराचार्य का देहावसान २६२५ कलि या ३१०२-२६२५ = ४७७ ई० पूर्व में हुआ। क्या जैन तथा पुण्यश्लोकमञ्जरी के संकलनकार एक साथ मिलकर यह असतर्कता कर रहे थे ?"

अथ मीमांसा

शोध-जगत् के पाप-पुण्य और अपराध अलग किस्म के होते हैं। पं० देवव्रत जी जिस तिथि [युधिष्ठिर-संवत् २१५७ = ४७७ ई० पू०] को शंकराचार्य की मृत्यु तिथि लिख रहे हैं, वह वास्तव में 'जिन विजय' के मतानुसार शंकराचार्य की जन्मतिथि प्रतिपादित है। पण्डित जी ने जिस जिनविजय-पाठ को छुपाकर रखा है, वह इस प्रकार है। यथा—

"विश्वजित् पिता यस्य नियतिश्च चिदम्बरे।

तस्य भार्याऽम्बिका देवी शङ्करं लोकशङ्करम्।

प्रासूत सर्वलोकस्य तारणाय जगद्गुरुम्॥"

अपने आचार्यों ने हमें निष्कपट भाव से यह पढ़ाया है—**गलत मार्ग पर चलने वाला अनुसन्धायक कभी अपनी मंजिल तक नहीं पहुंचता।** 'जिनविजय' अधुना अनुपलब्ध रचना है। हम तटस्थ भाव से उसका मूल्यांकन नहीं कर सके। शोध-जगत् में सक्रिय भागीदार महानुभावों ने जो-जो पाठ उपस्थापित किये हैं उनमें विसंगति साफ-साफ झलकती है। जो तिथि घूमफिर कर शंकराचार्य के लिए 'मृत्युतिथि' ठहराई जाती है, 'जिनविजय' का

प्रणेता [जिसे कोई नहीं जानता] उसी तिथि को भगवान शंकर की 'जन्मतिथि' मान रहा है। इन आंकड़ों से दोनों प्रतीक पुरुषों के मध्य ८० वर्ष का अन्तराल उदित होता है, जब कि बताया जाता है—वह अन्तराल ४८ वर्षों का है। कोई इसमें आँकड़ों की चूक भी नहीं बता सकता। कारण, कुमारिल के जन्मवर्ष का नाम क्रोधी [३८] है; आचार्य शंकर के वर्ष का नाम ताम्राक्ष [= रक्ताक्ष = ५८] है; ये दोनों संवत्सर ८० वर्ष की दूरी बनाए हुए हैं। यथा—

क्रोधी ३८ + ८० = ११८-६० एक चक्र पश्चात् = ५८ रक्ताक्ष [ताम्राक्ष]

वही हुआ, जिसका भय था। जो जैन समाज अपने जैन-इतिहास को कालक्रमानुसार सुष्ठु नहीं रख सका, वह जैनेतर-इतिहास के कालक्रम को ध्यान में रखते हुए—उसका निर्वाह कर पाएगा? विश्वास ही नहीं था। हम यह कहते हैं—यह सब जानबूझ कर किया गया है? नहीं; इतिहास और कालगणना जैन समाज की प्रकृति में शामिल नहीं है।

हमें जैन समाज से कोई शिकायत नहीं है। हमें शिकायत है अरविन्दाश्रम के विद्वान् पण्डित देवव्रत से।

३ - ४ - ५

"अब जरा अन्तः साक्ष्य पर दृष्टिपात कीजिये। पद्मपादाचार्य शंकर के शिष्य थे। और उन्होंने पद्मपादिका में बुद्धधर्म के परवर्त्ती विकास महायान का उल्लेख किया है—'अतः स एव महायानिकपक्षः समधिगतः।'

वास्तव में, पद्मपाद यहाँ इस शब्द के द्वारा बुद्ध को ही सम्बोधित कर रहें हैं। दूसरे कि भगवान् बुद्ध का तथा महायान का कालनिर्णय क्या है, इसका भी अकाट्य सिद्धान्त अभी निश्चित नहीं हुआ है।

शंकराचार्य ने स्वयं सूत्रभाष्य में पाशुपत-सम्प्रदाय का नाम लिया है। और उन पुराणों से उद्धरण लिए हैं, जो चौथी शती में बनाये गये थे।

पर इस बात का प्रमाण मिलना अत्यन्त कठिन है कि ये पुराण किसी न किसी रूप में शंकर के समय में नहीं थे और पाशुपत-सम्प्रदाय की भी प्राचीनता अभी तक असिद्ध नहीं की जा सकती।

शंकराचार्य के सूत्रभाष्य में—'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते' अंश शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह ग्रन्थ पर कमलशील के भाष्य का माना जाता है। पर इस प्रमाण की तर्कहीनता इसी से प्रमाणित हो जाती है कि इस बात की पूरी सम्भावना है कि परवर्त्ती युग में हुए कमलशील ने शंकराचार्य के सूत्रभाष्य से ही यह अंश लिया हो।"

—वेदान्त दर्शनः पृष्ठ ४५८

अथ मीमांसा

इस कठिन प्रसंग में हम 'कुछ लिखना पसन्द नहीं कर रहे। अलबत्ता अपने सीमित शोध के बलबूते पर टिप्पणी अवश्य करेंगे। (१) भगवान् बुद्ध का समय—जन्म १२७६ ई० पूर्व तथा निर्वाण १२१२ ईसवी पूर्व मानते हैं। महायान का पक्ष [विचारधारा] कब उदित हुआ? कोई साधिकार इस पर कुछ नहीं लिख सकता। इस विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प हैं। (२) पुराणशास्त्र ईसवी चतुर्थ शती में लिखे गए—हम नहीं मानते। पुराणशास्त्र वेद संकलन [३२४८ ई० पूर्व] के तुरन्त पश्चात् सुसंस्कृत किए गए। यह अलग बात है—**उनमें संशोधन अथवा सम्मिश्रण समय-समय पर होता रहा;** परन्तु उनके लिए ईसवी पूर्व की चतुर्थ शती [जब नवम नन्द और चन्द्रगुप्त का शासन था] अथवा ईसवी संवत् की चतुर्थ शती [जब गुप्तवंश की तीन पीढ़ियां शासनासीन थी]। की लक्ष्मणरेखा अंकित नहीं की जानी चाहिए। यह संकलन या सम्मिश्रण खुले रूप में हुआ—हमें मंजूर है। [३] शान्तरक्षित के 'तत्त्व संग्रह' के भाष्यकर्ता कमलशील को शंकराचार्य तथा शान्तरक्षित के मार्मिक काल-निर्णय के पश्चात् कहीं बैठाया जा सकता।

हम इतनी टीका-टिप्पणी के पश्चात् भी इस विषय पर तटस्थ हैं।

"शंकराचार्य ने असंग, नागार्जुन तथा दिङ्नाग के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ये आचार्य तीसरी शती के पूर्व के नहीं माने जाते।

वास्तव में इन आचार्यों के कहे गये सिद्धान्त इनके नहीं है, बल्कि इनके परम्परागत सम्प्रदाय के हैं, जिनके ये पोषक थे; शंकराचार्य ने वैसे सिद्धान्तों का ही खण्डन किया है, खण्डन में आचार्यों का नामोल्लेख कहीं नहीं है। श्री कोट्टावेंकटाचलम् ने तो नागार्जुन का समय १२९४ ई० पूर्व निश्चित कर दिया है (नेपाली इतिहास की परम्परा।)

'सौन्दर्य लहरी' के ७५ वें पद में 'द्रविड़शिशु' शब्द से संभवतः तमिलकवि ज्ञानसम्बन्धर का उल्लेख होने से शंकराचार्य का समय सचमुच आठवीं शती हो जाता है।

पर आज यह सिद्ध हो चुका है और शंकर-मठों द्वारा भी मान्य है कि 'सौन्दर्यलहरी' का अधिकांश किसी अन्य-मठाधिपति (सम्भवतः अभिनवशंकर) के द्वारा रचित है।"

— पूर्ववत् पृ० ४५९

अथ मीमांसा

यहाँ पहुंचकर हम पं० देवव्रत जी से सहमत हो गए हैं।

१. हमारी स्थापना के अनुसार भगवान् शंकराचार्य का समय **४४-१३ ई० पूर्व का है।**

२. बौद्ध विद्वानों का चर्चित 'मण्डल' शंकरपूर्व ७१ ई० पूर्व० से लेकर ०० ईसवी पूर्व तक प्रभावशाली रहा। हमने यह समय सोच-विचार करके निश्चित किया है। शुंगनृपति पुष्यमित्र के पश्चात्, अर्थात् १५० ई० पूर्व के निम्नवर्ती शतक में बौद्ध-विद्वान् प्रभावहीन हो गए थे। **कुषाणवंश के साथ-साथ ये तथाकथित बौद्ध विद्वान् फिर से जागरूक और समाज में सक्रिय हो गए।** भगवान् शंकराचार्य ने जिन बौद्ध-विद्वानों की कारिकाएँ आलोचनाओं के लिए चुनी हैं; कारिकाएँ तो प्राचीन या प्राचीनतर भी हो सकती है, परन्तु उन कारिकाओं के प्रयोक्ता बौद्धविद्वान् शंकराचार्य से थोड़ा समय पूर्ववर्ती हो सकते हैं। **भगवान् शंकर ने स्वयं 'कीर्त्ति' या 'धर्मकीर्त्ति' का नामोल्लेख किया है।** शंकर से परवर्ती शतक में बौद्धराजा वासुदेव ने जब भागवत धर्म स्वीकार कर लिया, तब उनके आश्रय में पालित/पोषित बौद्ध-सन्तों का क्या हुआ होगा? इस पर अधिक माथापच्ची करने की कोई आवश्यकता नहीं। श्री कोट्टावेंकटाचलम् ने नागार्जुन का समय १२९४ ई० पूर्व का ठहराया है—जब तक उनके प्रस्ताव का प्रारूप सामने नहीं आ जाता—इसके बारे में हम क्या कह सकते हैं? हमें श्री वेंकटाचलम् का निर्णय स्वीकार्य नहीं है। **बुद्ध भगवान् का समय १२७६-१२१२ ई० पूर्व हैं।** फिर नागार्जुन को बुद्ध भगवान् से १८ वर्ष प्राग्वर्ती उस स्थिति में मान सकते हैं, जब कोई ठोस आधार सामने हो।

'सौन्दर्यलहरी' के बारे में हमारे विचार वही हैं, जो अरविन्दाश्रम के विद्वान् श्री देवव्रत जी के हैं।

सब से अधिक कठिन प्रमाण है शृङ्गेरी पीठ का तिथि पत्र—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।

स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः॥

निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः॥

निधि = ९, नाग = ८, इभ = ८, वह्नि = ३; इसे उल्टा करने पर हमें ३८८९ कलि संवत् मिलता है और इसमें से ३१०२ निकाल देने से ७८७वा ७८८ ई० शंकराचार्य का जन्मकाल मिल जाता है।

किन्तु इन्हीं पंक्तियों में आगे मिलता है—'विभवे माधवे मासे दशम्यां शंकरोदयः'; पर आज भी शंकर की जन्मतिथि शृंगेरी पीठ द्वारा भी माधव मास में पञ्चमी तिथि की मनाई जाती है।

वास्तव में इस श्लोक में आई तिथि आदिशंकर का जन्मदिन नहीं, अभिनवशंकर का है। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र द्वारा संकलित 'गुरुरत्नमालिका' की व्याख्या में अभिनवशंकर की जन्मतिथि दी गई है—'विभवे वृषमासे शुक्लपक्षे दशमीदिनमध्ये' आदि-आदि। श्री आत्मबोध की सुषमा व्याख्या का समर्थन 'पुण्यश्लोकमञ्जरी' के रत्नाकर सर्वज्ञान 'सदाशिवबोध' ने भी किया है—

वैशाखे विभवे सिते च दशमीमध्ये विवस्वानिव।
स्वावासायितकुञ्जपुञ्जिततमस्काण्डार्भटीखण्डनः ॥

वास्तव में इसी शंकराचार्य का देहावसान 'कल्यब्दे चन्द्रनेत्राङ्कवह्न्यब्दे' अर्थात् ३९२१ मे गुहा प्रवेश के रूप में पाकर और इसे ८२० ई० में देखकर आदि शंकर के देहत्याग का काल यही मान लिया गया। शृंगेरी पीठ की कुण्डली के अनुसार निम्नस्थिति में 'आर्याम्बा' ने शंकर को जन्म दिया—

जाया सती शिवगुरोर्निजतुङ्गसंस्थे,
सूर्ये कुजे रविसुते च गुरोश्च केन्द्र।

	सू बु शु	राहु	चंद्र लग्न
गुरु	कलि २५९३		
कुज			
	केतु	शनि	

अथ मीमांसा

शृंगेरी-पीठ के प्रमाणानुसार कलि-संवत् ३८८९ में भगवान् शंकराचार्य का जन्म तथा कलिसंवत् ३९२१ में गुहाप्रवेश [ईसवी संवत् ७८८-८२०] की मान्यता को देखते हुए **३२ वर्षीय वयोमान को ध्यान में रखकर**—अभिनव शंकराचार्य को आदिशंकराचार्य से अभिन्न माननेवाले ग़लत क्यों हैं? भारतीय इतिहास में अनेकों समीकरण ऐसे हैं, जिनसे इतिहास कहीं-से-कहीं जा पड़ता है। इस समीकरण में बिलगाने वाली बात को पहचान कर पं० देवव्रत जी सचमुच बधाई के पात्र हैं। कुछ रहस्य अभी और हैं, जिनके जानने से इनके बिलगाव की पहचान स्पष्ट हो जाती है। षष्टि संवत्सर दो स्कूल माने जाते हैं। एक स्कूल का संस्थापक 'सूर्य सिद्धान्त' है, जिसके अनुसार प्रथम संवत्सर 'विजय' माना जाता है; अन्य स्कूल का संस्थापक 'सिद्धान्त शिरोमणि' है, जिसके अनुसार प्रथम संवत्सर 'प्रमाथी' है, गिनती वहीं से आरम्भ होती है। **संवत्सर-भिन्नता शंकर-परवर्ती परम्परा है।** अतः कलिसंवत् ३८८९ = विभव संवत्सर अभिनव शंकर के लिए सुष्टु है और वांछनीय है। **भगवान् आदि शंकराचार्य के लिए 'ईश्वर संवत्सर' अभिप्रेत है, जो राष्ट्रिय षष्टि-संवत्सर-धारा के अनुरूप है।** इन दो गणनाओं के पार्थक्य को समझने की आवश्यकता है—

सूर्य सिद्धान्त के अनुसार

विजय संवत्सर २७

कलि संवत् ३०४४

६०) ३०७१ (५१

-३००

७१

-६०

११ ईश्वर संवत्सर

जब मालव विक्रमादित्य ने नवीन **'विक्रम-संवत्'** की स्थापना की, तब एक परम्परा के अनुसार **ईश्वर संवत्सर** था, अन्य सम्प्रदाय के अनुसार 'रुधिरोद्गारी' संवत्सर था।

सिद्धान्तशिरोमणि के अनुसार

प्रमाथी संवत्सर १३

कलि संवत् ३०४४

६०) ३०५७ (५

३००

५७

रुधिरोद्गारी

दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार भगवान् शंकर का जन्म **'ईश्वर'** संवत्सर में हुआ और औदीच्य परम्परा के अनुसार **'नन्दन'** संवत्सर में हुआ।

पं० देवव्रत जी ने जो जन्मकुण्डली का मुद्दा उठाया है; उस पर हम अलग से अध्याय में लिख रहे हैं। जन्मकुण्डली का मुद्दा अनेक शोधार्थीजनों ने उठाया है। उन सब का सटीक जवाब है—तात्कालिक पंचाङ्ग। इस विषय पर हम अत्यधिक सजग हैं।

अब शृंगेरी पीठ का आधिकारिक दिनांक देखें—जन्म ३०५८ कलि ईश्वर संवत्सर, वैशाख शुद्ध पञ्चमी, रविवार।

साधिकार सूचित समय यही है। भगवान् शंकर का जन्म **विक्रमसंवत् १५ = कलिसंवत् ३०५८ = ईश्वर संवत् [द] = नन्दन संवत्सर [३] = ४४ ई० पूर्व [वर्तमान]** रविवार वैशाख शुक्ल पक्ष पंचमी के दिन हुआ। इस साक्ष्य का तात्त्विक आधार वैशाख मास शुद्ध मास न होना है। अर्थात् तब वैशाख अधिक मास नहीं था। यह काल-निर्णय सर्वथा वैज्ञानिक है। हमने पंचांग-संशोधन करके देखा है—ईसवी पूर्व २८ से लेकर ईसवी संवत् २८ वर्ष के मध्यान्तर में **[कुल मिलाकर ५६ वर्ष]** कोई वैशाख अधिक मास नहीं हैं। भगवान् शंकर का जन्म ४४ ईसवी पूर्व है, **उससे प्राक् ४७ ई० पूर्व में वैशाख अधिक मास व्यतीत हो चुका था।** अतः शुद्ध वैशाख शुक्ल पंचमी के नाम पर विक्रम संवत् १५ को स्थापित नहीं किया।

"दुर्भाग्यवश ७८८ के आसपास राशियों का यह रूप बिलकुल ही ज्योतिष में नहीं मिलता। आगे हम बतायेंगे कि कुण्डली ठीक है, केवल वर्ष गलत है। और यह सारी गड़बड़ी माधवीय शंकरविजय को आधिकारिक मान लेने से हुई, नहीं तो शंकराचार्य के सहपाठी चित्सुखाचार्य ने इस विषय पर पहले ही लिख दिया था।

ततः सा दशमे मासे सम्पूर्णशुभलक्षणे।

षड्विंशे शतके श्रीमद्युधिष्ठिरशकस्य वै॥

एकत्रिंशेऽथ वर्षे तु हायने नन्दने शुभे।

मेषराशिं गते सूर्ये वैशाखे मासि शोभने॥

शुक्लपक्षे च पञ्चम्यां तिथ्यां भास्करवासरे।

पुनर्वसुगते चन्द्रे लग्ने कर्कटकाह्वये॥

मध्याह्ने चाभिजिन्नाममुहूर्त्ते शोभने क्षिते(?) ।

स्वोच्चस्थे केन्द्रसंस्थे च गुरौ मन्दे कुजे रवौ ॥

निजतुङ्गगते शुक्रे रविणा सङ्गते बुधे ।

प्रासूत तनयं साध्वी गिरिजेव षडाननम् ॥

स्पष्ट है कि शंकराचार्य २६३१ युधिष्ठिर शक, यानी कलि २५९३, यानी ५०९ ई० पूर्व० में उत्पन्न हुए थे। इस मत का समर्थन हमें कांची-कामकोटि पीठ की गुरुपरम्परा से मिलता है, जिसमें आदिशंकर से वर्त्तमान शंकराचार्य तक के नाम दिये हुए हैं, उसमें आदिशंकर से अभिनवशंकर तक का कालक्रम यह है !

धार्मिक भावावेग से मुक्त होकर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर हमें शृंगेरी की अप्रामाणिकता या प्रामाणिकता) पर अविश्वास करना होगा। वैसे कुछ पाश्चात्य प्रभाव में आये विद्वानों ने किसी का ११२ वर्ष तक आचार्य रहना असम्भव मानकर प्रत्येक आचार्य को ६० वर्ष/का नियत समय देना चाहा है, पर भारत में बहुत से ऐसे योगी हो चुके हैं जो दो-तीन सौ वर्ष देह धारण किये रहे। —पूर्ववत् पृ० ४६१

अथ मीमांसा

इसमें पुनः युधिष्ठिर संवत् २६३१ को कलि संवत् २५९३ में परिणत करके दिखाया गया है, जो काल-विज्ञान के विपरीत पड़ता है। युधिष्ठिर संवत् का बीज-बिन्दु ३१४० ई० पूर्व है, जबकि २५९३ कलि संवत् का बीजबिन्दु ३१०२ ईसवीपूर्व है। विदग्धमति पण्डितों को आश्चर्य में डालने वाला शब्द है—**नन्दन संवत्सर**। दाक्षिणात्य काल-गणना के अनुसार ३१०२ ई० पू० बीजबिन्दु से आरब्ध गणना का अवसान—कलिसंवत् २५९३—नन्दन संवत्सर में होना साधु है; परन्तु उसी दाक्षिणात्य सूत्र के अनुसार युधिष्ठिर-संवत् २९३१ = पिंगल संवत्सर है। और यदि औदीच्य गणना को सामने रख लें—तब कलि संवत् २५९३ = पराभव संवत्सर आता है अथवा युधिष्ठिर-संवत् २६३१ = **धाता/ईश्वर** संवत्सर घटता है।

यहाँ परस्पर-विरोध स्पष्ट उजागर है— **कलि संवत् २५९३ [५०९ ई० पूर्व] = नन्दन संवत्सर यथार्थ है; जबकि युधिष्ठिर-संवत् २६३१ [५०९ ई० पूर्व] नन्दन संवत्सर अशुद्ध है**। हमने औदीच्य कालगणना की उपस्थिति इस विरोध चर्चा में नहीं रखी। दाक्षिणात्य काल-गणना ही अत्र मानदण्ड के रूप में ग्राह्य है। यदि नन्दन-संवत्सर स्वीकार्य है, तब युधिष्ठिर-संवत् को छोड़ना होगा। यदि संदर्भगत युधिष्ठिर-संवत् २६३१ = नन्दन संवत्सर ग्राह्य है, तब कलिसंवत् २५९३ को हेय मानना होगा।

विचित्र स्थिति यह है कि वर्जित/स्वीकृत गणना ५०९ ई० पूर्व उभयत्र यथावत् है। इति।

"द्वारकापीठ के पूर्व आचार्य ने 'विमर्श' के पृष्ठ २९ पर राजा सुधन्वा का जो ताम्रपत्र प्रकाशित कराया है उसका काल भी ४७८-४७७ ई० पूर्व ठहरता है। ताम्रपत्रानुशासन में शंकर के समकालीन राजा सुधन्वा का आदेश है, जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

निखिलयोगिचक्रवर्ती श्रीमच्छङ्करभगवत्पादपद्मयोः भ्रमरायमाणसुधन्वनो मम सोमवंशचूडामणियुधिष्ठिरपारम्पर्यपरिप्राप्तभारतवर्षस्य अञ्जलिबद्धपूर्विकेयं राजन्यस्य विज्ञप्ति... युधिष्ठिरशके २६६३ आश्विनशुक्ल १५।

गोवर्धनपीठ के आचार्य योगेश्वरानन्दतीर्थ ने अपने ग्रन्थ में ५०९ ई० पूर्व ही जन्म माना है। शारदापीठ और गोवर्धनपीठ की परम्पराएं बिल्कुल मिलती हैं।

शृङ्गेरीमठ के नाम से दो स्थान हैं, एक तो कुदली शृङ्गेरी और दूसरा (नव) शृंगेरी। इनमें से कौन सा मठ मूल है यह तो किसी अन्य लेख का विषय होगा; पर इतना बता देना पर्याप्त है कि **'कुंडलीमठ'** पर भी ६८ आचार्य हो चुके हैं। काञ्ची के आचार्य भी ६८ वें हैं। गृहस्थों के संन्यासी होकर आचार्य होने के कारण गोवर्धनपीठ पर १४५

आचार्य हो गये हैं, और द्वारका में भी ७९ आचार्य हो चुके हैं। केवल 'नव शृंङ्गेरी' में ही ३५ वें आचार्य हैं और इनमें भी सुरेश्वराचार्य को ७८५ वर्षों का आचार्य काल दिया गया है।

वास्तव में सुरेश्वराचार्य शङ्कर के बाद सभी मठों के अधिकारी हैं और उनका नाम काञ्ची आचार्य परम्परा के ७० वर्ष तक और द्वारका में भी उनका नामोल्लेख मिलता है। वास्तव में, जिस मठ पर वे गये उसी ने उनका नाम अपने साथ जोड़ दिया। और मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य होकर सर्वत्र व्यापी हो गये।

अब स्थिति यह है कि जिस मठ की प्राचीनता के विषय में सन्देह किया जाय, उनके कालक्रम-निर्धारण को हम ठीक कैसे मान सकते हैं? साथ ही कुंडली शृंङ्गेरी की गुरु परम्परा शास्त्रीय समय निर्धारण का पूर्णतया समर्थन करती है।

—पूर्ववत् : पृष्ठ ४६३

अथ मीमांसा

इस संदर्भ में वाद-विषय तीन हैं—[१] सुधन्वा; [२] युधिष्ठिरशक [३] और सुरेश्वराचार्य का समय। यथा—

[१] सुधन्वा राजा कब हुआ? इसका कोई ऐतिह्य-सूत्र नहीं मिलता। जैसा कि आचार्य शंकर का जन्मकाल ५०९ ई० पूर्व मानने वाला पक्ष सुधन्वा को पाटलिपुत्र का राजा मानता है, मान लें; इससे स्थिति और विकट हो जाती है। हमारी ऐतिह्य कालगणना के अनुसार ५८०-५०० ईसवी पूर्व कालावधि में छठा नन्द—**नाम्ना देवनन्द** पाटलिपुत्र का शासक था। इस प्रसंग में सुधन्वा कहाँ ठहरता है।

[२] राजा सुधन्वा ने युधिष्ठिर-संवत् २६६२ माना है, जो चिन्त्य है। युधिष्ठिर-संवत् २६३१ यथार्थ है? या युधिष्ठिर संवत् २६६२ यथार्थ है? अगर प्रथम स्थापना यु० संवत् २६३१ ठीक है तो सुधन्वा का पक्ष : युधिष्ठिर संवत् २६६३ भगवान् शंकर का तिरोधान वर्ष सिद्ध होता है : २६३१ + ३२ = २६६३; जो भारतीय परम्परा के विपरीत है। यदि युधिष्ठिर-संवत् २६६३ यथार्थ है, तब उक्त संवत् जैन प्रतिपादित युधिष्ठिर-संवत् से अभिन्न हो जाता है और उसका बीजबिन्दु भी गड़बड़ा जाता है। **हम युधिष्ठिर-संवत् के नाम पर सुधन्वा के ताम्रपत्र को जाली घोषित तो नहीं कर रहे**; परन्तु इतना जानते हैं—एक समय ऐसा अवश्य था, जब युधिष्ठिर-संवत् का बोलबाला था और सारे दस्तावेज यु० संवत् में परिणत करके लिखे गये। राजा सर्वजीत वर्मा एवं सुधन्वा इस कलुषित मनोवृत्ति के शिकार हुए। जब तक राजा सुधन्वा का कोई अन्य शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिल जाता, तब तक इस पर निर्णायक भाषा में कुछ-भी नहीं लिखा जा सकता।

[३] प्रथम मठाधिपति सुरेश्वराचार्य के पट्टाभिशासन काल में व्यर्थ की कल्पनाएँ सन्निविष्ट हो गई हैं। हमारी कालगणना के अनुसार सुरेश्वराचार्य का समय **शककाल ६९५ = १९ ईसवी** सन् है। यह सारी गड़बड़ी प्राचीन शक-काल के लुप्त होने से, हुई है।

हमें इस पर अधिक अनुसन्धान करना चाहिए।

९

"इसके बाद समस्याएं शुद्ध ऐतिहासिक समस्याएँ हैं और अन्तः साक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत की जाती है। शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के प्रथमपाद, द्वितीय अध्याय की भूमिका में लिखा है:—'न हि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानः तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते... ।'

इसका अर्थ है, कि पाटलिपुत्र शङ्कर के युग में था; पर पाटलिपुत्र ७५६ ई० में बाढ़ से नष्ट हो गया था। अतः शङ्कराचार्य इसके पूर्व में नहीं हो सकते।

स्पष्ट है कि शंकराचार्य पाटलिपुत्र का नाम केवल सन्दर्भवश ले रहे हैं और नगर के नष्ट होने का उनके काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी बात है कि पाटलिपुत्र बुद्ध के समय में बसा। बुद्ध का समय भी मेरे विचार से विवादास्पद है। इनका समय ईसा से लगभग १८०० वर्ष पूर्व होना चाहिए।"

— पूर्ववत्

अथ मीमांसा

पाटलिपुत्र नगर की कथा अनावश्यक तौर पर प्रासंगिक हो गई है। पाटलिपुत्र नगर की स्थापना कब हुई? इसके समाधान में 'युग पुराण' का कथन है—

"पंचवर्षसहस्राणि स्थास्यते मात्र संशयः।
वर्षाणां च शताः पञ्च पञ्च संवत्सरास्तथा॥"

—विक्रमस्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २१

अर्थात् सप्तर्षि संवत् ५५०५ में पाटलिपुत्र की स्थापना हुई। इसे ईसवी पूर्व में पलट कर देखते हैं। यथा—

[क] इस संख्या में ७ जमा किए : ५५०५ + ७ = ५५१२ सामान्य वर्ष।

[ख] सामान्य वर्षों को ६४८३ से घटाया : ६४८३-५५१२ = ९७१ ई० पू०।

अर्थात् प्रथम नन्द के शासनकाल में, ई० पू० ९७१ में पाटलिपुत्र की स्थापना हुई। ४४-१३ ई० पूर्व के समय पाटलिपुत्र नगर अस्तित्व में था। पं० देवव्रत की इस भ्रान्त टिप्पणी पर पं० उदयवीर शास्त्री ने खूब नोटिस लिया है—

"लेखक महोदय ने यह परिणाम अपने पूर्वकथन के विपरीत प्रकट कर दिया है। पाठ होना चाहिए—'अतः शंकराचार्य इससे पूर्व में ही हो सकते हैं। अथवा—'अतः शंकराचार्य इसके पश्चात् नहीं हो सकते।" इसके यह सर्वनाश बाढ़ से पाटलिपुत्र के नष्ट होने का निर्देश करता है। अर्थात् शंकराचार्य पाटलिपुत्र के नष्ट होने के पश्चात् नहीं हो सकते; पूर्व ही हो सकते हैं। क्योंकि अपने काल में आचार्य ने पाटलिपुत्र का उल्लेख किया है।"

—वेदान्तदर्शन का इतिहास : पृष्ठ ४६३

हम इस पर अधिक और क्या लिखें?

१०

"इसी भाष्य में दूसरा अन्तः साक्ष्य है—**न हि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकात्**—और पूर्णवर्मन् का नाम आते ही मान लिया गया कि या तो शंकराचार्य पूर्णवर्मन् के समकालीन थे या उनके बाद के थे। पूर्णवर्मन् एक तो जावा के ताम्रपत्र में मिलता है, दूसरा पूर्वी मगध के शासन के रूप में। ह्वेनसांग के यात्रा विवरण तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर पूर्णवर्मन् का समय सातवीं शती में है।

पर, यह पूर्णवर्मन् नाम भाष्य में उसी तरह आ गया है जैसे कोई अन्य नाम आ जाता है। वास्तव में शंकर के समय में आन्ध्र कुल का राजा हाल था। इसका काल ५१९-४९० ई० पू० है (**अपि हालपालपालितम्—गुरुरत्न-मालिका**)। यह राजा कश्मीर के गोनन्दकुल के नर' का समकालीन था। वैसे इसके भी प्रमाण मिलते हैं, आन्ध्र के ७४ वें शासक 'हाल' का एक नाम '**पूर्ण**' भी था। वायुपुराण का श्लोक है—

ततः संवत्सरो पूर्णो हालो राजा भविष्यति॥"

—पूर्ववत् पृ० ४६४

अथ मीमांसा

इस संदर्भ के साथ हम कटु-चर्चा में प्रवेश करते हैं। यथा—

पूर्णवर्मा : अरविन्दाश्रम के आचार्य पण्डित प्रवर देवव्रत जी इतिहास **विशेषतया पौराणिक इतिहास**—में दखल नहीं रखते; तब इस विषय पर उनका कुछ लिखना अनधिकार चेष्टामात्र है। आन्ध्र अथवा सातवाहन राजा ब्राह्मण थे, क्षत्रिय नहीं। अतः हाल महाराजा को **पूर्णवर्मा** मान लेना निरा हास्यास्पद विषय है। हाल के बारे में प्रसिद्ध है—**हालःस्यात् सातवाहनः**।

७४ वाँ शासक : यह और बेतुकी बात है। महाराजा हाल अपने वंश का अथवा शासक-शृंखला का १७ वां शासक है। यथा—१. सिमुक, २ कृष्ण (१), ३ शातकर्णि (१) ४ पूर्णोत्संग, ५ स्कन्दस्तम्भी, ६ शातकर्णि [२], ७ लम्बोदर, ८ अपीलिक, ९ मेघ स्वाति, १० स्वाति, ११ स्कन्दस्वाति, १२ मन्द्रेन्द्रस्वाति, १३ कुन्तल, १४ स्वातिकर्ण, १५ पुलमावी, १६ कृष्ण [२] और **१७-हाल**; इति। इस १७ वें शासक को ७४ वाँ शासक कैसे मान लें ? न कोई सूची, न कोई संदर्भ और न कोई बाह्य साक्ष्य—कुछ भी नहीं।

५१९-४९० ई० पूर्व : जब सारी ऐतिह्य बनावट कल्पना के सूत्रों से तैयार की गई हो, उसमें कमी न रह जाय—यही प्रयत्न किया है—पण्डित देवव्रत जी ने। हालराजा ने '**पूर्ण**' अर्थात् सम्पूर्ण शतक, अर्थात् १०० वर्ष तक शासन किया। २० ईसवी पूर्व से ८० ईसवी सन् तक। ईसवी के ६६ वें वर्ष में ये राजा—

"वासुदेव—सातवाहन-शूद्रक-साहसांक।"

समकालिक माने जाते हैं। वासुदेव कुषाणवंश का अन्तिम राजा है। सातवाहन का अर्थ है—हाल राजा। शूद्रक और साहसांक भाई थे और शतकत्रय के प्रणेता भर्तृहरि के सहोदर थे। कहाँ रहा ? राजा हाल का ५१९-४९० ई० पूर्व का साल ?

अच्छा होता, पं० देवव्रत जी यह अनुच्छेद ही न लिखते और न हम कटु चर्चा के सहभागी होते।

११.

"श्री तैलंग ने एक तमिल ग्रन्थ '**कोगुन्देशकाल**' के आधार पर राजा त्रिविक्रम के शंकर द्वारा शैवधर्म में दीक्षित होने की बात कही है। डॉ० देवसेन और भण्डारकर ने त्रिविक्रम का समय छठी शती माना है—

पर शंकराचार्य मिशनरी नहीं थे, शैव वैष्णव का भेद तो उन्होंने कभी किया ही नहीं। सम्भव है किसी परवर्ती शंकराचार्य (**सम्भवतः सच्चिदानन्दघन**) ने यह मत परिवर्तन कराया हो और स्वभाववश अपने इतिहास के शोधकों ने इसे आदि शंकर का ही कर्म मान लिया हो।—

इस तरह युरोपीय इतिहासकारों के सारे प्रमाण परीक्षण की कसौटी पर निर्मूल प्रमाणित हुए हैं और उनके पीछे दौड़ने वाला विदेशी डिग्रियों का मोहधारी अध्यापकवर्ग बहुत पीछे रह गया है। आवश्यकता है कि हम अपने इतिहास को अपने शास्त्रों या प्रमाण ग्रन्थों के, अंग्रेजी के आधार पर नहीं, मूल में बैठकर ढूंढें, और उनके आधार पर नये इतिहास की रचना करें। पर, श्री कोट्टावेंकटाचलम् के अतिरिक्त इस क्षेत्र में कोई मौलिक कदम अब तक नहीं उठाया गया है।

हमारा तर्क निम्नांकित तथ्यों पर आधृत होते हुए शंकर का जन्म ५०९ वर्ष ई० पूर्व घोषित करता है–

(१) प्राचीन शंकर विजय का द्वारका, काञ्ची और पुरी-मठों द्वारा स्वीकृत तिथिपत्र—

तिष्ये प्रयात्यनलशेवधिबाणनेत्रे,

ये नन्दने दिनमणावुदगध्वभाजि।

राधेऽदितेरुडुविनिर्गतमङ्गलग्ने—

ऽत्याहूतवान् शिवगुरुः स च शङ्करेति ॥

अनल = ३, शेवधि = ९, बाण = ५, नेत्र = २ = ३९५२ इसे उल्टा कीजिये, २५९३ कलि संवत्। कलि संवत् ३१०२ ई० पू० से प्रारम्भ होने के कारण ३१०२ से २५९३ निकालने पर ५०९ ई० पू० ही बचता है। बाकी का विवरण भी ज्योतिष से ठीक ठीक मिल जाता है।

(२) कामकोटिपीठम् का तिथि-वार-वर्ष-संयुक्त गुरु-परम्परा-विवरण—जिसमें पुण्यश्लोकमञ्जरी (काञ्ची के ५४ वें आचार्य सर्वज्ञान सदाशिवबोधकृत) परम शिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिवब्रह्मेन्द्र की गुरुरत्नमालिका और उस पर आत्मबोधकृत सुषमा व्याख्या सम्मिलित है।

(३) जिनविजय आदि विरोधी पक्षों के ग्रन्थ।

(४) चित्सुखाचार्य-कृत बृहच्छंकर विजय के श्लोक।

(५) शृंगेरी मठ की प्राचीन परम्परा, यानी कुंडलीमठ की परम्परा तथा उसके आचार्यों के समय-समय पर प्रकाशित विचार।

(६) श्री कोट्टावेंकटाचलम् द्वारा उद्धृत शंकराचार्य के द्वारकापीठम् द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण जीवन की कार्यतिथि।

ऐसी बात नहीं है कि ये प्रमाण हमारे युरोपीय इतिहासज्ञों को ज्ञात नहीं थे; पर उनकी उपेक्षा नीति के दो कारण ही हमारे सामने आते हैं। एक तो उन्होंने ज्योतिष तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों को बिना कारण अप्रामाणिक माना; क्योंकि प्रत्येक अपना जन्म सृष्टि के आरम्भ से मानता था। दूसरा यह कि अचेतन मनोविज्ञान की दृष्टि से वे लोग किसी भी तथ्य को ईसा के पूर्व मानने में असमञ्जस दिखाते थे।"

— पूर्ववत्

अथ मीमांसा

यहाँ पहुंच कर हम ठिठक जाते हैं। कलि संवत् २५६३ = नन्दन संवत्सर [द] का तालमेल यह सिद्ध करता है कि सचमुच शंकराचार्य का समय ५०९ ई० पूर्व तक चला जाता है। परन्तु इस अवधारणा में हमें छल-छिद्र भी नज़र आते हैं। आदि-शंकराचार्य के आदिशिष्य सुरेश्वराचार्य के समय **शककाल ६९५** का क्या होगा ? आधुनिक शोध विद्वान् इसे ६९५ + ७८ = ७७३ ईसवी सन् तक ले आते हैं ? उनका क्या होगा ?

यदि प्राचीन 'शंकर-विजय' सचमुच आप्तग्रन्थ है, तो उसमें इसी घटनाक्रम के अनुसार 'शंकर की नेपाल यात्रा' का विवरण भी देना चाहिए था। हमारे लिए नितरां कठिन घाटी यह है कि नेपाल के राजाद्वय—**शिवदेव वर्मा तथा वृषदेव वर्मा**—के निकट पूर्ववर्ती राजा विश्वदेव वर्मा ने कलि संवत् ३००० का उल्लेख किया है। हम मान लें—नेपाल का कलि-संवत् 'कुछ' और है और भारत का कलि-संवत् 'कुछ' और है; **तब हम 'प्राचीन शंकर-विजय' ग्रन्थ को एकांगी और अधूरा मानने के लिए निर्बन्ध हैं।**

अन्तिम—

अरविन्दाश्रम के आचार्य पं० देवव्रत जी अपने निबन्ध को चुनौतीपूर्ण शब्दों में समाप्त करते हुए लिखते हैं—

> **"इस तरह शंकर की जन्मतिथि ५०९ ई० पू० में होने का प्रमाण प्रस्तुत करने के बाद हमें एक ही काम करना है और वह यह कि बुद्ध की जन्मतिथि का निर्धारण। यदि बुद्ध के वर्तमान जन्मकाल को स्वीकार कर लिया जाये तो ये सारे प्रमाण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं।"**

—वेदान्त दर्शन का इतिहास : पं० उदयवीर शास्त्री, पृष्ठ ४६५,

पं० देवव्रत जी की यह चुनौती हमें मंजूर है। केवल बुद्ध ही नहीं, महावीर स्वामी का समय भी सह-गणनीय है। हम इन महानुभावों के समय-निर्धारण बखूबी लिख चुके हैं—

१. **वर्धमान संवत्**: परिषत् पत्रिका, २०/४, जनवरी १९८४

२. **बुद्धनिर्वाण संवत्**: परिषत् पत्रिका, २६/१ अप्रैल १९८६

वायु और मत्स्य पुराण के संदर्भ में अजातशत्रु का समय भी विचारणीय है। यथा—

	महावीर स्वामी	महात्मा बुद्ध		अजात शत्रु
जन्म	१२९८ ई० पूर्व	१२७६ ई० पूर्व	**अभिषेक**	१२२० ई० पूर्व
निर्वाण	१२२७ ई० पूर्व	१२१२ ई० पूर्व	**निधन**	११९६ ई० पू०

इस प्रकार हमारी मान्यता के अनुसार भगवान् शंकर का समय ४४-१३ ईसवी पूर्व है। इसी गणित से महावीर से १२२७-११८३ = **४४ ई० पूर्व** के पश्चात् शंकराचार्य हुए; महात्मा बुद्ध १२१२-११६८ = **४४ ई० पूर्व** से भगवान् शंकराचार्य परवर्ती बनते हैं। राजतरंगिणी का प्रणेता कल्हण के अनुसार भी यही समय आता है।

पं० देवव्रत जी चाहें, तो महावीर स्वामी से ७१८ वर्ष पश्चात् और महात्मा बुद्ध से ७०३ वर्ष पश्चात् आचार्य शंकर [५०९ ई० पू० के अनुसार] का व्यवधान काल मान सकते हैं।

धन्यवाद।

चन्द्रकान्त बाली

आश्चर्य! महान् आश्चर्य!! हम स्वयम् अपने ही न्यायालय के कटघरे में खड़े हो गए हैं। हम स्वयम् अपने से न्याय मांग रहे हैं। अनुसन्धान-प्रक्रिया में ऐसा होना चाहिए। हम दूसरों की भूल बताने में सदा अग्रणी रहते हैं; कोई हमें हमारी भूल का अहसास करा दे, बुरा लगता है; अपनी भूल या छलछिद्र देखने के लिए हम तैयार नहीं होते। **यह प्राकृत धर्म है**। परन्तु हम अपने प्राकृतिक धर्म पर विजय पाने चले हैं। अपनी आलोचना स्वयं करके स्वयं को अपदस्थ करने वाले हैं।

बहालगढ़ (सोनीपत) से प्रकाशित 'वेदवाणी' के वर्ष ३९/अंक ७, पृष्ठ १० पर अपना लेख छपा, शीर्षक था—'**शंकराचार्य का समय-चिन्तन**।' उसमें कतिपय भूलें रह गई हैं। दूसरी सच्ची बात यह है—**हमारे शोध कार्य के विधि-विधान में परिवर्तन आ गया है**। पहले लेख पढ़ लें, फिर भूलसुधार का उपक्रम करें—

आचार्य श्री विद्वद्वरेण्य पं० उदयवीर शास्त्री ने एक पुस्तक प्रकाशित की है। "द एज ऑफ शङ्कर"। पुस्तक चूंकि अंग्रेजी में है अतः हम उसका अन्तरंग समझने में असमर्थ रहे हैं। यह हमारा दुर्बल पक्ष है '**नैष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति**।' पुनरपि हम ने उस पुस्तक का कुछ अंश अनुवाद कराके [टिप्पणी सहित] पढ़ा है, जो हमारी समझ में आया है, वह यहां उपस्थित है। हमारा उद्देश्य आचार्य श्री के साथ विपक्ष-पंक्ति में जा कर खड़ा होना नहीं है, विचाराभिव्यक्ति का स्वातन्त्र्य सब को सुलभ है; हमें भी है। इसे मात्र 'चंचलता' भी न समझ लिया जाय। 'काल-चिन्तन' व्यक्तिनिरपेक्ष, सम्प्रदाय-विहीन तथा पक्ष-प्रतिपक्ष सुरक्षित होता है। आचार्य शंकर का समय-चिन्तन उक्त 'काल-विज्ञान' की कसौटी पर कितना खरा-खोटा उतरा है? इन पंक्तियों में यही प्रतिपादित है।

आचार्य श्री के कथन को हम सामने रख लेते हैं, ताकि अनुवादजन्य प्रमाद भी उजागर रहे। विचारशील व्यक्ति को सोचने की सामग्री उपलब्ध कराना हमारा धर्म है। यथा—

"आचार्य शङ्कर के जन्म के विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है, जो कि 'ब्रह्म-सूत्र' के शांकरभाष्य के विविध संस्करणों के प्रथम पृष्ठ पर अथवा कुछ संस्करणों के भूमिका भाग में उपलब्ध होता है। यह श्लोक इस प्रकार है—

प्रासूत तिष्यशारदामतियातवत्याम्,
एकादशाधिकशतोनचतुःसहस्याम् ।[1]
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते—
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणी दशम्याम् ॥

यह पद्य[2] 'शङ्करमन्दारमरन्दसौरभ' अथवा सदानन्दकृत 'शङ्करदिग्विजय'[3] से लिया गया माना जाता है। वास्तव में इस पद्य का मूलस्रोत निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि शिवगुरु की पत्नी ने ३८८९ कलिसंवत् [एतदनुसार ई० सन् ७८७] वैशाख शुक्ल दशमी को एक पुत्र को जन्म दिया।

कुछ इसी प्रकार का एक अन्य पद्य हमें छात्रावस्था से ज्ञात है। यह भी 'शंकर मन्दारमरन्दसौरभ' का ही माना जाता है। अभी तक हमने इस ग्रन्थ को प्रकाशित अथवा अप्रकाशित (पाण्डुलिपि) रूप में नहीं देखा। यह भी निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है कि सर्वप्रथम किसने इसे वहां [पूर्वोक्त ग्रन्थ] से उद्धृत किया है। पद्य इस प्रकार है—

निधिनागेभवह्नयब्दे विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्कराचार्योदयः स्मृतः ॥

इस पद्य का अर्थ भी वही है, जो पूर्वोक्त पद्य का है। जो भी हो, एक बात तो निश्चित है कि दोनों पद्य विद्वानों के एक ही वर्ग द्वारा रचे गए। दूसरे पद्य के अन्त में 'स्मृतः' यह शब्द निर्दिष्ट करता है कि इसके लेखक ने किसी अन्य स्रोत से शंकर के समय के विषय में सुनिश्चित जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् इसे अपनी शैली से प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया है। इसका मतलब यह हुआ कि दूसरा पद्य पहले पद्य की अनुकृतिमात्र है। कहना कठिन है कि यहां लेखक ने किस शंकर की ओर संकेत किया है। प्रथम पद्य में शंकर के पिता का नाम शिवगुरु बताया गया है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि यह पद्य आदिशंकराचार्य की ओर संकेत करता है। परन्तु जब तक इस पद्य का मूल स्रोत ज्ञात नहीं होता, निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।"

—अनुवाद : पृष्ठ ५५-५६

यदि इस अनुवाद में कुछ त्रुटि रह गई है, तो वह हमारे खाते में लिखी जाय। आचार्य श्री की अनेक बातों से हम सहमत हैं। यह पद्य गहन अनुसन्धान का पात्र है। इसके 'मूलस्रोत' की भी तत्परतापूर्वक खोज करनी अपेक्षित है। हम समझते हैं—संवत् ३८८९ कानों-कान चली आ रही जीवन्त परम्परा है। दो अलग-थलग खड़े व्यक्तियों ने उस श्रुति-परम्परा का अनुवाद किया है। अनुवाद की शैली अपनी-अपनी है। [क] ४००० — १११ = ३८८९ संवत्; [ख] निधि = ९, नाग = ८, इभ = ८, वह्नि = ३ अर्थात् ३८८९ संवत्। पूरा-विश्वास है—इन पद्यों का मूल स्रोत श्रुतिपरम्परा है; कोई ग्रन्थ विशेष नहीं है। इसका तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है, इस 'विश्वास' से टकराकर अनुग्रन्थ अनुसन्धान स्थगित कर दिया जाय। अनुसन्धान तो फलोदय-पर्यन्त होना ही चाहिए। बस, हमारी असहमति केवल

---

१. इस श्लोक का पूर्वार्ध इस प्रकार बताया जाता है (निम्नलिखितरूप में)—जाया सती शिवगुरोः निजतुङ्ग सस्थे सूर्ये कुजे रविसुते च केन्द्रे"।
२. निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित ब्रह्मसूत्रभाष्य (मूलमात्र) के १९४८ के विविध संस्करणों के प्रथम पृष्ठ पर अंकित शङ्कराचार्य के चित्र के ऊपर है हमने यह ग्रन्थ नहीं देखा।
३. खेमराज श्री कृष्णदास द्वारा १९७० में रत्नप्रभा, भामती, न्याय-निर्णय टीकाओं सहित प्रकाशित (संशोधित संस्करण वि० सं०) 'ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य' का भूमिका भाग; पृष्ठ ३१; भूमिका लेखक वैंकटाचल शर्मा इस ग्रन्थ को हम ने नहीं देखा।

एक बात पर है—३८८९ कलिसंवत् = ईसवी सन् ७८७ बिल्कुल नहीं है। कलिसंवत् का निषेधात्मक तत्त्व उक्त दोनों पाठों में है—'विभवसंवत्सर'। जहां तक हमारी अल्पीयसी जानकारी है, हम जानते हैं।

"सप्तर्षि-संवत् ३८८९ = ११३ ईसवी सन् = कलिसंवत् ३२१५ = विभव"

यह तालमेल साधु और परम्परागत है। आइए—इसका विश्लेषण करें—

[१] मूल संख्या से ६२८ वर्ष कम किए : ३८८९ – ६२८ = ३२६१ शेष वर्ष। ६२८ वर्ष न्यून करने का प्रयोजन—प्राङ् महाभारत वर्षों को हटाकर गणना को सरल करना है। स्मरण रहे—भारतसंग्राम सप्तर्षि-संवत् ६२८ = ३१४८ ई० पूर्व में हुआ था।

[२] ईसवी पूर्व के महाभारतीय वर्षो को शेष संख्या से पुनः घटाना चाहिए : ३२६१-३१४८ = ११३ ईसवी सन्।

[३] ३१०२ ई० पूर्व० में – ११३ वर्ष घटाने पर कलि-संवत् सिद्ध होता है। यह संख्या-शृंखला तथा उसके परिणाम भी अन्यत्र सु-परीक्षित हैं।

षष्टि-संवत्सरों में 'विभव' का स्थान दूसरा है। 'षष्टि-संवत्सर-साधना' इस प्रकार है। यथा-

[क] कलिसंवत् में २७ के अंक जमा करिए : ३२१५ + २७ = ३२४२ : सूर्यसिद्धान्त के अनुसार कलिसंवत् ०० = विजय संवत्सर = २७; कलि का प्रथम वर्ष विजय (२७) संवत्सर के साथ आरम्भ हुआ था। अतः उद्दिष्ट संख्या में संवत्सरीय अंक जमा करने अनिवार्य हैं।

[ख] ३२४२ को साठ पर विभाजित किया ३२४२—६० = ३२४० [५४] शेष २ = विभवसंवत्सर।

हम अपने 'फलागम' पर सन्तुष्ट भी नहीं है, विरत भी नहीं है।

काल-चित्र

सप्तर्षि-संवत्	व्यक्ति/घटना	स्रोत	प्रमाण	ईसवी पूर्व
६२८	भारत-युद्ध	अनुश्रुति	काश्मीर की घटनावली से संबद्ध	३१४८
६५३	गोनन्द का शासनान्त	राजतरंगिणी	प्रयाते त्र्यधिकेऽप्यर्धसमाः	३१२३
.....	....	...	षट्कशते कलेः ८	...
७००	मघा-शतक समाप्त	काश्मीर-रिपोर्ट	कलेर्गतैः सायकनेत्र [२५] वर्षैः	३०७६
.....	....	...	सप्तर्षिवर्य्याः त्रिदिवं प्रयाताः	...
३४००	आन्ध्रवंश की स्थापना	वायु/मत्स्य	सप्तविंशैः शतैर्भाव्याः आन्ध्राणां	३७६
.....	.....	....	तेऽन्वयः पुनः	....
३७१०	प्रमर का अभ्युदय	भविष्य पुराण	सप्तत्रिंशे शते वर्षे	
.....	.....	.....	दशाब्दे चाधिके कलौ।	६६
२७४०	हरिस्वामी	शतपथ-टीका	यदब्दां कलेर्जग्मुः सप्त-	३६
.....	.....	.....	त्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत्समाश्चान्याः	.....
			तदा भाष्यमिदं कृतम्।	

३८८९	शङ्कराचार्य का जन्म	अनुश्रुति	निधिनागेभवह्वयब्दे विभवे मासि	११३ ई०
.....	.....	.....	माधवे	सन्
.....	.....	.....	शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्कराचार्योदयः	
.....	.....	.....	स्मृतः एकदशाधिकशतोनचतुःसाहस्याम्	.....

टिप्पणी—यद्यपि इस शृंखला में उद्धरणीय अन्य संदर्भ भी हैं, मनः संतोषन्याय से हम इतने में संतुष्ट हैं। अन्यच्च—सप्तर्षि-संवत् ३७१० तथा ३७४० में 'कलि' शब्द पठित है; जिसका ग्राह्य अर्थ 'कलि-संवत्' हरगिज नहीं है, इसका व्यावहारिक अर्थ है—"कलियुग में गतिशील सप्तर्षि-संवत् में__।

टिप्पणी—सप्तर्षि-संवत् ३७१० = ६६ ई० पूर्व में, पंजाब में 'प्रमर' राज्यारूढ हुआ। प्रमर का पुत्र गन्धर्वसेन, गन्धर्वसेन का पुत्र शालिवाहन हुआ, जिसने ईसवी सन् ३२ में उज्जयिनी हस्तगत की : "एतस्मिनन्तरे तत्र शालिवाहनभूपतिः। विक्रमादित्यपौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्।"

यह 'काल-चित्र' उपस्थित करना इसलिए आवश्यक हो गया कि मेरा 'आलोचक' इसे गणित का 'मायाजाल' समझता है। यह गणित का 'मायाजाल' नहीं, बल्कि इतिहास-भूमि पर पनप रहा 'विज्ञान-वृक्ष' है। प्रकृतमनुसरामः।

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री द्वारा संचित शिष्यावलियां और उनका काल-निबन्धन कहां तक अनुश्रुतिमूलक काल-संदर्भ से प्रभावित है—यह उत्तरोत्तर विस्तृतीभूत अनुसंन्धान का विषय है। इसका 'निर्णय' आतुरता-सापेक्ष नहीं है; चिरकालिक चिन्तनसापेक्ष है। इन पंक्तियों के प्रकाशन का एक मात्र प्रयोजन ३८८९ को सप्तर्षि-संवत् के साथ सन्नद्ध करना है।

अथ विश्लेषण—

हमारी भूलों की शृंखला इस प्रकार है—

[१] हमारी स्थापित यह शृंखला : **सप्तर्षि संवत् ३८८९ = ११३ ईसवी सन् = कलिसंवत् = विभव [२]"** अवैज्ञानिक है। हमने षष्टि-संवत्सर की साधना औदीच्य परम्परा के अनुसार की है, चाहिए दाक्षिणात्य परम्परा। हालाँकि उस कसौटी पर आता **विभव [२]** संवत्सर ही है। चूंकि गणना-प्रणाली गलत है, उसका फलोदय सुष्ठु होने पर भी अग्राह्य है। गणनाविधि इस प्रकार है—

कलिसंवत् ३८८९ + १३ प्रमाथी। = **६०) ३९०२ (६२**

३६०

३०२

३००

= ०२ विभव संवत्सर।

[२] यद्यपि हम भगवान् शंकराचार्य का समय सप्तर्षि-संवत् के माध्यम से सोच रहे हैं, तथापि हमें गहन अनुसन्धान से पता चला है—३८८९ कलि-संवत् ही है, सप्तर्षि-संवत् नहीं। हमें इस सत्य का आभास स्वतः ही हुआ है।

[३] इसे यदि सप्तर्षि-संवत् भी मान लें, तब परिणाम ईसवी सन् ११३ फलित होगा, जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में हम पढ़ रहे हैं। वह सुगम विधि है। जटिल विधि से भी परिणाम इससे अलग नहीं है। यथा—

[क] ३८८९ + ७ = **३८९६ सामान्य वर्ष।**

[ख] इसे पुनः घटाया ३८९६-३७६५ = १३१ फलित हुआ :

[ग] पुनः घटाया-१३१-१८ = ११३ ईसवी सन्

यह सचमुच नई उपलब्धि है। भगवान् शंकर का जन्म के प्रसंग में ५०९ ई० पूर्व ६८८ ई० तथा ७८८ ईसवी के सामने **११३ ईसवी संवत्** नया और अलग सा प्रतीत होता है। परन्तु इसका तालमेल भगवान् शंकर की तिथि तालिका —हम मनमर्जी से जैसी स्थापित करें—से नहीं है और उस तिथि तालिका को अन्तः साक्ष्य अथवा बहिः साक्ष्य का समर्थन भी प्राप्त नहीं है।

अतः अपनी भूल को वापिस ले रहे हैं।

[४] ३१०२ ई० पूर्व में ११३ वर्ष घटाने पर २९८९ होना चाहिए, ईसवी सन् हरगिज़ नहीं।

[५] षष्टि संवत्सर की साधना भी भ्रष्ट हो गई है। द्रष्टव्य—[क]

[६] काल-चित्र में उपस्थित सभी आंकड़े शुद्ध है। अन्तिम पंक्ति ३८८९ = शंकराचार्य का जन्म (अनुश्रुति) ११३ ईसवी अशुद्ध है, हालाँकि गणना सुविचारित है।

[७] प्रथम टिप्पणी ठीक है।

[८] द्वितीय टिप्पणी का पटल विस्तार इस प्रकार है—

[क] प्रमर-६६ ई० पूर्व से ९० ई० पूर्व तक

[ग] गन्धर्वसेन-९०-२० ईसवी पूर्व-ईसवी सन् के मध्य

[घ] शालिवाहन ने १० ईसवी को सत्ताग्रहण की :

[ङ] अपने पुत्र 'प्रतापादित्य' को काश्मीर में स्थापित किया।

[च] ३२ ई० सन् में महाराजा हाल की सहायता से उज्जयिनी हस्तगत की। [देखो सत्यार्थ प्रकाश में इन्द्र प्रस्थीय राजावलि।"

[छ] सन् ३४ ई० में प्रजा को ऋणमुक्त करके नई शकगणना स्थापित की। यथा—

'हूणवंशे समुत्पन्नः शालिवाहनभूपतिः।

गन्धर्वसेनतनयः पृथिवीमनृणां व्यधात्॥

३४ ई० से चलने वाला शक पृथ्वीराज रासो में द्रष्टव्य है।

[९] संवत् ३८८९ सप्तर्षि संवत् नहीं है।

अथ सर्वेक्षण

जैसा कि हम उत्थानिका में लिख आये हैं—तिथि-निर्धारक दो पक्ष है; उसे हम पूर्णतया पहचान चुके हैं। फिर भी—

जन्म १. उदयवीर शास्त्री : ५०९ ई० पूर्व का जन्म।

२. अज्ञात जैन विद्वान् : ४७७ ई० पूर्व का जन्म;

३. चन्द्रकान्त बाली : ११३ ईसवी सन् में जन्म

निधन १. बाल गंगाधर तिलक : शक संवत् ६४२ = ७२० ई० निधन

भगवान् शंकर का तिथियुगल : जन्म ७८८ ई०—८२० ई० निधन मानने वाले अनेक हैं। सबके पास प्रमाण-समुच्चय भी 'एकमेव' है—जिनका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं। किसको प्रमुख मान कर 'पूर्वपक्ष' का खाता पूरा करें ? यह विचिकित्सा हमारे सामने भी रही है। भगवान् शंकर की कृत्रिम १२०० जयन्ती मनाने के उपलक्ष्य में लिखित और प्रकाशित **"आद्य श्रीशंकराचार्य : आविर्भावकाल"** के लेखक वाराणसेय पं० राजगोपाल शर्मा ने वही पक्ष सामने रखा है, जो उन्हें बहुसम्मत नज़र आया; वही—**ईसवी सन् ७८८-८२० ईसवी**। हमारे मन में आया कि श्री राजगोपाल शर्मा को पूर्वपक्ष के कठघरे में खड़ा कर दें। पर जब विचार किया कि श्री राजगोपाल शर्मा जिन श्रेष्ठ विद्वानों तथा समकालिक व्यक्तियों को—**जैसे-हरिस्वामी, कुमारिल, उपवर्ष, पूर्ण वर्मा [?], गुणमति, धर्मकीर्ति तथा पाटलिपुत्र**—का नाम लेकर भगवान् शंकर का समय निम्न-से-निम्नतर ले आए हैं; **हम भी उन्हीं व्यक्तियों तथा समकालिक विद्वानों का नाम लेकर भगवान् शंकर का समय ४४-१३ ई० पूर्व बताने वाले हैं**। हमारा स्वपक्ष-स्थापन ही श्री राजगोपाल शर्मा का पक्षोपसंहार अनायास हो जाएगा। अतः हमने श्री राजगोपाल का मार्गानुसरण करके उनकी **लेखन-शैली** चुरा ली है और उन्हें निस्तर्क छोड़ दिया है। यही हमें उचित लगा।

भगवान् शंकर के तिथि-विचारकों में से किसी ने इतिहास के साथ न्याय नहीं किया। 'इतिहास' कुछ ऐसी स्थितियों का सृजन करता है, जो किसी महापुरुष को **'युगपुरुष'** बना देती है। महाभारत-संग्राम से पहले श्री कृष्ण यादव-समाज के मुखिया भर थे। भारत-संग्राम ने श्री कृष्ण को गीता सुनाने का तथा युद्ध-संचालन का अवसर देकर उसे **'युग-प्रधान'**बना दिया। हालाँकि विगत सौ वर्षों से अपने निष्ठाबल से 'युग प्रधान' पद की ओर बढ़ रहे 'भीष्म' ने केवल ग़लत रास्ते पर खड़े कौरवों का साथ दिया—वे युगप्रधान पद से गिर गए। यह हमने इसलिए लिखा है कि भारतीय इतिहास का **'कुषाणकाल'** दार्शनिक-उत्थान एवं दार्शनिक-संघर्ष का स्वर्णयुग था। किसी शांकर तिथि-विचारक ने कुषाणकाल न सही, इतिहास के किस काल को शंकर के आविर्भाव का श्रेय दिया है ? सब के सब इस कर्तव्य अथवा अनुसन्धान धर्म से गिर गए। हमारे सामने इतिहास का 'कुषाणकाल' अंगूठी में जड़े हीरे की तरह चमक रहा था। परन्तु हमारे सामने एक दीवार खड़ी हो गई। वह दीवार थी—**इतिहास-लेखकों ने कुषाणों का समय ईसवी सन् ७८ से २१० पर्यन्त मतैक्य से स्थिर कर रखा है**। हमने इस दीवार को भीमबल से गिरा दिया है। जैन संदर्भ (मुख्यतः) पुराण-शास्त्र तथा साक्ष्यन्तरों के बलबूते पर **हमने कुषाणकाल ७१ ई० पू० से ९९ ई० सन्** (कुल मिलाकर १७१ वर्षीय) **तक नये सिरे से स्थापित किया है**। इतिहासकार नाराज़ तो होंगे, हों; पर मैंने अनुसन्धान धर्म का पालन किया है। कोई अपराध नहीं किया है।

यहाँ कुछ-एक तथ्यों पर लिखना प्रासंगिक था। परन्तु हम उसे चतुर्थ-अध्याय के सर्वेक्षण में लिख सकेंगे।

इति।

इति तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थ अध्याय

सिद्ध-सिद्धान्त-पक्ष

परम्परा-प्राप्त अवसर पर हम अपना पक्ष रखते हैं। हमारे विचार में आद्यशंकराचार्य का समय इस प्रकार है:—

—आद्य शंकराचार्य का जन्मकाल—

कलि-संवत् ३०५६ : **विक्रम संवत् १४ : ४५ ई० पूर्वः ईश्वर संवत्सर** [द]

—आद्य शंकराचार्य का निधनकाल—

कलि-संवत् ३०८८ : **शककाल ६४४ : १३ ई० पू० : रौद्रक संवत्सर** [उ]

विवेकशील पाठक यह पढ़कर आश्चर्यचकित होंगे कि भगवान् शंकराचार्य के आविर्भाव के लिए **विक्रम-संवत् १४** का उल्लेख किया है, और उसी भगवान् के तिरोधान के लिए शककाल ६४४ का उल्लेख किया है। आखिर क्यों ? यह प्रकृत लेखक की चतुरता नहीं है। बल्कि उसने यह सिद्ध करने का मन बना लिया है कि दो **विभिन्न तिथियों** [जन्मतिथि और निधन तिथि] **के स्रोत अलग-अलग हैं; और कालगणनाएँ भी** 'एकमेव' नहीं हैं; **परन्तु उनके फलागम क्रमशः कलि-संवत् ३०५६-३०८८ पर ही ठीक-ठीक ढुकते हैं; उसी प्रकार ४४ ईसापूर्व तथा १३ ई० पूर्व पर भी ठीक-ठीक उतरते हैं**। तब क्यों न इस विलक्षण उपलब्धि का प्रचार-प्रसार किया जाये। प्रकृत लेखक यही-कुछ करने वाला है।

—भगवान् शंकराचार्य का जन्म

—विक्रमादित्य-अभिषेक का चौदहवाँ वर्ष

शृंगेरीमठ के रेकार्ड का पुनर्मूल्याङ्कन करते हुए बंग मनीषी स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने सर्वप्रथम रहस्योद्घाटन किया कि श्रीमद्जगद्गुरु शंकराचार्य का जन्म उज्जयिनीश्वर विक्रमादित्य के अभिषेक के चौदहवें वर्ष में हुआ। **यही कठोर सत्य है**। हम इस ऐतिह्य सत्य से पूर्णतया अवगत हैं कि गर्दभिल्लपुत्र विक्रमादित्य ने **परम्परागत प्रथानुसार 'विक्रम-संवत्' की स्थापना नहीं की थी**। अपने नाम से अलंकृत नव संवत् की स्थापना वही राजा कर सकता है, जिसने अपने शासनकाल में अपने ही राजकोश से धन देकर, अपने शासन-क्षेत्र निवासी प्रत्येक नागरिक को ऋणमुक्त [अगर वह किसी अन्य नागरिक का ऋणदाता है] कर देता है। **गर्दभिल्ल-पुत्र राजा विक्रमादित्य ने ऐसा परम्परा-सिद्ध पुण्य कार्य नहीं किया**। यद्यपि भारत के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने उक्त राजा के विषय में तथा कथित ऋणमुक्ति के पुण्य-प्रयास की हामी[1] भरी है; परन्तु हम उनसे सहमत नहीं है। कारण राजा विक्रमादित्य ने केवल सात वर्ष ही शासन किया था, उससे अधिक नहीं। जैसा कि साक्ष्य उपलब्ध है—

---

१. भारतीय कालगणना: पं० देवकीनन्दन खेड़वाल; पृष्ठ १३५.

"सप्त-सप्ततिमब्दानामतिक्रम्य चतुः शतीम् ।

विक्रमाच्छिलादित्यः भविता धर्मवृद्धिकृत् ॥

—धनञ्जयसूरी विरचित 'शत्रुंजय माहात्म्य

यहाँ वीर-निर्वाण संवत् ४७७ [अर्थात् ५० ईसवी पूर्व का साल] में राजा विक्रमादित्य का निधन हो गया, और उसका पुत्र 'शिलादित्य उज्जयिनी का राजा प्रतिष्ठित हुआ । गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य को इन सात-आठ वर्षों में प्रजाजन को 'ऋणमुक्त' कराने का मौका ही कहाँ मिला था ? अलबत्ता कुषाण राजा से सत्ता छीनकर उज्जयिनी में 'आत्माभिषेक' ज़रूर कराया था । शृंगेरी मठ के दस्तावेज़ में 'अभिषेक' की घटना सुरक्षित है; प्रजाजन की ऋणमुक्ति के परिणाम स्वरूप स्थातव्य 'विक्रमसंवत्' का उल्लेख नहीं है । **यही सत्य है** । यदि शृंगेरीमठ के दस्तावेज़ में '**विक्रम संवत् १४**' दर्ज होता, तो वह अशुद्ध होता; **और अनैतिहासिक होने पर उसका विरोध भी हम करते** । स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने अपनी इस खोज या उपलब्धि, कुछ भी कहो, **वेदान्तदर्शनेर इतिहास की** महती भूमिका में उजागर किया है । **हम इसी उपलब्धि के कायल हैं** । शृंगेरी मठ के उक्त रेकार्ड को देखने-परखने वाले स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती अकेले नहीं है; इनके अतिरिक्त बी० सूर्यनारायण राव, सर यदुनाथ सरकार तथा लुईसरईस भी इसी शृंखला में आते हैं । फिर इस सर्व-जन-संविदित अद्‌भुत उपलब्धि पर परदा क्यों डाला जा रहा है ? 'विक्रमादित्य' के मुखौटे के लिए पात्रान्तर की खोज क्यों हो रही है ?

तथाकथित सर्व-जन-संज्ञात ऐतिहासिक यथार्थ को झुठलाने का प्रयास कर रहे शृंगेरी मठ के निजी सचिव ने लिखा है :

"सारांश यथा—शृंगेरीमठ अधिकारियों ने स्वयं कहीं भी आचार्य शंकराचार्य का आविर्भाव काल ईसा पूर्व या ईसा पश्चात् होने का विषय नहीं कहा है । शृंगेरीमठ के ज्ञात प्रमाण (रिकार्ड) से मालूम पड़ता है कि विक्रमादित्य के चौदहवें राज्यभार-काल में आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ था । गुरु-परम्परासूची संग्रहकर्ताओं ने गलती से इसे उज्जैन विक्रमादित्य का काल (विक्रम-संवत्) मान लिया जो प्राचीन काल में मालव संवत् के नाम से प्रसिद्ध था जो आगे चलकर आठवीं शताब्दी में विक्रम-संवत् के नाम से प्रथित हुआ । इस प्रकार आचार्य शंकर का आविर्भाव[1] काल प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व ले जाना पड़ा है, और इसी कारण सुरेश्वराचार्य को ८०० वर्ष का मठाधिपत्य काल देना पड़ा, चूंकि सूचीपत्र में आगे आने वाले महानों का काल सब निर्धारित है । श्री लुईस राईस ने बतलाया कि यह निर्देशित विक्रमादित्य उज्जैन का नहीं था। अपितु शृंगेरी के समीप स्थित बादामी का चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य है। ऐतिहासिकों का कहना है कि चालुक्य विक्रमादित्य ने ६५५ ई० से ६७० ई० के बीच राजगद्दी पर आरोहण किया था । यह निर्देश उचित एवं ठीक मालूम पड़ता है क्यों कि बादामी शृंगेरी से दूर नहीं है । इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर एवं सुरेश्वराचार्य ने धर्मकीर्ति का निर्देश एवम् उद्धरण किया है एवं कुमारिल भट्ट ने भर्तृहरि का उद्धरण किया है तथा धर्मकीर्ति एवं भर्तृहरि का काल ज्ञात है, अतः आचार्य शंकर का आविर्भाव काल ईसा पूर्व ले जाना एवं शृंगेरीमठ रिकार्डों से अशुद्ध उद्धरण करना गलत होगा" ।

अथ मीमांसा [१]

१-१ शृंगेरी मठ की गुरु-परम्परा की सूची में उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अभिषेक-वर्ष का चौदहवाँ साल भूल से नहीं लिखा गया, बल्कि **सुनिश्चित तथा तथ्यपूर्ण मानकर उसे ठीक-ठीक ही लिखा है** । अगर उसके विकल्प में 'विक्रम-संवत्' लिखा होता, तो वह पक्के तौर पर ग़लत होता । यह हम विगत पंक्तियों में लिख चुके हैं ।

---

१. भारतीय कालगणनाः पं. देवकीनन्दन खेड़वाल; पृष्ठ -१३५.

१.२ : हमारी स्थापना का अखण्डनीय साक्ष्य है—शककाल ६४४, इसका मूल पाठ है: "**युग्मपयोधिरसान्वितशाके, रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे**" यह काल संदर्भ अनेक वेदान्तवादियों द्वारा अनुमोदित है। डक्कन कालेज पूना के संस्कृत प्रोफेसर श्री के.वी. पाठक ने इसे विख्यापित किया है। म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने इसे प्रमाणित मानकर यत्र-तत्र उद्धृत किया।[1] परन्तु इसके अर्थाधान में हमारा इनसे गम्भीर मतभेद हैं। यथा—

[१] **युग्मपयोधिरसान्वितशाके** = शककाल ६४२ = रौद्रक संवत्सर = ७२० ईसवी सन्: भगवान् शंकराचार्य का निधन।

[२] **युग्मपयोधिरसान्वितशाके** = शककाल ६४४ = रौद्रक संवत्सर = १४-१३ ईसवी पूर्व : भगवान् शंकराचार्य का निधन वर्ष।

यह दूसरा पक्ष हमारा है। फिलहाल हम अपने पक्ष को हासिए पर रख देते हैं। **पहला पक्ष विचाराधीन है।** तथाकथित पक्ष के अनुसार भगवान् शंकराचार्य का निधन ७२० ईसवी का बनता है। [६४२ + ७८ = ७२० ई०] हमारा पूछना यह है कि इस संदर्भ का ७८८-८२० ई० की स्थापना से तालमेल कहाँ है? फिर प्रश्न, क्या यह संदर्भ अप्रामाणिक है?

१.३ : शृंगेरी मठ के दस्तावेज़ों में सुरेश्वराचार्य का समय ६९५ शालिशक लिखा है, जो ७७३ ईसवी सन् में पलट सकता है। यदि भगवान् शंकराचार्य का समय ७८८-८२० ईसवी साल ही विचाराधीन है तो ७७३ ई० का उससे तालमेल कहाँ है?

१.४ : पाश्चात्य विचारक लुईस रईस ने विचार अभिव्यक्त किया है : "यह निर्देशित विक्रमादित्य उज्जैन का नहीं था। अपितु शृंगेरी के समीप स्थित बादामी का चालुक्य वंशीय विक्रमादित्य है।" शृंगेरी मठ के निजी सचिव ने इसे सत्यापित करते हुए कहा है—"**यह निर्देश उचित एवं ठीक मालूम पडता है, क्योंकि बादामी शृंगेरी से दूर नहीं है।**" अपनी अवधारणा को ऐतिह्य जामा पहनाते हुए शृंगेरीमठ के सचिव ने ज़ोर देकर कहा है : "**ऐतिहासिकों का कहना है कि चालुक्य विक्रमादित्य ने ६५५ ई० से ६७० ई० बीच राजगद्दी पर आरोहण किया था।**" इस पर हमारा प्रश्न है—६५५-६७० ई० के बीचों-बीच शासनासीन विक्रमादित्य को ७८८-८२० ईसवी सालों में वर्तमान भगवान् शंकराचार्य से कैसे सम्बद्ध रखा जा सकेगा? प्रासंगिक विक्रमादित्य का ऐतिहासिक स्तर पर खुलासा अनिवार्य है। हमें तो ऐसा लगता है—लुईसरईस के कथन से भगवान् शंकराचार्य का समय ६८८-७२० ईसवी—कुछ कुछ श्री के.बी. पाठक की स्थापना के समीप जा पड़ता है। ऐसी स्थिति में शंकराचार्य का समय ७८८-८२० ई० से खिसक रहा है।

१.५ : हमें इस प्रसंग में विचारक पाश्चात्य विद्वान् लुईस-रईस का हस्तक्षेप रुचिकर नहीं लगा। हम यह भी स्वीकारते हैं कि पाश्चात्य कोविदों का परिश्रमपूर्वक किया गया अनुसन्धान निष्पक्ष एवं निर्दोष नज़र नहीं आया। पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत अथवा निष्कर्ष समस्या के सुलझाने में नहीं, उसे उलझाने में अधिक सक्रिय नज़र आता है। भारतीय संस्कृति में गहन-अनुभूति के अभाव में इन पाश्चात्य पण्डितों का ऐतिह्य-अनुसन्धान अपूर्ण तो है ही, किसी दूषित अभिप्राय से प्रेरित भी लगता है। अतः लुईस-रईस का अनावश्यक परामर्श एकदम से अमान्य है।

१.६ : हमारी बात का अखण्डनीय साक्ष्य है—**सुरेश्वराचार्य का ६९५ शालिशक का उल्लेख**। विदित रहे—हमने शकवंश और शककाल पर गहन चिन्तन किया है। हमारे सामने दो-दो शालिवाहन राजा हुए हैं। शालिवाहननामा राजाओं के तथा शालिवाहन द्वितीय के पौत्र शकारि = साहसांक = विक्रमादित्य के दो-दो शककाल गणनाएँ इतिहास के पन्नों पर उभर कर प्रकाश में आई हैं। यथा—

---

१. अच्युत : समग्र निबंध पठनीय है।

शालिवाहन प्रथम

६५८ ई० पूर्व		६२२ ई० पूर्व
[प्रथम शककाल गणना]		[द्वितीय शककाल गणना]
स्रोत-स्कन्द पुराण		प्रयोग-राजतरंगिणी
३२ ईसवी	शालिवाहन द्वितीय	३४ ईसवी
	महेन्द्रादित्य	
६६ ईसवी	शकारि = साहसांक = विक्रमादित्य	७८ ईसवी ।

यहाँ खेद का विषय यह है कि शालिवाहन प्रथम के प्रथम शककाल के प्रयोग ६९५ **शालिशक**—को ७८ ईसवी के शककाल से जोड़कर इतिहास में ७७३ का लफड़ा खड़ा कर दिया है। इस पर विस्मय यह भी है कि इस उठा-पटक से **शंकराचार्य के समय ७८८-८२० ई०** को समर्थन मिलने वाला नहीं है। यह अलग बात है कि इस जोड़-जुड़ाव से माननीय के.बी. पाठक का अभिप्रेत पक्ष का पोषण हो रहा है, जो शृंगेरी मठ के अनुयायियों की पसन्द का नहीं है।

१.७ : इतिहासकारों का यह कहना है कि—**शृंगेरी के समीप स्थित बादामी के चालुक्यवंशी विक्रमादित्य के अभिषेक वर्ष से चौदहवाँ वर्ष यहाँ भगवान् शंकराचार्य का समय स्थिर करने के लिए अभिप्रेत है।** इतिहासकारों का यह अभिमत पुष्ट पृष्ठभूमि के अभाव में टिकता हुआ नज़र नहीं आता। यदि सचमुच इतिहासकारों की यह अवधारणा यथार्थ है तो उस प्रासंगिक विक्रमादित्य का अभिषेक वर्ष ७७४ ईसवी होना चाहिए, क्योंकि गणना के द्वारा यही समय अनुरूप पड़ता है। यथा ७७४ + १४ = ७८८ ई० भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव-काल कूता गया है। जब तक इसका समाधान सामने नहीं आ जाता; तब तक इस पर गंभीरता के साथ विचार नहीं किया जा सकता

दूसरी बात। शृंगेरीमठ के सचिव का यह कहना कि—"**ऐतिहासिकों का कहना है कि चालुक्य विक्रमादित्य ने ६५५-६७० ईसवी के बीच राजगद्दी पर आरोहण किया था**—कितना लचर तर्क है। लगता है, ६५५-६७० के बीचों-बीच गद्दी पर बैठने वाला चालुक्यवंशी विक्रमादित्य पुलकेशिन् द्वितीय का पुत्र अथवा पौत्र होना चाहिए। जैसा कि ऐहोल शिलालेख से पता चलता है—

> **"त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारताद् आहवादितः।**
> **सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु॥**
> **पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्च शतासु च।**
> **समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥**
>
> —पुलकेशिन् द्वितीय : ऐहोल-शिलालेख।

इसके सुष्ठु-अर्थाधान के लिए हम डॉ. कीलहार्न के मुक्तकंठ प्रशंसक हैं। उसका अर्थाधान हमें पसन्द है, परन्तु उसके प्रयोग से हम असहमत हैं। कीलहार्न का कहना है–

३० + ३००० + ७०० + ५ = **३७३५ संग्राम -संवत्।**

५० + ६ + ५०० = **५५६ शक-संवत्।**

अर्थाधान—[क]३७३५-३१०१ = **६३४ ईसवी।**

[ख] ५५६ + ७८ = ६३४ ईसवी।

कीलहार्न के मतानुसार ६३४ ईसवी में महाराजा पुलकेशिन् तथा स्थाण्वीश्वर राजा हर्षवर्धन के मध्य टकराव सम्भव है। परन्तु हम इस अर्थाधान से सहमत नहीं हैं। कारण, ३१०१ ई० पूर्व में भारत-संग्राम की संभावनाएं क्षीण हैं। हमारे अभिमत में **भारत-संग्राम ३१४८ ई० पूर्व हुआ था**! इसे संदर्भ में लेते हुए उक्त अभिलेख का ठीक-ठीक अर्थाधान इस प्रकार है:—

[क] ३० + ३००० + ७०० + ५ = ३७३५-३१४७ = ५८८ ई०

[ख] ५० + ६ + ५०० = ५५६ + ३२ = ५८८ ई० ॥

यदि डॉ. कीलहार्न के अर्थाधान को सामने रख लें, तो ६३४ ई० के पश्चात् दिवंगत हुए पुलकेशिन् का **विक्रमादित्य नामा पुत्र ६५५ ई० में गद्दी पर बैठा होगा**। यदि इसकी तुलना में हमारा अभिमत मान्य हो जाय—जो पौराणिक दृष्टि से सर्वथा उचित है—तो ५८८ ई० के पश्चात् दिवंगत हुए पुलकेशिन् का **विक्रमादित्य नामा पुत्र ६५५ ई० में शायद ही गद्दी पर बैठा हो**? पहली स्थिति सम्भव नहीं है। डॉ. कीलहार्न के अर्थाधान को सामने रख लें, तो वह युक्ति-संगत नहीं है। यदि हमारा प्रस्तावित अर्थाधान सामने है, तो वह प्रसंग-संगत नहीं है। दोनों स्थितियों में ऐतिहासिकों का अभिमत टिकता हुआ नज़र नहीं आता।

१.८ : एक ओछा तर्क सामने लाया जाता है कि उत्तर-भारत के विक्रमादित्य की तुलना में दक्षिण-भारत के विक्रमादित्य को अधिमान देना चाहिए। हमें इस तर्क से बड़ी उद्विग्नता हुई है। सबको विदित है—उज्जयिनी के राजा शकारि = साहसांक = विक्रमादित्य ने अपने जीवन काल-में दो बार 'शककाल' स्थापित किया। **प्रथम शककाल** अपनी प्रजा को ऋणमुक्ति का लाभ देकर **६६ ईसवी में स्थापित किया**। **द्वितीय शककाल** आततायी शक को मुल्तान और करूर के प्रदेश तक भगाकर **७८ ईसवी में स्थापित किया**। आश्चर्य तो इस बात का है कि उत्तर भारत में **स्थापित ७८ ई० के शककाल** को दक्षिण भारत ने बड़ी उदारता से अपना लिया है, ऐसा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ; परन्तु उत्तरभारत के ही विक्रमादित्य के अभिषेक वर्ष १४ वें वर्ष से भगवान् शंकराचार्य के जन्मकाल जोड़ने में शृंगेरी में शृंगेरी मठ के सचिव को बेहद आपत्ति है और बड़ी बेशर्मी से लिख मारा है: **"निर्देशित विक्रमादित्य उज्जैन का [राजा] नहीं था।"** कितने आश्चर्य की बात है।

भगवान् शंकराचार्य के जन्म से एक शती पूर्व तथा एक शती पश्चात्—**अर्थात् दो सौ वर्षों में गतानुगतिक पदे-पदे नूतन संवत् स्थापित करने या चलने-चलाने की प्रथा विकसित नहीं हुई थी**। जैसे कि बाद की शताब्दियों में इस का ज़ोरदार विकास हुआ। हम शंकर युग की बात करते हैं। अतः भगवान् शंकराचार्य का जन्म दक्षिण-उत्तर के दायरे में सोचना राष्ट्रिय हित में नहीं है। हम केवल विक्रमादित्य की ही बात क्यों करें? दक्षिण-भारत की विभाजक रेखा का बलपूर्वक उल्लंघन करके उन-उन महापुरुषों की चर्चा करनी चाहिए, जिनका प्रासंगिक उल्लेख भगवान् शंकराचार्य के कालिक अस्तित्व के स्थिर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

शृंगेरी मठ के उपलब्ध दस्तावेज में से एक अन्य अन्तरंग विषय भी चर्चा की प्रतीक्षा में, है, वह है **सुरेश्वराचार्य का शालि शक ६९५** का उल्लेख पहले उसकी परीक्षा करते हैं।

१. सुरेश्वराचार्य

गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार भगवान् आद्य-शंकराचार्य के बाद प्रथम पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य का नाम आता है? यदि हम आद्य-शंकराचार्य का समय युक्तियुक्त तथा ऐतिह्य-संगत ठहराना चाहते हैं, तो सुरेश्वराचार्य का समय सप्रमाण स्थिर करना होगा। शृंगेरी मठ का अन्तः साक्ष्य है—

शृंगेरीमठ के अनुसार श्रीसुरेश्वराचार्य का निर्वाण-काल शालिशक ६९५ दर्ज है।

यह कालगणना दक्षिण की लोक प्रिय गणना से ७७३ ईसवी सिद्ध होता है। **जो विद्वान् इस गणना के पक्षधर हैं, वे सरासर भूल में हैं।** इस पटल पर लिखित शालिशक ६९५ की ठीक-ठीक काल-संगति है—३७ ईसवी सन्। हम एतद् हेतु 'स्कन्दपुराण' को उद्धृत करना उचित मानते हैं—

त्रिषु वर्षसहस्त्रेषु शतेनाप्यधिकेषु च।
शको नाम भविष्यश्च सोऽपि दारिद्र्यहारकः॥

—माहेश्वर खण्ड : [४०] श्लोक २४५

इस काव्य का चतुर्थ चरण विशेष गौर तलब है—**"सोऽपि दारिद्र्यहारकः"** अर्थात् स्कन्दपुराण द्वारा स्मृत शकराजा [हमारे विचार में शालिवाहन प्रथम] ने अपनी प्रजा को ऋण मुक्त कर संवत्-स्थापना की। उसके अभिषेक वर्ष से संवत्-स्थापना हुई—**वह पूर्वोक्त काल-गणना से अलग है।** हम इसकी पूर्व सूचना मीमांसा खण्ड [१.६ अनुच्छेद] में दे आए हैं। उसका विस्तृत विवरण इस प्रकार है:—

अथ मीमांसा [२]

२.१ : पूर्वोक्त स्कन्दपाठ से जिस प्राचीन शक की उद्भावना हुई है, उसके दो प्रयोग मिलते हैं—**एक : ६५८ ईसवी पूर्व से; दूसरी ६२२ ईसवी पूर्व से।** प्रथम शक-गणना की परिभाषा इस प्रकार से है—

अधिकृत संख्या सप्तर्षि-संवत् ३१०० है

[क] मूल संख्या में ७ अपनी ओर से जमा किए : ३१०७

[ख] इस फलितार्थ को ३७६५ से घटाने का विधान है—

३७६५-३१०७ = ६५८ ई० पूर्व से यह शककाल प्रयोग में आने लगा।

इसकी एक वैकल्पिक परिभाषा तथा प्रयोग और भी है—

[क] मूल संख्या से ६२८ कम किए। कारण सप्तर्षि-संवत् ६२८ = ३१४८ ई० पूर्व में भारत-संग्राभ हुआ था। यथा—

३१००-६२८ = २४७२ शेष फलितार्थ मिला।

[ख] इस फलितार्थ को ३१४८ ई० पूर्व से घटाया। कारण, भारत-संग्राम ३१४८ ई० पूर्व में हुआ! अत: **३१४८-२४७२ = ६७६ ईसवी पूर्व का साल** सिद्ध हुआ।

[ग] इसमें से १८ कम किए : ६७६-१८ = ६५८ ई० पू० **पूर्ववत् फलित् सिद्ध है।**

टिप्पणी— यह परिभाषा 'राजतरंगिणी' के अनुरूप है। मूल सप्तर्षि-संवत् ६१० ही है, जैसा कि पूर्व विकल्प में लिखा है। अतः इसकी ठीक-ठीक परिभाषात्मक गणना इस प्रकार है—

[क] ३१००—६१० = २४९०; [ख] ३१४८-२५४९ = ५५८ ई० **पूर्व पूर्ववत् ठीक है**

निष्कर्षतः स्कन्दपुराण-प्रतिपादित प्राचीन शक-संवत् का पूर्व प्रथित प्रयोग ही अत्र वांछनीय है, उसी प्रयोग के अन्तर्गत भगवान् शंकराचार्य का निधन ६४४ प्रा. शक में तथा सुरेश्वराचार्य निधन [शालि—] शक ६९५ में हुआ। यथा—

शंकराचार्य का निधन		सुरेश्वराचार्य का निधन
शककाल ६४४		शालिशक ६९५
	+५१ वर्ष =	
१४ ईसवी पूर्व +		३७ ईसवी सन् =

इस काल-चित्र से भगवान् शंकराचार्य के निधन तथा प्रथम पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य के निधन के दरम्यान ५१ वर्षों का पार्थक्य [उभय गणनाओं में] उपलब्ध है।

२.२ : भारतीय काल-गणना में '**प्राचीन शककाल**' का स्थान सर्वोपरि होने से उल्लेखनीय नज़र आता है। उक्त प्राचीनतम शककाल की सूचना आचार्य वराहमिहिर ने भी दी है। उसने महाभारत-कालीन आचार्य वृद्ध गर्ग के कथन :

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।

को संदर्भ में लेते हुए प्राचीन शक की परिभाषा दी है:

षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालः तस्य राज्यस्य॥

सप्तर्षियों के संग्रामकालीन मघानक्षत्र का आयाम ई० पूर्व३१६३−१०१ = ३०६२ ई० पूर्व तक है; हमने अधिक गम्भीरता में न उतरते हुए भारत-संग्रामकाल = ३१४८ ई० पूर्व को केन्द्र मानकर लिखा है। यथा:—

युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१४८ ई० पूर्व

षड्द्विकपञ्चद्वियुतः— २५२६ =

६२२ ई० पूर्व का प्राचीनशक।

प्रयोग

देवसेन बाकाटक	**हाथीगुम्फा**	**मेगास्थनीज**	**वराहमिहिर**	**राजतरंगिणी**
३८० शक	३००	३००	५०९	१०७०
२४२ ई० पू०	३२२ ई० पू०	३२२ ई० पूर्व	११३ ई० पू०	४४८ ईसवी
उत्कीर्णकाल	मौर्य-निधन	यूनानी आक्रमण	निधनकाल	आरम्भ काल

यह तामझाम इसलिए स्वीकार्य है कि प्राचीन शक-संवत् की लोकप्रियता उजागर हो जाये। कोई यह आपत्ति उठाने का प्रयास न करे कि—सुरेश्वराचार्य का समय शालिशक ६९५ कोई मनघड़न्त है। यह अलग बात है—सुरेश्वराचार्य के लिए शक-संवत् का प्रयोग अपने-आप में इकलौता है। उसके अधिकाधिक प्रयोग नहीं मिलते; पर जो अधिकाधिक प्रयोग मिलते हैं, वे उस काल-गणना की निम्न शाखा के हैं।

२.३ : इसी बलबूते पर हमने शंकराचार्य का समय भी इसी शृंखला में ढूंढने का प्रयास किया है। यथा—

"युग्मपयोधिरसान्वितशाके, रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे।"

सुरेश्वराचार्य के शालिशक ६९५ से ५१ वर्ष प्राक् भगवान् शंकर भी शालिशक ६४४ में महानिर्वाण को प्राप्त हुए।

टिप्पणी—माननीय श्री महानुभाव पंथ बापू पाठक ने इसका अर्थाधान ६४२ = रुद्र संवत्सर = ७२० ईसवी के अनुरूप माना है, जो शङ्कर-संप्रदाय की मान्यता से १०० वर्ष प्राग्वर्ती हैं।

यथा—

भगवान् शंकर का जन्म		भगवान् शंकर का निर्वाण
६८८ ईसवी		७२० ईसवी
	१०० वर्ष	
७८८ ईसवी		८२० ईसवी

[पाठक-तिलक अभिमत और साम्प्रदायिक अभिमत]

यह सौ वर्षीय अन्तराल ही यह सिद्ध करने में सक्षम है कि 'दोनों मत परस्पर-विरोधी होने से मिथ्या हैं।

परन्तु हमने पूर्वोक्त काल-संदर्भ का अर्थ ६४२ न मानकर ६४४ = 'युग्मपयोधि' स्थापित किया है। तदनुसारः

शालिशक ६४४ = १३ ईसवी पूर्व = रुद्रसंवत्सर

समय ही सुरेश्वराचार्य से पूर्ववर्ती है, सयुक्तिक है और ऐतिह्य भी है

२.४ : सुरेश्वराचार्य का समय शालिशक ६९५ + ७८ = ७७३ ईसवी कूतने वाले शारदा-पीठ के अन्तः साक्ष्य की एकदम से उपेक्षा करते हैं। सुरेश्वराचार्य से १०वीं पीढ़ी पर्यन्त मठाधिपत्य की काल-संगति स्थापित करने में कतराने लगते हैं। यथा—

सं०	मठाधिपत्य	ईसवी सन्	नामावली—
X	—	१३ ई० पू०	आद्यशंकराचार्य
१	५१	३७ ई०	सुरेश्वराचार्य
२	६	४३ ई०	चित्सुखाचार्य
३	५९.	१०२ ई०	सर्वज्ञानाचार्य
४	४९	१५१ "	ब्रह्मानन्द तीर्थ
५	६७	२१८ "	स्वरूपाभिज्ञानाचार्य
६	५२	२७० "	मङ्गलमूर्ति
७	२२	२९२ "	भास्कराचार्य
८	४३	३३५ "	प्रज्ञानानन्दाचार्य
९	३२	३६७ "	ब्रह्म ज्योत्स्नाचार्य।
१०	**वि. सं. ९**	**३७३ ई०**	**आनन्दाविर्भावाचार्य**
दस		४१३ वर्ष	

२.५ : दशम मठाधिपति-काल **९ वर्ष** लिखा है, यदि सुरेश्वराचार्य का मठाधिपत्य काल यही : **१३ ई० पूर्व + ३७ ईसवी** अपरिवर्तनीय है, तब विक्रम-संवत् ९ ठीक-ठीक चरितार्थ होता है। **यही ठीक है**। यहाँ आश्चर्य बोधक बात यह है कि १०वें आचार्य आनन्दाविर्भाव का समय विक्रम-संवत् ९ लिखा है, अपने विद्वच्छिरोमणि,

उदयवीर शास्त्री इसे विक्रम-संवत् ९ से गणना-शृंखला में ऊर्ध्ववर्तिनी कड़ियों से जोड़ते-जोड़ते ५०९ ई० पूर्व तक ले गए हैं। यह इतिहास के साथ खिलवाड़ है। काल-गणना का दुरुपयोग है।

२.६ : शृंगेरी मठ के सचिव ने तपाक से लिखा है कि "निर्देशित विक्रमादित्य उज्जैन का राजा नहीं था।" ठीक है। शृंगेरी के निकट बादामी के चालुक्यवंशी विक्रमादित्य को बीच में लाकर सचिव महोदय ने समस्या को सुलझाया नहीं है, बल्कि और अधिक उलझा दिया है। जब उत्तर भारत का विक्रमादित्य वर्जनार्ह हैं, तब प्रासंगिक विक्रमादित्य कौन सा है ? हमारा पूछना उचित है। उत्तर मिलना चाहिए।

२.७ : पण्डितवर उदयवीर शास्त्री ने प्रासंगिक विक्रमादित्य के बारे में कुछ नहीं कहा। अन्य विचारक किस विक्रमादित्य का परिचय देते हैं ? कुछ पता नहीं चला। परन्तु हमारा दृढ़तर अभिमत है कि **आनन्दाविर्भावाचार्य का मठाधिपत्यकाल विक्रम-संवत् ९, उज्जयिनी के किसी विक्रमादित्य से जुड़ा हुआ नहीं है, बल्कि गुप्तवंशीय समुद्रगुप्त-पुत्र चन्द्रगुप्त-द्वितीय अपरनामा विक्रमादित्य के चलाए 'विक्रम-संवत्' का द्योतक है; जो ईसवी सन् ३६४ से आरम्भ होता है।** तभी विक्रम संवत् ९ = ३७३ ईसवी ठीक-ठीक बैठता है।

२. उपवर्ष—

भगवान् शंकराचार्य ने **ब्रह्मसूत्र : ३/३/५३** में उपवर्ष का उल्लेख किया है। यथा—"**अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्माऽस्तित्वाभिधान-प्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः, इत्युद्धारः कृतः।**" हम इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि 'ब्रह्मसूत्र' के व्याख्याकारों की सुदीर्घ पंक्ति में आचार्य उपवर्ष का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। अगर उपवर्ष का समय ठीक ठीक ज्ञात हो जाय तो उनके परवर्ती शंकराचार्य का समय आसानी से स्थिर किया जा सकता है।

भगवान् उपवर्ष कब हुए ? इस पर हमारा चिन्तन और निष्कर्ष अन्य लोगों से अलग है। हम न तो पाश्चात्य पंडितों के अन्ध-पदानुगामी है; न ही भारतीय आचार्यों के चाटुकार भक्त हैं। हम जो सोचते हैं—अपने तौर-तरीकों से ही सोचते और लिखते हैं।

हमें भली भान्ति ज्ञान है—उपवर्ष के ज्येष्ठ भ्राता 'वर्ष' के पट्टशिष्यों में 'पाणिनि' का नाम उल्लेखनीय हैं। यदि हम सब मिलकर '**पाणिनि**' का समय पक्के तौर पर पक्का कर लें। तब उसके गुरु 'वर्ष' का उसके कनिष्ठ भ्राता उपवर्ष का समय आसानी से निश्चित कर सकते हैं। 'पाणिनि' के समय-निर्धारण में दो विद्वान्—**जो सौभाग्यवश न केवल समकालीन हैं, बल्कि व्याकरणविद्या के परम पारखी भी विख्यात हैं**—परस्पर पर्याप्त दूरी बनाए हुए हैं। म. म. पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक पाणिनि का समय भारत-संग्राम से कोई दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् बताते हैं। इसके विपरीत डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ५०० ई० पूर्व में पाणिनि को ले जाते हैं। हम डॉ.अग्रवाल के अभिमत को अधिमान देते हैं, परन्तु हमारे सोचने और निर्णय लेने का आधार उनसे भिन्न हैं। डॉ० अग्रवाल के समविचारक होने पर भी उनसे स्वतन्त्र सोचने वाले प्रकृत लेखक की दृष्टि '**कथासरित्सागर**' पर जाकर टिकती है, जो मात्र **कथाग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत ऐतिह्य सूत्रों का खजाना भी है**। कथासरित्सागर के निजी अनुसंधान के बल पर हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं—**वर्ष और उपवर्ष ६५० ई० पूर्व के ऊर्ध्ववर्ती शतकों में नहीं हुए**। इनका समय योगनन्द का शासन काल है, जो हमने अनुसंधान करके स्थिर किया है—**५६०-५०० ई० पूर्व का काल**। अतः उपवर्ष का अस्तित्व तथा भगवान् शंकराचार्य द्वारा उसका नामोल्लेख बिल्कुल (सामयिक और उचित) है और शंकराचार्य का समय स्थिर करने में बाधक बिल्कुल नहीं है।

भगवान् शंकराचार्य के समय-स्थिरीकरण में 'उपवर्ष' का उल्लेख क्यों आवश्यक है ? यह पूछना कुछ अहम सवालों में एक सवाल है। सामान्यतया चर्चा की जाती है कि 'उपवर्ष' ने 'स्फोटवाद' पर टिप्पणी लिखी है; 'स्फोटवाद'

महाभाष्य का [महाभाष्य के रचयिता का नाम कुछ क्षणों के लिए रहने दीजिए] जटिल आलोच्य विषय है और भगवान् शंकराचार्य ने उपवर्ष का नाम लेकर स्फोटवाद पर कुछ नोट लिखा है। पहली नज़र में यह-सब सुलझा-सुलझा सा लगता है—

१. महाभाष्य में स्फोटवाद की आलोचना है।

महाभाष्य भगवान् पतंजलि की रचना है और समय १५० ई० पूर्व से दो-तीन दशक पहले या बाद तक का है।

२. उपवर्ष ने स्फोटवाद पर टिप्पणी लिखी है।

स्फोटवाद का बहाना बनाकर उपवर्ष का समय पतंजलि-युग के अन्तिम चरण में—१०० ई० पूर्व--मानना होगा और पाणिनि को उससे निम्न ऊर्ध्व शतकों में रखना होगा।

३. भगवान् शंकर ने उपवर्ष का नाम लेकर स्फोटवाद पर लिखा है

इससे असमंजस यह पैदा होता है कि 'पाणिनि' भगवान् शंकर के समकालीन हो जाते है; अथवा उनसे एक-दो दशक पूर्ववर्ती हो जाते है; जिससे सांस्कृतिक इतिहास विचलित हो जाता है—जो किसी भी पक्ष को मंजूर नहीं है। इस समस्या की जड़ यह कि **व्याकरण-जगत् ने महाभाष्य को एकमेव ग्रन्थ मान लिया है और भगवान् पतंजलि को इकलौता महाभाष्यकार मान लिया है।** यह सब झमेला अनैतिहासिक है। 'राजतरंगिणी' के विवेकशील पाठक जानते हैं कि काश्मीर नरेश अभिमन्यु के शासनकाल में एक 'चन्द्राचार्य' नामक महाभाष्यकार हुए हैं। हमने अभिमन्यु का शासनकाल १०५० ई० पूर्व ठहराया है। हमें बड़ा सन्तोष प्राप्त हुआ—म. म. पंडित युधिष्ठिर जी मीमांसक इस प्रसंग में हमारे समविचारक हो गए हैं। अब हम 'स्फोटवाद' की कहानी पक्के तौर पर कहने की स्थिति में आ गए हैं। यथा—

१. चन्द्राचार्य के महाभाष्य में स्फोटवाद की चर्चा संभाव्य है—

स्फोटवाद 'महाभाष्य' का एक आलोच्य विषय है। महाभाष्य की प्राचीनतम आविष्कृति १०५० ई० पूर्व में होनी विचारास्पद है।

२. उपवर्ष ने स्फोटवाद पर टिप्पणी लिखी है।

जो प्रासंगिक भी है और इतिहास-सम्मत भी है। हमने भगवान् पाणिनि का समय ६५०-५०० ई० पूर्व के मध्य माना है। तो निश्चयपूर्वक पाणिनि-गुरु उपवर्ष ७००-६५० ई० पूर्व में हुए होंगे। स्फोटवाद की पुस्तकीय यात्रा में कोई विसंगति या अवरोध आने वाला नहीं है।

३. भगवान् शंकर का उपवर्ष तथा स्फोटवाद पर लिखना सटीक है।

स्फोटवाद की पुस्तकीय यात्रा थोड़ा महाभाष्य में विराम लेकर, शंकराचार्य तक पहुंची है। हमें यह स्फोटवाद का विकास सहज लगता है।

व्याकरण-साहित्य के इतिहास में दो-दो चन्द्राचार्य वर्णित हैं। प्रथम **चन्द्राचार्य** पतंजलि पूर्ववर्ती है; द्वितीय चन्द्राचार्य पतंजलि परवर्ती है। प्रथम चन्द्राचार्य स्फोटवाद का उद्‌भावक होने से अत्र प्रासंगिक है। द्वितीय चन्द्राचार्य स्फोटवाद के अध्याय में नितराम् अप्रासंगिक होने पर भी **शंकराचार्य की गुरु-परम्परा में अनिश्चित स्थान पर है।** निष्कर्षतः चन्द्राचार्य-परवर्ती भगवान् पतञ्जलि का स्फोटवाद पर लिखना सयुक्तिक है और इतिहासपरक भी है।

हम **उपवर्ष-पाणिनि-पतञ्जलि**—इस प्रकार की आचार्य शृंखला पर नई रोशनी डालते हैं। एतदर्थ हम 'राजशेखर' को उद्धृत करना प्रासंगिक मानते हैं, जो ऐतिह्य सूत्र जुटाने में आप्त व्याख्याकार माना जाता है। वह लिखता है—'**श्रूयते च पाटलिपुत्रके शास्त्रकारपरीक्षा; अत्रोपवर्ष-वर्षाविह, पाणिनि-पिङ्गलाविह, व्याडि:, वररुचि:, पतञ्जलिरिह परीक्षिता: ख्यातिमुपजग्मु:** ।' इसे पढ़कर निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, जिनकी आलोचना या उपेक्षा नहीं की जा सकती। यथा—

[१] यहाँ वर्ष-उपवर्ष का स्थान इतिहास की दृष्टि से पूर्ववर्ती है और पाणिनि का स्थान परवर्ती है। इस पूर्वापर के सिद्धान्त पर उपवर्ष-पाणिनि का गुरु-शिष्यत्व मान्य हो जाता है।

[२] व्याडि-वररुचि के बाद पतञ्जलि का उल्लेख भी ऐतिह्य सिद्धि के अनुरूप है।

[३] इस सूची में 'चन्द्राचार्य' का नाम नहीं है। इससे दो बातों का पता चलता है—[क] चन्द्राचार्य इस आचार्यावलि से नितरां पूर्ववर्ती है; [ख] चन्द्राचार्य काश्मीरी-पण्डित होने से पाटलिपुत्र से दूर जा पड़ता है।

[४] पाणिनि और वररुचि [कात्यायनोपनामा] में भी पूर्व-पर जैसा स्थान सुरक्षित है; वररुचि और पतञ्जलि के मध्य पूर्व-पर की दूरी को ध्यान में रखा गया है।

यह क्रम-विन्यास सोपपत्तिक है। सोच-समझ कर कालक्रमानुसार लिखा है। राजशेखर की 'क्रमनिबन्धना' [अन्यत्र भी यदि कहीं है !] इतिहास के लिए विश्वस्त एवं संग्राह्य सूत्र हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने 'भगवान् उपवर्ष' लिखकर उसके प्रति सातिशय सम्मान प्रदर्शित किया ही है; इससे उपवर्ष का शंकर पूर्ववर्ती होना भी सिद्ध होता है।

३. भर्तृहरि

आचार्य भर्तृहरि भगवान् शंकराचार्य के पूर्ववर्ती हैं—यह '**सिद्धित्रय**' के प्रणेता यमुनाचार्य ने जो आचार्यावलि प्रस्तुत की है, यह राजशेखर की शैली की तर्ज पर है और उसी ढंग की आप्त रचना है। वे लिखते हैं—"**तथापि आचार्य-टङ्क-भर्तृप्रपंच-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शङ्कर-श्रीवत्सांङ्क-भास्करादि-विरचित-विविधनिबंधश्रद्धविप्रलब्ध बुधयो न यथान्यथा च प्रतिपद्यन्ते—इति तत्प्रीतये युक्तः प्रकरण-प्रक्रमः** ।" इस में गौरतलब बात यह है कि 'भर्तृहरि' तथा 'शंकराचार्य' के मध्य 'ब्रह्मदत्त' के उल्लेख से यह संकेत मिलता है 'भर्तृहरि-तथा-शंकराचार्य के मध्य कालावधि बहुत दूरगामी नहीं है। यथा—

१. भर्तृहरि-११० ई० पूर्व का अंतिम वर्ष-

—ब्रह्मदत्त— ?

२. शंकराचार्य—४४ ई० पूर्व का जन्म वर्ष।

इनके दरम्यान एक पीढ़ी का व्यवधान है, जो सर्वथा उचित है।

हम भर्तृहरि, कुमारिल, सुरेश्वराचार्य तथा धर्मकीर्ति को समकालिक व्यक्ति मानते हैं और उनका समय ई० पूर्व की प्रथम शती भी ठहराते हैं। फिर भी इस पर उग्र विवाद हैं।

अथ मीमांसा [३]

३.१ : इतिहास में तीन भर्तृहरि चर्चाधीन हैं। यह कैसी विडम्बना है. भर्तृहरि का नाम लेकर शंकराचार्य का समय उलझाया जा रहा है और हम **उसी भर्तृहरि का नाम लेकर शंकराचार्य का काल स्थिर करने का संकल्प ले चुके** हैं। विजय और निर्णय का झुकाव किधर जाता है, यह देखना बाकी है।

३.२ : माननीय के.बी. पाठक ने भर्तृहरि का समय चीनी यात्री इत्सिंग का नाम लेकर स्थिर किया है । चीनी यात्री ईसवी सन् ६७१-६९५ में भारत में भ्रमणशील रहा । उसने नालन्दा विश्वविद्यालय के किसी आचार्य से सुन लिया कि वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि चालीसवर्ष पूर्व दिवंगत हुए । इसी आधार पर ६७१-४० = ६३१ ईसवी का समय भर्तृहरि के लिए स्थिर करते हुए श्रीयुत पाठक जी ने कुमारिल तथा शंकराचार्य का समय [६८८-७२० ईसवी] घोषित किया है ।

३.३ : चीनी यात्री इत्सिंग की भारत यात्रा-वृतान्त को भारतीय इतिहास का प्रामाणिक स्रोत मान लिया गया है । प्रायः सभी इतिहासकार इत्सिंग के सन्दर्भ को मतैक्य से प्रयोग में लाते हैं । उसका यात्राकाल [६७१-६९५ ई०] प्रायः ठीक-ठीक है । इस पर आपत्ति करने की अधिक गुंजाइश नहीं है । **फिर भी श्रीयुत पाठक जी का निर्णय हमारे गले से नीचे नहीं उतर रहा ।** कारण, इसकी संगति भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं है—यह बात बहुत कम लोगों को समझ में आएगी । परन्तु इतनी-सी बात सभी समझ सकते हैं कि चीनी यात्री इत्सिंग ने वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि के दिवंगमन का जो वर्ष ठहराया है, वह अन्य चीनी यात्री ह्वेनसुआंग का यात्रा-काल है । उसने कहीं भर्तृहरि का उल्लेख तक नहीं किया । **लगता है, मामला कहीं गड़बड़ है ।**

३.४ :इसके समाधान में प्रसिद्ध बंगविद्वान् स्वामी प्रज्ञानानन्द [तथा उनके शिष्य नाम स्वामी चिन्मयानन्दसरस्वती] श्री के. बी. पाठक की प्रस्तुति को निरस्त करने के लिए एक वेदान्ती भर्तृहरि को बीच में लाए हैं । वेदान्त साहित्य में श्रीकण्ठाचार्य का नाम खूब चर्चा में रहता है । श्रीयुत कण्ठाचार्य ने 'मृगेन्द्रसंहिता' पर एक वृत्ति लिखी है उसी कण्ठाचार्य के वंशधर विद्याकण्ठ ने उस 'वृत्ति' पर 'वृत्ति' लिखी है । प्रस्तावित भर्तृहरि ने वृत्ति-दर-वृत्ति पर भाष्य लिखा है । परन्तु हमारे विचार में यह कर्तरी-योग ठीक नहीं बैठा । कारण, चीनी यात्री इत्सिंग ने 'वाक्यपदीय-प्रणेता' का छलछिद्र रहित संकेत दिया है । वेदान्तवादी भर्तृहरि 'वाक्यपदीय-प्रणेता' भर्तृहरि का विकल्प नहीं बन सकता और न ही उसे अपदस्थ कर सकता है । अतः **इत्सिंग का भर्तृहरि अपनी जगह पर सुरक्षित है ।**

३.५ : हमने इसका अभिप्राय कुछ और समझा है । इत्सिंग ने नालन्दा कालिज के आचार्य से ठीक सुना है । **वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि ४० वें वर्ष में दिवंगत हुआ ।** हमने इसे सप्तर्षि-संवत् का चालीसवें वर्ष का अनुमान लगाया है । विदित रहे—सप्तर्षि-संवत् में 'सैंकड़ा' और हज़ार के अंक वर्जित रहते हैं । यही कुछ यहाँ भी विचारणीय है । **संवत् ४० का मतलब है : सप्तर्षि-संवत् १३४०,** इसे ईसवीपूर्व में पलटने का नियम इस प्रकार है—

[१] मूल संख्या में ७ जमा किए : १३४० + ७ = १३४७

[२] इस उपलब्धि को १४५२ से घटाया, जैसा कि नियम है—

१४५२-१३४७ = १०५ ई० पूर्व में भर्तृहरि का निधन हुआ हमने भर्तृहरि का कार्यकाल १५०-११० ई० पूर्व तक घोषित किया है ।

३.६ : हमारा यह कालिक अनुमान कल्पना पर आधृत नहीं है, अपितु इतिहास की ठोस वास्तविकता पर आश्रित है ।

जैसा कि सर्व-विदित है, भगवान् पतञ्जलि सर्वश्रेष्ठ व्याकरणज्ञ तो थे, एकमेव व्याकरणविद् न थे । उनका एक प्रतिद्वन्द्वी भी था—नाम है 'वसुरात' । पतञ्जलि और वसुरात में शास्त्रार्थ भी हुआ था—ऐसी श्रुति-परम्परा है । **तथाकथित वसुरात का शिष्य है—भर्तृहरि ।** जब हम भगवान् पतञ्जलि को १५० ई० पूर्व के युग में ले जाते हैं, तब अनायास ही उसके प्रतिद्वन्द्वी वसुरात को भी १५० ई० पूर्व में रखना होगा । **इतिहास के इस आकलन से भर्तृहरि का समय : १५०-११० ईसवी पूर्व बताना सभी दृष्टियों से निरापद है ।** इत्सिंग का उद्धरण भी मिथ्या नहीं है ।

३.७: भर्तृहरि-विषयक काल-ग्रन्थि खुल जाने के पश्चात् कुछ परम्परागत मान्यताएं अनायास ही सटीक और सजीव हो जाती हैं। यथा—

१. इत्सिंग द्वारा भर्तृहरि का उल्लेख बिल्कुल प्रासंगिक है।

२. मृगेन्द्रसंहिता के भाष्यकार श्रीकण्ठ ने शांकर अद्वैत मत का खण्डन किया है। निश्चय पूर्वक भगवान् शंकर उससे पर्याप्त पूर्ववर्ती हैं।

३. भर्तृहरि ने धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है।

४. भगवान् शंकर के पट्टशिष्य सुरेश्वर ने धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है।

५. शंकराचार्य ने स्वयं धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है।

६. चूंकि भर्तृहरि, सुरेश्वराचार्य तथा शंकराचार्य ने धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है, अतः [क] ये तीनों **धर्मकीर्ति के सूत्र से समकालिक हो जाते हैं, और [ख] धर्मकीर्ति से थोड़ा-परवर्ती भी हो जाते हैं।**

७. भर्तृहरि को इत्सिंग के सहारे ६७१ − ४० = ६३१ ईसवी का व्यक्ति ठहराने से सभी शलाका-पुरुष धड़ाम से ईसवी की ७ वीं शती में आ जाते हैं। जो चिन्त्य है।

८. इत्सिंग का समय ६७१-६९५ ई० अपरिवर्तनीय है।

९. इत्सिंग की तुलना में अनेक प्रकार के सांस्कृतिक दस्तावेज़ तुच्छ मान लिये गए; जबकि उनकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है।

यह विशाल पैमाने पर घटित महाभूल का भयावह दुष्परिणाम है। **इत्सिंग का भर्तृहरि यहाँ अप्रासंगिक बनकर रह गया है।**

हम निश्चय पूर्वक भर्तृहरि का रचनाकाल १५०-११० ईसवी पूर्व तथा उसका निधन काल १०५ = १३४० सप्तर्षि-संवत् स्वीकारते हैं। हमारे पास अपने अभिमत की पुष्टि का एक अखण्डनीय प्रमाण भी है। **'महाभाष्य-रचयिता पतञ्जलि से स्वल्पकालिक परवर्ती वामन-जयादित्य ने काशिका के ४/३/८८ के प्रसंग में भर्तृहरि-प्रणीत वाक्यपदीय ग्रन्थ का उल्लेख किया है।**[1] काशिका का रचनाकाल हम वह नहीं मानते, जो म. म. पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक मानते हैं। काशिकाकार शुंगवंशी पुष्यमित्र के नितान्त समकालीन अवन्तीनरेश **चन्द्रगुप्त मौर्य [द्वितीय]** [शासनकाल १६०-१४६ ई० पूर्व] तथा उसके आत्मज साहसांक [शासनकाल १४६-११७ ई० पूर्व] का सभारत्न था। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—**'पुष्यमित्रसभम्'** और **'चन्द्रगुप्तसभम्'**। इसी क्रमानुसार काशिकाकार ने भी लिखा है। हम इसका मतलब क्या समझें? बात बिल्कुल साफ है— भगवान् पतञ्जलि शुंगनरेश पुष्यमित्र का सभारत्न है; परन्तु वह चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा से परिचित है। ठीक इसी के समतल पर विचारणीय है कि काशिकाकार-वामन जयादित्य अवन्तीनरेश चन्द्रगुप्त मौर्य का सभारत्न है और शुंगनरेश पुष्यमित्र की सभा से भी परिचित है। एक बात और! **'पुष्यमित्रसभम्' तथा 'चन्द्रगुप्तसभम्'** का क्रमविन्यास एक रहस्य की ओर संकेत करता है। 'पुष्यमित्रसभा' की वरिष्ठता भूगोलगत भी है और कालगत भी है। ठीक इसी तर्ज़ पर चन्द्रगुप्तराभा की कनिष्ठता भूगोलगत भी है और कालगत भी है। चन्द्रगुप्त मौर्य १६० ई० पूर्व में शासनारूढ हुए हों, तो पुष्यमित्र १५० ई० पूर्व में अश्वमेध यज्ञ कर रहा था, तब उसकी तुलना में चन्द्रगुप्त मौर्य १४६ ई० पूर्व में राजपाट छोड़कर **विशाखाचार्य नाम से जैनमुनि** दीक्षित हो गया था। जो हो, इन सबकी समकालिकता इस प्रकार बनती है—

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास : प्र. भा. ३७७/१९-२०

वामन-जयादित्य ११० ई० पूर्व { भगवान् पतंजलि १७०-१२० ई० पूर्व ।
भर्तृहरि १५०-१०५ ई० पूर्व ।

४. विक्रमादित्य-तृतीय : ३६-१४ ई० पू०

मौर्यवंश का विक्रमादित्य-तृतीय भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारण में नितान्त प्रसंगिक है । कारण, भगवान् शंकर का निधन **इसी विक्रमादित्य के शासन काल में हुआ था** । इस विक्रमादित्य का वंश-विवरण सामने रख लेना समीचीन रहेगा । यथा—

क्रम	विवरण : कालसंदर्भ सहित	समकालीन
१	चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय : [*]१६०-१४६ ई० पू०	पुष्यमित्रसभा
२	साहसांक : [§]१४६ ई० पू० से ११८ ई० पू०	—
३	**विक्रमादित्य [१] :** [¤] ११७-९४ ई० पू०	शुंग राजा
४	गर्दभिल्लराजा : [#]९४ ई० पू० से ७१ ई० पू०	कालकाचार्य
५	गन्धर्वसेन : शासन काल ? ?	
६	**विक्रमादित्य [२] : [0]५८ ई० पू० से ५० ई० पू०**	कुषाण राजा
७	शिलादित्य : ५० ई० पू० से ३९ ई० पू०	
८	**विक्रमादित्य [३] : ३९ ई० पू० से १४ ई० पू०**	कुषाण वंशी राजा
९	सारवाहन : १४ ई० पू० से १२ ईसवी सन्	—
१०	नरवाहन : [↓]१२ ईसवी से ३२ ईसवी तक	शालिवाहन विक्रमादित्य

—संकलित

—अथ परिचय—

[*] चन्द्रगुप्त मौर्य प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के कनिष्ठ भ्राता भद्रबाहु से दीक्षा लेकर जैनमुनि बन गया—'विशाखाचार्य

[§] चन्द्रगुप्त के पुत्र सिद्धसेन साहसांक का एक संवत् चलता है—

साहसांक-संवत् ०० = युधिष्ठिर-संवत् ३०४२ = १४६ ई० पू० = 'जय' संवत्सर ।

[¤] विक्रमार्क नाम से दो संवत् चलते हैं—[१] ११७ ई० पू० से [२] ९४ ई० पू० से अंतिम-काल गणना के प्रयोग अधिकाधिक मिलते हैं ।

[#] यहाँ से मौर्यवंश का नाम 'गर्दभिल्ल वंश' विश्रुत हुआ—

सप्त गर्दभिल्ला भूयो भोक्ष्यन्तीमाम् वसुन्धराम् ।

[0] ज्योतिर्विद् कालिदास का तथा हरिस्वामी का आश्रय दाता ।

[↓] इस अंतिम राजा से 'राज्य' शकवंश के हस्तगत हुआ—

एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहनभूपतिः ।

विक्रमादित्य-पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान् ।।

प्रस्तुत विक्रमादित्य की शासनावधि में : **३६—१४ ईसवी पूर्व के बीच है १४ ईसवी पूर्व**—भगवान् शंकराचार्य ने विग्रह-विसर्जन कर दिया।

अथ मीमांसा [४]

४.१ : कोई यह समझे कि इतिहास-जगत् इस विक्रमादित्य से परिचित नहीं है; यह प्रकृत लेखक की बौद्धिक उपज है। हम इसका प्रबल प्रतिवाद करते हैं। कारण इस विक्रमादित्य की अपनी 'कालगणना' चलती है और इतिहास उसका स्थान है। यथा—

[१] कृत-संवत् : सभी जानते हैं, विक्रम-संवत् का आरम्भिक नाम 'कृत संवत्' है। हम उसके चार संदर्भ प्रस्तुत करते हैं—

क्रम	संवत्	उपलब्धि	विवरण—
१	२८२	नन्दसा ? ?	कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्वयशीत्योः
२	२८४	जयपुर राज्य	कृते हि २००८-४ चैत्र शुक्ल पक्ष पञ्चदशी
३	२९५	जयपुर राज्य	——
४	**३३५**	**जयपुर राज्य**	**कृते हि ३००-३०-५ जरा [ज्येष्ठ] शुद्धस्य**

—विक्रमस्मृति-ग्रन्थ : पृष्ठ ५०

इस सारिणी में अन्तिम संदर्भ निर्णायक है। कृत संवत् ३३५ = २७७ ईसवी में शुद्ध ज्येष्ठ मास की संभावना नहीं है। इसके विपरीत : **३३५-३६ = २९९ ईसवी में ज्येष्ठ अधिक मास है;** इसलिए शुद्ध ज्येष्ठ मास की संस्तुति की गई है। इसका फलितार्थ यह मिला कि 'कृतसंवत्' की शुरुआत ५८-५७ ईसकी पूर्व से नहीं, **बल्कि ३६ ई० पू० से होती है।**

[२] विक्रमभूपति-संवत् : विक्रम-संवत् बनाम विक्रम-संवत् के बीच गड्डुमड्डु हो जाने पर भी यथा-प्रथित **'विक्रम-संवत्'** की अपनी पहचान सुरक्षित है। उक्त पहचान के अनुसार 'विक्रम' नाम के साथ-साथ 'भूपति' 'नरनाथ' 'नृपति' जैसे किसी भी पर्याय-वाचक शब्द का जुड़ाव अवश्य होगा। यथा—

अन्य संवत्	ईसवीपूर्व	पाठ से	संदर्भ
३०६८	३३ ई० पू०	तस्मिन् सदा विक्रममेदिनीशे	ज्योति० १८
३७४०	**३६ ई० पू०**	**श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य—क्षितिशितुः।**	शतपथ
१०२८	९९२ ईसवी	श्रीविक्रमादित्यभूभृतः	भंडारकर सूची

—संकलित [द्रष्टव्य - पृष्ठ ४०]

इसी प्रकार अन्यत्र संगति ढूंढ़ लेनी चाहिए।

[३] केवल ३६ ईसवी पूर्व से नहीं, प्रत्युत उक्त विक्रमादित्य के राज्यावसान-काल : १४ ई० पू० से सम्बद्ध काल गणना के प्रयोग भी मिल गए हैं। इन उपलब्ध साक्ष्यों से यह भी पता चलता है कि उक्त विक्रमादित्य कितना लोकप्रिय है, और काफी लम्बे समय तक उसकी संवत्-प्रयोग-विस्तृति का पता चलता है। हम एतदर्थ दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—

१. रस-गुण-बसु-चन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात्

समफलवति वर्षे चाश्विने मासि शुद्धे।

—१८३६ संवत् आश्विन अधिक मास की खोज।

श्रवणयुतदशम्यां भौम्वारेऽलिलग्ने

प्रथित इति निबन्धः सिद्ध ईशप्रसादात्॥

२. मुनि-गुण-वसु-चन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात्

शुभफलवति वर्षे माघमासे सितांशे।

पशुपतितिथि-सन्धौ चन्द्रवारे सुलग्ने

विवृत इति निबन्धः सिद्ध ईश-प्रसादात्॥

—श्री शंकराचार्य : डॉक्टर बलदेव उपाध्याय, पृ० १६१.

उपर्युक्त दोनों सन्दर्भ १४-ईसवी पूर्व से विचाराधीन है। कारण, **राज्य-शब्द** के पञ्चम्यन्त प्रयोग से उसके 'अवसान' के पश्चात् का संकेत मिलता है। सो—**१८३६-१४ = १८२२ ईसवी में आश्विनाधिक मास पंचांग-सिद्ध** है। दूसरा प्रयोग भी इसी प्रकार १८३७-१४ = १८२३ ईसवी का ग्रहण करना होगा।

अनुसन्धान-टिप्पणी : ये दोनों प्रयोग बड़े विचित्र हैं। डॉक्टर बलदेव उपाध्याय द्वारा की गयी इसकी संगति १८३६-५६ = १७८० तथा दूसरे संदर्भ के साथ १७८१ ईसवी से ठीक नहीं बैठती। कारण, विक्रमादित्य राज्य संवत् १८३६-५८ = १७७८ अथवा-५७ = १७७९ अथवा- ५६ = १७८० में कहीं भी आश्विन अधिक मास नहीं है। सचाई यह है कि **ईसवी १७५७ के बाद १८२२ ई० तक कहीं आश्विन अधिक मास का अस्तित्व नहीं है**। अलबत्ता, प्रथम विक्रमादित्य के राज्य स्थापनावर्ष ११७ ईसवी पूर्व को संदर्भ में ले लें, तब बात बन भी सकती है : **१८३६-११७ ई० पूर्व = १७११ ईसवी सन् में आश्विन अधिक मास है**। अनुसन्धानार्थियों को आगे बढ़कर अनुसन्धान करना चाहिए कि आश्विन अधिक मास को देखते हुए **ईसवी सन् १७१९ का ग्रहण करें अथवा १८२२ ई० सन् का ग्रहण करें?** दोनों फलितार्थों के बीच १०३ वर्षों का असह्य व्यवधान है। इस व्यवधान को इतिहास ही सुलझा सकता है। ये सब लिखने का प्रयोजन यह है कि भगवान् शंकराचार्य के देहावसान-काल का 'इतिहास' प्रत्यक्ष रहे।

५. अश्वघोष

अश्वघोष के दो रूप हमारे सामने हैं—[१] उसका एक रूप महाकवि [नाटककार] का है [२] उसका दूसरा रूप महायानिक बौद्ध आचार्य का है। हम महाकवि अश्वघोष की चर्चा नहीं कर रहे हैं। चूंकि वाराणसेय राजगोपाल शर्मा ने अश्वघोष के बौद्ध रूप को मंजूर किया है, अतः हम अपने मन्तव्य को इसी दायरे में सीमित रखेंगे।

मान्य पद्मपादाचार्य 'पंचपादिका' में कहते हैं—"आचार्य" शंकर ने महायान-पक्ष का खण्डन किया है : अतः **स एव महायानिक पक्षः समधिगतः**। शून्यवाद महायानों का प्रमुख सिद्धान्त है। महायानों का काल ईसा-पूर्व का है और लगभग १०० ईसवी में इस पक्ष का प्रभाव और प्रचार अधिक रहा। कनिष्क ने महासंघ के पश्चात् महायान की नींव डाली। नागार्जुन से माध्यमिक बौद्धदर्शन (शून्यवाद) के साथ महायान का उदय हुआ। **अश्वघोष एवं नागार्जुन ही महायान के मूल प्रवर्तक थे।**"

इस अवधारणा की छानबीन होनी ही चाहिए। महायान शाखा का प्रादुर्भाव २०० वर्ष ईसवी पूर्व से थोड़ा पहले था थोड़ा-सा पीछे मानना ठीक रहेगा। शुंग पुष्यमित्र से हुए संमर्द के बाद विचलित महायान शाखा को एक

तो राजाश्रय की आवश्यकता थी, दूसरा बौद्ध-विदग्ध आचार्य की अपेक्षा थी। **कहना न होगा कि महायान की उक्त अपेक्षाएँ अश्वघोष को अपने कन्धे पर बैठाकर भारत—आक्रान्ता कनिष्क ने पूरी कर दीं**। दरअसल कनिष्क का समय सुधरने पर ही इतिहास की सरलता सिद्ध होगी; अन्यथा इतिहास विषम परिस्थितियों में वर्तमान है ही।

अभी कुछ कहना शेष है। वाराणसेय राजगोपाल शर्मा के कथन से यह विभ्रम पैदा हो गया है, कि महायान पक्ष के उन्नायक **अश्वघोष** और **नागार्जुन** प्रथम कनिष्क के समकालिक हैं; जब कि यह बात सही नहीं है। यह विभ्रम का घटाटोप है। ऐतिहासिक सचाई यह है कि महायान का प्रथम दार्शनिक विद्वान् **अश्वघोष** कनिष्क-प्रथम के साथ कदम-ब-कदम भारत आया है और **प्रथम शती ई० पू० का है**; जबकि दूसरा विद्वान् **नागार्जुन** ईसवी संवत् की प्रथम शती का है और **कनिष्क द्वितीय—शकारि विक्रमादित्य-महाराजा हाल-कालिदास** का निकट समकालवर्ती है।

यह-सब लिखने की आवश्यकता इसलिए अनुभव में आई कि **अश्वघोष** शंकर-पूर्ववर्ती है और **नागार्जुन** शंकर-परवर्ती है। बस।

६. हरिस्वामी

शतपथ ब्राह्मण का ख्यातिलब्ध टीकाकार हरिस्वामी ही एक मात्र ऐसा व्यक्ति है, **जो भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारण में अविचल स्तम्भ है**। वह न केवल भगवान् शंकर का निकटतम समकालिक है, अपितु शंकर-युग के प्रमुख घटकों का सूत्रधार भी है। यदि हम सचमुच हरिस्वामी का समय—जो अनेक दृष्टियों से निरापद और निर्विवाद है—पहचान लें, तब शंकर-समय निर्धारण में कोई दिक्कत आने वाली नहीं है।

पहले तो संस्कृत के विद्वान् अपना समय लिखने में कतराते रहे है; फिर यदि किसी संस्कृत-जगत् के मूर्धन्य विद्वान् ने अपना समय-संकेत दे दिया तो संस्कृत के धाकड़ पण्डितों में लट्ठ-म-लट्ठा हो ही जाता है। **यही विकट कहानी हरिस्वामी के साथ जुड़ी हुई है**। हरिस्वामी ने अपना सम्पूर्ण परिचय इन शब्दों में दिया है :

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै
चत्वारिंशत् समाश्चान्याः तदा भाष्यमिदं कृतम्।
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य क्षितीशितुः
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं 'श्रुतिम्'॥

इसका अर्थ सीधा-सादा है—"जब कलियुग में संवत् ३७४० बीत रहा था, तब अवन्तिनाथ विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी ने शतपथ-श्रुति की टीका की।" इसमें उलझन यह है कि प्राक्तन काल में **कलियुग का बोध ४,३२,००० वर्षों की इकाई के रूप में होता था**। 'कलि-संवत्' की कोई गणना-परम्परा तब न थी। 'कलिसंवत्' आधुनिक पंडितों का योगदान है। यह सचाई बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि भारत-संग्राम-काल = ३१४८ ई० पूर्व के बाद ३१० ईसवी पूर्व तक **एकमात्र सप्तर्षि-संवत् ही कालगणना के लिए अबाधक्रम से प्रयोग में आ रहा था**; ३१० ई० पूर्व के बाद भी २७७ ईसवी तक सप्तर्षि-संवत् का विरल प्रयोग होता था। हरिस्वामी का वक्तव्य भी उस विरल प्रयोग-शृंखला में आता है। इसे ईसवीसन् [पूर्व या पश्चात्] में पलटने का नियम यह है—

[क] मूल संख्या में ६२८ वर्ष कम किए—

३७४०—६२८ = ३११२ सामान्यवर्ष

[ख] उपर्युक्त उपलब्धि को संग्राम-काल से घटाया—

३१४८—३११२ = ३६ ई० पूर्व में पूर्वोक्त व्याख्या हुई।

अथवा—

[क] मूल संख्या में ७ जमा किए : ३७४० + ७ = ३७४७

[ख] सप्तर्षि-संवत् के परिवर्तन-बिन्दु से घटाया :

३७६५-३७४७ = १८ शेष रहे।

[ग] उपर्युक्त उपलब्धि में १८ जमा किए : १८ + १८ = ३६ ई० पू०

अथवा—

[क] मूल संख्या में ६१० वर्ष कम किए: ३७४०-६१० = ३१३०

[ख] उपर्युक्त उपलब्धि को संग्रामकाल से घटाया—

३१४८ - ३१३० = १८ शेष रहे।

[ग] पूर्ववत् उपलब्धि में १८ जमा किए: १८ + १८ = ३६ ई० पूर्व

तीनों शैलियों से विश्लेषण करने पर फलितार्थ मिला कि हरिस्वामी ने ३७४० = ३६ ई० पू० में शतपथ ब्राह्मण की टीका की। दूसरा, उसने अवन्तिनाथ विक्रमादित्य का उल्लेख किया है, जो इससे पूर्ववर्ती अनुच्छेद में पढ़ चुके हैं और पहचान करके उसका समय ३६-१४ ई० पू० का स्थिर कर आये हैं।

अथ मीमांसा [५]

५.१ : इस अतिस्पष्ट काल बोधक उक्ति को सर्वाधिक उलझाने में लाहौर ओरिएण्टल कॉलिज के प्रिन्सिपल डॉ. लक्ष्मणस्वरूप ने सर्वाधिक पहलवानी दिखाई है। उन्होंने सतही तौर पर पढ़ लिया : '**कलेः**'। बस, वे वहीं ठिठक गए। अपनी अटकल लड़ाते हुए डॉ. स्वरूप ने ३७४० को कलि-संवत् मानकर उसे ६३८ ईसवी में परिवर्तित अथवा परिकल्पित कर डाला। जब सोचा, उस समय भारतीय इतिहास में कहीं भी उन्हें **उज्जयिनीश्वर विक्रमादित्य नज़र नहीं आया**। तब उन्होंने साहित्यिक दुःसाहस का परिचय देते हुए उक्त श्लोक का भ्रष्ट रूपान्तर स्थापित किया—

"यदाब्दानां कलेर्जग्मुः षट्त्रिंशच्छतकानि वै"

—विक्रमस्मृति ग्रन्थ : ३८२

३६४० कलि = ७५० ई० प्रस्तावित किया। बात बनी नहीं। बात बिगड़ जरूर गई।

५.२ : इसके बाद नंबर आता है—**पं. लक्ष्मीधर सदाशिव कात्रे तथा म. म. पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक** का। उभयकोविदों ने 'संस्कृत-संहार' में कमाल का जौहर दिखाया है। उनका कहना है :

> **"सप्तत्रिंशच्छतानि"** का पदच्छेद करके **"सप्त + त्रिंशच्छतानि + चत्वारिंशत्समाश्चान्याः"** [७ + ३००० + ४० = ३०४७] पढ़ा जाय, तब सभी समस्याओं का समाधान आनन-फानन में हो जाएगा। [१] कलिसंवत् ३०४७ = ५० ईसवी पूर्व का समय सिद्ध हो जाएगा; [२] और उज्जयिनीश्वर भी मिल जाएगा; अर्थात् सब ठीक-ठाक हो जाएगा।

यह बात हमारी समझ में नहीं आई। हमें लगता है—**"भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः।"** अर्थात् एक समस्या का समाधान तो हो गया, पर साथ ही एक कठोर प्रश्न भी खड़ा हो गया कि कि **सैंतीस सौ [३७००] का संस्कृतानुवाद क्या होगा?** वही **'सप्तत्रिंशच्छतानि'**; अगर यही संस्कृतानुवाद वाञ्छनीय हैं तब हरिस्वामी के प्रस्ताव

का अंग-भंग करके उसे विकलांग बनाने का क्या लाभ ? उसे छविहीन बनाने से संस्कृत-भाषा का गौरव बढ़ा नहीं है, बल्कि घटा है ।

५.३ : हरिस्वामी का जन्म कब का है ? उसका निधन कब हुआ ? इन सब प्रश्नों का समाधान इस समय उपलब्ध नहीं है । अब एक ही विचार-बिन्दु सबके सामने है—**३६ ई० पू० का साल**। यही शतपथ-ब्राह्मण का टीकाकाल है और हरिस्वामी का समूचा इतिहास है ।

५.४ : हरिस्वामी भगवान् शंकराचार्य का स्वल्पकालिक समसामयिक है । यथा—

भगवान् शंकराचार्य का जन्म ४४ ई० पूर्व,

—हरिस्वामी का व्याख्याकाल ३६ ई० पूर्व,

भगवान् शंकराचार्य का निधनकाल १३ ई० पूर्व ।

अर्थात् जब शंकर-वयोमान १२ वर्ष का था, तब हरिस्वामी शतपथ-व्याख्या-तत्पर हुए; व्याख्या काल के पश्चात् भगवान् शंकराचार्य २३ वर्ष अक्षतायु रहे । हमें विस्मय और खेद इस बात का है कि कहीं कोई अन्तः सूत्र या बहिः सूत्र नहीं मिला, जिससे इनकी समकालिकता का सन्धान किया जा सके । यह तो हम अपने कालबोध के सहारे इस 'समकालिकता' को प्रकाश में लाये हैं । यह अलग बात है—भगवान् शंकर से जुड़ा हुआ व्यक्ति [कुमारिल] हरिस्वामी से जुड़ा हुआ व्यक्ति [यथा प्रभाकरभट्ट] कहीं परस्पर जुड़ जाते हैं । यह इतिहास का परोक्ष साक्ष्य है; प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है । हमें यही खेद है ।

७. कालिदास

हम कालिदास तीन मानते हैं । प्रथम कालिदास महान् ज्योतिर्विद् है, उसका समय ५८ ई० पू० से २० ई० पू० तक है । दूसरा कालिदास नाटककार है, जिसका समय ६७-९० ईसवी सन् है । तीसरा कालिदास महाकवि है, उसका समय ३५०-३८० ईसवी सन् है । **दृढ़ता पूर्वक ध्यान देने योग्य बात यह है कि दूसरा तथा तीसरा कालिदास यहाँ बिलकुल प्रासंगिक नहीं है । प्रथम कालिदास ही यहाँ प्रासंगिक है ।** ज्योतिर्विद् कालिदास की अहम् भूमिका ३६-ई० पूर्व के विक्रमादित्य के अस्तित्व को सत्यापित करना है और हरिस्वामी तथा विक्रमादित्य के परस्पर सम्बन्ध को उजागर करना है ।

अथ मीमांसा [६]

६.१ : कालिदास की भूमिका शंकर-समय-निर्धारण में प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष में है ।

६.२ : ज्योतिर्विद् कालिदास ने अपना समय बताया है :

वर्षे सिन्धुर-दर्शनाम्बरगुणैऽर्याति कलौ सम्मिते ।

अर्थात् कलिसंवत् ३०६८ में उसने 'ज्योतिर्विदाभरण' पुस्तक लिखने का उपक्रम किया । कलि ३०६८ का मतलब है ३३ ई० पूर्व का साल । लेखक ने अपने आपको विक्रम-नृपति का सखा भी कहा है और ब्रह्म-संसद् का सदस्य भी । अतः उसका कथन प्रामाणिक दस्तावेज़ के रूप में मान्य होना चाहिए ।

६.३ : ज्योतिर्विद् कालिदास ने विक्रम-नृपति की ब्रह्मसंसद् में हरि [स्वामी] का उल्लेख किया है । यथा—

शंकुः सुवाग् वररुचिः मणिरङ्गुदत्तः ।

जिष्णुः त्रिलोचनहरी घटकर्पराख्यः ॥

अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा

यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी ॥ ८ ॥

त्रिलोचन अलग है, हरि या हरिस्वामी अलग द्विवचन के प्रयोग से इनका अलगाव समझ में आया है। यहाँ सर्वत्र काल-निबन्धना सबको जोड़े हुए हैं—

१. **विक्रमादित्य** [३६, ई० पू० से १४ ई० पूर्व तक]

२. **हरिस्वामी** [३६ ई० पू० में शतपथ की टीका लिखी]

३. **कालिदास** [३३ ई० पू० में उसका अस्तित्व ज्ञात हुआ]

—कालिदास की अहम भूमिका यहाँ अनुसंधेय है।

६.४ : हमने गत पंक्तियों में लिखा है कि ३६-१४ ई० पू० के विक्रमादित्य की पहचान उसके नाम के साथ कोई नृपति-सूचक पर्यायवाचक होना परम्परागत है। हमें यह सूझ-बूझ ज्योतिर्विद् कालिदास के ग्रन्थ से मिली है। यथा—

[१]...सति मालवेन्द्रे श्रीविक्रमार्कनृपराजवरे समाऽऽसीत्।

[२] श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते—

[३] श्रीमद्विक्रमभूभुजा प्रतिदिनम्—

[४] विजयते श्रीविक्रमार्को नृपः

[५] श्रीमद् विक्रमभूभृता—

[६] श्रीविक्रमार्कोऽवनिपो जयत्यपि।

[७] श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि मान्यबुद्धिः।

[८] तस्मिन् सदा विक्रममेदिनीशे

[९] सोऽयं विक्रमभूपतिर्विजयते।

—ज्योतिर्विदाभरणम्। पृष्ठ ४० तथा १५६ पर देखें।

६.५ : यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यह नृपति-पर्यायवाचक प्रयोग केवल सम्मान सूचक है, किसी परम्परा का सूत्रपात या प्रयोग नहीं है। यह आपत्ति उचित है। परन्तु कालिदास के सन्दर्भ-समूह का पर्यालोचन करने से इसका समाधान मिल भी जाता है। उक्त विक्रम-नृपति का पितामह विक्रमादित्य [५८-५० ईसवी पूर्व] का उल्लेख इसी कालिदास ने किया है :

रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इसमें नाम मात्र 'विक्रम' का उल्लेख है। इसके साथ कोई 'पर्यायवाचक' संलग्न नहीं है। सन्तोष का विषय है कि विक्रम नृपति का धर्माध्यक्ष हरिस्वामी भी 'नृपतिपर्यायवाचक' का प्रयोग करता है—

"श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य क्षितीशितुः। इति।

८. वाचस्पति मिश्र

ब्रह्मसूत्र के अनन्य भाष्यकार भगवान् शंकराचार्यकृत भाष्य के विश्रुत टीकाकार **वाचस्पति मिश्र** का निश्चित समय संकेत अनिश्चित स्थिति का द्योतक बन गया है। वाचस्पति मिश्र ने कृपा करके अपना समय स्वयं निश्चित किया है :

> **"न्यायसूचिनिबन्धोऽयमकारि विदुषां मुदे।**
>
> **श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥"**

—वसु = ८, अंक = ९, वसु = ८ = ८९८।

यहाँ यह भी पता नहीं चल रहा कि उक्त वर्ष संख्या [८९८] 'विक्रम-संवत्' के अनुसार है ? अथवा 'शक संवत्' के अनुसार है ? यदि यह 'विक्रम संवत् ८९८' है, तब भी निरापद नहीं है; अगर यह 'शककाल ८९८' है, तब भी आपत्तिमुक्त नहीं है। काल-विज्ञान के धुरन्धर विद्वानों ने यह निर्णीत लक्ष्मण रेखा अंकित कर दी है :

> **"विन्ध्यपर्वत के उत्तरी भाग में 'विक्रम-संवत्' का नाम ही सर्वसाधारण में लिया जाता था, विन्ध्यपर्वत के दक्षिणभाग में शक-संवत् प्रचलित था।"**

यह सब भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति परम्परागत एक श्लोक के भ्रान्तानुवाद से प्रकाश में आई है।[१] उस श्लोक का अभिधेयार्थ है—सः = असौ शककालः, पञ्चाग्नि कुभिः युक्तः = १३५ वर्षमिश्रितः कालः, विक्रमस्य = शकारि-विक्रमादित्यस्य कालः स्यात्। [स विक्रमादित्यस्य कालः] **रेवायाः उत्तरे तीरे = विन्ध्यप्रदेशस्य उत्तरभागे 'संवत्' इति नाम्ना प्रसिद्धः**; अर्थापत्तिवशात् स कालः **रेवाया दक्षिणे तीरे 'शककालः' प्रसिद्धः**।

—इति श्लोकार्थः।

१. विक्रम-संवत् १३५ = ०० शककालः [७८ ईसवी से आरम्भ]

शककाल को रेवा के उत्तरभाग में **'संवत्'** नाम प्राप्त है;

२. विक्रम-संवत् १३५ = ०० शककालः [७८ ईसवी से आरम्भ]

शक काल को रेवा के दक्षिण भाग में **'शककाल'** ही कहेंगे।

अर्थात् दोनों गणनाओं की परिभाषा अभिन्न है; परन्तु क्षेत्र भिन्न होने से अभिधान भेद का झमेला खड़ा हो गया है।

वाचस्पति मिश्र-विसर्जित काल-निर्देश को किस नाम तथा गणना परम्परा से जोड़े ? यह सबसे बड़ी समस्या है। वाचस्पतिमिश्र के बताए ८९८ वर्ष को शककाल से हठ पूर्वक हटाकर 'विक्रम संवत्' से जोड़ना सामयिक नहीं है। प्रकृत लेखक का मानना है कि वाचस्पति मिश्र का काल स्थिर करने के लिए उत्तर दक्षिण के विभागीकरण के कुतर्क से ऊपर उठकर कोई नया प्रयोगान्तर खोजना होगा।

---

१. स एव पञ्चाग्निकुभिः [१३५] युक्तः स्याद् विक्रमस्य हि।
रेवायाः दक्षिणे तीरे 'संवन्नाम्नाति' विश्रुतः।—ज्योतिषदर्पण।

हम शंकर-काल के नये पारखी वाराणसेय पं० राजगोपाल शर्मा का यह प्रस्ताव—**विक्रम-संवत् ८९८ = ८४० ईसवी** का समय मान लेते हैं। तब हमें परेशान करने वाली नई-नई समस्याएँ सामने आती हैं। यथा—

एक पक्ष : भगवान् शंकर का समय ७८८-८२० ईसवी है। यही मत राजगोपाल शर्मा को अभिप्रेत है। यहाँ थोड़ी कल्पना करें—वाचस्पति मिश्र ने अपनी परिपक्व आयु में—**अनुमानत: ४० वें वर्ष**—शांकर-भाष्य पर टीका लिखी होगी, तब उसका जन्म ८०० ईसवी में हुआ-मानना होगा। इस सूरते हाल में वाचस्पति मिश्र भगवान् शंकराचार्य का २० वर्षीय समकालिक हो जाता है। क्या यह संभव है?

इसी स्थापना का अन्यपक्ष। वाचस्पति मिश्र का समय ८९८ यदि शककाल का है, तब **८९८ + ७८ = ९७६ ईसवी** मानना होगा। इस पर आपत्ति की गुंजाइश कम है।

दूसरा पक्ष : भगवान् शंकर का समय ६८८-७२० ईसवी है। इस पक्ष के सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र का समय **८४० ईसवी** अथवा **९७६ ईसवी**—दोनों अनुकूल पड़ जाते हैं।

परन्तु यह अवधारणा तभी सुष्ठु है, जब भगवान् शंकर का समय ६८८-७२० ई० अथवा ७८८-८२० ई० मान लें। हमने इन दोनों मान्यताओं को पूर्वपक्ष में रखा है। **हमारे अभिमत में शंकराचार्य का समय ४४-१३ ईसवी पूर्व है**। इस स्थिति में वाचस्पति मिश्र का समय ६८८-७२० ई० अथवा ७८८-८२० ई० कुछ अटपटा जाता है। इस स्थिति में **७३३ वर्ष अथवा ८३३ वर्ष** आड़े आ जाते हैं। तर्क लड़ाकर सोचना होगा कि ७३३ अथवा ८३३ का कालिक अन्तराल भगवान् शंकर तथा वाचस्पति के लिए ठहराना उचित होगा? इन अन्तराल-सूचक वर्षों में कोई-और शांकर भाष्य पर टीकाकार हुआ या नहीं?

हम भगवान् शंकराचार्य तथा वाचस्पतिमिश्र के तथाकथित 'कालान्तराल' को छोटा करने के पक्ष में हैं। हम एतन्निमित्त दो काल-गणनाओं पर विचार करने के लिए स्थितप्रज्ञ हैं।

१/क. प्राचीन शक : ६५८ ई० पूर्व—इसके अनुरूप शांकर भाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र का समय : **८९८-६५८ = २४० ईसवी सन्** स्वीकार करने योग्य है!

१/ख. प्राचीन शक : ६२२ ई० पूर्व—उपर्युक्त काल **८९८-६२२ = २७६ ईसवी** के विकल्प पर भी विचार किया जा सकता है।

२. हर्ष संवत् : ४५६ ई० पूर्व—प्राचीन काल में इस काल गणना की बहुमान्यता रही है। यदि इसी कालगणना को अपना लें, तब फलितार्थ बदल जाएगा। यथा—**८९८-४५६ = ४४२ ईसवी**।

वाचस्पति मिश्र के लिए **२४० ईसवी** अथता **२७६ ईसवी** अथवा **४४२ ईसवी** का चयन ठीक रहेगा या नहीं? इस पर अनुसन्धान अपेक्षित है। शोधार्थियों को इधर ध्यान देना चाहिए।

अथ मीमांसा [७]

७.१ : हम यह स्वीकारते हैं, वाचस्पति मिश्र का समय नितरां अस्पष्ट है—**वस्वंकवसुवत्सरे**। यह प्रयोग विक्रम-संवत् का है? या शक संवत् का? यह विवाद तो है ही, हमारी रुचि इस विवाद को और अधिक बढ़ाने की नहीं है। हमारी दृष्टि में भगवान् शंकर का समय स्थिर है—**४५-१३ ईसवी पूर्व**। वाचस्पतिमिश्र का समय ८४० ईसवी अथवा ९७९ मान लेने पर यह अन्तराल काल रुचिकर नहीं है। इस अन्तराल काल को परिभाषित करने अथवा पटाने के लिए शोधार्थियों का आह्वान करना है! बस।

९. स्कन्द स्वामी

शतपथ ब्राह्मण के महामहिम भाष्यकार हरिस्वामी ने अपना परिचय कुछ विस्तार से दिया है। हरिस्वामी के दादा का नाम गुहस्वामी है; उसका पुत्र नागस्वामी है, जो हरिस्वामी का पिता है। हरिस्वामी ने लिखा है—**मेरा गुरु स्कन्दस्वामी है**। जैसा कि उपलब्ध पाठ है—

"तस्य नन्दनो हरिस्वामी प्रास्फुरद् वेदवेदिकाम्,

त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीत्य तन्त्रो गुरुर्मुखात्।

स सम्राट् कृतवान् सप्त-सोपान-संस्थास्तथर्कश्रुतिम्,

व्याख्यां कृत्वाऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्ताम्यस्ति मे गुरुः।

—विक्रमस्मृति ग्रन्थः पृष्ठ ३८१

हमने गुरु-शिष्य परम्परा के लिए आनुपातिक वयोमान [एक पीढ़ी के लिए] ४० वर्ष कूत रखा है। इस गणित से स्कन्दस्वामी का स्थितिकाल **३६ + ४० = ७६ ई० पूर्व का साल** सिद्ध होता है। विदित हो, स्कन्दस्वामी विरचित 'निरुक्तभाष्य' आज उपलब्ध है। स्कन्दस्वामी ने भर्तृहरि-रचित 'वाक्यपदीय' की एक कारिका उद्धृत की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि स्कन्दस्वामी से सर्वथा पूर्ववर्ती हैं। विगत पंक्तियों में भर्तृहरि का रचनाकाल १६०-११० ईसवी पूर्व तथा निधन-काल १०५ ई० पूर्व ठहराया है। विचारणीय मुद्दा यह है कि स्कन्दस्वामी तथा भर्तृहरि के मध्य कितना अन्तराल काल स्वीकारें? हालांकि हम यह मानते हैं कि भर्तृहरि तथा स्कन्दस्वामी में गुरुशिष्य-जैसा रिश्ता नहीं है, पुनरपि हम इनके मध्य एक पीढ़ी का अन्तराल मान लेते हैं। उसी आनुपातिक क्रम से **७६ + ४० = ११६ ईसवीपूर्व** का समय ठहरा लेते हैं। अतः स्कन्दस्वामी का समय ७६-७० ईसवी पूर्व मान लेना जटिल नहीं है। इसका एक लाभ और हुआ। जो इत्सिंग की शपथ लेकर भर्तृहरि का समय ६३१ ईसवी सोच रहे हैं, उन्हें इस पर और अधिक सोचने का मौका मिल गया है।

१० चन्द्राचार्य [१]

जब-जब व्याकरण तथा महाभाष्य का लिखने का उपक्रम होगा, तब-तब दो-दो चन्द्राचार्यों का उल्लेख होगा। भगवान् शंकराचार्य का काल-प्रसंग चन्द्राचार्य द्वितीय के उल्लेख के बिना अपूर्ण ही रह जाएगा। अतएव दो-दो चन्द्राचार्यों की पहचान बहुत आवश्यक है।

हम चन्द्राचार्य प्रथम पर पहले ही निर्णय ले चुके हैं। और उस मान्यता पर आज भी स्थितप्रज्ञ हैं। विदित हो कल्हण पंडित ने 'राजतरंगिणी' में काश्मीर का इतिहास लिखा है, यथा प्रसंग राजा अभिमन्यु के शासन काल पर विस्तृत चर्चा की है। अभिमन्यु का शासनकाल १०५० ई० पू० का है। इस पर हमारी टिप्पणी गौरतलब है—

म० म० पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने चन्द्राचार्य का समय निर्धारित करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि को उससे पूर्ववर्ती माना है।[१] कल्हण ने लिखा है—

चन्द्राचार्यादिभिः लब्ध्वा देशान्तरात्तदागमम्।

प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥"

—राजतरंगिणी; १/१७६

---

१. व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग : पृष्ठ ३२१

परन्तु हम इस स्थापना से सहमत नहीं है। पतञ्जलि ने चन्द्रगुप्त मौर्य [२] का उल्लेख किया है—**'चन्द्रगुप्तसभाम्'** और हम यह भी जानते हैं चन्द्रगुप्त मौर्य [प्रथम] ३४२-३२२ ई० पूर्व का, यहाँ-अभिप्रेत नहीं है, बल्कि चन्द्रगुप्त मौर्य [द्वितीय] १६०-१४६ ई० पूर्व का यहाँ अभीष्ट है। हमारे विचार में यहाँ पतञ्जलिकृत महाभाष्य वांछित नहीं है, बल्कि 'महाभाष्य' एक शैली है, जिसका उल्लेख कल्हण पंडित ने किया है। यहाँ एक खास बात है, जो हमारी दृष्टि से ओझल हो रही है। वह बात है—"**चन्द्राचार्यादिभिः**" यहाँ चन्द्राचार्य अकेला नहीं है, 'आदि' शब्द से उससे पूर्ववर्ती आचार्यों का संकेत इसमें है। वस्तुस्थिति यह है कि **पतञ्जलिकृत महाभाष्य पहले से चली आ रही महाभाष्य शैली का परिपक्व रूप है,** कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है।

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६८/अंक १-२,

टिप्पणी— हमने अपनी पूर्वलिखित टिप्पणी पर कुछ संशोधन कर लिया है। नये अनुसंन्धान का तकाज़ा यही था।

११. चन्द्राचार्य [२]

प्रायशः यह मान लिया गया है कि 'गौड़पाद' ही भगवान् शंकराचार्य के 'दादागुरु' हैं। जैसा कि प्रसिद्ध है—

"नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।

व्यासं शुकं गौड़पादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।

श्रीशङ्कराचार्यम्....."

—वेदान्तशास्त्र का इतिहास : २७७ पृष्ठ

यहाँ गौर तलब विषय यह है कि 'नारायण-ब्रह्मा-वसिष्ठ-शक्ति-पराशर'—ये सब गुरु-शिष्य नहीं हैं। बल्कि वेदान्त विद्या के महान् आचार्य हैं। परन्तु **व्यास और शुक-पिता-पुत्र भी हैं** तथा गुरु-शिष्य भी हैं। इसी तर्ज पर विचार करते-करते हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—**गौड़पाद-गोविन्दपाद-शंकराचार्य** पिता-पुत्र तो नहीं हैं, अलबत्ता **गुरु-शिष्य परम्परा में इनका स्थान सुरक्षित हैं**—इस बात पर अनुसन्धायक समाज में मतैक्य पाया जाता है।

हमारा प्रासंगिक व्यक्ति 'गौड़पाद' है।

गौड़पाद भगवान् पतञ्जलि के साक्षात् शिष्य हैं। किसी घटना विशेष के कारण गौड़पाद-'ब्रह्मराक्षस' हुए। उन्हें शाप-मुक्ति का वरदान भी प्राप्त था कि तुम किसी ब्राह्मण को यह (महाभाष्य) विद्या पढ़ाकर शापमुक्त हो सकोगे। परिणामतः और संक्षेपतः उज्जयिनी-निवासी जयन्त शर्मा को तथाकथित महाभाष्य विद्या पढ़ाकर ब्रह्मराक्षस पुनः 'गौड़पाद' के रूप में अवस्थित हुए। कहानी की शृंखला इस बात पर खत्म होती है कि **इसी जयन्त शर्मा का संन्यस्त नाम 'चन्द्राचार्य' है।** इस कहानी से तीन 'भ्रम' टूटकर खण्ड-खण्ड हो जाते हैं—

[१] चन्द्राचार्य और चन्द्राचार्य अभिन्न व्यक्ति हैं।

[२] चन्द्राचार्य का अपर नाम गौड़पाद है।

[३] शंकराचार्य की पूर्ववर्ती गुरु-शृंखला में चन्द्राचार्य भी हैं।

हमारे गणित में चन्द्राचार्य का समय ११०—४० =७० ईसवी पूर्व का है। दोनों चन्द्राचार्यों में मोटे तौर पर १००० वर्षीय अन्तराल हैं।

इस प्रसंग में प्रसंगान्तर बात । बताया जाता है कि चन्द्राचार्य ने संन्यस्त पूर्व जयन्त शर्मा के रूप में चार वर्णों की चार कन्याओं से विवाह किया था । जिनमें चार पुत्र हुए—**ब्राह्मण कन्या से 'भर्तृहरि', क्षत्रिय कन्या से 'विक्रम', वैश्यकन्या से 'वररुचि' और शूद्रकन्या से 'भट्ट'** । इस घटना पर हमारी स्पष्ट राय है कि ये चन्द्राचार्य के चार तनय भारतीय इतिहास के पृष्ठों में कोई स्थान नहीं रखते । वैदुष्य के क्षेत्र में चन्द्राचार्य-पुत्र भर्तृहरि वसुरात-शिष्य भर्तृहरि [वाक्यपदीय-प्रणेता] का विकल्प अथवा समानान्तर पर कहीं नहीं टिकता । अलबत्ता चन्द्राचार्य पुत्र 'वररुचि' पर चर्चा की गुंजाइश है । इनका समय-निबन्धन इस प्रकार है
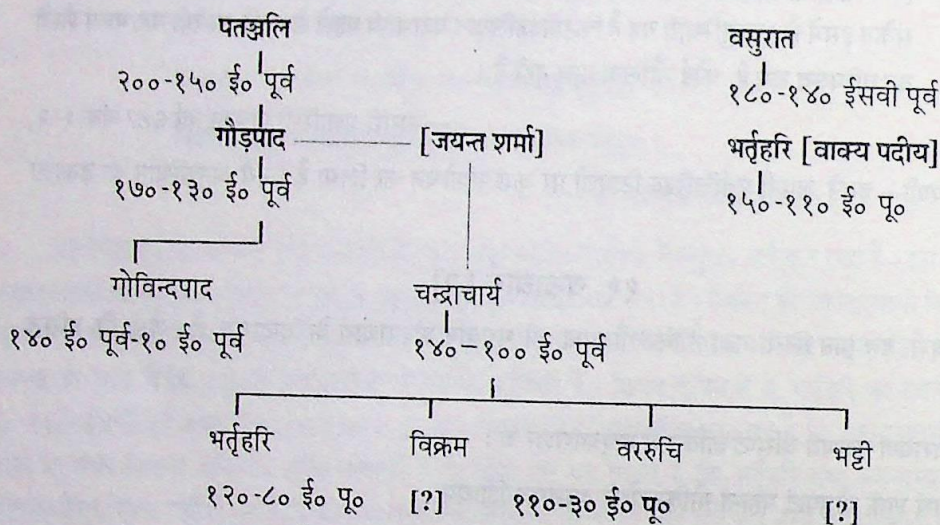
इतना अनुमान संभाव्य है कि चन्द्राचार्या पुत्र वररुचि ५७ ई० पूर्व की ब्रह्मसभा में विद्यमान रहा हो, तो १८-२० वर्ष के वयोमान में मालव-विक्रमादित्य की सभा में उसका होना तर्कातीत नहीं है । इससे अधिक हम कुछ नहीं कह सकते ।

शंकराचार्य के काल-प्रसंग में चन्द्राचार्य की इतनी भूमिका है कि **चन्द्राचार्य के गुरु होने के नाते गौड़पाद का समय स्थिर हो जाता है कि वह १७०-१३० ई० पूर्व का व्यक्ति सिद्ध होता है** । बस बात इतनी सी है ।

१२. गोविन्दपाद

भगवान् शंकराचार्य के दीक्षागुरु के रूप में **भगवान् गोविन्दपाद** का नाम सुप्रतिष्ठित है । इस पर किसी किस्म का कोई विवाद नहीं है । विवाद केवल एक बिन्दु पर है—वह है **भगवान् गोविन्दपाद का १००० वर्षीय वयोमान**—क्या यह ठीक है ?

यह विवाद क्यों पैदा हुआ ? इसका खुलासा हमारे सामने है । कुछ हठी और भ्रान्त लोगों ने **भगवान् शंकाराचार्य का समय ७८८-८२० ईसवीसन् ठान रखा है** । परन्तु उनके सामने शंकर-गुरु गोविन्दपाद की समस्या मुंह बाए खड़ी थी । वे जानते हैं—गोविन्दपाद के गुरु 'गौड़पाद' का समय विवादरहित है : **१७०-१३० ई० पूर्व का समय** । गौड़पाद, भगवान् पतञ्जलि के शापमुक्त शिष्य हैं । **भगवान् पतञ्जलि को १५० ई० पू० से ऊपर अथवा नीचे खिसका कर लाया नहीं जा सकता**— वे लोग यह बात भी भली-भान्ति जानते हैं । समस्याग्रस्त लोगों को १३० + ८२० = ९५० वर्षों की विघ्नकारी समस्या का समाधान समझ में आ गया कि **योगीराज गोविन्दपाद का वयोमान १००० वर्षों तक स्थापित किया जाय** । इस विवेकातीत चमत्कार से समाधान तो नहीं मिला; हाँ, समस्या ने करवट बदल कर और अधिक विकराल रूप ले लिया है । गोविन्दपाद के वयोमान को लम्बायमान सोचने वालों के पास एक सटीक तर्क है । वह यह कि गोविन्दपाद रसायनशास्त्री थे । रसायनविद् लोग इच्छाजीवी होते हैं—उस तर्क

का एक पहलू यह भी है । भारतीय संस्कृति में रसायन-विद्या का स्थान-सुरक्षित है । रसायन शास्त्री इच्छा जीवी होते हैं—भारतीय संस्कृति इसके विरुद्ध भी नहीं है । **हम भी रसायन शास्त्री-समाज की सिद्धियों या उपलब्धियों को चुनौती नहीं दे रहे** । परन्तु हम इतिहासविद् की भांति कुछ-और ही सोचते हैं । भगवान् गोविन्दपाद रसायनजीवी रहे होंगे । परन्तु हम इसमें उचित संशोधन चाहते हैं । वह यह कि **गोविन्दपाद १५० वर्ष तक जीवित रहे होंगे** । उनके पार्थिव शरीर पर जरा-जीर्णता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा होगा—यह विश्वास भी मानने योग्य है । सो

गौड़पाद १७०-२० ई० पू० = १५० वर्ष तथा गोविन्दपाद १४०-१० ई० पू० ।

इस परिधि में जीवित रहने वाले भगवान् गोविन्दपाद ने **भगवान् शंकराचार्य को ३० ई० पूर्व में दीक्षा दी होगी**—यही ऐतिहासिक सचाई है । यही हमारी राय है ।

१३. नागार्जुन

हमारी शोधपट्टी पर दो नागार्जुन दर्ज हैं—**एक बौद्ध नागार्जुन और दूसरा जैन नागार्जुन** । दोनों नागार्जुनों के समीकरण से भगवान् शंकराचार्य का समय दुष्प्रभावित हुआ है ।

बौद्ध विद्वान् नागार्जुन का प्रश्न सचमुच अति जटिल प्रश्न है । हम समझते हैं, यदि उसका समाधान सरल हो जाय तो भगवान् शंकर के समय-समाधान में कोई दिक्कत नहीं रहेगी । बौद्ध नागार्जुन के विससंवाद की पहली कड़ी यह है—

१. चीनी यात्री हुएनस्वांग कहता है कि **नागार्जुन और महाराज कनिष्क समकालिक थे** । यह बात हमें सटीक और ऐतिह्य प्रतीत होती है । हमने कनिष्क प्रथम का समय ७१ ईसवी पूर्व का माना है । इस गणित से नागार्जुन का समय ७०-५० ईसवी पूर्व ठहराने में हमें कोई आपत्ति नज़र नहीं आती । **यदि यह ठीक है तो नागार्जुन को शंकर-पूर्ववर्ती होना काल-संगत है ।**

२. 'आद्य शंकराचार्य: आविर्भाव काल' के यशस्वी लेखक वाराणसेय राजगोपाल शर्मा एक स्थान पर लिखते हैं—

"कुछ विद्वानों ने इसका काल प्रथम शताब्दी
ईसा पूर्व का होना भी बताया है ।" पृष्ठ २३, पंक्ति २४

कुछ लोगों का सही, यह कथन हमारी अवधारणा को दृढ़तर आयाम प्रदान करता है ।

३. उसी रचना में एक स्थान पर लिखा है:

"नागार्जुन ने सातवाहन महाराजा गौतमीपुत्र सातकरणी [द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्वार्ध] को पत्र लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में आज भी उपलब्ध हैं !

इसमें उलझन-ही-उलझन है । यथा [क] गौतमीपुत्र सातवाहनवंशी राजा का नाम पुराणशास्त्रों में "गौतमी-पुत्र" तो लिखा है 'सातकरणी' नहीं । यथा

"राजा स गौतमीपुत्रः एक विंशत्समा नृपः ।"—ब्रह्माण्ड

अर्थात् इस पुराण पाठ के अनुसार राजा का नाम 'गौतमीपुत्र' ही लिखा है, सातकर्णि नहीं । गौतमीपुत्र का समय सप्तर्षि संवत् ३९२१ = १४५ ईसवी है; उसका समय द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सही है । इसमें जटिलता यह है कि समयाङ्कन तो सही है, राजा का नाम सही नहीं है । [ख] यदि 'गौतमीपुत्र' के विकल्प में 'शातकर्णि' [२] मान लें, तो उसका समय होगा—

"पञ्चाशतैः समाः षट् च शातकर्णिर्भविष्यति ।"—ब्रह्माण्ड

अर्थात् सप्तर्षि संवत् ३५५६ = २०२ ईसवी पूर्व में शातकर्णि हुआ, ऐसा स्वीकारने पर राजा का नाम गौतमीपुत्र नहीं है ।

४. वाराणसेय पं० राजगोपाल शर्मा ने माण्डूक्योपनिषद् में से गौड़पाद-विरचित कारिकाओं को लेकर नागार्जुन-प्रणीत कारिकाओं के साथ तुलना करते हुए गौड़पाद को नागार्जुन से परवर्ती माना है । इस पर प्रकृत लेखक की राय अलग है । उसका कहना है—**गौड़पाद रचित कारिकाओं के साथ नागार्जुन की कारिकाओं की तुलना उचित है, परन्तु उनमें से किसी को पूर्ववर्ती तथा किसी को परवर्ती बताना सामयिक नहीं है ।** पतञ्जलि शिष्य होने से गौड़पाद का समय (१७०-१३० ई० पूर्व) पूर्ववर्ती है, और कनिष्क समकालीन होने से नागार्जुन परवर्ती है । **जो हो, दोनों गौड़पाद और नागार्जुन शंकर पूर्ववर्ती हैं ।**

जैन विद्वान् नागार्जुन का समय प्रायः निर्विवाद है । जैन परम्परा के अनुसार—

कालकाचार्य
|
नागहस्ति
|
पादलिप्तक
|
नागार्जुन =
|
शकारि विक्रमादित्य = महाराजा हाल
६५ से ९० ईसवी एवम् ८० ईसवी तक ।

[क] जैन ग्रन्थ 'प्रबन्ध कोष' के अनुसार नागार्जुन पादलिप्तक का शिष्य है और किसी सातवाहन [?] राजा का गुरु है ।

[ख] तिब्बती ग्रन्थों के अनुसार **नागार्जुन कालिदास का समकालिक है ।** इस पर हमारी दो टूक राय है—१. यदि नागार्जुन बौद्धविद्वान् प्रासंगिक है, तो वह ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता कालिदास का समकालिक है । अधिक संभावना यही है कि तिब्बती साहित्य में बौद्धविद्वान् नागार्जुन ही चर्चाधीन है । २. यदि नागार्जुन जैन विद्वान् हैं तो वह नाटककार कालिदास का समकालिक है । कारण, नाटककार कालिदास शकारि विक्रमादित्य का सभारत्न है । अनुसन्धान करते समय उभय नागार्जुनों की पार्थक्य मूलक पहचान सामने रखनी चाहिए ।

निष्कर्षत : बौद्ध नागार्जुन तथा जैन नागार्जुन की स्पष्ट पहचान हमारे सामने है । स्पष्ट हो गया है कि **यदि बौद्ध विद्वान् नागार्जुन प्रासंगिक है, तब वह भगवान् शंकराचार्य से ३० वर्ष पूर्ववर्ती है; कारण, नागार्जुन आक्रान्ता कनिष्क के समय भारत में ७१ ई० पू० में था । यदि जैन नागार्जुन प्रासंगिक है, तब वह भगवान् शंकराचार्य से ७५ वर्ष परवर्ती है ।**

बस हमारे सामने जैसी स्थिति फलीभूत हुई है, वह हमने दूध-का-दूध और पानी-का-पानी निथार कर लिख दिया है । बस ।

१३. लंकावतार सूत्र [महायान]

बौद्धमत की दो प्रधान शाखाएँ हैं—महायान और हीनयान । महायान पन्थ का आधारभूत ग्रन्थ है—**'लंकावतार सूत्र'** । यदि लंकावतार सूत्र का समय और सिद्धान्त ठीक-ठीक परिभाषित हो जाये तो भगवान् शंकर का समय

स्थिर करने वाली रुकावटें सहज में दूर हो सकती हैं। उक्त ग्रन्थ के सम्पादक बौद्ध कोविद शीतांशुशेखर बागची लिखते हैं—

"लंकावतार को महायानी अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। अनेक शताब्दियों तक चीन और जापान के बौद्धविद्वानों ने बड़ी तत्परता से इस ग्रन्थ का अध्ययन किया। उन्होंने इसके अनेकानेक अनुवादों को प्रस्तुत किया है, जिसमें महायान दर्शन के आधुनिक आचार्य एवम्. अध्यापकों की विशेष निष्ठा है। इस सम्प्रदाय के विद्वानों के [पास] इतनी कम सामग्रियां उपलब्ध है, कि उनके सहारे इस ग्रन्थ के संकलन की निश्चित तिथि का अकाट्य निर्णय कदापि नहीं हो सकता।" हाँ, सतीशचन्द्र विद्याभूषण का विचार है कि **लंकावतार लगभग ३०० खृष्टाब्द में लिखा गया।** किन्तु डाक्टर सुजुकी का मत है कि **इस ग्रन्थ का एक भाग ४४२ खृष्टाब्द से पूर्व संकलित हुआ और उनका यह कथन उसके प्रथम चीनी अनुवाद पर आधारित है।** डॉ. महोदय ने उन अध्यायों को परवर्ती माना है, जिनके शीर्षक हैं—'धारिणी' 'सगाथकम्' और 'मांसभक्षणम्'। यह उल्लेखनीय है कि इसके वे अध्याय भी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के रूप में एक ही समय नहीं आए, जिनके लिए पहले की तिथि निर्दिष्ट की गई है। लंकावतार सूत्र की विषयवस्तु इसका अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है कि **यह ग्रन्थ साक्षात् बुद्ध के द्वारा नहीं कहा गया है।** इसके अतिरिक्त इसकी विषयवस्तु से यह भी स्पष्टतया प्रदर्शित है कि आगम साहित्य के संकलन के पश्चात् ही 'लंकावतार सूत्र' ग्रन्थ के रूप में आया। इन सब बातों के विचार-विमर्श से प्राप्त संकेत के आधार पर यह कहना सम्भव है कि "**लंकावतार लगभग खृष्टाब्द के आरम्भ या उससे पूर्व संकलित हुआ।**"

—लंकावतार सूत्र : भूमिका, पृष्ठ १४-१५

हम बौद्ध मतानुयायी नहीं हैं। हमारे मन में इस सद्धर्म के प्रति उतनी ही निष्ठा है, जितना कि भारतीय जन इस सद्धर्म के प्रति निष्ठावान् है। अतः श्री बागची महानुभाव ने सोच-समझ कर ही वही निर्णय लिया है, जो **शंकराचार्य के समय निर्धारण में प्रासंगिक अथवा अनुकूल है।** महायान का पूर्ण विकास [उसके साथ-साथ प्रभाव-प्रसार भी] ईसवी पूर्व प्रथमशती में हुआ—आसपास के सामग्री-संकलन से यही नतीजा मिलता है। **वह समय ईसवी पूर्व का तो है ही, साथ-साथ शंकरपूर्व का भी है**—हमारा अभिमत यही है। पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में कहा है कि आचार्य शंकर ने महायान पक्ष का खण्डन किया है : **अतः स एव महायानिक-पक्षः समधिगतः।** बंगविद्वान् स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने ठीक नहीं कहा है कि महायान शाखा का उदय शंकर-परवर्ती है। हमारी नज़र में यह विचार चिन्त्य है।

शंकर-काल के प्रखर विचारक वाराणसेय पं. राजगोपाल शर्मा लिखते हैं :

"महायानों का काल ईसापूर्व का है और लगभग १०० ईसवी में इस पक्ष का प्रभाव और प्रचार अधिक था। कनिष्क ने महासंघ के पश्चात् 'महायानपक्ष' की नींव डाली। नागार्जुन के माध्यमिक बौद्धदर्शन [शून्यवाद] के महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ। **अश्वघोष और नागार्जुन ही महायान के मूल-प्रवर्तक थे।** कांचीकामकोटि मठ के प्रचारकों का कहना है कि महायानिक पक्ष का अर्थ मूल बौद्धमत है। यह अर्थ गलत है। महायान बौद्धमत की एक शाखा है, और बुद्ध के पश्चात् काल से इस शाखा की नींव डाली गई।"

—आद्यशंकराचार्य : आविर्भावकाल, पृष्ठ २०

हमें इस अभिमत पर कोई आपत्ति नहीं है। बल्कि हम इस अभिमत का पुरज़ोर स्वागत करते हैं। कारण, कई दृष्टियों से इस अभिमत से हमारी अवधारणा की पुष्टि हुई है। **अश्वघोष और नागार्जुन महायान शाखा के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं। और इनका अभ्युदय कनिष्क-काल में हुआ है।** परन्तु इस संशोधन के साथ कि **अश्वघोष और नागार्जुन थोड़ा-समय शंकरपूर्ववर्ती हैं।** महायान शाखा का सूत्रपात ४४३ ई० पूर्व [चीनी मान्यता के अनुसार] में हो चुका था। महायान शाखा ग्रन्थ : **लंकावतार सूत्र** का संकलन भी अंशांशतः उत्तरोत्तर हो रहा था। हमारी दो-टूक राय है—

१—ईसवी पूर्व प्रथम शती में लंकावतारसूत्र सम्पन्न हुआ।

२—अश्वघोष और नागार्जुन महायान के प्रथम आचार्य हैं।

३—कनिष्क प्रथम के साथ अश्वघोष और नागार्जुन भारत आए।

४—कनिष्क प्रथम ने ७१ ई० पूर्व में 'काल-गणना' स्थापित की।

५—भगवान् शंकर ने शून्यवाद का खण्डन किया।

६—यह सब दार्शनिक विकास और संघर्ष ईसवी पूर्व प्रथम शती का है।

यह सैद्धान्तिक संघर्षकाल इतिहास-सम्मत तो है, पर इस संघर्ष के तिथि-विस्तार के बारे में इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। हमने अभिमत स्थिर कर लिया है, जो ऊपर दर्ज है।

हम इस रहस्य को समझने में असफल रहे हैं कि वेदान्त विद्या के शिखर-विद्वान् स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने अपनी विश्रुत रचना **'वेदान्तदर्शनेर इतिहास'** की मार्मिक भूमिका में 'लंकावतार-सूत्र' शंकर-परवर्ती रचना क्यों मान रहे हैं ? जब किसी सिद्धान्त का सूत्रपात होता है, तब उसके प्रभाव-प्रसार में शतियों का समय लग जाता है—यह एक साधारण-सा नियम है। यही बात महायान पक्ष के बारे में सौ-सैकड़ा चरितार्थ हुई मान लेनी उचित है। यही कारण है, महामेधावी डॉ. सतीश चन्द्र विद्याभूषण ने मान लिया है कि महायान का पूर्ण विकास ३०० ईसवी सन् में हुआ। स्यात् यही कारण है, डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण की स्थापना को शिरोधार्य मानते हुए परम मनस्वी स्वामी प्रज्ञानानन्द जी सरस्वती 'लंकावतार सूत्र' की शंकर-परवर्ती रचना घोषित करते हैं। हमें यह बात तर्क-संगत नहीं लगी। हम इस विवाद में प्रो० सुजुकी को अधिक प्रासंगिक ठहराते हैं, जिसका कहना है—"लंकावतार सूत्र की आंशिक संरचना ४४३ ई० पूर्व में हो चुकी थी।" फिर ४४३ के बाद महायान पक्ष को विकसित होने में ४०० वर्ष पर्याप्त हैं। एक बार फिर ७१ ई० पूर्व तक अश्वघोष और नागार्जुन के अभ्युदय से महायानपक्ष पूर्ण विकसित हो चुका था। डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण का पक्ष—३०० ईसवी में महायान पक्ष पूर्ण हुआ—उस समय तक स्थगित रखते हैं, जब तक यह ज्ञात न हो जाय कि डॉ. विद्याभूषण जी अश्वघोष और नागार्जुन के बारे में क्या राय रखते है ? जो हो, ५० ईसवी पूर्व तक—**शंकर-जन्मकाल से पूर्व तक**—'महायान' इतना विकसित हो चुका था कि **भगवान् शंकराचार्य को महायान पक्ष-शून्यवाद-के विरूद्ध कलम उठानी पड़ी।** इतना पर्याप्त है। 'लंकावतार सूत्र' शंकर-पूर्ववर्ती रचना है, या शंकर-परवर्ती रचना है— इससे क्या फर्क पड़ने वाला है ?

१४. समन्तभद्र

जैन-साहित्य में समन्तभद्रों की बड़ी चर्चा है। हमारे मान्य सखा डॉक्टर परमेश्वर सोलंकी ने २७/४/९५ के पत्र में पांच समन्तभद्रों का उल्लेख किया है। यहाँ कौन सा समन्तभद्र प्रासंगिक है और शंकराचार्य के समय-निर्धारण में साधक या बाधक है—इसे विश्लेषित करना मुश्किल हो रहा है किस समन्तभद्र ने स्याद्वाद की स्थापना की है और वाचस्पति मिश्र का प्रत्यालोचित समन्तभद्र कौन सा है ? यहाँ निर्णय लेना मुश्किल हो रहा है।

१. **समन्तभद्र** : प्रस्तावित समन्तभद्र का आगमन भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् माना जाता है। इस पर जैन-अनुसन्धान के धनी डॉ. सोलंकी की टिप्पणी बड़ी ज़ोरदार है। यथा—

> "इसमें भद्रबाहु स्वामी के बाद कलिकाल का प्रवेश बताया गया है। जिससे गणभेद हुआ और फिर समन्तभद्र स्वामी का उदय हुआ, जो कलिकाल के गणधर और शास्त्रकार कहे गए हैं। उनकी शिष्य परम्परा में शितकोटि, वर, दत्ताचार्य, आर्यदेव, सिंहनन्दि, सुमति भट्टारक आदि हैं। सिंहनन्दि को गंगराज्य-निर्माण में सहयोगी बताया गया है।"—"गंगवंश का प्रथम राजा कोंगुणी वर्मा है, जिसका लेख गंजन गूढ तालुके से शकसंवत् २५ का मिला है।—यदि सिंहनन्दि का समय तय होता है; तो इनसे पहले समन्तभद्र का समय होता है।"

२७/४/९५ पत्र का अंश

हमें स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि **आदि में भद्रबाहु का समय पहचान लें और अन्त के सिंहनन्दि का समय स्थिर** कर लें समन्तभद्र का समय आसानी से सुलझ जाएगा। हम दो-दो भद्रबाहुओं को बखूवी पहचानते हैं। यथा—

विभाजन	**प्रथम भद्रबाहु-आचार्य**	**द्वितीय भद्रबाहु-श्रुतकेवली**
समय	३९९-३५० ई० पूर्व	१७०-१०० ईसवी पूर्व
समकालीन	नवमनन्द	द्रव्यवर्धन-पुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य [२]
स्थान	पाटलिपुत्र (मगध)	उज्जयिनी (मालवा)
अकाल	३६६-१२ = ३५४	१५८-१२ = १४६ ई० पूर्व
योगदान	जैन आगमों का उद्धार	जैन-मुनियों को दक्षिण की ओर पलायन की प्रेरणा।
दीक्षा	**नवम नन्द के मन्त्री-पुत्र**	**चन्द्रगुप्त मौर्य [२] को दीक्षा देकर**
—	**स्थूलभद्र को जैन-दीक्षा**	**विशाखाचार्य नाम देकर दक्षिण**
—	—	**की ओर जाने की प्रेरणा।**
सन्दर्भ	जैनग्रन्थों में उल्लेख	श्रवणवेलगोला में शिलालेख।
—	—	शक ५२२ = १०० ई० पूर्व का साल
रचनाएं	जैन आगमों का उद्धार	भद्रबाहु संहिता-आचारांग निर्युक्ति प्रभृति-आठ ग्रन्थ।

—शोध-पत्रिका : वर्ष ४२/अंक १/१९९१

इस सन्दर्भ से भद्रबाहु का समय स्थिर होता है १४६ ई० पूर्व में भद्रबाहु का निधन हो गया। उसके पश्चात् ४० वर्ष प्रति पीढ़ी के अनुपात से शिष्य परम्परा इस प्रकार है—

१. भद्रबाहु स्वामी	१४६ ईसवी पूर्व।
२. समन्तभद्र	**१४६-१०६ ई० पूर्व**
३. शिवकोटि	१०६-६६ ई० पूर्व।
४. वरदत्ताचार्य	६६-२६ ई० पूर्व।

५. आर्यदेव ई० पूर्व २६-१४ ईसवी

६. सिंहनन्दि १४-५६ ईसवी सन्

सिंहनन्दि ने शक-संवत् २५ = ९१ ईसवी सन् से पूर्व गंगवंश की स्थापना में योग दिया होगा, जिसका शिलालेख ९१ ईसवी में उत्कीर्ण हुआ।

दृष्टि की सरसरी झलक में समन्तभद्र की १४६-१०६ ई० पूर्व की सम्भावना पर विश्वास करके कहना आसान हो गया है कि समन्तभद्र ने 'आप्त मीमांसा' की रचना की और 'स्याद्वाद' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

२. आचार्य शंकर— भगवान् शंकराचार्य ने स्याद्वाद का प्रत्याख्यान किया। जीवनकाल४५-१३ ई० पूर्व का समय पहले से निश्चित है।

३. समन्तभद्र : पूर्व समन्तभद्र से भिन्न समन्तभद्र ने शंकर-प्रतिपादित स्याद्वाद-निराकरण का प्रत्याख्यान किया। इस का समय थोड़ा उलझन पूर्ण है। डॉक्टर भंडारकर ने अपनी हस्तलिखित संस्कृत-ग्रन्थों की अनुसन्धान विषयक रिपोर्ट (सन् १८८३-८४) में समन्तभद्र का समय शक-संवत् ६० लिखा है, जो १३८ ईसवी होता है। हमारी समझ में शकसंवत् ६० = १२६ ईसवी ठीक होना चाहिए।

४. वाचस्पति मिश्र : वाचस्पति मिश्र ने शंकर-मान्यता को स्थापित करते हुए समन्तभद्र का मत-खण्डन किया है। बस वाचस्पति के समय निर्धारण में दूसरों के चिन्तन में और हमारे चिन्तन में इतना अन्तर है कि लोग बाग ८९८-५८ = ८४० ईसवी उसका समय मानते हैं; जब कि हम ८९८-४५८ = ४४० ईसवी ठहराते हैं। इसका कारण उक्त स्याद्वाद के खण्डन-मण्डन की कालिक शृंखला है। यथा—

स्याद्वाद की स्थापना	:	१०६ ई० पूर्व।
शंकर-प्रत्याख्यान	:	३१ ई० पूर्व।
प्रत्याख्यान-निराकरण	:	१२५ ईसवी।
शंकर मत की स्थापना	:	४४० ईसवी। इति।

टिप्पणी—(१) जैन-ग्रन्थों में तथा शिलालेखों में शक-संवत् के विविध प्रयोग मिलते हैं। हमने सिंहनन्दि द्वारा गंगवंश की स्थापना शक संवत् २५[= ९१] लिखा है। यदि इस गणना को ६६ ई० पूर्व की शक गणना से जोड़ा जाय तो वह समय ४१ ई० पूर्व का हो जाएगा, परिणाम स्वरूप ऊर्ध्ववर्ती आचार्य-परम्परा के वयोमान में आनुपातिक संशोधन हो जाएगा; **परन्तु भद्रबाहु का समय वही का वही रहेगा।** (२) परवर्ती समन्तभद्र का समय ६०-शक-संवत् १२६ ईसवी सन्, हम समझते हैं—ठीक है। (३) वाचस्पति का समय ८९८ संवत् = ८४० ईसवी सन् न मानकर हमने ४४० ईसवी सन् ठहराया है, जिससे समन्तभद्र (३) तथा वाचस्पति के मध्य कालान्तराल ७१५ से घटकर ३१५ रह जाता है, जो उचित है।

भगवान् शंकराचार्य के वयोमान निर्धारण में 'समन्तभद्र' का कितना स्पर्श है ? इस पर सोचना निहायत ज़रूरी था। अन्यथा विद्वद्वर के० बी० पाठक का भ्रम ज्यों का त्यों कायम रहता।

१५. वृषदेव

भगवान् शंकराचार्य जब नेपाल पधारे [१९-१८ ई० पू०] तब नेपाल में भिन्न भूगोल क्षेत्रों में दो राजाओं का आधिपत्य था, जो कालिक दृष्टि से 'समकक्ष' भी था। राजा वृषदेव ने भगवान् शंकर का आह्वान किया

था; तथा अन्य समकालीन राजा शिवदेव वर्मा ने भगवान् शंकर को राजधानी ले जाकर उनका सत्कार किया। परन्तु इतिहास के साथ जोड़-तोड़ का खिलवाड़ करने वाले लोग हमारे सामने समस्या पैदा करते ही रहते हैं। यथा—

नेपाल-नरेश वृषदेव पर टिप्पणी करते हुए इतिहासविद् भगवान् लाल इन्द्र जी ने उसका समय तीसरी शताब्दी ईसवी लिखा है। मज़े की बात यह है कि डॉ. भगवान् लाल इन्द्र जी नेपाल-इतिहास के विशेषज्ञ माने जाते हैं। डॉ० फ्लीट ने राजा वृषदेव का समय ६३०-६५० ईसवी बताया है। इसी प्रकार मेकैञ्जी ने ५०० ईसवी तथा एन० भाष्याचार्य ने छठी शताब्दी बताया है। कर लो बात। इस मत-वैषम्य के रहते कोई इतिहासज्ञ स्वच्छ निर्णय कैसे ले सकता है?

यथार्थ यह है कि वृषदेव वर्मा से मात्र दो पीढ़ी पहले हुए शिवदेव वर्मा (प्रथम) ने अपने उत्कीर्ण कराए अभिलेख में **कलिसंवत् ३००० का उल्लेख किया है**। वृषदेव वर्मा का पुत्र **शंकरदेव वर्मा हुआ**। उससे ठीक ११ पीढ़ी पश्चात् हुए वीरवर देव वर्मा ने अपने विशिष्ट अभिलेख में **कलिसंवत् ३७०० का संकेत दिया है**। हम सोच रहे हैं—इस ठोस उपलब्धि और आप्त साक्ष्य के सामने श्री भगवान् लाल इन्द्र जी, फेथफुल फ्लीट, मेकैञ्जी तथा एन० भाष्याचार्य का समय-निर्धारण कहाँ टिकता है?

पाश्चात्य विचारकों की एक बँधी-बंधाई योजना है, सर्वत्र राजाओं की उत्तरोत्तर पीढी को २०-वर्षीय अनुपात से उनका समय-निर्धारित किया जाय! भारतीय विद्वान् कुछ और सोचते हैं। जब राजाओं का शासनकाल [अथवा वयोमान] आंकड़ों में उपलब्ध हो, उनकी अनदेखी करके, तब उन पर आनुपातिक फार्मूला थोपना कहाँतक उचित है? अत्र, उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार ५० वर्ष प्रति पीढ़ी का अनुपात सही बैठता है, उसका उपयोग क्यों न किया जाय! यथा—

[अ] **५०×११ = ५५० सामान्य वर्ष; ५९९–५५० = ४९**

से वृष देव का शासनारंभ हुआ।

[ई] **इसी प्रकार ३७००–५५० = ३१५० कलिसं० मे वृषदेव था।**

—द्रष्टव्य : शंकर की नेपाल यात्रा

अर्थात् ५६१ ईसवी-५५० = ११ ई० पूर्व में वृषदेव वर्मा नेपाल में सत्तासीन थे। उनके शासनकाल में शंकराचार्य नेपाल पधारे थे।

एतदर्थ एक निर्णायक फार्मूला और भी है। भगवान् शंकराचार्य जब नेपाल पधारे थे, तब अशोक-संवत् २०० था। पौराणिक काल-गणना के अशोक-संवत् की स्थापना **२१९ ई० पूर्व से, उसके मरणोपरान्त हुई थी। सो, २१९-२०० = १९-१८ ई० पूर्व में भगवान शंकर नेपाल गए ही थे।**

अथ मीमांसा [८]

८.१ : नेपाल का इतिहास, अद्यावधि भारतीय इतिहास के समान अनिश्चित स्थिति में हैं। पाश्चात्य पण्डितों की नेपाल पर विशेष कृपा दृष्टि रही है। अतः वह अधिकाधिक भ्रष्ट हुआ है। नेपाल के ऐतिह्य पुनर्जागरण के साथ ही भगवान् शंकराचार्य का काल-निर्धारण जुड़ा हुआ है। यह ध्यान में रहे।

८.२ : भगवान् शंकराचार्य का समय ६८८-७२० ईसवी अथवा ७८८-८२० ई० बताने वाले उभयपक्ष नेपाल प्रसंग को गोल कर जाते हैं। उक्त पक्षों की इस कमजोरी को ध्यान में रखना आवश्यक है, तभी छल-छिद्र-रहित अनुसन्धान समझा जा सकेगा।

८.३ : हमने प्रयोग-सिद्धि के लिए नेपाल-प्रकरण पर पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इति।

१६. महाराजा हाल

अपरिपक्व अनुसन्धान और निर्गुण निष्ठा-ये दोनों जब गलबहियाँ डाले मिल जाते हैं, तब वे क्या-क्या गुल खिलाते हैं ? अगर किसी को यह देखना हो, तो महाराजा हाल [जो आन्ध्रवंश के १७ वें घटक हैं] के बारे में प्रकाशित टिप्पणियों पर नज़र डालनी चाहिए। हम इस समय प्रासंगिक दो टिप्पणियों पर प्रकाश डालेंगे।

१. 'गुरुरत्नमालिका' जो अनुसन्धान-जगत् में विश्रुत रचना नहीं है, पढ़ने को मिलता है—

"हाल-पाल-पालितम्"

जिसके बलबूते पर यह प्रचारित करने का प्रयास किया जा रहा है कि **महाराजा हाल भगवान् शंकराचार्य की सेवा में आकर शरण्य हो गए थे**। यह बात बुद्धिगम्य नहीं है। कारण, महाराजा हाल का शासनकाल प्रायः निश्चित है—

२०-ईसवी पूर्व से ८० ईसवी सन् तक।

ठीक इसी तरह भगवान् शंकर का समय भी हमारी दृष्टि में स्थिर है—

४५ ई० पूर्व से लेकर १३ ई० पूर्व तक।

यदि कालिक कसौटी पर दोनों के अस्तित्वकाल को परखा जाये तो महाराजा हाल तथा भगवान् शंकराचार्य का कालगत आयाम मात्र ७ साल का है। यथा—

१. भगवान् शंकराचार्य : ४५ ई० पूर्व से १३ ई० पू० तक।

२. महाराजा हाल : २० ई० पूर्व से १३ ई० पूर्व तक

यदि घन-विश्लेषण किया जाये तो यह कालिक तालमेल और अधिक संकुचित हो जाता है। ईसवी पूर्व २० के पश्चात् महाराजा हाल अपने मातुल—**शालिवाहन विक्रमादित्य**— के साथ मिलकर कच्छ नरेश बलमित्र के आत्मज भानुमित्र से संग्राम-तत्पर थे। महाराजा हाल को युद्धकाण्ड से फुर्सत ही कहाँ थी ? जो वह भगवान् शंकर की सेवा में उपस्थित होता ! दूसरी तरफ देखने से पता चलता है कि भगवान्-शंकर भी १९-१८ ईसवी पूर्व वर्षों में नेपाल-यात्रा पर थे। **इन दो-तीन वर्षों में भगवान् शंकर तथा हाल में भेंट होनी संभव ही न थी।** और इसके पश्चात् भी कलि संवत् ८५ = १६ ई० पूर्व में भगवान् शंकराचार्य लम्बी क्रियाशीलता से थकान अनुभव करते हुए, एक तरह से तटस्थ हो चुके थे। इन तीन वर्षों—१६-१३ ई० पूर्व में यदि महाराजा हाल भगवान् शंकर की शरण में आया भी होगा, परन्तु उस घटना का विवरण इतिहास के पृष्ठों पर उजागर नहीं है।

निष्कर्षतः महाराजा हाल की और भगवान् शंकराचार्य की समकालिकता मात्र ७ वर्षीय स्वल्पावधिक सिद्ध होती है, परन्तु महाराजा हाल की शरणागति संदिग्ध है।

हम देख रहे हैं—अनुसन्धान भी 'कंचों' के खेल-जैसा एक खेल है। कंचे = शीशा, लोहा अथवा मिट्टी से बनी गोलियां, जिनसे बच्चे खेलते हैं। इस खेल में पक्का [लोहे से बना] कंचा निशाने पर ठीक बैठता है, जबकि मिट्टी से बना कंचा निशाने पर पहुंचने से पहले ठुस्स हो जाता है। **यही स्थिति अनुसन्धान की भी है।** अपरिपक्व तर्क अपने प्रयोक्ता लेखक का ही अहित करते हैं। उसकी तुलना में सक्षम एवम् आप्त तर्क ही अनुसन्धान को सिद्धि प्रदान करते हैं। अपनी बात को समझाने के लिए एक उदाहरण—

"इसी भाष्य में दूसरा अन्तः साक्ष्य है—**न हि वन्ध्या पुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकात्।**— और पूर्णवर्मा का नाम आते ही मान लिया गया कि या तो शंकराचार्य पूर्णवर्मन् के समकालीन थे या

उसके बाद के थे। पूर्णवर्मन् एक तो जावा के ताम्रपत्र में मिलता है; दूसरा पूर्वी मगध के शासक के रूप में। ह्वेन स्वांग के यात्रा-विवरण तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर पूर्णवर्मन् का समय सातवीं शती में है।

"पर पूर्णवर्मन् का नाम भाष्य में उसी तरह आ गया है, जैसे कोई अन्य नाम आ जाता है। वास्तव में शंकर के समय में आन्ध्रकुल का राजा हाल था। इसका काल ५१९-४९० ई० पूर्व है। **(अपि हालपालपालितम्: गुरुरत्न मालिका)** यह राजा काश्मीर के गोनन्द-कुल के नर का समकालीन था। वैसे इसके भी प्रमाण मिलते हैं, आन्ध्र के ७४ वें शासक हाल का एक नाम 'पूर्ण' भी था। वायुपुराण का श्लोक है :

"ततः संवत्सरः पूर्णो हालो राजा भविष्यति।"

—वेदान्तदर्शन का इतिहास : उदयवीर शास्त्री; पृष्ठ ४६३।

टिप्पणी—यह लेख 'वेदवाणी' वर्ष १९, अंक ५, फाल्गुन संवत् २०२३ [मार्च १९६७] में अरविन्दाश्रम पाण्डिचेरी के अध्यापक देवव्रत जी का लेख छपा है। जिसे पं० उदयवीर शास्त्री ने अपनी रचना 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' के पृष्ठ ४६३ में पुनर्मुद्रित किया है। इति।

यह सारा प्रपंच दुर्भाग्यपूर्ण है।

अथ मीमांसा [९]

९.१ : हाल का काल ५१९-४९० ईसवी पूर्व का है—यह मान्यता है। इसे कल्पना का जामा इसलिए पहनाया गया कि भगवान् शंकर को ५०९-४७७ ईसवी पूर्व का बताया जा सके। **सभी पुराणपाठों के अनुसार महाराजा हाल का समय २० ईसवी पूर्व से ८० ईसवी सन् तक है।**

९.२ : यह राजा काश्मीर के राजा गोनन्दकुलीन 'नर' का समकालीन है। 'राजतरंगिणी' हमने भी पढ़ी है। हमें लगा कि 'नर' का शासन-काल इतिहासकारों ने ठीक ढंग से समझा ही नहीं। राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में दो दो 'नर' राजा चर्चाधीन हैं। उनका शासनकाल हमारी दृष्टियों में इस प्रकार काल-निबद्ध है :

नाम	शासन काल	सप्तर्षि सं०	शक	ईसवी पूर्व
७ किं नर : नर	४०	२९७९	—	७९१ तक
१७ नर	६०	३६०९	—	२७१ तक

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका; ६८/१-२/१९-२०

पता नहीं चला कि पाण्डिचेरी के अध्यापक देवव्रत जी किस राजा 'नर' की समकक्षता में महाराजा हाल को खड़ा देखते हैं? अगर वह ७९१ ई० पूर्व का समकालीन है, तब भी बात बिगड़ती है; यदि वह 'नर' : २६१ ई० पूर्व के राजा का समकालीन है, तब भी बात बनती हुई नजर नहीं आती।

कोई भी अनुसन्धायक हमारी बात को फूंक मारकर उड़ा सकता है। हमें मंजूर है। अन्य विद्वान् इस प्रसंग में क्या सोचते हैं? इस पर ज़रा ग़ौर करें—

[१] प्रथम नर [किं नर] का समय डॉ. स्टीन ने १०२८ ईसा पूर्व; विल्सन में १०३० ई० पूर्व; श्री दत्त ने १०५८ ई० पूर्व, तथा रणधीर पण्डित ने १०३० ईसा पूर्व—माना है।

[२] द्वितीय नर का समय डाक्टर स्टीन ने ४८९ ई० पूर्व, विल्सन ने ४९० ई० पूर्व, तथा रणधीर पण्डित ने ५२० ई० पूर्व माना है।

हमारा प्रश्न है—**क्या पं० देवदत्त का प्रस्तावित 'हाल' इसी राजा 'नर' का समकालीन है**? अगर हाँ तो इसके समर्थन में कोई प्रमाण चाहिए। अनुसन्धान बेतुकी बातों से सिद्ध नहीं होता।

९.३ : महाराजा हाल आन्ध्रवंश का ७४ वाँ वंशधर नहीं है, बल्कि १७ वाँ वंशधर है।

९.४ : महाराजा हाल को '**पूर्णवर्मा**' में नामान्तरित करना भी एक निरर्थक प्रयास है। इस नामान्तर-कल्पना अथवा पाठान्तर कल्पना का आधार यह पुराणपाठ है—

ततः संवत्सरे पूर्णे हालो राजा भविष्यति।

—इतिहास-सम्मत पुराण पाठ

ततः संवत्सरः पूर्णः हालो राजा भविष्यति।

—कल्पित पुराण पाठ

विचारणीय तथ्य यह है—क्या 'पूर्णः' विशेषण है? या नामान्तर है? अगर '**पूर्णः**' विशेषण है, तब वह 'संवत्सर' का विशेषण है, जिसका अभिप्राय है—**पूर्ण (१००) संवत्सर**। राजा '**बलवान्**' '**आढ्यराजः**' '**कुशलः**' इन विशेषणों से ज्ञापित तो हो सकता है। राजा के लिए '**पूर्ण**' विशेषण सटीक नहीं

९.५ : 'पूर्णः' से 'पूर्णवर्मा' की दुष्कल्पना इस आधार पर अमान्य है—आन्ध्रनरेश जन्मना ब्राह्मण थे क्षत्रिय नहीं। क्या पं० देवव्रत के अनुसन्धान से विवेकीजन संतुष्ट हैं?

१७. दिङ्नाग

भगवान् शंकराचार्य के काल-निर्धारण की 'चाबी' बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग के पास सुरक्षित है। ज्यों-ज्यों दिङ्नाग की स्थिति स्वच्छ-स्वच्छतर होती जाएगी, भगवान् शंकराचार्य का समय निरापद होता जाएगा। देखने में यह आया है कि कुछ-एक व्यक्ति एक-दूसरे का उल्लेख कर रहे हैं। भगवान् शंकर ने दिङ्नाग को उद्धृत किया है—यह बहु-जन-विदित है और निर्विवाद है। यथा—

"यत् प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते।

यद् अन्तर्ज्ञेयरूपं यत् बहिर्वदवभासते, इति।

तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामा बाह्यार्थं बहिरेव वदन्ति, यत्कारं कुर्वन्ति।"

—सूत्रभाष्य २/२/२८

शान्तरक्षित-विरचित 'तत्त्वसंग्रह' की टीका में कमलशील ने इस कारिका को दिङ्नाग-प्रणीत 'आवलंबन-परीक्षा' से उद्धृत हुआ माना है। यदि यह कारिका सचमुच दिङ्नाग-प्रणीत है, **तब निःसन्देह बौद्धविद्वान् दिङ्नाग भगवान् शंकराचार्य से पूर्ववर्ती है**। अन्यत्र भी यही मान्यता बहुत प्रचलित है कि भगवान् शंकर ने दिङ्नाग को स्वतः ही उद्धृत किया है, पर-पक्षान्तर से उद्धृत नहीं किया।

'न्यायवार्तिक' के रचयिता उद्योतकर ने दिङ्नाग का खण्डन किया है; और धर्मकीर्ति ने उद्योतकर का खण्डन किया है। सभी जानते हैं कि धर्मकीर्ति स्वयं भगवान् शंकराचार्य द्वारा स्मृत हैं। इस परस्पर-उल्लेखन को देखते हुए यह कहना सामयिक होगा कि—
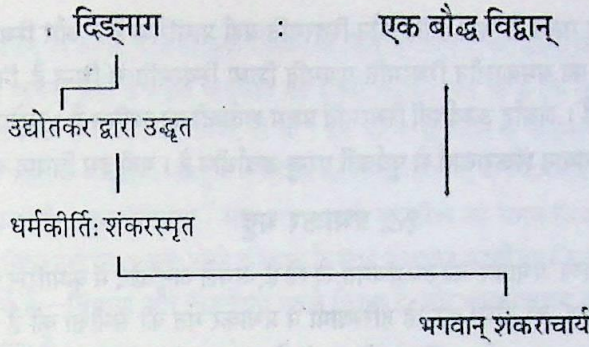
अर्थात् ये तीनों व्यक्ति शंकर-पूर्वकालिक हैं। अथवा न्यूनाधिक निकटवर्ती समकालिक हैं।

दिङ्नाग की चर्चा अभी खत्म नहीं हुई है। आगे चल कर हम पढ़ेगें कि **वसुबन्धु और वसुरात में शास्त्रार्थ हुआ था**। यह भी सर्वविदित है कि वसुरात वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि के साक्षात् गुरु हैं। पूर्वपीठिका के तौर पर यह जान लेना भी नितान्त प्रासंगिक लगता है कि **दिङ्नाग ने वसुबन्धु को भी उद्धृत किया है**। इस पर इतिहास का दो-टूक निर्णय है कि **वसुबन्धु और वसुरात—दोनों ही दिङ्नाग के पूर्ववर्ती हैं**। हम इसमें कुछ और इज़ाफा करते हैं। वह यह कि **कुमारिल भट्ट ने दिङ्नाग का खण्डन किया है**। कुमारिल का एक शिष्य है—उज्जेक। यहाँ गैर जरूरी चर्चा यह है कि संस्कृत के महाकवि भवभूति का नामान्तर है—उज्वेक। उज्जेक-उजबेक का समीकरण करते हुए भाई लोगों ने भट्ट कुमारिल का समय उसके उचित स्थान से नीचे गिराकर बताया है। इस कु-वृत्ति से सावधान रहने के लिए यह गैर जरूरी चर्चा ज़रूरी लगती हैं। हां, कुमारिल के एक शिष्य उज्जेक ने दो स्थानों पर साफ-साफ लिखा है कि **'दिङ्नागेनोक्तम्'** और **'दूषितं दिङ्नागेनेत्याह'** इत्यादि। कुमारिल द्वारा दिङ्नाग का खण्डन एक पक्की बात है और प्रमुख ऐतिह्य यथार्थ है।

एक प्रसंगान्तर चर्चा। वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—**'दिङ्नागप्रभृतिभिः अर्वाचीनैः।'** यह वाक्य न्यायवार्तिक का है। इससे एक नया और जटिल प्रश्न पैदा होता है कि कौन बौद्धविद्वान् अर्वाचीन है ? कौन बौद्धविद्वान् प्राचीन हैं ? जिसने यह मुद्दा उठाया है, स्वयम् उसका समय विवादग्रस्त है। हमने वाचस्पति का समय-जैसा कि पहले लिख आए हैं—**'वस्वङ्कवसुवत्सरे'** अर्थात् हर्ष-संवत् ८९८-४५८ = ४४० ईसवी स्थापित किया है। वाचस्पति ने 'अर्वाचीन' और 'प्राचीन' की ऊर्ध्वरेखा अपने अस्तित्व से नहीं, बल्कि **शंकराचार्य की जीवन-रेखा : ४५-१३ ई० पूर्व—से ऊर्ध्ववर्ती अस्तित्व को परिभाषा दी है**। इस गणित से दिङ्नाग अर्वाचीन है और वसुरात एवं वसुबन्धु प्राचीन है। यह बात इस बात से भी सौ-सैंकड़ा पुष्ट हो जाती है कि **दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य हैं**। यह अवधारणा भी लोकमानस पर छाई हुई है।

एक बात और। दिङ्नाग से वात्स्यायन के न्यायभाष्य पर आपत्ति उठाई है। वात्स्यायन और नागार्जुन परस्पर वादी-प्रतिवादी प्रसिद्ध हैं। शंकराचार्य की समय रेखा से ऊर्ध्ववर्ती प्राचीन तथा अर्वाचीन की पहचान इस प्रकार है—

[प्राचीन]	वसुरात	वसुबन्धु
[अर्वाचीन]	भर्तृहरि	दिङ्नाग कुमारिल
४५ ई० पूर्व०	**भगवान् शंकराचार्य**	**१३ ई० पू०**

बस अन्तिम बात। दिङ्नाग ने 'माधव' पर कुछ प्रश्नचिह्न लगाए हैं। गुणमति ने किसी विवाद में 'माधव' को परास्त किया था। स्थिरमति गुणमति का शिष्य है। सखेद लिखना पड़ता है कि स्थिरमति बनाम स्थिरमति के

समन्वय से यह विवाद और गहरा हो गया है कि कौन स्थिरमति यहाँ प्रासंगिक है ? और स्थिरमति नेपथ्य-प्रक्षिप्त है ? वल्लभी-नरेश गुहसेन का समकालीन स्थिरमति गुणमति शिष्य स्थिरमति से भिन्न है, निम्नवर्ती है और छठी शताब्दी का इतिहास-पुरुष है। अर्थात् ऊर्ध्ववर्ती स्थिरमति प्रथम शताब्दी का व्यक्ति है। संक्षेपतः **दिङ्नाग, माधव, गुणमति और स्थिरमति—भगवान् शंकराचार्य से पूर्ववर्ती परन्तु अर्वाचीन हैं**। यही इस विवाद का निष्पीड़न है।

१८. प्रभाकर भट्ट

कुमारिल भट्ट के शिष्य 'प्रभाकर' को हम प्रथमतः ले रहे हैं, अगले अनुच्छेद में कुमारिल भट्ट की चर्चा होगी। ३६ ई० पूर्व में 'शतपथब्राह्मण' की टीका कर रहे **हरिस्वामी ने** प्रभाकर मत की समीक्षा की है। गुरुशिष्य के मध्य मानकरूपेण अनुमेय अन्तराल—**४० वर्ष**—यदि सामने रख लें, जैसा कि इससे पूर्व लिख आए हैं—१११-४० = ७१ ईसवी पूर्व का समय प्रभाकर भट्ट के लिए मान लेना कोई जटिल समस्या नहीं है। हरिस्वामी का समय ३६ ईसवी पूर्व का है, प्रभाकर भट्ट का समय ७१ ई० पूर्व का है; इस प्रकार दोनों के मध्य **३५ वर्षों का व्यवधान** आलोच्य और आलोचक के मध्य उसी प्रकार संभाव्य् अन्तराल काल मान्य है, जैसा कि हमने गुरुशिष्य के मध्य अन्तराल काल माना है। यह निर्णय अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। वैसे देखा जाय आलोच्य और आलोचक के मध्य 'सीमा' तय करना निरी बेतुकी बात है। **आलोच्य-आलोचक समकालीन भी हो सकते हैं, निकट दूरवर्ती भी हो सकते हैं। और अत्यन्त दूरवर्ती भी**। इधर हम देख चुके हैं कि कुमारिल भट्ट भर्तृहरि-युग का अतिक्रमण नहीं करते। प्रभाकर भट्ट निश्चयपूर्वक भर्तृहरि से परवर्ती हैं और हरिस्वामी से पूर्ववर्ती हैं। यहाँ अनुमान की भूमिका बड़ी सुखद है। **प्रभाकर भट्ट ७१ ई० पूर्व का व्यक्ति है।**

कुमारिलभट्ट ने भर्तृहरि को उद्धृत किया है—

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणाद् ऋते।

तद् रूप-रस-गन्धेष्वपि वक्तव्यमासीदिति॥

—तन्त्र वार्तिक अ० १/पा ३/अधि ८

हरिस्वामी का प्रभाकर भट्ट से टकराव [अर्थात् एक पक्षीय आलोचना] इतिहास को मंजूर है। आदिशंकराचार्य के काल-निर्धारण में टकराव कितना सहायक है ? यही बताना यहाँ अभीष्ट है यथा—

१. पतञ्जलि-भर्तृहरि को उद्धृत करने वाला कुमारिल भट्ट मध्य रेखा पर है—९७-ई० पू० से २७ ई० पूर्व तक।

२. प्रभाकर कुमारिलभट्ट का शिष्य है—३५ ई० पूर्व।

३. प्रभाकर भट्ट हरिस्वामी का आलोच्य है, हरिस्वामी ३६ ईसवी पूर्व का है, **शंकराचार्य का जीवन-समकालीन है**।

४. २७ ई० पूर्व में शंकर-कुमारिल भेंट प्रसिद्ध है।

यह काल-समन्वय तथा अनेक व्यक्तित्वों का सामञ्जस्य कितना अद्भुत है ? कितना युक्ति-संगत है ? यही विचारणीय विषय है।

१९. कुमारिल भट्ट

जैसी कि लोकमान्यता है—कुमारिलभट्ट जीवन की अन्तिम संध्या में तथा भगवान् शंकराचार्य जीवन की प्रथम सन्ध्या में परस्पर मिले थे। जैसी कि गाथा सुनने में आती है—कुमारिल भट्ट प्रयाग में तुषाग्नि प्रदीप्त कर उसमें

जल-भुन कर प्राण त्यागने पर तत्पर थे; तभी कुछ सीखने के लिए भगवान् शंकर उनके पास पहुंचे। **यह भेंट २७ ई० पूर्व में हुई थी**—मेरा मानना यही है। इस अनुमान का दूसरा आधार यह भी है कि कुमारिल भट्ट ने ही भगवान् शंकराचार्य को मण्डन मिश्र से मिलने की प्रेरणा दी थी। इस घटना से पहले वे मण्डनमिश्र की प्रतिभा को आजमा चुके थे। यह भी कहा जाता है—कुमारिलभट्ट मण्डनमिश्र का लोहा मान गए थे। भगवान् शंकराचार्य के काल-साधन का प्रमुख आधार स्तम्भ है—कुमारिलभट्ट। मान लो—हमने कुमारिल का समय सिद्ध कर लिया, शंकराचार्य के काल-साधन के सभी विघ्न टल गए। अतः हमने इतिहास के सभी शलाका-पुरुषों का-जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध भगवान् शंकराचार्य से है—विवरण और विश्लेषण पहले लिखा है; और कुमारिलभट्ट का उल्लेख समापन-अध्याय के रूप में अन्त में लिखा है।

अथ मीमांसा [१०]

१०.१ : आचार्य उदयवीर शास्त्री ने 'पक्के तौर पर मान लिया है कि **आचार्य शंकर ५०९ ईसवी पूर्व में हुए;** परिणामतः उनके पूर्वापर समकालवर्ती कुमारिल भट्ट को उसके लगभग पूर्वकालिक मानना आचार्य उदयवीर शास्त्री की नैतिक विवशता है। उनका कहना है : "**कुमारिल भट्ट के मिलने के समय आचार्य शंकर की आयु लगभग अट्ठारह वर्ष थी। इसके अनुसार भट्ट का देहावसान ४९० वर्ष ईसापूर्व का अनायास हो जाता है।**" परन्तु यह बात इतिहास की कसौटी पर खरी नहीं उतरी। इस तथ्य की परख तो करनी ही होगी।

[१] कुमारिल आन्ध्र ब्राह्मण थे। भारत में कभी आन्ध्रवंश का शासन था। पौराणिक मान्यता के अनुसार आन्ध्रवंश ने ३७६ ई० पूर्व से लेकर २७७ ईसवी पर्यन्त शासन किया था। आन्ध्रवंश के ३० घटकों ने सत्ता-सुख भोगा था। इनमें से अन्तिम चार घटकों ने पाटलिपुत्र पर भी शासन किया है। यह सचाई है। यहाँ स्मरणीय सच्चाई यह भी है कि 'कुमारिलभट्ट' आन्ध्रवंश-शासन की देन हैं। वे इसी युग में हुए। अतः ३७६ ई० पूर्व से पहले कुमारिल भट्ट का अस्तित्व अनैतिहासिक है।

[२] दूसरी बात, आचार्य उदयवीर शास्त्री ने घोर उपेक्षा की है—वह है कुमारिल भट्ट ने भर्तृहरि को उद्धृत किया है। भर्तृहरि को पतञ्जलि पूर्ववर्ती कहना या मानना घोर अज्ञान का प्रयोग होगा। पतञ्जलि शुंगराजा पुष्यमित्र का समकालीन मान्य है। शुंग नरेश ने १५२ ई० पूर्व में यूनानियों को परास्त कर **१५० ई० पूर्व में यज्ञ किया था, भगवान् पतञ्जलि ने उसमें भाग लिया था।** पतञ्जलि-रचित महाभाष्य पर भर्तृहरिकृत 'प्रदीप टीका' का स्मरण करने से यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है कि कुमारिलभट्ट भर्तृहरि-पतञ्जलि का समयोल्लंघन करके ४९० ई० पूर्व में प्रकट हो जाएँगे? संस्कृत-वैदुष्य अलग चीज़ है, इतिहास पर पैनी नज़र रखना अलग बात है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने ४९० ईसवी पूर्व में कुमारिलभट्ट को ले जाकर इतिहास के लिए संकट पैदा कर लिया है। कुमारिलभट्ट ने जिन समकालवर्तियों का उद्धरण किया है—उनका क्या होगा?

१०.२ : कुमारिल भट्ट के बारे में एक आपत्तिजनक तर्क प्रस्तुत किया जाता हैं। वह तर्क है—कुमारिल भट्ट ने कालिदास की प्रसिद्ध रचना 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में से एक श्लोक-चतुर्थांश उद्धृत करके अपनी स्थिति को संदिग्ध बना लिया है। वह पूरा पद्य इस प्रकार है—

> "यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा वज्ज्वलरुक्मभूमौ। यज्जायते तन्मयमेव तत्स्यात् तथाभवेद् वेद विदात्मतुष्टिः। एवं च विद्वद्वचनाद् विनिर्गतं प्रसिद्धरूपं कविभिर्निरुपितम्, **सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।**"

'अभिज्ञानशाकुन्तल' का प्रणेता महाकवि कालिदास ६६ ईसवी सन् का व्यक्ति है। इसका समय ७५ ईसवी तक भी सोचा जा सकता है। और उधर कुमारिलभट्ट का समय हमने ७८-२० ई० पूर्व तक माना है। **इन दोनों के**

मध्य १०५ वर्ष का अनुपेक्षणीय कालान्तर है। प्रश्न पैदा होता है—कुमारिल ने कालिदास का पद्य उद्धृत किया; इसके विकल्प में यह क्यों न सोचा जाये कि **कालिदास ने कुमारिल से श्लोकचतुर्थांश उधार लिया है ?**

हम अपने गणित से सोचा करते हैं। जब हमने १०५ वर्षीय अन्तराल को सामने रख लिया और सोचना आरम्भ किया तो इस परिणाम पर पहुंचे **कि उक्त श्लोकांश ला-वारिस रचना है। यह सबकी बपौती है। जो इसका प्रयोग करे—वही इसका रचयिता है।** केवल इस श्लोकांश की बात नहीं है। इस जैसे अनेकों श्लोक ऐसे हैं, जिसका प्रयोग एकाधिक कवियों ने किया है।

यथा—[१] धर्मदास गणि रचित 'कालक कथा' में यह श्लोक पाया जाता है। यथा—

> **"निन्दन्तु नीतिनिपुणाः, यदि वा स्तुवन्तु।**
>
> **लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।**
>
> **अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा—**
>
> **न्यायात्पथः परिचलन्ति पदं न धीराः॥"**

—कालककथा संग्रहः पृष्ठ २२२

क्या यह भर्तृहरि की रचना नहीं है ?

[२] इसी प्रकार एक श्लोक यह भी विचारणीय है—

यह 'मुद्राराक्षस' का प्रसिद्ध श्लोक है। हमारी गणना के अनुसार नाटक 'मुद्राराक्षस' का रचयिता विशाखदत्त ३६४ ईसवी से पहले का नहीं है। और उधर ५०-६५ ईसवी का शासक भर्तृहरि की रचना 'नीतिशतक' में पाया जाता है। वही प्रश्न—कौन किसकी नकल कर रहा है ?

संस्कृत-सूक्ति-साहित्य का गहन चिन्तन/मन्थन करने वाली डॉक्टर पूर्णिमा भारद्वाज का कहना है कि ऐसे अज्ञातकर्तृत्ववाले अनेकों पद्य उपलब्ध हैं, जिसे आत्मीकृत करने वाले अनेकों कवि उपकृत हुए हैं। कहाँ तक गिनाएँ ?

यह सब ठीक है। इस जटिल-ग्रन्थि पर श्री उदयवीर शास्त्री की सतर्क टिप्पणी उल्लेखनीय है। **"यह सम्भव है—लोकोक्ति के रूप में यह [सतां हि सन्देहपदेषु-] पूर्व प्रचलित रहा हो! कालिदास ने उसे नाटक के प्रसंगानुकूल अपनी रचना में बांध दिया..."** हमारी राय भी यही है। निष्कर्षतः सर्वत्रगामी श्लोकों को आधार मानकर **'अमुककवि पहले हैं' 'अमुककवि बाद का है'**—निर्णय लेना आधारहीन भी है और अर्थहीन भी है।

हमारी पक्की राय है कि कुमारिल अपने स्थान पर ठीक है, कवि कालिदास अपने स्थान पर कायम हैं। उक्त श्लोक चतुर्थांश दोनों से पूर्ववर्ती है। उक्त श्लोकांश को अपनाकर यह साबित किया है कि— **हम बहुश्रुत हैं।**

१०.३ : हमारी दृष्टि में जैन काल-गणनाएं विश्वसनीय नहीं होती। उनमें अनल्प छल-छिद्रों की सम्भावना रहती है। प्रकृत लेखक ने जैन काल-गणना पर बारीक अनुसन्धान किया है और लिखा है, जो विविध पत्रिकाओं में छपा भी है। यथा—

१. जैन काल-गणना : प्रश्नों के आलवाल में।

२. जैन काल गणना : समस्या से समाधान की ओर—

३. जैन काल-गणना : ज्ञान से विज्ञान की ओर।

—सम्मेलनपत्रिका, इलाहाबाद के विविध-अंकों में प्रकाशित

अधुना जैन-कालगणना की पद्धति के अन्तर्गत कुमारिल भट्ट की समय-सिद्धि प्रश्नाधीन है :

१. शंकराचार्य : युधिष्ठिर-संवत् २६३१ = ५०९ ई० पू० : रक्ताक्ष संवत्सर।

२. कुमारिल भट्ट जन्म : युधिष्ठिर संवत् २१५७ = ४७७ ई० पू० : रक्ताक्ष संवत्सर।

इनमें पहला मत श्री उदयवीर शास्त्री का है, जिसके अनुसार श्री शंकराचार्य का जन्म ५०९ ई० पूर्व है और निर्वाण ४७७ ई० पू० का है। उसके समक्ष कुमारिल-विषयक जैन-मान्यता है, जिसके अनुसार **कुमारिल जन्म ४७७ ई० पूर्व का है**। मज़े की बात यह है कि उभयपक्ष '**रक्ताक्ष संवत्सर**' का उल्लेख करते हैं। एक तरफ शंकराचार्य विग्रह-विसर्जन कर रहे हैं (४७७ ई० पू०) दूसरी तरफ कुमारिल देह-धारण कर रहे हैं (वही ४७७ ई० पूर्व)

इस प्रकार विसंगति की पृष्ठभूमि पर विकसित जैन काल-गणना पर कौन विश्वास करेगा?

टिप्पणी : शंकराचार्य-विषयक भ्रान्त काल-गणना चित्र परिशिष्ट में लिख रहे हैं। वहीं देखें।

१०.४ : जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं– कुमारिल भट्ट की अन्तिम सन्ध्या में भगवान् शंकराचार्य उनसे मिले थे। **इति श्रूयते**। परन्तु अनुसन्धान प्रक्रिया में इतना लिख देना, इतना पढ़ लेना पर्याप्त नहीं माना जाता। इस प्रसंग में 'अन्तःसाक्ष्य' या फिर 'बहिः साक्ष्य' उपलब्ध कराना आवश्यक है; अन्यथा अनुसन्धानधर्म अधूरा ही रह जाता है। अब हमें अन्तः साक्ष्य और बहिः साक्ष्य दोनों मिल गए हैं। यथा—

> "भगवान् शंकर ने 'उपदेश-साहस्री' में [१८ श्लोक] तथा तैत्तिरीय भाष्य के उपोद्घात में कर्म-फल का उल्लेख किया है। हालाँकि वहाँ कुमारिल भट्ट का नाम उल्लिखित नहीं है। परन्तु जिस तरह से कर्म विषयक मत का प्रतिपादन है, वह भाट्टमत से अलग नहीं है। श्रीरामतीर्थ द्वारा रचित टीका में कहा है—"**अतो नाऽप्रसिद्धं पक्षान्तरमिति भाट्टमतमाशङ्क्य परिहरति-स्पष्टत्वमिति। स नैव ज्ञानविषयादतिरिक्तो भट्टमते सम्भवति॥**"

– आद्य श्री शंकराचार्य : आविर्भाव काल; २८

इतना अन्तः साक्ष्य ही पर्याप्त और उपयोगी है।

१०.५ : व्याकरणमूर्ति भर्तृहरि का गुरु कौन है? यह प्रश्न गुप-चुप अन्तः सलिला सरस्वती की तरह सबके मन में है और कोई व्यक्ति इस पर खुले मन से संवाद नहीं करना चाहता। पर इस प्रश्न का समाधान है अनिवार्य। कारण, अनुसन्धान-जगत् पर यह विभ्रम छाया हुआ है कि चीनी यात्री इत्सिंग की आप्तता संदिग्ध हो जाएगी—भर्तृहरि का गुरु खोजते-खोजते। प्रश्न है—भर्तृहरि का गुरु पतञ्जलि है या वसुरात है? यह प्रश्न हमारे लिए खास अहमियत रखता है। इस प्रश्न के उत्तर में व्याकरण-विद्या के भीष्म पितामह म० म० पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक ने यायावर [विविध विद्याजगत् का घुमन्तु] भर्तृहरि के गुरुपद-विभूषित वसुरात का नामोल्लेख सन्दर्भ-सहित किया है। यथा—

१. न तेनास्मद्गुरोः तत्रभवतो वसुरातादन्यः।

२. प्रणीयो गुरुणाऽस्माकमागम-संग्रहः।

३. तत्रभगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।

—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास।

इसी शृंखला में पुषराज लिखता है :

४. एवं चन्द्राचार्य-वसुरातगुरुप्रभृतीनाम् ।

५. वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतम् ॥

—सिंहसूरि ।

भर्तृहरि के गुरुपद के लिए 'वसुरात' का अस्तित्व पक्का समझिए परन्तु स्वयं भर्तृहरि अपने गुरु का नाम भगवान् पतञ्जलि बता रहे हैं, जो पूर्व स्थापना के विपरीत जा रहा है—

"कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरूणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धनम् ॥"

यह विसंवाद नहीं है । यह रहस्योद्‌घाटन है । हम निर्णायक तौर पर मान लेते हैं कि—

—भर्तृहरि वसुरात का पट्टशिष्य हैं ।

—वह भगवान् पतञ्जलि का शिष्यकल्प है ।

यह पक्के तौर पर मान्य होना चाहिए कि भर्तृहरि कुमारिल भट्ट से पूर्ववर्ती है और भगवान् पतञ्जलि से परवर्ती है । जो बात साग्रह स्मरण रखने योग्य है कि 'चन्द्राचार्य' वसुरात का नितान्त समकालीन है । यह अलग बात है कि वयोमान में चन्द्राचार्य ५-१० वर्षीय ज्येष्ठ हो, वसुरात कनिष्ठ हो । किन्तु समकालिकता असंदिग्ध है । जैसा कि जैन विद्वान् सिंहसूरि ने भी उसका समर्थन किया है ।

हमारे लिए यह प्रकरण इसलिए आवश्यक और सम्मान्य है कि इससे चीनी यात्री इत्सिंग अनायास नेपथ्य में चला जाता है । अलबत्ता उसका विसर्जित सन्दर्भ सटीक है । उसने भर्तृहरि-निधन के लिए **चालीसवाँ वर्ष** बताया है, हमने उसका अर्थ-सन्दोहन करते हुए **सप्तर्षि-संवत् [१३] ४० वाँ वर्ष** मान लिया है, जो १०५ ई० पूर्व के सम है । यही हमारा पुरुषार्थ है । इस स्थिति के अनुरूप गुरु-शिष्य परम्परा इस प्रकार बनती है—

चन्द्राचार्य ———————————— **पतञ्जलि**

|

वसुरात ———————————— **भर्तृहरि**

चूंकि हमने कुमारिल-पूर्ववर्ती भर्तृहरि का समय १४५-१०५ ई० पूर्व रेखाङ्कित किया है, अतः गौड़पाद-गोविन्दपाद की गुरुपद-शृंखला में भगवान् शंकराचार्य को स्थापित करना ऐतिह्य है—इस पर अधिक लिखने की गुंजाइश नहीं है ।

१०.६ : कुमारिल भट्ट ने अपनी रचना में 'विन्ध्यवासिन्' का नामोल्लेख भी किया है : **"विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना"** इससे पता चलता है कि कोई 'विन्ध्यवासी' नामक विद्वान् कुमारिल ने पहले हो चुका है । वे उनसे कितने प्राचीन हैं ? यह शोध का विषय है । इसी प्रसंग में दो अन्य नाम भी सामने आते हैं । वे नाम हैं— **१ वसुबन्धु और २ वसुरात** । वसुरात वहीं है—ज़ाना-पहचाना भर्तृहरि का गुरु । हम देख चुके हैं—वसुरात चन्द्राचार्य का समकालीन है ।

परमार्थ लिखता है—विन्ध्यवासिन् ने बुद्धमित्र को कभी शास्त्रार्थ में हराया था । पहचान के लिए यह बताना भी बहुत जरूरी है कि **बुद्धमित्र वसुबन्धु का गुरु प्रसिद्ध है** । इस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ में बुद्धमित्र का परास्त होना एक

'घटना' माना जाता है। वसुबन्धु इस शास्त्रार्थ-पराजय का प्रतिशोधकामी था। परिणामतः वसुबन्धु और वसुरात में वाद-विवाद भी हुआ। स्थिति इस प्रकार है—
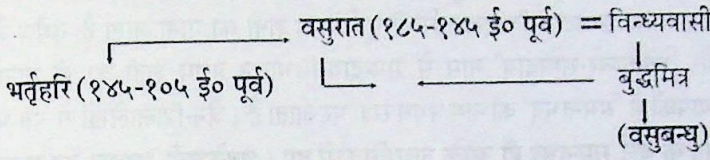
वसुरात (१८५-१४५ ई० पूर्व) = विन्ध्यवासी

भर्तृहरि (१४५-१०५ ई० पूर्व) बुद्धमित्र

(वसुबन्धु)

कुमारिल

यह समूचा घटनाचक्र	बिन्ध्यवासी ने बुद्धमित्र को हराया।
ई० पू० १८०	वसुबन्धु ने विन्ध्यवासी को हराया।
१०० =	इसी बात को लेकर
८० ई० पूर्वतक	वसुबन्धु और वसुरात में संवाद हुआ।
कुमारिल-पूर्वयुग	—वसुरात भर्तृहरि का गुरु है—
	विन्ध्यवासी भी कुमारिल से दूरवर्ती नहीं है।

भ्रान्ति न हो, यह स्मरण रखना बहुत जरूरी है कि गुप्तवंशी महाराजा बालादित्य के कौटुम्बिक 'वसुरात' उस 'वसुरात' से सर्वथा भिन्न है, जो भर्तृहरि का गुरु है; केवल भिन्न ही नहीं है, बल्कि अत्यन्त निम्नकालवर्ती भी है।

१०.७ : शंकर-साहित्य से ज्ञात होता है कि भगवान् शंकराचार्य ने कुमारिल का संकेत पाकर ही मण्डन मिश्र से भेंट की थी। भगवान् शंकराचार्य ने 'कर्मवाद' का खण्डन किया है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुमारिल मण्डन मिश्र से पूर्णतया प्रभावित थे। कुमारिल-मण्डन मिश्र शंकराचार्य का तिथिक्रम ध्यान में रखकर ही अनुसन्धान करना ठीक रहेगा। अतः

[क] ३० ई० पूर्व में कुमारिल का देहावसान हुआ।

[ख] २९ ई० पूर्व में शंकर-मण्डन शास्त्रार्थ हुआ।

[ग] २७ ई० पूर्व में मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य हुए।

[घ] प्राचीन शक ६९५ = ३७ ई० सन् में सुरेश्वरदिवंगत हुए।

उपर्युक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि २७ ई० पूर्व के पश्चात् तथा ३७ ई० सन् तक—कभी भी—रचे गए तैत्तिरीय भाष्य वार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने कुमारिलभट्ट का खण्डन किया है—

"इति मीमांसकम्मन्यैः कर्मोक्तं मोक्षसाधनं
तत्प्रत्याख्यानात्मकं विज्ञानम्। तत्र न्यायेन निर्णयः।"

तथा उसी सुरेश्वराचार्य ने रचनान्तर : **श्लोकवार्त्तिक** में इसे फिर कहा है :

"मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्य-निषिद्धये।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायः॥"

यहाँ कर्मपक्षधर 'कुमारिलभट्ट' ही प्रत्याख्यान-पात्र हैं। यह भी सर्वविदित है, कुमारिल मण्डनमिश्र से प्रभावित थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कुमारिल-शंकराचार्य की संयोजक कड़ी के रूप में मण्डनमिश्र = संन्यस्त नाम सुरेश्वर सदा स्मरण में रहेंगे।

१०.८ : जैनपक्ष एक बार फिर।

जैसे कि जैन-साहित्य से ज्ञात होता है कि **कुमारिल ने समन्तभद्र पर भी आक्षेप किये हैं**। जैसे बौद्ध समाज में 'महायान' और 'हीनयान' का सम्प्रदाय-विभाजन ईसवी पूर्व प्रथम शती का माना जाता है; तथैव जैनसमाज में 'दिगम्बर-सम्प्रदाय' और 'श्वेताम्बर-सम्प्रदाय' नाम से सम्प्रदाय-विभाजन प्रथम शती का ही माना जाता है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के स्थापकों में 'समन्तभद्र' का नाम प्रथम रेखा पर आता है। जैन-शिलालेखों से यह भी ज्ञात होता है कि **श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद समन्तभद्र ही उसके उत्तराधिकारी हुए। श्रुतकेवली भद्रबाहु का समय '१४६ ई० पूर्व' मध्यबिन्दु के रूप में स्थापित है**। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त मौर्य [२] ने राजपाट छोड़कर भद्रबाहु से दीक्षा लेकर जैनमुनि बन गए। यह हम पहले भी पढ़ चुके हैं। श्रुतकेवली भद्रबाहु का निधन कब हुआ ? इतना तो ज्ञात नहीं, परन्तु हम यह सक्षम भाषा में कह सकते हैं कि **१४६ ई० पूर्व से भद्रबाहु अप्रासंगिक अवश्य हो गए थे**। तभी तो हमने समन्तभद्र का समय १४६-१०६ ईसवी पूर्व मान लिया है।

टिप्पणी—द्रष्टव्य १४-समन्तभद्र पर व्याख्यान तथा अभिमत संग्रह में डॉ. सोलंकी का एतद्विषयक पत्र समन्तभद्र का समय कुमारिल पूर्ववर्ती होने से यह मानना उचित लगता है कि कुमारिल ने समन्तभद्र पर आक्षेप किया होगा। हमने तत्रैव समन्तभद्र का समयचिन्तन तर्कपूर्ण विधि से कर दिया है।

१०.९ : एक मण्डनमिश्र और।

आन्ध्रवंशी कुमारिल भट्ट के समय-स्थिरीकरण में मण्डनमिश्र द्वितीय का योगदान भी कम नहीं है। यहाँ स्मरण रखने योग्य मण्डनमिश्र [२] की पहचान है। पहला मण्डनमिश्र भगवान् शंकराचार्य का '**प्रतिशास्त्रार्थी**' है। बाद में वह संन्यस्त होकर 'सुरेश्वराचार्य' नाम से विख्यात शंकर-शिष्य एवं शृंगेरी मठ का दीर्घजीवी उत्तराधिकारी है। दूसरा मण्डनमिश्र हमेशा के लिए 'मण्डनमिश्र' है। अर्थात् वह संन्यस्त नहीं हुआ।

१. मण्डनमिश्र ने शंकर का खण्डन किया है।

२. सुरेश्वराचार्य ने मण्डनमिश्र का खण्डन किया है।

३. मण्डनमिश्र-रचित 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थ में कुमारिल का उल्लेख है।

४. भगवान् शंकर तथा सुरेश्वर ने 'ब्रह्मदत्त' का खण्डन किया है।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् यह चित्र बनकर सामने आता है। यथा—
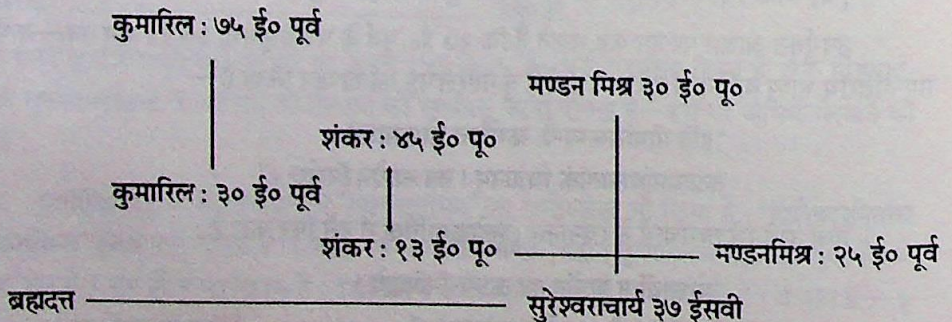
अर्थात् १. मण्डनमिश्र और सुरेश्वर स्वल्प-समकालिक हैं।

२. ब्रह्मदत्त भगवान् शंकर तथा सुरेश्वराचार्य का स्वल्पकालीन पूर्ववर्ती है।

३. मण्डनमिश्र कुमारिल का उल्लेख करता है। वह उससे स्वल्पकालीन परवर्ती है।

४. सबके समय स्थिरीकरण में मण्डनमिश्र का अस्तित्व सर्वोपरि है। हालांकि इतिहास में उसका स्थान गौण है।

उपर्युक्त आचार्यों की समय-सिद्धि के लिए 'उज्बेक' का उल्लेख न केवल प्रासंगिक है, बल्कि कई अर्थो में निर्णायक भी है। हम ज़रा स्मरण कर लें—महाकवि भवभूति का नाम 'उज्बेक' भी है। हमें यहाँ उज्बेक-उज्बेक में समीकरण नहीं करना चाहिए। उज्बेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर टीका लिखी है, और मण्डनमिश्र के 'भावनाविवेक' पर भी टीका लिखी है। **उज्बेक भी कुमारिल तथा मण्डनमिश्र को क्रमशः ज्येष्ठ और कनिष्ठ मानता** है। अनुसन्धायकों के मतानुसार उज्बेक मण्डन मिश्र [२] से बहुत ज्यादा परवर्ती नहीं है। वह कुमारिल का शिष्य भी बताया जाता है। अतः उज्बेक का समय ४०-०० ई० पूर्व का संभाव्य है। और मण्डनमिश्र का समय भी २५ ई० पूर्व से लेकर १० ईसवी सन् तक स्वीकार किया जा सकता है।

२०. धर्मकीर्ति

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति और कुमारिल भट्ट निपट समकालीन हैं—इस पर किसी पक्ष को कोई आपत्ति नहीं। **बल्कि सबकी सहमति है।** जब भगवान् शंकराचार्य ने धर्मकीर्ति का स्मरण कर लिया, तब उसकी शंकर-पूर्वकालिकता असंदिग्ध है और मान्य है। धर्मकीर्ति शंकराचार्य से कितने प्राचीन हैं? इसका समाधान असहज नहीं है। कुमारिल ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया है—यह एक पक्षीय यथार्थ नहीं है, इसके विपरीत यथार्थ यह भी है—धर्मकीर्ति ने भी कुमारिलभट्ट के वेद-विषयक विचारों का प्रत्याख्यान किया है ऐसी उपलब्धियां अन्यत्र—अर्थात् कुमारिल-धर्म कीर्ति के अतिरिक्त—भी सम्भव हैं, किन्तु प्रसिद्धि इनकी है।

१—कुमारिल धर्मकीर्ति से ज्येष्ठ नहीं है। **इनका समान**

२—धर्मकीर्ति कुमारिल से कनिष्ठ नहीं है। **समय ७५-३० ई० पू० है।**

यहाँ यह बताना नितान्त आवश्यक है। कि जब कालकाचार्य ने कुषाण वंश का आह्वान किया, तभी **अश्वघोष तो कनिष्क के साथ राष्ट्रान्तर से भारत आया था; परन्तु कनिष्क द्वारा आहूत बौद्ध संगीति में 'नागार्जुन' और 'धर्मकीर्ति' ने प्रभाव से बौद्धजगत् में अपना स्थान बनाया।** ये दोनों विद्वान् कुषाणवंश की देन हैं—ऐसी मेरी मान्यता है।

धर्मकीर्ति और कुमारिल का सैद्धान्तिक अध्ययन इस प्रकार है।

—धर्मकीर्ति—	—कुमारिल—
अविभागेऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यवसितदर्शनैः। ग्राह्य ग्राहक संवित्तिः भेदवानिवलक्ष्यते॥ —प्रमाण-विनिश्चय	ग्राह्य-ग्राहकयोरैक्यं सर्वथा प्रतिपद्यते बाह्याभ्यन्तः स्वरूपश्च परिकल्पो विमृश्यते।
यदाभासं प्रमेयं तत् प्रमाणं फलते पुनः। ग्राहकाकार-संवित्त्योः त्रयो नातः पृथक्-पृथक्॥	स्वाकारश्च स्व संवित्तिः मुक्त्वा नान्यः प्रतीयते। प्रामाण्यं यस्य कल्येत् स्ववित्तिं फलं प्रति॥

पूर्ववत्

"धर्मिणोऽनेक रूपस्य
इन्द्रियाद् बोधो न [सं] भवेत्।
स्व. संवेद्यमनिदेश्य
रूपमिन्द्रिय-गोचरः।
कल्पनाऽपि स्व संवित्तिः
इष्टा नाऽर्थोऽत्र कल्पनात्
_______ _______________
_______ _______ ॥"

_____

"कल्पनाया स्वसंवित्तौ
इन्द्रियाधीनता कथम्।
मत्स्तत्रेन्द्रियं स्यात्
गोत्वादावपि तत्समम्॥
स्व संवित्तौ यदिष्टं चेत्
लोको न ह्येवमिच्छिति।
तस्माद् रूढित्वमेष्टव्यम्
पारिभाषिकताऽपि वा॥"

। इति।

—अथ निष्पीडितार्थः—

[१] भगवान् शंकराचार्य के समय स्थिरीकरण में दो मुख्य आधार स्तम्भ हैं—**१. सुरेश्वराचार्य, २. कुमारिल**। भगवान् शंकराचार्य के वर्षानुबन्ध के लिए सुरेश्वराचार्य की अपेक्षा है। सुरेश्वराचार्य का समय शालिशक ६९५ की यथार्थता को पृष्ठभूमि प्रदान कर रहा है शालिशक ६४४ में भगवान् शंकर का विग्रह-विसर्जन। सुरेश्वराचार्य से ठीक ५१ वर्षप्राक् शंकराचार्य शरीर छोड़ चुके थे। इसे हम १३ ई० पूर्व[५०] = ३७ ईसवी कहते हैं। एक अन्तःसाक्ष्य + बहिः साक्ष्य ने मिलकर इस अन्तःसाक्ष्य को आप्त रूप दिया है—

"विक्रमादित्य के राज्यकाल के चौदहवें वर्ष में
आचार्य शंकर का कालपीक्षेत्र में आविर्भाव कहा जाता है।"

कालमान के अतिरिक्त इतिहास में कुमारिल के बलबूते पर भगवान् शंकराचार्य को स्थान मिला है। कुमारिल-भर्तृहरि, कुमारिल-धर्मकीर्ति, कुमारिल-प्रभाकर भट्ट, कुमारिल-स्कन्दस्वामी के अस्तित्व से इतिहास चट्टान की तरह मज़बूत हो गया है। अविचल इतिहास में भगवान् शंकर का स्थान सुरक्षित है।

[२] कुमारिल भट्ट आन्ध्रवंश का प्रदीप है। इतिहास के पन्नों पर आन्ध्र-उदय का समय निश्चित है—३७६ ई० पूर्व का साल। कुमारिल इससे पहले नहीं जा सकते। **कुमारिल स्वातिकर्ण के समकालीन हैं**। गौतमीपुत्र शातकर्णि की बात जमी नहीं।

[३] कुमारिल भर्तृहरि से निश्चयपूर्वक परवर्ती हैं।

हमने भर्तृहरि का समय इत्सिंग को समग्रभाव से परिप्रेक्ष्य में लेते हुए नहीं किया, बल्कि उसके कथन की स्वेच्छानुसार व्याख्या से स्थिर किया है। **इत्सिंग-कथन : ४० वर्ष = सप्तर्षि-संवत् १३४० = १०५ ईसवी पूर्व स्थिर किया है**। यही ठीक है।

[४] "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" को उद्धृत करके कुमारिल कालिदास के ऋणी नहीं है, प्रत्युत् **ये दोनों किसी अज्ञात कवि के ऋणी हैं**। नाटककार कालिदास का समय हमारी दृष्टि में ६६-९० ईसवी संवत् है।

[५] इस प्रसंग में जैन कालगणनाएँ विश्वस्त नहीं है । समन्तभद्र की जो पहचान डॉ. परमेश्वर सोलंकी ने उपस्थित की है, उसका अनुसन्धान करके हमने साहसपूर्वक उसे शंकरपूर्ववर्ती युग में स्थापित किया है ।

[६] **भगवान् शंकराचार्य ने कुमारिल मत [कर्मवाद] का उल्लेख किया है** । हमारी दृष्टि में शंकर-कुमारिल भेंट ३० ईसवी पूर्व की है । इसलिए हमने 'कुमारिल-युग' को अहमीयत दी है ।

[७] 'वसुरात' यद्यपि भर्तृहरि के साक्षात् गुरु हैं, पर वह भी पतञ्जलि से बहुत दूर नहीं है । वसुरात-पतञ्जलि-भर्तृहरि— ये सभी शुंगवंशी पुष्यमित्र-युग की देन हैं ।

[८] **शंकराचार्य तथा सुरेश्वर परस्पर शास्त्रार्थ-प्रतिद्वन्द्वी भी हैं, गुरु-शिष्य भी हैं और शृंगेरीमठ के पूर्व-पर मठाधिपति भी हैं** । इतना होने पर भी सुरेश्वर वयोमान में कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर हैं । यथा—

सुरेश्वर : लगभग ६० ई० पू० से ३७ ईसवी तक **वय ९७ वर्ष के हैं** ।

शंकराचार्य : ४५-१३ ईसवी पूर्व तक **वय ३२ वर्ष है** ।

सुरेश्वराचार्य का दीर्घजीवन सर्वसम्मत हैं ।

[९] भर्तृहरि के गुरु वसुरात से शास्त्रार्थ-पराजित वसुबन्धु के शिष्य विन्ध्यवासिन् का उल्लेख करके 'कुमारिल' वसुबन्धु तथा विन्ध्यवासिन् के सन्धिकाल में आ जाते हैं ।

[१०] कुमारिल एवं धर्मकीर्ति निपट समकालीन हैं । वे एक दूसरे का व्याख्यान-प्रत्याख्यान करते हैं । हमारी दृष्टि में **वैदिक धर्म का सुधाकर है—कुमारिल; बौद्धमत का रत्नाकर है—धर्मकीर्ति** । दोनों में आकर्षण-विकर्षण का चुम्बकत्व विद्यमान हैं । यही भारतीय संस्कृति का चमत्कार है ।

[११] **कुमारिल तथा धर्मकीर्तिः** के परवर्ती-शंकर, सुरेश्वराचार्य, ब्रह्मदत्त तथा मण्डनमित्र [२] पूरे युग के प्रतिनिधि हैं और थोड़ा-बहुत अन्तराल रखकर समकालिक हैं ।

—अथ विमर्श-परामर्श—

[१]

चिरकाल से युधिष्ठिर-संवत् का सहारा लेकर भगवान् शंकराचार्य का समय खोजने का प्रयत्न हो रहा है । इस सम्प्रदाय के पुरोधा हैं—पण्डित उदयवीर शास्त्री । उनकी दृष्टि में युधिष्ठिर-संवत् ३१४० ई० पू० से आरम्भ होता है । अप्राप्य तथा अप्रख्यात ग्रन्थों में 'युधिष्ठिर-संवत्' का उल्लेख किया जाता है, हम समझते हैं वे [उन ग्रन्थों के लेखक] सप्तर्षि-संवत् को विकृत करके उसका प्रयोग करते हैं । **हमारे अनुसन्धान के अनुसार युधिष्ठिर-संवत् ३१४८ ईसवी पूर्व से आरम्भ होता है** । हमें कोई ऐसा प्रयोग नहीं मिला, जो ठीक-ठीक शंकर-काल को रेखांकित करता हो । अगर शंकर-काल को उजागर करने वाला युधिष्ठिर-संवत् का प्रयोग सम्भाव्य है, तो वह **युधिष्ठिर-संवत् ३१०३-४५ ई० पूर्व होना चाहिए** । ऐसा प्रयोग अभी तक देखने में नहीं आया ।

युधिष्ठिर-संवत् की उपेक्षा नहीं, सातिशय अनुसन्धान की जरूरत है ।

[२]

शंकर-काल के लिए प्रायः 'जिनविजय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए लोग बाग देखे गए हैं । **यह ग्रन्थ आजतक किसी ने नहीं देखा** । इस ग्रन्थ की अनुपलब्धि ही उसका प्रत्याख्यान करती है । वैसे भी जैन कालगणनाएँ अविश्वास के घेरे में हैं । जैन-इतिहास तथा जैन-कालगणनाओं को जैनेतर दृष्टि से देखने-परखने की आवश्यकता

है। जब जैन-विद्वान् अपनी ही साम्प्रदायिक तिथियों के बारे में आप्त नज़र नहीं आते, तब जैनेतर-इतिहास तथा तिथियों के बारे में उनका सोचना कितना अर्थवान् होगा ? इस पर आसानी से निर्णय लिया जा सकता है।

जैनग्रन्थों के उल्लिखित 'युधिष्ठिर-संवत्' सर्वथा अमान्य है।

[३]

कतिपय आचार्यों ने भगवान् शंकराचार्य की अनल्प जन्म तिथियाँ विश्रुत की हैं, यथा—**शिव अनन्त, अनन्त शिवतिथियाँ** यही दुर्बलपक्ष ही अपना खण्डन स्वयं करता है। यथा—

१. जनार्दन रामचन्द	६१० ई० पू०	८. डॉ. चिन्तामणि T.R.	६५५ ईसवी
२. डॉ० कांचीकामकोटि मठ	४७६ ई० पू०	९. डी. आर. भण्डारकर	६८० ईसवी
३. डॉ० विन्सेण्ट स्मिथ	६० वर्ष बुद्ध पू०	१०. राजेन्द्रनाथ घोष	;६८६ ईसवी
४. निखिलनाथ राय	४७० ई० पू०	११. एच. के. सेन	६८६ ईसवी
५. भास्कर राय	४९ ई० पू०	१२. डॉ. त्रिपाठी	६८६ ईसवी
६. टी. फौकस	६५० ईसवी	१३. के. टी तैलंग	६८८ ईसवी
७. डॉ. कर्नल	७०० ईसवी	१४. मोनियर विलियम	६५०-७० ईसवी

—संकलित

इनके अतिरिक्त सर्वश्री लुईस रईस, प्रो० हजमे नाकापुरा, तथा अलेन थ्राशर के नाम उल्लेखनीय है। भगवान् शंकराचार्य के तिथि-विवाद में पाश्चात्य कोविदों की रुचि तो प्रशंसनीय है, परन्तु उनकी वस्तु-तत्परता संस्कृति-निरपेक्ष होने से प्रभावशाली नहीं रही। उन्हें सफलता भी नहीं मिली।

सत्य एक होता है। असत्य नाना होते हैं।

[४]

डॉ. भगवान् लाल इन्द्र जी का नेपाल-इतिहास-विषयकज्ञान अपूर्ण है। जिस प्रकार हमने भारतीय इतिहास की पुनः स्थापना की है, वैसे ही हमने नेपाल का इतिहास भी नवीकृतरूप में देखा है। डॉ. फेथ फुल फ्लीट के अनुसार वृषदेव का समय ६३०-६५० ईसवी बताया गया है, जो अशुद्ध है। भगवान् शंकराचार्य अशोक-संवत् २०० = १९ ई० पूर्व में नेपाल पधारे थे।

नेपाल और भारत के इतिहास को समान्तर रेखा पर रखना चाहिए।

[५]

भगवान् शंकराचार्य का समय : ७८८-८२० ईसवी बताने वालों की पंक्ति लम्बी नहीं है, बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इस पंक्ति में कुछ-एक नाम पंक्ति-पावन भी हो सकते हैं। इन सब के अपने पक्ष के समर्थन में जुटाए गए तर्क निर्बल तो नहीं होने चाहिए, पर हैं। वस्तु स्थिति यह है कि भारत का इतिहास शुरु से गलत बुनियादों पर टिका हुआ है। खोखली बुनियादों पर चिन-चिनाकर खड़ी की गई दीवार पाएदार होगी ? इसकी सम्भावना कम ही है। **जब से सप्तर्षि-संवत् का प्रचलन लुप्त हुआ है, तभी से भारतीय इतिहास मौलिक बुनियादों से खिसक कर गलत बुनियादों पर जा टिका है।** परिणामतः भारतीय इतिहास में ७०० वर्षों की भूल उग आई है। इसके दो-तीन उदाहरण पर्याप्त हैं—

१—अबूरिहाँ अलबैरुनी ने भारत-संग्राम काल २४४८ ई० पूर्व बताया है, जो **२४४८ + ७०० = ३१४८ ई० पू० ठीक है।**

२—भगवान् महावीर स्वामी का समय ५२७ ई० पूर्व बताया जाता है, जो **५२७ + ७०० = १२२७ ई० पूर्व ही यथार्थ है।**

३. प्राचीन शक ६२२ ई० पूर्व का लुप्त हो गया है; ७८ ई० का शक चल निकला है। यही कारण है—**ई० पू० ६२२ + ७८ ई० = ७०० वर्ष** भारतीय इतिहास में से खिसक गए हैं।

यही स्थिति महात्मा बुद्ध, अजातशत्रु तथा उदयन के बारे में भी सोचनी चाहिए। भारत का विश्वसनीय इतिहास है—'राजतरंगिणी', उसे कोई नहीं पूछता। पूछा जाता है—पाश्चात्य पण्डितों को। भारत के सच्चे इतिहास की पहचान हो तो कैसे हो?

भारत को इतिहास चाहिए। बेपर की उड़ान नहीं।

[६]

सोच समझ कर, विविध सन्दर्भों और सूत्रों का सदुपयोग करने पर किसी एक बिन्दुतक निश्चित निर्णय का न होना यह सिद्ध करता है कि **अनुसन्धान में कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई खामी अवश्य है**, या फिर मौलिक सामग्री में इतनी भयावह विसंगतियां हैं, जो किसी के समझ में नहीं आ रहीं। हमारे न चाहने पर परिणाम-भिन्नता प्रकट हो रही है। आखिर क्यों?

कार्य-कारण का समन्वय भारतीय दर्शन का पहला सिद्धान्त है।

[७]

भगवान् शंकराचार्य दक्षिणापथ की महान् विभूति थे—यह एक छोटी बात है। **सबसे बड़ी बात है कि भगवान् शंकराचार्य अखण्ड भारत के महान् या महाविभूति थे।** ऐसे में भारतीय संस्कृति के भास्कर भगवान् शंकराचार्य का समय **'दक्षिणी विक्रमादित्य' 'उत्तरी विक्रमादित्य'** के मक्कड़ जाल में उलझाना नहीं चाहिए था। परन्तु जब यह मुद्दा सामने आ ही गया है, तो बारीकी से इसका विश्लेषण करना ही पड़ेगा। चालुक्य वंशी राजाओं का इतिहास महाराजा पुलकेशिन् [२] से द्रुतगति से चलता नज़र आता है। महाराजा पुलकेशिन् के चार पुत्र बताए जाते हैं।—आदित्य वर्मा, चन्द्रादित्य, **सत्याश्रय** और जयसिंह। इनमें से सत्याश्रय ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से सत्ता छीन ली और **विक्रमादित्य प्रथम के नाम से शासन आरम्भ किया।** सत्याश्रय के अन्य नाम हैं—राज्यमल्लश्रीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर और पृथिवीवल्लभ। **इस वंश में लोकप्रिय छह विक्रमादित्य हुए हैं।** पुलकेशिन्-पुत्र = सत्याश्रय = विक्रमादित्य यहाँ प्रासंगिक हैं। पुलकेशिन महाराज [द्वि] का राज्यारोहणकाल ६०८ ई० बताया जाता है, जो काल विसंगत होने से मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता। महाराजा पुलकेशिन् का एक शिलालेख उपलब्ध है। जिसे **ऐहोल शिलालेख के नाम से पहचाना जाता है**, विगत पंक्तियों में जिसका विशद विश्लेषण कर चुके हैं। जिसके अनुसार—

[क] ३० + ३००० + ७०० + ५ = ३७३५-३१४८ = ५८७ ईसवी।

[ख] ५० + ५०० + ६ = ५५६ + ३१ = ५८७ ईसवी, पूर्ववत्॥

ईसवी सन् ५८७ में हर्षवर्धन तथा पुलकेशिन् के मध्य संघर्ष हो चुका था, महाराजा पुलकेशिन् के लिए अभिषेक वर्ष ६०८ पर कैसे विचार किया जा सकता है? निश्चयपूर्वक पुलकेशिन् अभिषेक ६०८ ईसवी से बहुत पहले सम्पन्न हो चुका था। **हमारा अनुमान है पुलकेशिन् महाराज का अभिषेक ५८० ईसवी में संभाव्य है।** हमने प्रत्येक पीढ़ी के लिए ४० वर्ष का अनुपात स्थिर किया है। हमारी इस स्थापना में थोड़े-बहुत संशोधन की गुंजाइश

है। फिर भी ६२० अथवा ६३० ईसवी में यदि **पुलकेशिन पुत्र = सत्याश्रय = विक्रमादित्य** का शासनारोहणकाल विचारणीय है तो वह शंकर-जन्मकाल ७८८-१४ = ७७४ ईसवी से कैसे सम्बद्ध माना जा सकता है ? इस काल-वैषम्य पर किसी ने विचार नहीं किया। **दक्षिणापथ की अनेकविध एवं प्रसिद्ध काल-गणनाओं में ३१-३२ से चलने वाला शक-संवत् भी प्रचलन में देखा गया है।** अतः हमने ऐहोल-शिलालेख का अर्थाधान बहुत सोच समझ कर किया है। इस शृंखला में ह्वेनस्वांग पर भी विचार किया है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ६२४ ईसवी में हर्षवर्धन के सामने उपस्थित हुआ था। **ई० सन् ६२४ के पश्चात् ही चीनी यात्री दक्षिणापथ में गया होगा।** इससे पहले नहीं। आवश्यकता इस बात ही है कि [क] पुलकेशिन महाराज का निधन वर्ष स्थिर किया जाय ! (२) उसके प्रथम पुत्र-आदित्यवर्मा की शासनावधि स्थिर की जाये। (३) उस से सत्ता छीननेवाला सत्याश्रय-विक्रमादित्य का अभिषेक वर्ष निश्चित किया जाये। यह तो किया नहीं। विक्रमादित्य के अभिषेक वर्ष से १४ वर्ष पश्चात् भगवान् शंकराचार्य का जन्म मान लिया गया है। थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं—दीर्घजीवी शासनकाल पुलकेशिन ने ईसवी सन् ५८० से ६७० ई० तक शासन किया; उसके पुत्र आदित्य वर्मा ने ६७० -६७४ ई० तक शासन किया; **६७४ ईसवी सन् में सत्याश्रय-विक्रमादित्य ने सत्ता छीन ली, उसका अभिषेक हो गया। उससे १४ वर्ष पश्चात् भगवान् शंकर का जन्म हुआ।** अगर यह ठीक है, तब श्री पंथ महानुभाव का पक्ष [६८८-७२० ईसवी] मजबूत होता है, ७८८-८२० ई० का पक्ष निरस्त होता है। इसे कहते हैं—**भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः।**" ये विसंगतियां इसलिए पैदा हुई कि हमने ऐतिहासिक तिथियों का मूल्यांकन गलत ढंग से किया है। **काल-गणना वैज्ञानिक विषय है; वह साम्प्रदायिक प्रयोग के लिए नहीं है।**

[८]

ठीक है। दक्षिणापथ के भगवान् शंकराचार्य के लिए दक्षिणापथ की काल-गणना का उपयोग यदि सामयिक और समीचीन है तो **इस सिद्धान्त को परिपक्व मानकर अनुसन्धान करना आभीष्ट रहेगा, इसमें न्यूनाधिक सोचना अनुसन्धान नहीं, विडम्बना माना जाएगा।** दक्षिण के प्रचलित विक्रम संवत् १४ = ६८८ ईसवी में भगवान् शंकराचार्य के जन्मकाल को बहुत से लोकमान्य लोगों द्वारा स्वीकृत है। हम भी मान लेते हैं। जब शंकर के उत्तराधिकारी सुरेश्वराचार्य के दसवें मठाधिपति : **आनन्दाविर्भावाचार्य का समय ९-विक्रम-संवत्** सामने आता है, तब समस्या भी विकराल रूप ले लेती है। जब एक बार उत्तरापक्ष की काल-गणना को नकार दिया तो फिर प्रसंगान्तर में उत्तरापथ की काल-गणना किसी के गले से नहीं उतरेगी। तब विक्रमसंवत् ९ के लिए किसी दक्षिणापथ-प्रचलित 'विक्रम-संवत्' की खोज लाजिमी हो जाएगी। दूसरी अहम बात यह है कि शृंगेरीमठ के अन्तः साक्ष्य कुछ और हैं; दूसरी तरफ शारदापीठ के अन्तःसाक्ष्य कुछ और हों, बल्कि उससे सर्वथा भिन्न हों— यह स्थिति शोधकार्य के लिए अनुकूल नहीं है। शोधकर्ता इस अशोभन स्थिति से बचना पसंद करेंगे।

अनुसन्धान की मूलभूत सामग्री को समरस तथा एकरूप होना चाहिए।

[९]

इतिहास तिथियों के शिलाखण्डों पर चरणचिह्न छोड़ता हुआ सदा आगे बढ़ता है। जो व्यक्ति इन तिथियों के अनुरूप पड़ते हैं, अथवा व्यक्ति या घटनाओं द्वारा आत्मीकृत तिथियाँ इतिहास की तिथि-शृंखला में जुड़ सकती है; **इतिहास उन व्यक्तियों और घटनाओं को अपना लेता है।** अन्यथा वह समुद्र-जैसा आचरण करता है। जैसे समुद्र में फैंका कूड़ा-कर्कट समुद्र स्वीकार नहीं करता, अपनी तरंगों से वह कूड़ा-कर्कट किनारे लगा देता है; तथैव इतिहास भी अवांछित व्यक्तियों को [जिनकी तिथियाँ कवि-कल्पित हैं] हासिए पर फैंक देता है। भगवान् शंकर द्वारा विरचित सूत्र भाष्य में **'पूर्ण वर्मा'** तथा **'राजवर्मा'** तिथि-विहीन व्यक्ति हैं। इनका तिथि-संकेत न तो शंकर-साहित्य में मिलता

है, न ही शंकरेतर-साहित्य में उपलब्ध है। हमने यह कौतुक भी देख लिया है कि पं० उदयवीर शास्त्री ने महाराजा 'हाल' को किस प्रकार ठोक-पीटकर 'पूर्णवर्मा' बना डाला है। क्या इतिहास ने 'पूर्ण वर्मा' को स्वीकार किया?

इतिहास सदा आप्त-तिथियों को स्वीकार करता है।

[१०]

वाराणसेय विद्वान् राजगोपाल शर्मा ने अपने सामने पक्ष रखा है—**शंकराचार्य की ७८८-८२० ई० की तिथियाँ**। परन्तु उन्होंने जो तर्क जुटाए हैं, वे ६८८-७२० ई० के पक्ष का पोषण करते हैं और उनका अपना पक्ष अनायास निरस्त हो गया है।

निर्बल सेना और निःसार तर्क हमेशा स्वपक्षघाती होता है।

उपर्युक्त १० अनुच्छेदों में हमने इतिहास– प्रक्षालन का काम किया है। ईसवी संवत् ७८८-८२० में भगवान् शंकराचार्य की भ्रान्त तिथियों ने हमें उत्साहित किया कि **जब हमने इतिहास के धवलीकरण का बीड़ा उठा ही लिया है, तब क्यों न भगवान् शंकराचार्य का समय सिद्ध करें**। सो हमने हरिस्वामी, भर्तृहरि, सुरेश्वराचार्य तथा कुमारिल के बलबूते पर निर्णय लिया है।

विक्रम-संवत् १४ से	**शंकराचार्य ३२ वर्ष**	ईसवी पूर्व ४५ से
४६ वि. संवत् तक	**७ मास जीवित रहे।**	१३ ई० पूर्व तक।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

पंचम अध्याय

सटीक परामर्श

आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में संवत्सर-समूह की सार्थक भूमिका की खोज में हमने सात काल-गणनाओं की 'मणिमाला' गुम्फित की है। केवल 'एक' संवत्सर का आश्रय लेकर चलना निर्णायक सिद्ध नहीं होगा। हमारे सामने **युधिष्ठिर-संवत्** की जर्जर स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है।जो विद्वान् उक्त संवत् को माध्यम मानकर आद्य शंकराचार्य के काल-निर्धारण में यत्नशील रहे हैं– वे उस संवत् के मूल बिन्दु [वह संवत् कबसे आरम्भ हुआ] को स्थिर करने में सफल नहीं हुए,उसका सहारा लेकर आद्य शंकराचार्य को इतिहास-शृंखला में कहीं प्रतिष्ठित करना उनके बस का नहीं था,वही हुआ; जिसकी प्रबल सम्भावना थी। हमारे सामने आचार्य उदयवीर शास्त्री की असफलता नितराम् स्पष्ट है। श्रीयुत शास्त्री जी ने युधिष्ठिर-संवत् को ३१४० ई० पूर्व में हठात् स्थिर मानकर, वहीं से गणना करते-करते **युधिष्ठिर-संवत् २६३१** में,अर्थात् ५०९ ई० पूर्व में आद्य शंकराचार्य को ला बैठाया है,जो शंकराचार्य-पीठ के प्रति वशंवद समाज के गले उतरता नज़र नहीं आया। हमें लगता है—**दिवंगत आचार्य उदयवीर शास्त्री ने आद्य शंकराचार्य का समय पहले स्थिर किया है, और युधिष्ठिर-संवत् को तदनुरूप ढाल कर लिखा है**—जो गलत है। युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१४० ई० पू० न पौराणिक है, न ऐतिहासिक। उपजाऊ पृष्ठभूमि के अभाव में श्री शास्त्री जी की कल्पना-वल्लरी कहीं फलती-फूलती नज़र नहीं आई। युधिष्ठिर-संवत् के मुद्दे पर जैन-समाज की स्थिति और अधिक खराब है। जिस रचना में [जिनविजय] 'युधिष्ठिर-संवत्' का उल्लेख है, वह पुस्तक भी कल्पनालोक की लायब्रेरी में रखी हुई है; उस पर कोई विचार करे, तो क्या करे ?

बात घूमफिर कर युधिष्ठिर-संवत् से हटकर सप्तर्षि-संवत् की ओर मुड़ जाती है। हालांकि उसका उल्लेख कहीं नज़र नहीं आता।

हम पूर्णतया विश्वस्त हैं कि पौराणिक इतिहास तथा तत्परवर्ती लौकिक इतिहास के लिए **'सप्तर्षि-संवत्'** ही सर्वमान्य काल-गणना रही है। सम्राट्-अशोक के नितान्त समकालीन देवसेन वाकाटक ने सप्तर्षि संवत् २० = प्राचीन शक ३८० का प्रयोग किया है वर्तमान प्रचलित शक-संवत् के संस्थापक : **शकारि = विक्रमादित्य = साहसांक के प्रथम वंशकृत महाराजा प्रमर को सप्तर्षि संवत् ३७१० का व्यक्ति माना जाता है**। सप्तर्षि-संवत् ३७१० का मतलब है—६६ ई० पूर्व का साल। उससे हटकर 'राजतरंगिणी' के यशस्वी लेखक महामति कल्हण पण्डित ने लौकिक संवत्: **वास्तव में सप्तर्षि-संवत्**-का प्रयोग किया है। ये सब बातें विस्तार-पूर्वक पुनः लिखने का एक मात्र उद्देश्य यह है कि जिस ऐतिह्य माहौल में आद्य शंकराचार्य का अवतरण हुआ, वह **सप्तर्षि-संवत् का** 'प्रयोग-बहुल' युग था। उस समय के इतिहास के लिए सप्तर्षि-संवत् को छोड़कर किसी अन्य संवत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अगर **सचमुच उस समय का इतिहास युधिष्ठिर-संवत् में लिखा मिल जाय तथा उसका कोई स्थिर बिन्दु मिल जाय तो यह बहुत बड़ा चमत्कार हो जाय !** हम जानते हैं—यह चमत्कार होने वाला नहीं है।

हम 'अधुनातन' इतिहास की बात कर रहे हैं। हम अधुनातन इतिहास की सीमा कुषाण-उत्तरवर्ती समय से मानते हैं। कुषाणकालीन इतिहास—**७१ ई० पूर्व से ९९ ईसवी संवत्** तक तथा तत्पूर्ववर्ती इतिहास को हम 'प्राचीन

इतिहास' ठहराते हैं । **चूँकि आद्य शंकराचार्य कुषाणयुग के ठीक बीचों-बीच हुए हैं**—अतः उनका काल-निर्धारण सप्तर्षि-संवत्, प्राचीन शक-संवत् अथवा युधिष्ठिर-संवत् में से किसी एक संवत् को आधार मान कर लिखा जाना उचित होगा, वह युगानुरूप भी होगा और यथार्थ भी होगा । खेद है युधिष्ठिर-संवत्-अपनी मौलिकता खो चुका है । **प्राचीन शक-संवत् के संकेत मिलते हैं** । आगे चलकर जिसका हम उल्लेख करनेवाले हैं । अलबत्ता हम भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारण हेतु सप्तर्षि-संवत् की तलाश में तत्पर हैं ।

दुर्बोध षड्यन्त्र

हम यह मानकर चलते हैं कि शुभेच्छा से किया गया कोई सुकर्म भी—यदि उसमें बुद्धियोग का नितान्त अभाव है—षड्यन्त्र के रूप में आसानी से परिवर्तित हो जाता है, हालाँकि वह षडयन्त्र होता नहीं है । इस बात के समर्थन में हम एक घटना को उद्धृत करना नितान्त आवश्यक समझते हैं । यथा—

"गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित मासिक पत्र 'कल्याण' के ११ वे वर्षीय अंक ८ में पण्डित इन्द्र नारायण द्विवेदी का एक सारगर्भित लेख छपा है, जिसका एक अनुच्छेद रहस्यपूर्ण है । यथा—

> "इस ताम्रपत्र में लिखा है कि गुजरात के महाराज सर्वजिद् वर्मा ने द्वारिकाजी के द्वारिकापीठ के स्वामी श्री नृसिंहाश्रम महाराज को दिया है। दानपत्र में शारदापीठ के सर्वप्रथम आचार्य श्रीसुरेश्वर-शंकराचार्य से लेकर श्री नृसिंहाश्रम-शंकराचार्य तक २८ आचार्यों के शासनकाल का विस्तृत वर्णन है । उस दान-पत्र में श्री सुरेश्वराचार्य के शासन के सम्बन्ध में युधिष्ठिर-संवत् २६४९ लिखा है, उसके शासनकाल का समय ४२ वर्ष लिखा है । दसवें आचार्य के सम्बन्ध में शासनारम्भ युधिष्ठिर-संवत् ३०४० और शासककाल १५ वर्ष तथा शासन के अन्त में **विक्रमसंवत् ९** का उल्लेख है ।"

षड्यन्त्र का रहस्य इसी में है । कालगणना का विभ्रम भी यहीं से टूटेगा और गणना का सूत्र भी यहीं से मिलेगा ।

अनुमान है, महाराजा सर्वजित् वर्मा की स्थापित 'विद्वत्परिषद्' निश्चयपूर्वक अनेक विद्याओं में पारंगत रही होगी । **उनमें से एक-दो विद्वान् काल-गणना में निष्णात भी रहे होंगे**—यह पक्की बात है । जब भगवान् नृसिंहाश्रम-शंकराचार्य के लिए दानपत्र तैयार किया गया होगा, उस समयतक 'सप्तर्षि-संवत् दुर्बोध्य और अप्रचलित हो गया होगा । हमारे सामने यह अनुमान भी है कि राजा सर्वजित् की विद्वत्सभा ने परामर्श करके पूर्वागत, परम्परा-प्रसिद्ध **सप्तर्षि-संवत् को युधिष्ठिर-संवत् में परिवर्तित करने का सत्प्रयास किया होगा** । अवश्य किया होगा ।

पुराण-शास्त्रों में युधिष्ठिर का 'शासन-काल' सप्तर्षि-संवत् में लिखा है । जैसे कि 'सप्तर्षि-संवत् को आधुनिक किसी काल-गणना में परिवर्तित करने के फार्मूले ईजाद हो चुके हैं । सटीक अनुमान यह भी है—सर्वजित् वर्मा के कोविद-समाज ने सप्तर्षि संवत् को युधिष्ठिर-संवत् में ढालने का कोई-न-कोई फार्मूला सोचा होगा । तदनुसार सप्तर्षिसंवत् को युधिष्ठिर-संवत् में रूपान्तरित भी किया होगा । तथाकथित कोविद-समाज के सामने निम्नलिखित पुराण-पाठ वर्तमान थे । यथा—

पाठान्तर

१. एतत् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम् ॥ १०१५ = ३१४८ ई० पू० ।

२. एतद् वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम् ॥ १०५० = ३१४८ ई० पू० ।

३. एतद् वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्च-शतोत्तरम् ॥ १५०० = ३१४८ ई० पू० ।

४. एतद् वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चशत-त्रयम् ॥ १५०० = ३१४८ ई० पू० ।

५. एतद् वर्ष सहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥ १११५ = ३१४८ ई० पू० ।

अनुमान-दर-अनुमान यह है कि तथाकथित कोविद-समाज ने पञ्चविध-पाठान्तरों में से 'अन्तिम पाठान्तर को सामने रखलिया होगा और ११०० न्यूनकर उसे **सप्तर्षि-संवत् को हठपूर्वक युधिष्ठिर-संवत् मान लिया होगा,** जो वास्तव में था नहीं। यह अज्ञान-प्रेरित शुभायोजन षड्यन्त्र में पलट गया है—इस सच्चाई को कौन समझेगा ?

बात स्पष्ट हो गई है। सर्वजित् वर्मा के दान-पत्र से उद्भूत घनध्वान्त के निवारणार्थ उसी प्रक्रिया को अपनाना होगा जिससे सच्चाई समझ में आ सके। यथा—

भगवान् आद्य-शंकराचार्य का जन्म २६३१ + ११०० = ३७३१ स० संवत् में हुआ होगा, विज्ञानसिद्ध यही निर्णय ही अनुमेय है।

अत्र न भूलने योग्य बात यह है कि यह सप्तर्षि-संवत् **काश्मीर-सम्प्रदायानुरूप** है। उसी पद्धति से उसे समझना होगा। उस उपलब्ध संख्या को ईसवी पूर्व में पलटने की दो विधियाँ हैं—१. सुगम विधि और २. जटिल विधि। हम दोनों का प्रयोग सामने रख लेते हैं।

अथ सुगम विधि—

किसी भी वांछित या उपलब्ध संख्या में से ६२८ वर्ष घटाने चाहिए। क्यों ? **क्योंकि राजतरंगिणी के अनुसार ६२८ सप्तर्षि-संवत् में भारत-संग्राम घटित हुआ;** और उस समय ३१४८ ई० पूर्व का समय था। अतः ऊनीकृत संख्या को ३१४८ ई० पूर्व से पुनः घटाया, **जो परिणाम मिलेगा वही यथार्थ होगा।**

[क] सप्तर्षि-संवत् ३७३१ में भगवान् शंकराचार्य ने जन्म लिया।

[ख] उक्त संख्या से ६२८ घटाए : ३७३१ – ६२८ = ३१०३ शेष।

[ग] ई० पू ३१४८–३१०३ = ४५ ई० पूर्व में गुरुपादावतरण यथार्थ है।

यही ऐतिह्य तत्त्व है। इसी प्रकार पूरी काल-शृंखला समझी जा सकती है।

अथ जटिलविधि

किसी भी वांछित संख्या में ११०० जमा किये। समझ लो, हमने युधिष्ठिर-संवत् को सप्तर्षि-संवत् में परिवर्तित कर लिया है। **अब पूर्वोक्त पद्धति को प्रयोग में लाना होगा।** उपलब्ध संख्या में ७ जमा किए। इस संवृद्ध संख्या को ३७६५ से पुनः घटाया। पुनरुपलब्ध संख्या में १८ वर्ष पुनः जमा किए। यथा—

१.[क] भगवान् आद्य शंकराचार्य का जन्म : २६३१ युधिष्ठिर-संवत्।

[ख] उक्त संख्या में ११०० जमा किए : **२६३१ + ११०० = ३७३१ सप्तर्षि–संवत्।**

२.[क] सप्तर्षि-संवत् में ७ जमा किए : ३७३१ + ७ = ३७३८ सामान्य संख्या।

[ख] सामान्य संख्या को ३७६५ से घटाया; ३७६५-३७३८ = २७ सा. संख्या।

[ग] पुनरुपलब्ध संख्या में १८ जमा किए। **२७ + १८ = ४५ ई० पूर्व का साल।**

सुगम विधि से प्राप्त संख्या : ४५ ई० पूर्व तथा जटिलविधि से प्राप्त संख्या ४५ ई० पूर्व एकमेव फलागम में सन्निहित है; **अतएव सर्वाङ्गतः यथार्थ हैं।**

गहन चिन्तन/मनन

हम विगत अध्यायों में पढ़ चुके हैं कि सप्तर्षि-संवत् १११५ में राजा परीक्षित् का जन्म हुआ। परन्तु महाभारत संग्राम उससे कुछ मासपूर्व घटित हो चुका था। अतः **भारत-संग्राम काल के लिए १११५ वर्ष योजना गणना के विपरीत**

पड़ता है। एतदर्थ सप्तर्षि-संवत् १११४ उपयुक्त है। इस संख्या में संसर्पकाल के १८ वर्ष सन्निविष्ट करने पर १११४+१८=११३२ उपयुक्त है। कालविज्ञान की इस बारीकी को स्थितप्रज्ञता से सोचने की आवश्यकता है। यह वर्ष ३१४८ ई० पूर्व के समकक्ष है। इससे २६०० वर्ष पश्चात् आद्य शंकराचार्य अवतरित हुए। गणना का चित्र इस प्रकार है—

११३२+२६००=	ई० पूर्व ३१४८—२६००=५४८
३७३२ सप्तर्षि-संवत्	पुनः ५४८—५०५=४३ ई० पू०

विदित हो, सप्तर्षि-संवत् के दो सम्प्रदाय हैं। एक काश्मीर-सम्प्रदाय तथा दूसरा पटना-सम्प्रदाय, जैसा कि प्रथम अध्याय में लिख आए हैं। इन दो सम्प्रदायों में ५०५ वर्षों का अन्तराल है। यथा—

ई० पू० ३१४८=भारत-संग्राम=स. सं. [क] ६१० स० सं० [ ]प ११११५

[अन्तराल ५०५ वर्ष]

सर्वत्र गणना का यह विधान प्रचलित है। परन्तु—

१. कल्हण पण्डित ने सर्वत्र [राजतरंगिणी में] मूल संख्या में [६१० वर्षों में] संसर्पकाल के १८ वर्ष सन्निविष्ट रखकर सप्तर्षि संवत् ६२८ में भारत-संग्राम माना है।

२. अन्य पुराण-शास्त्रों में [विविध पाठान्तरों को ध्यान में रखकर] **सप्तर्षि-संवत् ६१०+५०५=१११५ में भारत-संग्राम का घटित होना माना है।** [एतद् वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ।] **संसर्प-काल के १८ वर्ष जोड़ने पर १११५+१८=११३३ सप्तर्षि संवत् सिद्ध होता है!**

परन्तु एक वर्ष पीछे हटने पर : १११४+१८= **११३२ सप्तर्षि-संवत्** प्रकट होना चाहिए; प्रकट हुआ है—[२६] ३१ युधिष्ठिर-संवत्। तब हम युधिष्ठिर-संवत् में ११०१ वर्ष जोड़कर **३७३२ सप्तर्षि-संवत्** ठहराकर गणना करेंगे। यदि हम उक्त गणना को ज्यों का त्यों सामने रख लें, तो १-साल की भूल सुधर जाती है। यथा—

[क] ३७३१-६२८ घटाए=३१०३ सामान्य वर्ष।

[ख] ई० पू० ३१४८-३१०३=४५ ई० पू० में आद्य शंकराचार्य हुए

का जन्म वर्ष ठहराना अशुद्ध नहीं है। बस इतना समझ लीजिए कि ४५=०० गणना करनी होगी।

हमने समझ लिया है—भगवान् शंकराचार्य का सामयिक इतिहास ईसवी पूर्व प्रथम शती का है। हमारा सार्थक अनुमान है : गुजरात के सर्वजित् वर्मा ने शंकराचार्य की काल-क्रमावली में जो संशोधन या उलटफेर किया है, हम उसी को हृदयंगम करके उस संशोधन को वापिस पलटकर एक सारिणी उपस्थित करते हैं। यथा—

००=	**+११०१=**	**+७=**	**-३७६५=**	**विवरण**	**+१८=**
युधि० संवत्	**सप्तर्षि सं०**	**जमा किए**	**घटाया**	**— —**	**ईसवी पूर्व**
२६३१	३७३२	३७३९	२६	भगवान् शंकर का आविर्भाव	४४
२६३६	३७३७	३७४४	२१	उपनयन संस्कार	३९
२६३९	३७४०	३७४७	१८	संन्यास दीक्षा	३६
३६४०	३७४१	३७४८	१७	श्री गोविन्दपाद से शिक्षा इत्यादि।	

महद् विश्लेषण [१]

१. हमारी यह गणना ठीक-ठीक गतिशील है ? या नहीं ? यह परखने के लिए इसे सुगमविधि से शलाका परीक्षा करके परखते हैं। ३७३१ सप्तर्षि में से घटाया ६२८, शेष रहे—३१०३ सामान्यवर्ष, पुनः ई० पूर्व **३१४८-३१०३ = ४५ ई० पू०** सिद्ध हुआ।

महद् विश्लेषण [२]

हमने अनुसन्धान की जो जटिल प्रणाली अपनाई है, यह वस्तुगत 'अनुसन्धान' है ? या केवल आंकड़ों का ही गोरखधन्धा है ? हम स्वयं इसकी परीक्षा करते हैं।

शतपथब्राह्मण के प्रसिद्ध टीकाकार **हरिस्वामी** ने—जो भगवान् शंकराचार्य का नितान्त समकालीन है—अपना रचनाकाल इन शब्दों में लिखा है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।

चत्वारिंशत् समाश्चान्याः तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितुः।

धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति॥

इन श्लोकों के अर्थाधान में गत ६० वर्षों से कोविद-समाज में विवाद छिड़ा हुआ है। श्लोक में दो शब्द ऐसे हैं—**कलि** और **विक्रमादित्य**—जिन पर सारा विवाद धुरीभूत है। विद्वानों ने समझ लिया है, कलि से तात्पर्य कलि-संवत् से है, जो महाभ्रान्ति का सूचक है। 'कलि-संवत्' अशुद्ध है और आधुनिक है। प्राक्तन काल में मात्र कलि का उल्लेख वर्जित था। कलि के साथ 'युग' का उल्लेख प्रचलित था। उक्त हरिस्वामी के सन्दर्भ में 'कलि' पढ़कर पण्डित-समाज ने उसका मतलब—**ईसवी संवत् ६३९**—समझ लिया और सबने अपने-अपने एकेडेमिक करतब दिखाने शुरु कर दिए। दूसरा शब्द है—विक्रमादित्य, जिसने सभी पण्डितों पर संमोहक असर छोड़ा है। लग गए सभी अनुसन्धानिक व्यायाम करने। इस प्रसंग में सर्वप्रथम एकेडेमिक विडम्बना के शिकार हुए दिवंगत डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप [प्रिंसिपल ओरिएण्टल कालिज, लाहौर] ! 'कलि' और 'विक्रमादित्य' के जोड़-जुगाड़ में उन्होंने अपने करतब दिखाए। श्रीयुत सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे ने उन पर जो टिप्पणी लिखी है, हम उसे ज्यों-का त्यों उद्धृत करते हैं—

"प्रथम लेख लिखने के समय डॉ० लक्ष्मणस्वरूप इस भ्रम में थे कि कलियुग का आरम्भ ई० सन् पूर्व ३२०२ से होता है। इस भ्रान्तकल्पना के आधार से गणना करने पर इस श्लोक में दिया हुआ समय ई० सन् का ५३८ वाँ वर्ष निकला और डॉ. महोदय ने ई० सन् ५३८ के आसपास हूणाधिपति मिहिरकुल को गहरा पराजय देने वाले मालवे के एक सबल राजा यशोधर्मन् से हरिस्वामी के विक्रमादित्य एक व्यक्तित्व मान लिया। किन्तु कुछ समय के पश्चात्, अन्य संशोधकों के लिखने पर उन्हें सूझ आई कि यथार्थ में कलि का आरम्भ ई० सन् पूर्व ३२०२ से नहीं, किन्तु ३१०२ से होता है, तथा इस हिसाब से उक्त श्लोक में निर्दिष्ट समय ई० सन् से ६३८वें वर्ष से ऐक्य पाया जाता है। इतिहास के अनुसार इस समय के आसपास उज्जयिनी में किसी विक्रमादित्य का होना पूर्णतया असम्भव है, क्योंकि कन्नौज का हर्षवर्धन ई० सन् ६०६ से ६४८ तक निर्विवाद रूप से समग्र उत्तरीय भारत का सम्राट् था एवं सब ऐतिहासिक प्रमाण इस पक्ष में है कि प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन इन तीनों की विजय परम्परा से मालवे का स्वतन्त्र अस्तित्व ही इस समय तक नष्ट हो चुका था और पूर्व तथा पश्चिम मालवा दोनों कन्नौज-साम्राज्य के घटक प्रान्त बन गए थे। ऐसी अवस्था में समय-निर्देशक श्लोक उसके सीधे अर्थ के अनुसार एक निरर्गल प्रलाप से अधिक महत्त्व

नहीं रखता और उस पर आधारित सब निष्कर्ष अन्तरिक्ष में लीन हो जाते हैं। किन्तु जान पड़ता है कि हरिस्वामी को यशोधर्मन् की राजसभा में बैठाने का बीड़ा डॉ. लक्ष्मणस्वरूप उठा चुके थे। अतः उन्होंने उसके ऊपर निर्दिष्ट दूसरे लेख में इन कठिनाइयों का सामना इस श्लोक के इस पाठ को अशुद्ध बताकर, उसके लिए केवल अपनी कल्पना से निम्नलिखित नवीन पाठ सुझाते हुए किया—

"यदाब्दानां कलेर्जग्मुः षड्त्रिंशच्छतकानि वै।

चत्वारिंशत्समाश्चान्याः तदा भाष्यमिदं कृतम्॥"

जिससे भाष्य रचना के समय ठीक सौ वर्ष पीछे ई० सन् ५३८ में अर्थात् यशोधर्मन् के शासनकाल में आ जाये! उन्होंने इस सम्बन्ध में यशोधर्मन् का पक्षपात यह कहकर भी किया कि हरिस्वामी के विक्रमादित्य का 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण केवल मालवे व मध्यभारत का आधिपत्य करने वाले यशोधर्मन् को ही लागू पड़ता है न कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को जो समग्र उत्तरी भारत का सम्राट् था।"

डॉ. लक्ष्मणस्वरूप 'परप्रत्ययनेय' बुद्धि थे। लगता है, अपने भ्रष्ट लक्ष्य को स्वस्थ लक्ष्य सिद्ध करने के लिए डॉ. लक्ष्मणस्वरूप दो बुराइयों में से एक : कलि-संवत् को ३२०२ ई० पूर्व में स्थिर करना; दो : पाठपरिवर्तन का दुःसाहस—किसी एक बुराई को चुनने के लिए आमादा थे। उन समकालीन चुने हुए पण्डितों ने उन्हें एक जीती-जागती मक्खी निगलने से रोका। परन्तु उनके 'दुःसाहस' के दमन के लिए कोई पण्डित मैदान में नहीं उतरा। शायद, वे लोग डॉ० लक्ष्मणस्वरूप के नहीं, उनकी प्रिंसिपल-कुर्सी के दबाव में आ गए। श्रीसदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे ने उनपर जो कठोर, किन्तु तार्किक टिप्पणी लिखी है, डॉ. स्वरूप उसके सर्वथा पात्र थे।

प्रकृत लेखक कुछ और सोचता है। दूसरे लोगों पर उनके दोष-गिनाने के लिए जो लोग बाग उंगली उठाते हैं; वे स्वयं कितने निर्दोष हैं? अनुभव में आया है—अपनी गलती या अपराधों पर पर्दा डालने के लिए, जरूरी है, अपनी समकक्षता में खड़े [लेखक, साथी या व्यापारी] समानधर्मा लोगों की गलती या अपराधों को पूरे ज़ोर-शोर से उजागर किया जाय। डॉ. लक्ष्मणस्वरूप की मनमानियों पर जितना कहा जाये, उतना कम है; परन्तु पण्डित सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे कितने दूध के धुले हैं? इस पर किसने सोचा है? वैदिक ऋषि हरिस्वामी के काल बोधक संदर्भ पर मनमानीवृत्ति का मुलम्मा चढ़ाते हुए श्री कात्रे महाशय लिखते हैं :

"वस्तुस्थिति कुछ भी हो, हरिस्वामी का रूख, जैसा कि ऊपरनिर्दिष्ट किया जा चुका है, मुख्य अर्थात् संवत्प्रवर्तक माने जाने वाले 'विक्रमादित्य' की ओर होना ही प्रतीत होता है। और इस दृष्टि से विचार किया जाये तो उक्त समयनिर्देशक श्लोक का अर्थ, उपस्थित पाठ को लेशमात्र भी परिवर्तित न करते हुए किन्तु केवल पदच्छेद और अन्वय निम्नलिखित रीति से करते हुए अधिक समीचीन किया जा सकता है:

मूलपाठः	**अन्वयः**
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।	**यदा कलेः अब्दानां त्रिंशच्छतानि,**
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदाभाष्यमिदं कृतम्॥	**सप्त, अन्याः चत्वारिंशत्, समाः च जग्मुः।**
	तदा वै भाष्यमिदं कृतम्॥

'सप्त' और 'त्रिंशच्छतानि' इन पदों को पृथक् करने पर समग्र वर्ष संख्या कलि के आरम्भ से ३०४७ होती है, ३०४० नहीं। यह लेख लिखने के समय कलि वर्ष ५०४६ तथा विक्रम संवत् का वर्ष २००१ चालू है। अर्थात् कलिवर्ष ३०४५ में विक्रम संवत् का प्रादुर्भाव हुआ था, इस अर्थ के अनुसार अपने

शतपथ भाष्य की रचना विक्रम-संवत् के तीसरे वर्ष के आसपास अर्थात् संवत्प्रवर्तक मूल विक्रमादित्य के ही शासनकाल में पूर्ण होना सूचित करते हैं ।"

—विक्रम स्मृतिग्रन्थ : पृष्ठ ३८३

इसे कहते हैं 'चोर नाले चतुर' । लिखा है: "उसमें न तो किसी विद्यमान पाठ का ही गला घोंटा गया है न संस्कृत के किसी व्याकरण के नियम को ही भंग किया गया है ।" अपनी बात की परिपक्वता के लिए उन्हें लगा कि कुछ और लिखना चाहिए, लिखा : "अथवा ज्योतिर्विदाभरण के समयनिर्देशके सदृश केवल कल्पना के गणित की सहायता से किया गया है ।"

ठीक है । एकेडेमिक लाठीचार्ज के बाद बयान देना—'कुछ हुआ ही नहीं' ठीक यही प्रयोग श्री कात्रे महाशय ने किया है । शाब्दिक तलवार बाजी के बाद गिरे खून के कतरे, श्रीकात्रे महाभाग को होली का हुड़दंग नज़र आता है । ज्योतिःशास्त्र की गणना को 'कल्पना का गणित' वही कह सकता है; जिसे गणित से कभी वास्ता नहीं पड़ा । मुझे कात्रे महोदय की तलवारबाजी पर कुछ नहीं कहना; उनके इस अनुसन्धान से मुझे कितनी चुभन हुई है—कुछ नहीं कहना । अपनी पीड़ा को मूर्तरूप देने के लिए उर्दू का यह शेर उद्धृत करना प्रासंगिक है—

"इक चाक हो तो सी लूं या रब ! गिरेबाँ अपना ।

ज़ालिम ने फाड़ डाला है, तार-तार करके ।"—कश्चित्

कात्रे महाशय को क्षमा । पूरी तरह से क्षमा । क्योंकि हम जानते हैं—वे लब्धप्रतिष्ठ व्याकरणवेत्ता नहीं है; यह भी हमें मालूम है—श्री कात्रे इतिहास के धनी-धोरी पारंगत विद्वान् भी नहीं है; श्री कात्रे हिमालय की चोटी पर बैठे गणितज्ञ भी नहीं हैं—यह सबको ज्ञात है । हम एक अन्य पीड़ा से मरे जा रहे हैं । जब हमें ज्ञात हुआ—**महामहोपाध्याय, पण्डित-पंक्ति-पावन श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक** पण्डित सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे को उद्धृत कर उनके साथ खड़े हो गए हैं और लिखते हैं:

> **"अत्र 'सप्तत्रिंशच्छतानि' इत्यत्र विप्रवदन्ते ऐतिहासिकाः । प्रायेण सर्वे पाश्चात्यमतानुयायिनो विद्वांसः 'सप्तत्रिंशच्छतान्येकं पदं मत्वा ३७४० तमे कलिवत्सरे अर्थात् ६९५ वैक्रमाब्दे भाष्यं रचितमित्याहुः । परन्तु 'पण्डित सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे' नाम्ना विदुषा सप्तेति पदमसमस्तं स्वीकृत्य ३००७ + ४० = ३०४७कलिवत्सरेऽर्थात् वैक्रमाब्द प्रवर्तनाद् वर्षद्वयपूर्वं हरिस्वामिना भाष्यमिदं विरचितम् इति मतमुपन्यस्तम् । ३७४० कलिवत्सरे (६९५ वैक्रमाब्दे) अवन्त्यां विक्रमनामा कश्चिदपि राजा नासीदिति सर्वसम्मतम् । तथा सति कात्रे महोदयस्य व्याख्यानमेव युक्तमिति वयं पश्यामः ।"**

—निरुक्तसमुच्चयः द्वितीयावृत्तेर्भूमिका

यह सब पढ़कर हम दुःख के गहन सागर में डूब गए । हम दिवंगत व्याकरणमूर्ति पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के प्रति अतीव निष्ठा वशंवद हैं । हम उनके बारे में कुछ न लिखकर उस दिव्यात्मा से यह तो पूछ ही सकते हैं कि—**यदि 'सप्तत्रिंशतृछतानि' पाठ असमस्त है और ठीक है तो हम यह पूछने का अधिकार तो रखते हैं कि आखिर ३७०० की संस्कृत क्या है ? शर्त यह कि संस्कृत 'एक पदात्मक' होनी चाहिए ।**

उक्त हरिस्वामी के कालबोधक श्लोक पर हम क्या सोचते हैं ? इतना पूछने का हमारे विवेकशील पाठक का अधिकार है । यही सोचकर हम अपने अनुसन्धात मन्तव्य को कई भागों में विभक्त करते हैं । यथा—

—प्रथम भाग—

यदि कालबोधन किसी सन्दर्भ में संख्यावाचक शब्द असमस्त हैं, तो उसे सविभक्तिक होना चाहिए, निर्विभक्तिक नहीं। जैसा कि ऐहोल शिलालेख में पढ़ा गया है। यथा—

"त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।

सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु।

पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतेषु च।

समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥

—ऐहोल शिलालेख

सभी संख्यावाचक शब्द विभक्तिसहित हैं। इसमें एक पद समस्त है : '**सप्ताब्दशतयुक्तेषु**"—इसी पर विवाद खड़ा हो गया है। इसका अर्थ ७०० होगा? या फिर १०७ होना चाहिए—यही विवाद है।

यदि सभी संख्यावाचक पद अलग-थलग हैं [अर्थात् संयुक्त या समस्त नहीं हैं] तो उस स्थिति में 'च' की अहम् भूमिका अपेक्षित रहती है। यथा—

"**शतानि तानि दिव्यानि सप्त पञ्च च संख्यया।**"—विष्णुपुराण

७ + ५ = १२ लिखना अभीष्ट था; यहाँ संख्या को पृथक्-पृथक् स्थापित किया और '**च**' खाते में डाल दिया।

हरिस्वामी के कालबोधक 'शब्द' ३७४० का ही अर्थाधान संप्रेषित करता हैं।

—द्वितीयभाग—

हरिस्वामी के श्लोक में '**कलि**' शब्द भ्रामक हैं। चूंकि अधुनातन विद्वानों ने 'कलि-संवत्' का अभिज्ञान हासिल कर लिया है, अतः सर्वत्र 'कलि' पद पढ़कर कलि-संवत् ०० = ३१०१ ई० पूर्व से गणना आरम्भ कर देते हैं। हरिस्वामी के श्लोक के साथ भी यही मिथ्याचार प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'कलि' शब्द कलियुग का वाचक है, कलि संवत् का नहीं। इसके लिए एक ज्वलन्त उदाहरण। ऐहोल-शिलालेख में भी '**कलौकाले**' यही पाठ है। स्पष्ट हो, डॉ. कीलहार्न ने कलिकाल से 'कलिसंवत्' का अर्थ-संदोहन कर जो अर्थ प्रख्यापित किया है, वह ऐतिहासिक होने पर भी अनैतिहासिक है।

यथा—

[क] कलि संवत् ३७३५—[—३१०१ ई० पूर्व] = **६३४ ईसवी;**

[ख] शक संवत् ५५६ [+ ७८ ईसवी] = **६३४ ईसवी।**

काल-गणना विषयक तालमेल भी ठीक है और ६३४ ईसवो में पुलकेशिन तथा हर्षवर्धन में घटित संघर्ष भी रेखांकित हैं। **परन्तु ३१०१ ईसवी पूर्व में भारत-संग्राम का होना असम्भव है**—यही इस अर्थ की अनैतिहासिकता है। कहने का मुद्दा यह है कि ऐहोल-शिलालेख में '**कलियुग**' तो है, पर '**कलिसंवत्**' विचाराधीन नहीं है। ऐहोल शिलालेख में '**भारत-संग्रामसंवत्**' है, जो ई० पूर्व ३१४८ से आरम्भ होता है। तदनुसार—

[क] भारत-संग्राम- संवत् ३७३५—[३१४७ =] = **५८८ ईसवी संवत्।**

[ख] शक-संवत् [शालि.] ५५६ + [३२] = **५८८ ई० संवत्॥**

विदित हो ३२ ई० संवत् से चलने वाला शक-संवत् "इन्द्रप्रस्थीय राजावली' के अनुसार है, जिसे आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी रचना 'सत्यार्थ प्रकाश' में उद्धृत किया है ।

हमारा सुपरीक्षित अभिमत है कि हरिस्वामी के कालबोधक श्लोक में '**कलि**' का उल्लेख तो है, परन्तु यह '**कलि-संवत्**' कदापि नहीं है । वहाँ कलि-संवत् की खोज करते-करते डॉ. लक्ष्मण स्वरूप तथा पण्डित सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे फिसल गए हैं ।

—तृतीयभाग—

पुराणशास्त्रों में इतिहास को रेखाङ्कित करती काल-शब्दावली में दो पद गौर तलब हैं । एक है '**वर्षाणि**', दूसरा है—**समाः** । पहले इनके कुछ-एक उदाहरण सामने रख लें, तभी विश्लेषण करने में सुविधा रहेगी । यथा—

समाः [१] त्रयोविंशत्**समा** राजा शिशुकस्तु भविष्यति ।

[२] पञ्चशतैः **समाः** षट् च शातकर्णिर्भविष्यति ॥

वर्षाणि [१] दश चाष्टौ च मेघस्वातिर्भविष्यति ।

[२] नवविंशति **वर्षाणि** यज्ञश्रीः शातकर्णितः ॥

—ब्रह्माण्डपुराण तथा मत्स्यपुराण

यदि आधुनिक संस्कृत की तरफ जायें तो मामला गड़बड़ नज़र आता है । संस्कृत-जगत् में ख्यातिप्राप्त शब्दकोश : **हलायुध** में यह पाठ पढ़ने को मिलता है;

"हायनाब्द-शरद्-वर्ष-संवत्सर-समाः समाः ।"

अर्थात् हायन, अब्द, शरद्, वर्ष, संवत्सर तथा समा—ये सब समानार्थक है ।

अर्थात् 'वर्ष और 'समाः को एक साथ कूड़ेदान में डाल दिया है । किन्तु **प्राचीन संस्कृत में ऐसा नहीं था**; विशेषतः पुराणशास्त्रों में तो हरगिज़ नहीं था । जहाँ तक १२ मासीय घटक का सवाल है, 'वर्ष' जिस इकाई को सूचित करता है, अर्थाधान के विधान वही अर्थ 'समाः' से भी मिल जाता है । परन्तु **गणना-सूचक अंकों के साथ 'वर्षाणि' किसी कालिक सीमा का उद्बोधन नहीं कराता जितना कि 'समाः' शब्द परम्परागत संवत् की निम्नावधि का संकेत देता है** । यथा—

वर्षम् पिछली पंक्तियों में पढ़ आए हैं : 'दश चाष्टौ च वर्षाणि मेघस्वातिर्भविष्यति ।' यहाँ १८-वर्ष केवल १२ मासीय १८ घटकों से हमें परिचित कराता है, किसी विशेष कालिक सीमा से नहीं ।

समाः इसके विपरीत 'समाः' शब्द परम्परागत कालशृंखला की एक अवधि-जो हमारी दृष्टि में वह अवधि निम्न तक होनी चाहिए—को हमारे सामने रखता है । यथा—'पंचाशतैः समाः षट्च शातकर्णिर्भविष्यति ।' यहाँ ५६ से प्रयोजन सप्तर्षि-संवत् ५६ से है ।

इस विश्लेषणात्मक परिचय को देखते हुए हरिस्वामी के श्लोक में पठित इस पाठ : **"चत्वारिंत्समाश्चान्याः'**— का अर्थ है : **सप्तर्षिसंवत् ४० = ३७४०**; यही समझ कर हम सप्तर्षि-संवत् ३७४० का उभयरीति से अर्थ-सन्दोहन करेंगे ।

सुगम विधि ३७४० में से ६२८ स० सं० को घटाया : ३७४०-६२८ = ३११२ सामान्यवर्ष ।

पुनः ई० पूर्व ३१४८ से घटाया : ३१४८-३११२ = ३६ ई० पूर्व का साल ।

—जटिलविधि—

००=	—	+	७ =	—३७६५ =	विवरण	+१८=
युधि० संवत्	सप्तर्षि सं०		जमा किए	—घटाया	— —	ई० पूर्व
?	३७४०		३७४७	१८	हरिस्वामी का रचनाकाल	३६ ई० पू०

हमने श्री मच्छंकराचार्य की काल-क्रमावली को बीच में रोककर 'शलाका-परीक्षा' द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हरिस्वामी आद्य शंकराचार्य का नितान्त समकालीन व्यक्ति है। हरिस्वामी पौराणिक परम्परा के अनुसार **३७४० सप्तर्षि-संवत्** का प्रयोग कर रहा है। और हमने युधिष्ठिर-संवत् में ११०१ जमा करके उसे जो सप्तर्षि-संवत् की वैज्ञानिक परिणति प्रदान की है, वह कल्पना-जगत् की वस्तु नहीं है, बल्कि हरिस्वामी द्वारा दिखाई गई युगानुरूप, परम्परागत काल-गणना का ही उदाहरणान्तर है।

दानपत्र में लिखा है—सुरेश्वराचार्य का मठाधिपत्यकाल ४२ वर्ष है। हमारी संशोधित काल-क्रमावली से इस बात की पुष्टि नहीं होती। **ई० पूर्व २६ + ईसवी १६ = ४२ सामान्य वर्ष**—इतना भर लिखने मात्र से कालिक गांठ खुलने वाली नहीं हैं। इसके विपरीत एक दुर्गम घाटी सामने नज़र आ रही है। शृंगेरी मठ में सुरक्षित एवं प्राचीनतम दस्तावेज़ में यह पढ़ने को मिलता है कि **शालिशक ६९५ में सुरेश्वराचार्य-काल समाप्त हुआ**। जब तक इस शालि शक के फलितार्थ के साथ चर्चित ४२ वर्षों का तालमेल नहीं बैठ जाता, तब तक कालिक समस्या जीवित रहेगी।

शालिशक ६९५ का रहस्योद्घाटन प्रासंगिक है। हम पौराणिक स्वाध्याय के बलबूते पर ठीक-ठीक पहचान रखते हैं कि—

प्रथम शालिवाहन ने सत्ता-स्थापन से **६५८ ईसवी पूर्व** से प्रथम शक-संवत् चला और प्रजा को ऋणमुक्त करके युधि०[1] सं० २५२६ = **६२२ ई० पू०** से दूसरा शक चला

द्वितीय शालिवाहन ने विक्रमादित्य [२] के पौत्र को जीतकर **३२ ईसवी से शक-संवत्** चलाया[2] और प्रजा को ऋणमुक्त करके **३४ ईसवी से** नया शक-संवत्[3] चलाया।

स्कन्दपुराण के मतानुसार शालिवाहन [शक राजा] के अभिषेक पर्व से शककाल गणना चल निकली। **तब सप्तर्षि-संवत् ३१०० था**। इसे सुगमविधि तथा जटिल विधि से ई० पूर्व सन् में पलटते हैं—

सुगमविधि-	जटिलविधि-
मूल संख्या ३१०० स्थापित की	शक-संवत् स्थापित किया ३१००,
इससे ६२८ को घटाया = २४७२।	उसमें + ७ जमा किए **३१०७**;
फलितार्थ को **३१४८ से पुनः घटाया** −२४७२	इसे **३७६५** से घटाया—
६७६—पुनः १८ घटाया = **६५८ ई० पू०**	**—३१०७ = ६५८ ई० पूर्व**

१. आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवी युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विक पञ्च द्वियुतः (२५२६) शककालः तस्य राज्यश्च॥

२. एतस्मिन्नन्तरे तस्य शालिवाहनभूपतिः।
विक्रमादित्य पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्॥

३. हूणवंशे समुत्पन्नः शालिवाहनभूपतिः।
गन्धर्वसेनतनयः पृथिवीमनृणां व्यधात्॥

इतना विस्तृत लिखने से हमारा प्रयोजन केवल इतना है कि शृंगेरीमठ के दस्तावेज़ी काल संदर्भ ६९५ का तालमेल मूल कालगणना से कितना है ? यदि यह कालगणना वैज्ञानिक है, तब **सुरेश्वराचार्य का निधन ६९५-६५८ = ३७ ईसवी सन् सिद्ध होता है**। इसके दो गणना-पटल सामने आते हैं [१] यदि सुरेश्वर २६ ई० पूर्व में मठाधिपति बने, तब २६ + ३७ = **६३ वर्ष** सिद्ध होते हैं; [२] यदि १३ ई० पूर्व में सुरेश्वर मठाधिपति हुए, तब **१३ + ३७ = ५० वर्ष वे मठाधिपति रहे**। दोनों गणना-पटल से सर्वजित् वर्मा के दानपत्र में लिखित ४२ वर्ष निरस्त हो जाते हैं। इन दोनों परिपाटियों से तीसरे शंकर चित्सुखाचार्य का समय प्रभावित होता है। यथा—

०० =	+ ११०१	+ ७	—३७६५ =	विवरण	ईसवी
युधिष्ठिर सं०	सप्तर्षि	जमा किए	घटाया	— —	—१८ =
२६९१	३७९२	३७९९	३४	ब्रह्मस्वरूपाचार्य	१६
२७१५	३८१६	३८२३	५८	चित्सुखाचार्य	४०
२७७४	३८७५	३८८२	११७	सर्वज्ञानाचार्य	९९
२८२३	३९२४	३९३१	१६६	ब्रह्मानन्दतीर्थ	१४८
२८९०	३९९१	३९९८	२३३	स्वरूपाभिज्ञानाचार्य	२१५
२९४२	४०४३	४०५०	२९५	मंगल मूर्त्याचार्य	२६७
२९६५	४०६६	४०७२	३०७	भास्कराचार्य	२९९
३००८	४१०९	४११६ =	३५६	प्रज्ञानानन्दाचार्य	३३४
३०४०	४१४१	४१४८	३८३	ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	३६५
विक्रम संवत्	२५ [?]	?	?	आनन्दाविर्भावाचार्य	

—कल्याण : वेदान्ताङ्क; पृष्ठ ३०५ के आधार पर संकलित

—अथ विश्लेषण—

१. चतुर्थ स्तम्भ-घटित काल-गणना-जैसे—३७९९-३७६५ = ३४ ईसवी सन् फलित हुआ। **यही परम्परा आगे भी सुचारुरूपेण गणित हुई है**। यही वास्तविक कालगणना है। हमने इसके वैकल्पिक पक्ष पर भी विचार किया है। वह यथार्थ न रहने पर भी विचारणीय है—यह हमारी विनम्र प्रार्थना है।

२. सर्वजित् के दानपत्र में सुरेश्वराचार्य का मठाधिपत्यकाल ४२ वर्ष लिखा है—उसे इस कसौटीपर परखकर देखते हैं। यदि सुरेश्वर संन्यस्त जीवन के आरम्भ में [२६ ई० पू०] मठाधिपति हो गए तो २६ + ३४ = ६० **वर्ष** हो जाते हैं, जो दानपत्र से मेल नहीं रखते। अथवा २६ + १६ = **४२ वर्ष होते हैं, जो ठीक ही नहीं बिल्कुल ठीक हैं**। परन्तु इसकी संगति शककाल से नहीं है। शक-गणना के अनुसार ६९५-६५८ = ३७ ईसवी सन् सिद्ध होता है, जो चतुर्थ स्तम्भ के अनुसार ३४ ईसवी सन् से तीन वर्ष अधिक है ?

[क] २६ + ३७ = **६३ वर्ष होते हैं**।

[ख] १४ + ३७ = **५१ वर्षों का अस्तित्व भी ठीक नहीं है** इस पर और अधिक अनुरान्धान अपेक्षित है।

३. सर्वाधिक रोचक स्थिति ९ ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य तथा १० आनन्दाविर्भावाचार्य के मठाधिपत्यकाल की है। **यहाँ से युधिष्ठिर-संवत् को छोड़ 'विक्रमसंवत्' को आधार मानकर गणना की गई है। यह विक्रम-संवत् नहीं है,**

बल्कि चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य द्वारा स्थापित कालगणना है। आश्चर्य की बात यह है कि इसके भी दो विकल्प मिलते हैं—[१] विक्रम-संवत् ९; [२] विक्रम संवत् २५। ये दोनों शैलियाँ एकमेव फलितार्थ में निहित होती हैं। यथा—सारिणी—

०० =	+ ११०१	+ ७	—३७६५ =	विवरण	ईसवी
युधिष्ठिर सं.	सप्तर्षि सं.	जमाकिए	घटाया	— —	
३०४०	४१४१	४१४८	३८३	ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	३६३
विक्रम-संवत्	—	—	+ ९ = ३९२	आनन्दाविर्भावाचार्य	+ २५
—	—	—	ईसवी	—	३८८ ई०

३८८ + ३ = ३९१ ईसवी; वही तीन वर्षों की घटत/बढ़त, जो ६९५-३५८ = ३७ ईसवी तथा सप्तर्षि-संवत् की गणना में ३४ ईसवी है। हमारे विचार में शक-गणना अधिकाधिक प्रामाणिक है। कारण, भगवान् शंकर का निधनकाल शक संवत् ६४४ [युग्मपयोधिरसान्वितशाके] में लिखना अनिवार्य है। सो—

[क] सुरेश्वर निधन काल ६९५- ६४४ शंकर निधनकाल = ५१ वर्ष का अन्तराल।

[ख] शंकर-निधन १४ ई० पू० + सुरेश्वर निधन ३७ ई० = वही ५१ वर्ष। ३४ ईसवी में, संसर्पकाल के आकलन में ३-४ वर्षों की भूल सम्भाव्य भी है, वैज्ञानिक भी है।

महाराजा सर्वजित् वर्मा तथा नृसिंहाश्रमाचार्य की समकालिकता

इतिहासधर्म बड़ा निर्मम होता है। कई सुकर-लब्ध बातें उसमें से छोड़ देनी होती हैं। उसमें अनेक अप्रासंगिक तथ्यों का समावेश करना पड़ता है। हमारे लिए **सर्वजित् वर्मा का दाय-पत्र** सर्वोपरि है। दायपत्र के अन्तरङ्ग तथ्यों के अनुरूप हमने प्रस्तुत शोधपत्र तैयार किया है। अब उसी दायपत्र के बहिरंग तत्त्व पर लिखने का उपक्रम है। हमें आशंका है—हमारे विवेकशील पाठक इस कार्यविधि को फालतू समझेंगे। परन्तु हम दायपत्र की विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए महाराजा सर्वजित् वर्मा तथा भगवान् नृसिंहाश्रमाचार्य की समकालिकता की पहचान को अनिवार्य मानते हैं और इसी शोधपत्र का एक अंग मानते हैं। यथा—

आचार्य नामावली	गुप्तविक्रम	आचार्यों का	ईसवी सन्	टिप्पणी
— —	संवत्	अस्तित्व काल	[पर्यन्त]	
१. ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	९	१५ वर्ष	३६४	
२. कलानिधितीर्थ	८२	७३	४३७	
३. चिद्विलास	११९	३७	४८३	
४. विभूत्यानन्द	१५४	३५	५१८	
५. स्फूर्त चिन्मयानन्द	२०३	४९	५६७	
६. करतन्तुपाद	२५९	५६	६२३	
७. योगरूढाचार्य	३६०	१०१	७२४	
८. विजय डिण्डिम	३९४	३४	७५८	
९. विद्यातीर्थ	४३७	४३	८०१ ?	

१०. चिच्छत्ति दैशिक	४८३	४६	८४७
११. विज्ञानेश्वर तीर्थ	५११	२८	८७५
१२. ऋतम्भराचार्य	५७२	६१	९३६
१३. अमरेश्वर गुरु	६०८	३६	९७२
१४. सर्वतोमुखतीर्थ	६६९	६१	१०३३
१५. आनन्द दैशिक	७२१	५२	१०८५
१६. समाधी-रसिक	७९९	७८	११६३
१७. नारायणाश्रम	८३६	३७	१२००
१८. वैकुण्ठाश्रम	८८२	४६	१२४६
१९. विक्रमाश्रम	९०८	२६	१२७२
२०. नृसिंहाश्रम	**९५७**	**४९**	**१३२१ ?**

यह बात तो निर्विवाद मान लेनी चाहिए कि गुजरात के महाराजा सर्वजित् वर्मा ने दायपत्र लिखते समय अपने प्रादेशिक संवत् को—**हमारा मतलब है जो उस समय प्रचलित रहा होगा**—प्रयोग में लिया होगा। हमारा यह अनुमान भी निराधार नहीं है कि **सर्वजित् वर्मा के शासन-युग में 'वल्लभी-संवत्' प्रचलित था**। उस दायपत्र में तिथ्यंकन रहा होगा—यह पक्की बात है। यह अलग बात है कि हमें उसका ज्ञान नहीं। अनुमान यह भी है कि दायपत्र का लेखनकार्य १२७२-१३२१ ईसवी-संवत् में सम्पन्न हुआ होगा। अबूरिहाँ अल्बैरूनी के कथन को संदर्भ में लेते हुए **गुप्त-संवत् तथा वल्लभीसंवत् की एकरूपता** ठहरा लेनी चाहिए। अतः दायपत्र में—

[गुप्त +] वल्लभी-संवत्—९६५—१०१३ के मध्य कोई भी वर्ष ईसवी संवत्—१२७२—१३२० के मध्य में कोई भी वर्ष = अंकित रहना चाहिए। दायपत्र की बारीकी से जाँच करनी चाहिए कि कहीं वल्लभी-संवत् ९६५ अथवा १०१३ तो नहीं लिखा ? इस आशंका का आधार यह है कि वल्लभी-संवत् से एकदम अभिन्न गुप्त संवत् की शाखा-विक्रम-संवत्-को दाय पत्र के लिए चुना गया है। इसके लिए निरन्तर शोध की अपेक्षा बनी रहेगी, जब तक दो-टूक निर्णय सामने नहीं आ जाता।

विवादास्पद अन्तः-साक्ष्य

स्वस्थ अनुसन्धान की पहचान यही है कि आने वाली हर आपत्ति पर विजय हासिल की जाय, अपने ही शोधकार्य में उत्पन्न स्वतः छल-छिद्र की भरपाई हो जाय–**ताकि जनता के सामने हमारा अनुसन्धान-उद्योग विडम्बना-विहीन, ठोस, तर्कसिद्ध और साफसुथरा नज़र आए**। यह विशवजनीन सत्य है कि भगवान् आद्य शंकराचार्य ३२ वर्ष की अवस्थातक क्रियाशील रहे। परन्तु, आद्य शंकराचार्य के एक अन्तः साक्ष्य से—

"मया पञ्चशीतेरधिकसमनीते तु वयसि।"

एक महती बाधा खड़ी हो गई है। भगवान् शंकराचार्य ८५ वर्ष जीवित रहे। कहाँ बत्तीस वर्ष ? और कहाँ पच्चासी [८५] वर्ष ? हमारा समस्त अनुसन्धान इस अन्तः साक्ष्य से टकराकर चकनाचूर होने की स्थिति में आ गया है। जो पूर्वपक्ष [अर्थात् विपक्ष] आद्यशंकराचार्य के लिए ई० पूर्व ४४-१३ से भिन्न अवधारणा मन में पाले हुए हैं; वे इस अन्तः साक्ष्य के बारे में क्या सोचते हैं ? हमें इससे कोई सरोकार नहीं। हम अपनी बात करते हैं। अगर पच्चासी वर्ष का वयोमान ठीक है, तो—

[क] ई० पूर्व ९८-१३ तक [पच्चासी वर्ष]

अथवा—

[ख] ४४ ई० पूर्व से ४१ ई० सन् पर्यन्त [वही पच्चासी वर्ष] इन वर्षों के अन्तराल में आचार्यचरण की जीवन-यात्रा ठहरानी होगी। अगर ऐसा है, तो निम्न आपत्तियों का सामना करना होगा। यथा—

क/१.९८ ईसवी पूर्व में भगवच्चरण शंकराचार्य का जन्मकाल ठहराने पर उससे १४ वर्ष प्राक् अर्थात् ११२ ई० पूर्व में विक्रमादित्य खोजकर लाना होगा, जिसका उल्लेख शृंगेरीमठ के प्राचीनतम दस्तावेज़ में लिखा मिलता है। खोज करने पर हमें एक विक्रमादित्य की पहचान हुई है, जो **चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय का पोता है, साहसांक का पुत्र है और उसका चलाया एक संवत् है, जो ई० पूर्व ११७ से गणनाधीन है**। इन बातों के अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य [II] तथा शुंगवंशी पुष्यमित्र समय की दृष्टि में आमने-सामने पड़ते हैं; जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है: पुष्यमित्रं याजयामः तथा "**चन्द्रगुप्तसभम्**"। सब बातें ठीक हैं। परन्तु उस समय उन बौद्ध पण्डितों का अस्तित्व असम्भव है, जिनका उल्लेख आचार्य-साहित्य में मिलता है। अतः असमाधेय परिस्थिति में इस धारणा पर विचार करना कठिन है कि **श्रीमच्छंकराचार्य ९८ ई० पूर्व में हुए।**

क/२. वह बात शंकराचार्य के जन्मवर्ष की थी; अब बात करते हैं उनके तिरोधान वर्ष की। पच्चासी वर्ष से सिद्ध होता है—८५-४४ = ४१ ई० सन् के साल में भगवान् शंकर ने विग्रह-विसर्जन कर दिया। इस स्थापना के विपरीत शंकराचार्य के प्रथमशिष्य सुरेश्वराचार्य का निधन **प्राचीनशक ६९५-६७६ = १९ ई० पूर्व अथवा ११६ ई० पूर्व** में होना निश्चित है। यह सम्भव ही नहीं है कि पट्टशिष्य का निधन पहले हो और आचार्यश्री का निधन उससे २२ वर्ष पश्चात् है। जबकि प्रसिद्धि यह है—सुरेश्वराचार्य दीर्घजीवी आचार्यों में गिने जाते हैं।

उभय पार्श्व में आपत्तियों का घटाटोप देखते हुए हम इस अन्तः साक्ष्य को इसी रूप में अपनाने में अनुत्साहित हैं।

—प्रथम विकल्प—

आद्य शंकराचार्य के साहित्य में मिले अन्तः साक्ष्य को हम यूं ही छोड़ देने के पक्ष में नहीं है। उसे सभी सम्भावनाओं की कसौटी पर परखना चाहेंगे।

प्रश्न सामने है; क्या सप्तर्षिसंवत् ८५ = **३७८५ तक** आचार्य श्री विद्यमान रहे। यदि इसे सत्य मान लें तो इसे सुगमविधि से ईसवी संवत् में पलटते हैं। यथा—

[क] ३७८५ − ६२८ = ३१५७ सामान्यवर्ष।

[ख] ई० ३१५७ ई० पू० ३१४८ घटाने पर **ई० सन् ९ फलीभूत हुआ।**

इस गणित से आचार्यश्री का वयोमान ४४ + ९ = ५३ मानना होगा। इस स्थिति में उन लोगों की इस आपत्ति का—आचार्यश्री का मात्र ३२ वर्ष के वयोमान में इतना विशाल कार्य कैसे कर सकते हैं?—समाधान मिल जाता है। **पूर्णायु ५३-५४ का आचार्यश्री का वयोमान सभी दृष्टियों से युक्ति-सम्मत लगता है।**

परन्तु आचार्यश्री की यात्रिक तथा साहित्यिक गतिविधि की अन्तिम सूचना १४ ई० पूर्व तक ही हैं। ५३-५४ का वयोमान मान लेने पर अवशिष्ट २३ वर्षों की [१४ + ९ = २३] गतिविधि का सूचित न होना, एक अप्रिय प्रसंग है। **अगर इसका युक्ति-संगत समाधान मिल जाये तो यह हमें मंजूर है।** आचार्यश्री की गतिविधि को युधिष्ठिर-संवत् की रेखाओं में सीमित रखनेवाला पक्ष इस स्थापना के बारे में क्या सोचता है?—यह वही लोग बताएँ तो अच्छा है। अतः सप्तर्षि-संवत् ३७८५ अमान्य है।

द्वितीय विकल्प

हमने आचार्यश्री के पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य का समय प्राचीन शक ६९५ के संदर्भ में सोचा है और खोजा है। क्यों न इस अन्तःसाक्ष्य [८५ वर्षीय वयोमान] को भी प्राचीन शक के आधार पर परखें ? यह सम्भव है। शक संवत् ८५ = ६८५। इस संख्या में ६७६ वर्ष घटाने पर : **६८५-६७६ = ९ ई० सन्**। यह परिणाम पूर्ववत् ही है। लगता है, सप्तर्षि-संवत् ३७८५ = प्राचीन शक ६८५ = ९ ईसवी सन् की उपलब्धि आनुषंगिक है। इस पर अनुसन्धान सम्भव ही नहीं है।

हमें इस पर आपत्ति है। सप्तर्षि-संवत् में तथा कलि-संवत् में सैकड़ा या हज़ार के अंक छोड़कर केवल ईकाई-दहाई लिखने का नियम है। ३७८५ लिखना अभीष्ट होने पर ८५ लिखने भर से काम चल जाता है। परन्तु वैयक्तिक कालगणना में—**जैसे मौर्यसंवत्, विक्रम-संवत् तथा हर्ष-संवत् आदि**—सैंकड़ा या उससे अधिक आंकड़ों को छोड़कर लिखने की स्वस्थ परम्परा नहीं है।

—तृतीयविकल्प—

यदि सप्तर्षि संवत् ८५ साधु है, तो इसके समाधान के नेपथ्य और भी हैं। यथा—

[क] सप्तर्षि संवत् ३७८५-२७०० = १०८५ शेष रहे। उन्हें घटाया **१०८५-१०४७ = ३८ ईसवी सन्**। [यह गणना काश्मीर-सम्प्रदायानुरूप है] अर्थात् ३८ ईसवी में आचार्यश्री ने शरीर त्याग दिया।

[ख] इस संख्या को १३८५ मान लें तो इसमें जमा किए ७ = १३९२ फलीभूत हुआ। इसे घटाया **१४५२-१३९२ = ६० ईसवी** तक आचार्यश्री जीवित रहे। [यह गणना पटना-सम्प्रदायानुरूप है]

ये दोनों विकल्प द्वितीय प्रकल्प के समान अमान्य हैं।

समाधायक विकल्प

आचार्यश्री के अन्तः साक्ष्य : **मया पंचाशीतेरधिकसमनीते तु वयसि**" का समाधान कलि-संवत् में निहित है। **तत्र ८५ = ३०८५ कलि-संवत्** ग्रहण करना हमें सामयिक लगता है। तदनुसार—

"कलि-संवत् ३१०१-३०८५ = १६ ईसवी पूर्व"

का फलितार्थ हमारे सामने है। हम भली भाँति जानते हैं, आचार्य श्री शंकराचार्य ने अपनी दिग्विजय यात्रा २० ई० पूर्व में समाप्त की थी। उनके हृदय में उठ रही 'थकान' की अभिव्यक्ति '**समनीते वयसि**' पद से झलकती है। सो, १६ ई० पूर्व में 'देव्यपराधक्षमास्तोत्र' लिखा और अपनी लेखनी को विराम दिया। इस परिवेश में उक्त अन्तः साक्ष्य का अर्थ होगा—

"मैने (कलि-संवत्) ८५ से अधिक वयोमान व्यतीत किया है।"

यह 'अर्थाधान' आचार्यश्री के निश्चित वयोमान : **४४-१३ ई० पूर्व** की परिधि का अतिक्रमण नहीं करता। आचार्य का अपना वयोमान रहस्यपूर्ण रखने का इरादा भी आहत नहीं हुआ। हम समझते हैं—आचार्यश्री द्वारा कलि-संवत् का प्रयोग भारत में सर्वप्रथम प्रयोग माना जाएगा। इससे पूर्व कलि संवत् का प्रयोग किसने किया है—खोजना होगा।

सप्तर्षि-संवत् तथा कलि-संवत् की युगल कालावधि में आचार्यश्री का वयोमान सुरक्षित हो गया है। आचार्य श्री का यह अन्तः साक्ष्य सचमुच एक 'साक्ष्य' रूप में ग्रहण करने योग्य है। इति।

प्रासंगिक नेपालयात्रा

संस्कृत-जगत् के जाने-पहचाने विद्वद्रत्न प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने भगवान् शंकराचार्य की नेपाल-यात्रा का मुद्दा उठाकर अनुसन्धायक समाज को एक नया दिशा-निर्देश दिया है। परन्तु इस दिशा-निर्देश के संकेत सशक्त प्रेरणा-प्रद नहीं हैं। कारण, पण्डित प्रवर श्री उपाध्याय अपने कथन को सुदृढ़ पृष्ठभूमि देने में असफल रहे हैं, न तो उनके पास बताने योग्य कोई स्रोत है, न प्रभावशाली तर्क है, और न इतिहासज्ञता का पूरा आधार; यहाँ तक कि लोक मानस को उद्वेलित करने वाली जनश्रुति भी उनके पास नहीं है। और सचमुच हमें बेहद आश्चर्य है कि कल्पनालोक के किसी राजमहल की तरह श्रीउपाध्याय का कथन धीरे-धीरे अपनी प्रासंगिकता स्थापित कर रहा है; और उस कथन का ऐतिह्य मूल्यांकन भी शनैःशनैः उजागर हो रहा है, हम पक्की उम्मीद में हैं कि समय पाकर वह कथन प्रमाण का रूप भी ले सकता है। पण्डित उपाध्याय लिखते हैं—

> "उस समय नेपाल में ठाकुरी वंश [या राजपूत वंश] के राजा राज्य करते थे। तत्कालीन राजा का नाम शिवदेव सिंह [या वरदेव] था। ये नरेन्द्रदेव वर्मा के पुत्र थे। उस समय नेपाल और चीन का घनिष्ठ राजनीतिक सम्बन्ध था। चीन के सम्राट् ने नरेन्द्र देव को नेपाल का राजा स्वीकार किया था। नेपाल नरेश ने शंकर की बड़ी अभ्यर्थना की। और आचार्य चरण के आगमन से अपने देश को धन्य माना। आचार्य ने बौद्धों को परास्त कर उस स्थान को उनके प्रभाव से उन्मुक्त कर दिया। पशुपतिनाथ की वैदिक पूजा की व्यवस्था उन्होंने ठीक ढंग से कर दी। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने ही सजातीय नम्बूद्री ब्राह्मणों को इस कार्य के लिए रख दिया। यह प्रथा आज भी अक्षुण्ण रूप में चल रही है। नम्बूद्री ब्राह्मणों के कुछ परिवार नेपाल में ही बस गए हैं। वे आपस में विवाह आदि भी किया करते हैं। परन्तु इस विवाह की सन्तान पूजा के अधिकारी नहीं माने जाते। खास मालाबार देश की कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वही वहाँ की पूजा का अधिकारी बनता है। आज भी पशुपति मन्दिर के पास ही शंकराचार्य का मठ है और थोड़ी दूरी पर शंकर और दत्तात्रेय की मूर्तियाँ आज भी श्रद्धा और भक्ति से पूजी जाती हैं।"

—श्री शंकराचार्य : डॉ० बलदेव उपाध्याय,

(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) पृष्ठ १४०

नेपाल में शंकरमठ कब स्थापित हुआ? यह प्रश्न अद्यावधि अनसुलझा पड़ा है। इस पर अनुसन्धान की रोशनी नहीं पड़ी। डॉक्टर बलदेव उपाध्याय ने **आद्य शंकराचार्य का आविर्भाव काल ६७८ ईसवी तथा तिरोधान काल ७२० ईसवी मान लिया है।**[1] आजकल आचार्य शंकर का जो आविर्भाव काल माना जाता है, उससे डॉ० उपाध्याय का स्थापित समय १०० वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। राष्ट्रनेता बाल गंगाधर तिलक तथा कुछ अन्य विद्वान् भी ऐसी स्थापना के पोषक नज़र आते हैं। परन्तु डॉ० उपाध्याय के कथन में कतिपय विरोधाभास भी नज़र आता हैं। जैसे कि आचार्य शंकर का कालिक निर्णय [६७८-७२० ई०] ठाकुरी वंश तथा राजपूतवंश की ऐतिह्य-काल-परम्परा से तालमेल नहीं रखता। डॉ० उपाध्याय ने बिना संदर्भ बताए, आद्य शंकराचार्य ने समकालिक राजा शिवदेववर्मा लिख मारा है और उसे नरेन्द्रदेव वर्मा का पुत्र भी मान लिया है। जैसा कि हम गत अध्याय में **हर्ष-संवत् का खुलासा करते-करते शिवदेव वर्मा का समय ३३८-२७७ ई० पूर्व स्थापित कर चुके हैं और नरेन्द्र देव वर्मा को उसका पुत्र भी मान चुके हैं, जिसका शासनकाल २७७-२३५ ई० पूर्व है** इसका डॉ० उपाध्याय की मान्यता से कहीं तालमेल है?

---

१. उपर्युक्त स्थापना आद्यशंकराचार्य का वयोमान ३२ वर्षीय न मानकर, ४२ वर्षीय : ६७८ + ४२ = ७२० ईसवी द्योतित करती है। इसके पीछे तर्क सत्याश्रय विक्रमादित्य का अभिषेक-काल है।

इधर डॉक्टर विक्रमजीत 'हसरत' ने नेपालीय इतिहास के जो तथ्य उजागर किए हैं, उन तथ्यों के आइने में प्रोफेसर उपाध्याय का निर्णय संशय-गर्त में गिरता नज़र आता है। डॉ. हसरत लिखते हैं—

"जब शंकराचार्य उत्तरी भारत के अतिरिक्त [अर्थात् पूर्वी दक्षिणी भागों में] भूभाग में बौद्धों का समूल नाश कर चुके, तब वे नदी [?] के दक्षिणी तट पर आकर रहने लगे। जब शंकराचार्य नेपाल गए थे, तभी राजा वृषदेव का पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम शंकरदेव वर्मा रखा गया। उसने वहाँ ६५ वर्ष राज्य किया। उसने [शंकर देव वर्मा] भारी-भरकम खर्च उठाकर पशुपति मन्दिर के एक तरफ त्रिशूल स्थापित किया और [पशुपति मन्दिर के] दूसरी तरफ एक कुंए की, मिट्टी डलवाकर भरपाई करवा दी। वह कुंआ किसी व्यक्ति का भूतकाल बताने की क्षमता रखता था। [वह कुंआ राजेश्वरी मन्दिर के निकट पड़ता था] इसी सिलसिले में अनाह व्रजेश्वर नाम वाले पशुपतिनाथ के निकट महादेव की [प्रतिमा] स्थापित की तथा पशुपतिनाथ के मन्दिर के पश्चिमी द्वारकी तरफ नंदी [बैल] की [प्रतिमा] की स्थापना की। शंकरदेव के पुत्र धर्मदेव ने ५९ वर्ष राज्य किया। उसके पुत्र महादेव ने राज्य किया तथा ५१ वर्ष की वय में दिवंगत हुआ। उसका बेटा बसन्त देव, जो कलि-संवत् २७८५ में गद्दी पर बैठा और ३६ वर्ष की वय में दिवंगत हुआ।"

—नेपाल का इतिहास : पृष्ठ ३९-४० [अंग्रेजी]

—अनुवाद : डॉ. सरस्वती बाली.

—मीमांसा—

इस सन्दर्भ से यह तो निश्चितरूपेण ज्ञात हो जाता है कि आद्य शंकराचार्य का नेपाल आगमन वृषदेव [अन्य नाम वरदेव वर्मा] के समय का है; वृषदेव के वंशधर वसन्तदेव के समय **कलि संवत् २७८५** का उल्लेख संशय पैदा करता है। कलि संवत् २७८५ का मतलब है—**३१६ ईसवी पूर्व** का साल। यदि इन राजाओं का शासन काल **५९ + ५१ + ३६ = १४६ है, जो ३१६ + १४६ = ४६२ ई० पू०** में आद्य शंकराचार्य की नेपाल यात्रा प्रासंगिक हो जाती है। इतना सब तमाशा करने के बाद भी यह 'स्थापना' उदयवीर शास्त्री की उपलब्धि : **५०८-३२ = ४७६ ई० पू०** को छूती नज़र नहीं आती। क्योंकि दोनों मान्यताओं के बीच १४ वर्ष का अन्तराल है, जिसे पटाना आसान नहीं है। यहाँ कहीं-कहीं कुछ-न-कुछ गड़बड़ जरूर है। इति।

अथ च

डा० हसरत पुनः लिखते हैं—

"वसन्त देव का पुत्र उदयदेव ३७ वर्ष की वय में दिवंगत हुआ। उसका पुत्र विष्णुदेव ५१ वें वर्ष में मरा। उसने ये काम किए [१] उसने [यज्ञों में] मानवबलि की प्रथा रुकवा दी। यह परम्परा उसके परदादा ने आरम्भ की थी। [२] नर बलि के विकल्प में उसने बकरे की बलि का विधान किया। [३] राजा ने नव वगेश्वरी की पूजा आरम्भ की, जो वैशाख शुद्धि पूर्णिमा को होती है। कुमारीगण अर्थात् नव दुर्गा नामक देवियों की प्रतिमा भी स्थापित की।"

"अंशुवर्मा ६८ की आयु में दिवंगत हुआ। उसका पुत्र कीर्तिवर्मा ८७ वर्ष में मरा और उसका पुत्र कुण्डदेव ९२ वर्ष में दिवंगत हुआ। उसका पुत्र वीरदेव वर्मा कलि संवत् ३७०० में विद्यमान था।"

नेपाल का इतिहास : पृष्ठ ३८

—अनुवाद : डॉ० सरस्वती बाली,

अथ मीमांसा—

हमारे विचार में ठाकुरी वंश का आरम्भ कलि संवत् २६४५ = ४५६ ई० पूर्व यथार्थ हो सकता है; क्योंकि उसके एक वंशधर ने हर्ष-संवत् ६१ = [?] ई० पूर्व का उल्लेख किया है। और राजपूत वंश का आरम्भ भी कलि-संवत् २७८५ [पूर्व स्थापना के १४० वर्ष बीतने पर] मान लेना दुष्कर नहीं है। सम्भव है—राजपूत वंशी अंशुवर्मा की प्राग्वर्ती राजाओं की सूची अस्त व्यस्त हो गई हो ! ऐसा लगता है—विष्णुदेव का पिता, बसन्त देव, उसका पिता महादेव, उसका पिता धर्मदेव वर्मा [शंकर देव वर्मा का पुत्र] नरबलि की प्रथा-आरम्भ करे—यह बुद्धिगम्य नहीं है।

डॉक्टर विक्रमजीत 'हसरत' अपने लिखित इतिहास में उस मुद्दे पर लिखते हैं, हमें जिस मुद्दे की तलाश है :

> **"अपने जन्म के पश्चात् शीघ्र ही शंकराचार्य छहों शास्त्रों के पारंगत विद्वान् हो गए और उन्होंने अपना जन्म स्थान छोड़ दिया; और गंगोत्री की यात्रा पर चले गए, वहाँ उन्होंने महादेव की प्रतिमा स्थापित की तथा अपनी आयु के २०० वें वर्ष में नेपाल आए।"**

—नेपाल इतिहास : पृष्ठ ३८/२८ पंक्ति

—अनुवाद : डॉ० सरस्वती बाली

इस संदर्भ का अन्तिम वाक्य बड़ा भयावह है। भगवान् शंकर कभी २०० वर्ष नहीं जिए। सर्व-सम्प्रदाय-सम्मत अभिमत यह है कि वे **३२ वर्ष जीवित रहे**। केवल एक पक्ष ऐसा है, जो भगवान् शंकर का वयोमान ४२-वर्ष मानता है। आचार्य पं० बलदेव प्रसाद उपाध्याय इसी सम्प्रदाय के पीछे चल पड़े हैं। पर २०० वर्ष की बात उन्होंने भी नहीं मानी, किसी ने नहीं मानी।

परन्तु हम समझते हैं—भगवान् शंकर तथा उनके नेपाल प्रसंग में २०० वर्षों का मुद्दा कहीं -कहीं अवश्य रहा होगा। उसकी दोषपूर्ण अभिव्यक्ति डॉक्टर 'हसरत' की रचना में हुई है। इसमें कोई-न-कोई राज़ छिपा हुआ है, जिसे समझने का प्रयास हम कर रहे हैं। **हम पूर्णतया विश्वस्त भाव से जानते हैं कि आचार्य शंकर अशोक-संवत् २०० में** [अपने वयोमान में नहीं] **नेपाल आए थे या रहे थे**। हमारी यह स्थापना भगवान् शंकर की कालक्रमावली में सर्वथा अनुरूप पड़ती है और नेपाल के इतिहास में भी समाहित नज़र आती है।

अथ सर्वेक्षण—

सर्वेक्षण की पृष्ठभूमि के तौर पर पहले नेपालवंशावलि का एक चित्र सामने रख लेते हैं—

१	२	हर्ष-संवत्	कलि-संवत्	ईसवी पूर्व	टिप्पणी
नामावलि	शासन काल	३	४	५	७
१. अंशुवर्मा : आरम्भ	—	३४	२६७९	४२२	
—	८५	११९	२७६४	३३७	
२. शिवदेव वर्मा	६१	१८०	२८२५	२७६	
३. नरेन्द्रदेव वर्मा	४५	२२५	२८७७	२३४	
४. भीमदेव वर्मा	३६	२५८	२९०३	१९८	
५. विष्णुदेव वर्मा	४७	३०५	२९५०	१५१	
६. विश्वदेववर्मा	५१	३५६	३००१	१००	
अंशुवर्मा	६८	३७३	३०१८	०८३ ई० पू०	

७. नरेन्द्र देव	६८	४२४	३०६९	३२ ई० पू०
८. शिवदेव वर्मा	**५०**	**४७४**	**३११९**	**१८ ईसवी**
९. जयदेव वर्मा	३०	५०४	३१४९	४८ ई०
		—अन्यच्च—		
१३. वृषभदेववर्मा	८२	४४५	३०९०	११ ई० पू०
१४. शंकरदेव वर्मा	६५	५१०	३१५५	५४ ईसवी
१५. धर्मदेव वर्मा	५९	५६९	३२१४	११३ ई०
१६. मात देव वर्मा	५१	६२०	३२६५	१६४ ई०
१७. महीदेव वर्मा	६०	६८०	३३२५	२२४ ई०
१८. वसन्त देव वर्मा	**३६**	**७१६**	**३३६१**	**२६० ई०**
१९. उदयदेव वर्मा	३७	७५३	३३९८	२९७ ई०
२०. विष्णुदेव वर्मा	५१	८०४	३४४९	३४८ ई०
२१. अंशुवर्मा [३]	६८	८७२	३५१७	४१६ ई०
२२. कीर्ति वर्मा	८०	९५२	३५९७	४९६ ई०
२३ कुण्डदेव वर्मा	९३	१०४५	३६९०	५८९
—	—	—	३७००	—
२४ वीरवरदेव वर्मा	**३०**	**१०७५**	**३७२०**	**६१९ ई०**

एक : इस सारिणी के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन : **"तत्कालीन राजा का नाम शिवदेवसिंह [या वरदेव] था"** बिल्कुल सटीक है। तब शिवदेव सिंह या वरदेव का विकल्प नहीं, बल्कि दोनों नेपाल में शासन करते थे दोनों समकालीन थे। दूसरी, परन्तु सच्ची बात यह है कि भगवान् शंकराचार्य को नेपाल में आमन्त्रित करने वाला **नरेन्द्रदेव वर्मा का पुत्र शिवदेव वर्मा** का उल्लेख यथार्थ है; नरेन्द्रदेव वर्मा के पिता शिवदेव वर्मा का नाम लेना अप्रासंगिक है। विदित रहे—नेपाल के इतिहास में शिवदेव वर्मा दो हैं। इनका पहचान **महाराजा नरेन्द्रदेव वर्मा** के नाम से है। एक शिवदेव वर्मा [३३७-२७६ ई० पू०] नरेन्द्रदेव वर्मा का पिता है, दूसरा शिवदेव वर्मा [ई० संवत् ३६-८६] नरेन्द्रदेव वर्मा का पुत्र है। आद्य शंकराचार्य के समतौल समय में प्रथम शिवदेववर्मा ग्राह्य है; और निश्चित रूपेण दूसरा **शिवदेव ही सचमुच आद्यशंकराचार्य को आमन्त्रित करने वाला है।** परन्तु यहाँ भी कालिक विस्फोट आड़े आता है। हमारी अपनी ही प्रकल्पित सारिणी में काल-विसंगति उजागर हुई है :

प्रथम शिवदेव वर्मा : ३३७-२७६ ई० पू० का समय; तथा

द्वितीय शिवदेव वर्मा : ईसवी संवत् ३६-८६ तक।

हमारे शोधकार्य के शलाका पुरुष : **आद्यशंकराचार्य १८ ई० पू० में** नेपाल पंधारे थे—का किसी शिवदेव वर्मा से तालमेल नहीं है। शिवदेव वर्मा के पिता अंशुवर्मन का नामोल्लेख हटाया नहीं जा सकता। अलबत्ता सारिणी का पुनर्गठन किया जा सकता है:

नामावली	शासन	हर्ष-संवत्	कलि-संवत्	ई० पू०/ईसवी	टिप्पणी
विश्वदेव वर्मा	५१	३५६	३००१	१०० ई० पू०	कलि का उल्लेख
नरेन्द्रदेव वर्मा	६८	४२४	३०६९	३२ ई० पू०	गौरतलब है।
शिवदेव वर्मा	५०	४७४	३११९	ई० सं. १८	शताब्दी परिवर्तन

इस सारिणी से यह भ्रान्ति होना सम्भव है कि शिवदेव वर्मा पूर्ववर्ती राजा विश्वदेववर्मा का पोता है। **शिवदेव वर्मा अंशुवर्मन् [द्वि०] का पोता है, परन्तु शासन की दृष्टि से वह विश्वदेव वर्मा का दूसरे नम्बर पर उत्तराधिकारी** जरूर है। प्रबुद्ध इतिहासकारों की मान्यता है कि विश्वदेव वर्मा का पुत्र ध्रुव देव वर्मा निःसन्तान रहा। विश्वदेव वर्मा का समकालीन सामन्त अंशुवर्मा (द्वि) ठाकुरी वंश पर हावी हो गया और अपने पुत्र नरेन्द्रदेववर्मा को सिंहासन पर बैठाने में सफल हो गया

इतना-सा इतिहास स्मरण रखने योग्य है।

दो : आचार्य बलदेव उपाध्याय की पहली बात तिल-तिल सच्ची सिद्ध हो गई। दूसरी बात : '**उस समय नेपाल में ठाकुरी वंश [या राजपूत वंश] का राजा राज्य करता था, तत्कालीन राजा का नाम था—शिवदेवसिंह [या वरदेव]** किंचित् विश्लेषण-सापेक्ष है। दोनों के दरम्यान—**या का स्थान 'और' ले लेता है,** अर्थात् उस समय ठाकुरी वंश और राजपूत वंश नेपाल में शासन करते थे। ठाकुरी वंश के राजा का नाम **शिवदेव वर्मा** था, और राजपूत वंश के राजा का नाम **वरदेव** था। वरदेव के अन्य नाम हैं—वृषदेव अथवा वृक्षदेव। दोनों राजाओं के मध्यान्तर में **आद्य शंकराचार्य का नेपाल आगमन हुआ**। यथा—

शिवदेव वर्मा शासनारम्भ ३२ ई० पूर्व :

कलि संवत् ३०८३ = १८ ई० पूर्व में शंकराचार्य नेपाल आए वरदेव वर्मा का

शासनारम्भ १८ ई० पूर्व से शासनान्त ३५ ई० सन् तक

आचार्य बलदेव उपाध्याय के कथन में इतना संशोधन अपेक्षित है।

तीन : ठाकुरी वंश के प्रथम घटक : **अंशुवर्मन् प्रथम** ने एक अभिलेख में हर्षसंवत् ३४ का हवाला दिया है। प्रसिद्ध विचारक भगवान् लाल इन्द्र जी तथा फेथफुल फ्लीट ने इसे हर्षवर्धन द्वारा स्थापित **हर्ष संवत् ३४ को ईसवी सन् ६४० के बराबर माना है**। और अपनी बात की पुष्टि के लिए अरब यात्री अबूरिहाँ अल्बैरूनी को उद्धृत किया है। अल्बैरूनी ने हर्ष-संवत् के बारे में टिप्पणी दी है—

"परन्तु काश्मीरी पंचांग में मैंने पढ़ा है कि श्रीहर्ष विक्रमादित्य से ६६४ वर्ष पीछे हुआ।"

—अल्बैरूनी का भारत : ३/८ पृष्ठ

प्रायः सभी इतिहासकार इसे आप्त मानते हैं। **इतिहासकार न होते हुए भी हम भी इसे प्रमाण मानते हैं**। यदि यह ठीक है तो अंशुवर्मन् से लेकर नरेन्द्रदेव वर्मा तक के शासकों का शासन काल : ८५ + ६१ + ४५-३६ + ४७ + ५१ + ६८ = ३९३ ठहरता है, जो आद्य शंकराचार्य की नेपाल-यात्रा से पहले ६४० + ३९३ = १०३३ **ई० सन्** फलीभूत होता है, जो शंकर काल :६८८-७२० ईसवी [जैसा कि आधुनिक विद्वानों ने मान लिया है] का अतिक्रमण करता है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि शोधार्थी जन अबूरिहाँ के पूर्वोक्त कथन को आप्त मानते हैं, परन्तु वे अबूरिहाँ के इस सन्दर्भ को—

"उस प्रदेश के कुछ अधिकारियों से मालूम हुआ है कि श्रीहर्ष और विक्रमादित्य के बीच ४०० वर्षों का अन्तर है।"

—पूर्ववत्

एकदम से नज़र-अन्दाज कर जाते हैं। **आद्य शंकराचार्य की प्रसंग-सिद्धि के लिए यही सन्दर्भ अपेक्षित है।** विक्रमादित्य से ४०० वर्ष पूर्व, अर्थात् **ई० पू० ५७ + ४०० = ४५७ ई० पू० की** कालगणना यहां विचाराधीन है और ४५६-३९३ = ६३ ई० पूर्व में दिवंगत नरेन्द्र देव वर्मा के पुत्र **शिवदेव वर्मा ने १८ ई० पूर्व में भगवान् शंकराचार्य को नेपाल आने के लिए आमंत्रित किया था**—यही हमने विगत पंक्तियों में प्रतिपादित किया है।

चार : हमने कहीं भी नेपाल-संवत् [अथवा नेवार संवत्] की चर्चा नहीं की। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने नेपाल-संवत् का अस्तित्व **८०१-८०२ ईसवी** में स्थापित किया है। यह स्थापना आधुनिक शोधार्थी-समाज की उक्त मान्यता : शंकरयुग ६८८-७२० ईसवी मानते हैं—से परवर्ती काल-गणना है, वह शंकराचार्य के इतिहास के लिए अपेक्षित नहीं है। ऐसे में नेपाल-संवत् का उल्लेख हमारा अभीष्ट प्रासंगिक कैसे हो सकता है ?

पांच : कुछ इतिहासकारों ने विक्रमादित्य [५७ ई० पू०] का नेपाल पर आक्रमण की सम्भावना बताई है; परन्तु इसके लिए कोई सन्दर्भ नहीं दिया। हमारे विश्वास में उक्त विक्रमादित्य ने मात्र ७ वर्ष राज्य किया है। उसे नेपाल पर आक्रमण करने का अवकाश ही कहाँ था ? अलबत्ता विक्रमादित्य [द्वितीय] [शासनकाल ३६-९ ई० पूर्व] ने नेपाल पर आक्रमण किया होगा—यह अनुमान सार्थक हो सकता है। इस पर भी अनुसन्धान होना चाहिए। यदि यह सिद्ध हो जाय तो आद्य शंकराचार्य के समय का अनुसन्धान करना और आसान हो जाएगा।

छह : डॉ. विक्रमजीत हसरत ने 'नेपाल का इतिहास' में कुछ एक अटपटी बातें लिखी हैं। उसके कथनानुसार : **"उसका बेटा वसन्त देव जो कलि संवत् ३७८५ में गद्दी पर बैठा और ३६ वर्ष की वय में दिवंगत हुआ।"** इस बात का अटपटापन यह है कि हमारी सारिणी के अनुसार वसन्त वर्मा का समय : ३३६३ कलि-संवत् = २६० ईसवी संवत् है। यह हमें इस आधार पर यथार्थ लगता है कि इससे ९ पीढ़ी पूर्व शासक विश्वदेव वर्मा ने **कलि-संवत् ३००० का** उल्लेख किया है। प्रति पीढ़ी का आनुपातिक शासनकाल ४५ वर्ष मान लिया जाय : ९x४५ = ४०५ वर्षों का मध्यान्तर मान लिया जाय तो **२९५० + ४०५ = ३३५५ कलि-संवत्** होना सम्भाव्य है; उस परिवेश में वसन्त देव वर्मा का शासनान्त ३३६१ उचित है। यह है—वसन्त देव के पूर्ववर्ती राजाओं का उल्लेख उसके निम्नवर्ती राजाओं का आनुपातिक शासनकाल इससे भिन्न नहीं है। वसन्तदेव से छह पीढी परवर्ती राजा **वीरवरदेव वर्मा ने कलि-संवत् ३७०० का उल्लेख किया है,** ५५ वर्ष प्रति पीढ़ी के अनुपात से ५५x६ = ३३० वर्ष होते हैं परिणामतः **३३६१ + ३३० = ३६९१** कलि-संवत् में वीरवरदेव वर्मा का अस्तित्व एक मुद्दे के रूप में विचारणीय है। सारांशतः कलिसंवत् ३००० से परवर्ती तथा कलि-संवत् ३७०० से पूर्ववर्ती वसन्त देव का समय ३३२५-३३६१ कलि संवत् साधु है, जबकि २७८५ कलि-संवत् का उल्लेख अटपटा गया है।

इस अटपटी स्थिति में समाधान की सम्भावना भी है। अपनी वंशावली में वसन्तदेव वर्मा का स्थान १८ वाँ हैं। उससे पूर्ववर्ती राजा वसन्त देव वर्मा प्रथम का अस्तित्व मान लिया जाय तो उसका समय २७८५ कलि संवत् हो भी सकता है। यथा—

१. जयदेव प्रथम १०. ————

२. ———— ११. ————

३. ———— १२. ————

४. ———	१३. वृषदेव वर्मा
५. ———	१४. शंकरदेव वर्मा
६. **वसन्त देव वर्मा प्रथम [२७८५ कलि]**	१५. धर्म देव वर्मा
७. ———	१६. मानदेव वर्मा
८. ———	१७. महीदेव वर्मा
९. ———	१८. **वसन्त देव वर्मा II कलि ३३६१**
	१९. उदय देव [जयदेव] वर्मा

प्रथम वसन्त देव वर्मा तथा द्वितीय वसन्त देव वर्मा का अस्तित्व स्वीकार किए बगैर इस समस्या का कोई समाधान नहीं है।

सात : नेपाल आज भी एक हिन्दूराष्ट्र है। भारतीय संस्कृति की सीमा के अन्तर्गत वह भारत राष्ट्र का अभिन्न अंग रहा है। हम आज की बात करते हैं। **संवैधानिक परिभाषा में नेपाल एक परराष्ट्र है।** भारतीय इतिहास का यह सौभाग्य है कि एक राष्ट्रीय अस्मिता के समर्थन में परराष्ट्रीय साक्ष्य का समर्थन या योगदान उपलब्ध है। दो विभिन्न प्रदेशों पर शासन कर रहे दो समकालिक राजा : **शिवदेव वर्मा [३२ ई० पू० से १८ ईसवी] तथा वृषदेव वर्मा [९३ ई० पूर्व ११ ईसवी तक] के शासनकाल में भगवान् शंकराचार्य नेपाल पधारे थे।** हमारे इतिहास-जगत् के नामी-धामी विद्वान् इतिहास के उलट पलट में दक्षता रखते हैं, या फिर इतिहास को 'जाल' सिद्ध करने में उद्यत रहते हैं। ऐसा नेपाल के इतिहास के साथ भी हुआ है। **हर्ष-संवत् को ४८६ ई० पूर्व से खींच-खींच कर ६०६ ईसवी तक लाए हैं।** १०६२ वर्षो की भयानक दरार किसी को नज़र नहीं आ रही। अच्छा हुआ—वसन्तदेव प्रथम ने कलि संवत् २७८५, विश्वदेव वर्मा ने कलि संवत् ३००० तथा वीरवरदेव वर्मा कलि संवत् ३७०० लिखकर समय की दीवार पर इतिहास -चित्र लटका दिया है, **जिस चित्र की एक स्वर्णिम रेखा आद्य शंकराचार्य के नाम की है।** राष्ट्रीय दस्तावेज़ को राष्ट्रान्तरीय साक्ष्य मिलने पर इस निष्पन्न फलागम को चुनौती देना आसान नहीं है।

उपसंहार

आद्य शंकराचार्य के तिथिक्रम को युधिष्ठिर-संवत् में लिखने का प्रयोग पुराना है। 'युधिष्ठिर-संवत्' का आधार मजबूत नहीं है। कारण, अद्यावधि भारतीय विद्वानों ने **भारत-संग्राम-काल** तो हठपूर्वक विवाद का विषय बना रखा है। **हमने साहसपूर्वक भारत-संग्रामकाल ३१४८ ईसवी पूर्व स्थिर किया है।** देखा, परखा, पता चला कि शंकराचार्य के लिए प्रयुक्त 'युधिष्ठिर-संवत्' हमारी कसौटी पर खरा नहीं उतरा।

हमने दूसरा साहसिक कदम यह उठाया कि युधिष्ठिर-संवत् को सप्तर्षि-संवत् में परिणत कर आद्य शंकराचार्य के कालक्रम पर नज़र दौड़ाई। **सफलता सामने खड़ी थी।** हम इस विश्वास में है कि हमने आद्यशंकराचार्य के तिथिक्रम को पौराणिक परिवेश दे दिया है। फिर हमें भगवान् शंकराचार्य की नेपाल-यात्रा की सुध आई। इस प्रसंग में बलदेवप्रसाद उपाध्याय ने जितनी सामग्री परोसी, उससे काम नहीं चला। इधर डॉक्टर विक्रमजीत 'हसरत' की रचना से पर्याप्त सहायता मिली। कुल मिलाकर पौराणिक पृष्ठभूमि पर नेपालीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में **आद्य शंकराचार्य का जो समय ४४-१३ ईसवी पूर्व—स्थिर हुआ है**; वह आपके सामने है।

शृंखलाबद्ध बात को आगे बढ़ाएँ। हमारे शोधकार्य की पृष्ठभूमि है— **महाराजा सर्वजित् वर्मा का दायपत्र।** उक्त 'दाय-पत्र' इतिहास की धरोहर होने से पवित्र वस्तु है। उसकी पवित्रता भंग नहीं होनी चाहिए; प्रत्युत् उसकी रक्षा के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। हम अपने शोधकर्म को वही दिशा-निर्देश दें, जिनका समाहार 'दायपत्र' के

मन्तव्य में समाहित हो। हम तोड़ फोड़ में विश्वास नहीं रखते। हम मिथ्या या तर्कविहीन अनुसंधान के पक्षधर भी नहीं हैं। **हम अपने शोध की सीमाएं पहचानते हैं; और अपने दायित्व का निर्वाह कैसे करना चाहिए— खूब जानते हैं।** यह सब कुछ जानते हुए हमने सर्वजित् वर्मा की दो शर्तें पूरी कर दी हैं—

[क] आचार्य सुरेश्वराचार्य का ४२ वर्षीय शासनकाल यथार्थ है।

[ख] आचार्य ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य की शासनावधि ९ विक्रम-संवत् = ३७४ ईसवी संवत् को भी पहचान लिया है।

परन्तु उनकी तीसरी शर्त— आचार्य ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य का शासन काल १५ वर्षीय था— सिद्ध नहीं कर सके। हम तोड़ फोड़ की तरह हेरा फेरी से दूर रहना पसन्द करते हैं। परन्तु आगामी शोधक समाज के सामने सम्भावित वस्तुस्थिति की खोज के लिए सुरेश्वराचार्य से परवर्ती आचार्य शृंखला का समय संशोधित रूप में रखते हैं—

अनुमानित आचार्यों की कालक्रमावली

०० +	+ ११०१	+ ७ =	-३७६५ =	विवरण	-१८ =
युधि० संवत्	सप्तर्षि सं०	जमा किए	घटाया	--	ई० संवत्
२७१४	३८१५	३८२२	५७	२ चित्सुखाचार्य	३९ ई०
२७७२	३८७३	३८८०	११५	३. सर्वज्ञानाचार्य	९७
२८२०	३९२१	३९२८	१९३	४. ब्रह्मानन्दतीर्थ	१४५
२८८६	३९८७	३९९४	२२९	५. स्वरूपाभिज्ञानाचार्य	२११
२९३७	४०३८	४०३९	२७४	६. मंगलमूर्ति	२५७
२९५९	४०६०	४०६७	३०२	७. भास्कराचार्य	२८४
३००१	४१०२	४१०९	३४४	८. प्रज्ञानानन्दाचार्य	३१९
३०३३	४१३४	४१४१	३७६	९. ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	३५८ + १५
विक्रम सं०९	?	?	?	१०. आनन्दाविर्भाव	३७३

अनुमान है, संभावित शोध-गणित का परिणाम अनुकूल रहेगा।

इतिपंचमोऽध्यायः

षष्ठ अध्याय

अभिमत संग्रह

महाकवि कालिदास ने लिखा है : **"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्।"** बात यथार्थ है। जिस बात पर हम सोच रहे हैं, वह 'आत्मबोध' से निकलकर 'आत्ममुग्धता' की ओर जाने वाला रास्ता है। वह केवल हमारे लिए है। जो बात हमारे लिए सुखद है, ज़रूरी नहीं वह सबके लिए समभाव, समरुचि और समोपलब्ध भी हो! चूंकि आत्म-भिन्न समाज की निर्मितियाँ हमारी निर्मितियों जैसी नहीं होंगी, अतः समाजगत भेदभाव स्वाभाविक है। सीधी-सी बात, जो हमें पसन्द है, वह दूसरों को पसन्द नहीं है; जो दूसरों को पसन्द है, वह हमें पसन्द नहीं। इस विषमस्थिति का समाधान करते हुए महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है—**जब तक कोविद-समाज किसी रचना पर सन्तोष प्रकट नहीं करता, तब तक हमें भी अपनी रचना पर 'आत्ममुग्ध' नहीं रहना चाहिए।** महाकवि कालिदास के अनुशासन के दायरे में रहकर हम भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'जो कुछ हम सोच रहे हैं, उस पर अन्य महाशय क्या सोच रहे हैं?'—इस पर विचार किया जाये। यह 'षष्ठ अध्याय' इसी कालिदासीय अनुशासन का पुण्य फलागम है।

भगवान् शंकराचार्य का समय ४५-१३ ई० पूर्व का है

१. स्वामी प्रज्ञानद सरस्वती

इस पर स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती का अभिमत इस 'संग्रह' का प्रमुख भाग है। समन्तभद्र के बारे में डा० परमेश्वर सोलंकी ने हमें एक अर्थवान् पत्र लिखा है, जो परोक्षरूपेण हमारे समर्थन में जुट गया है। अपने पक्ष के बलाबल को तौलने के लिए परपक्ष का 'बलाबल' भी सामने रखना चाहिए—यही सोचकर हमने मान्य पं० काशीनाथ बापू पाठक के दो निबन्ध भी ले लिए हैं।

इतिहास अपने चरण साक्ष्य-शिलापर ही दृढ़ता के साथ रख पाता है; अनुमान-शिला पर नहीं। परन्तु कभी-कभी विभिन्न अनुमानों के टकराव से ऐसी अद्भुत चमक पैदा होती है, जिससे इतिहास को आगे बढ़ने का रास्ता साफ-साफ दिखाई पड़ता है। परन्तु हम अनेक परिपक्व साक्ष्यों को निचोड़ कर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि **भगवान् शंकराचार्य का समय ४५ ईसवी पूर्व से १३ ईसवी पूर्वतक** यथार्थ है। इस दिशा में अन्य मेधावी जन क्या सोचते हैं? यह देखने के लिए हमने स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती के विचार उद्धृत करना उचित समझा है और यही सोचकर उसे अपनाया है। बंगजगत् के विश्रुत दार्शनिक विद्वान् स्वामी प्रज्ञानानन्द जी सरस्वती महाभाग ने एक ग्रन्थ लिखा है—**"वेदान्तदर्शनेर इतिहास"** इस सद्ग्रन्थ की भूमिका इतनी विशाल और गरिमामयी है कि उसे 'स्वतन्त्र कृति' मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। अद्यावधि आद्य शंकराचार्य के समय-निर्धारण में अनेक सुधीजनों ने सातिशय परिश्रम किया है। उसका कोई ठोस परिणाम सामने नहीं आया। समस्या जस-की-तस रह गयी है। इसका एक

ज्वलन्त एवं समानाधिकृत कारण भी है। वह यह कि सभी चिन्तकों के पास केवल एक-एक सूत्र है—**भगवान् शंकराचार्य का 'जन्मकाल अथवा 'तिरोधानकाल'**। किसी भी पक्ष के पास उभय सूत्र अथवा स्रोत नहीं है। यथा—

पक्ष	आविर्भावकाल	तिरोधानकाल
१. पं. उदयवीर शास्त्री	५०९ ई० पूर्व	?
२. जैन पक्ष [जिनविजय]	४७७ ई० पूर्व	?
३. [चन्द्रकान्त बाली]	११३ ई० सन्	?
४. बाल गंगाधर तिलक —	?	७२० ईसवी सन्
५ बहु प्रचलित मत	७८८ ई० सन्	?

ये सब विचारक केवल एक पहलू का अवलम्बन लेते हैं और दूसरे पहलू का मात्र अनुमान लगाते हैं। कोई भी पक्ष धड़ल्ले से उभय पक्षों का समन्वय स्थापित नहीं कर सका है। स्वामी प्रज्ञानानन्द स्यात् पहले विद्वान् हैं, जिन्होंने आद्य शंकराचार्य के जीवन-निधन-दोनों को रेखाङ्कित किया है।

यथा—

भगवान् शंकराचार्य का जन्म : विक्रमाब्द १४ [४४ ईसवी पूर्व]

भगवान् शंकराचार्य का निधन : विक्रमाब्द ४६ [१२ ईसवी पूर्व]

इस दृष्टि से स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती वेदान्त-चिन्तक समाज में स्वतः स्फूर्त शिखामणि प्रतिष्ठित हो गए हैं। प्रश्न बंग-साहित्य का नहीं है; समूचे भारतीय साहित्य में स्वामी प्रज्ञानानन्द का नाम दिप-दिपा रहा है। स्वामी जी को साष्टांग प्रणाम।

'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' के दूसरे संस्करण पर, विशेषतया उक्त रचना के 'भूमिका-खण्ड' पर बाबू राजेन्द्रनाथ घोष [अब स्वामी चिन्मयानन्द] ने जिस ढंग से टिप्पणियाँ की हैं; उससे मूल रचना का मन्तव्य और मूल्य—दोनों धूमिल हुए हैं। वैचारिक स्तर पर स्वामी प्रज्ञानानन्द की महती हानि हुई है। ऐसा लगता है, अनुसन्धान की गाड़ी जितनी आगे बढ़ चुकी थी, स्वामी चिन्मयानन्द की टिप्पणियों से वह गाड़ी दो गुणा पीछे सरक गई है। यह अच्छा नहीं हुआ।

उचित तो यह था कि स्वामी, चिन्मयानन्द जी इसी विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखते, उसमें अपने से पूर्ववर्ती स्वामी जी के विचारों की समरेखा पर अपने विचार अनुसन्धान पटल पर रखते, और तथाकथित भूमिका भाग को स्व-रचित टिप्पणियों से अलग ही रखते। चोटी के विद्वान् ऐसा ही मार्ग अपनाते हैं। अधुना स्थिति शोभन प्रणाली से हट गई है। दो-दो विपरीत-प्रवहणशील विचारधारा की एक साथ उपस्थिति से पाठक-समाज का रुचिभंग होना स्वाभाविक है। हम पूर्वोक्त स्थिति से एकदम-से विचलित हुए हैं। हम कर भी क्या सकते हैं?

सभी सुधीजन जानते हैं कि कर्तव्य बोध छोटे-से-छोटे व्यक्ति को चैन से बैठने नहीं देता। यही हमारे साथ हुआ है। अपनी मानसिक बेचैनी के शमन के लिए हमारे सामने स्थित 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' के समग्र भूमिका खण्ड पर अनुटिप्पण लिखने की व्यग्रता मन में जाग उठी और परिणाम हमारे विवेकशील पाठकों के सामने हैं।

मूल रचना बंग-भाषा में है। हमें उसका हिन्दी-अनुवाद उपलब्ध कराने में, हमारे माननीय बंगबन्धु श्रीयुत उपेन्द्रनाथ राय [निवास-मटेली, ज़िला जलपाई गुड़ी, प. बंगाल] ने सहायता की है। अनूदित निबंध पढ़कर लगा कि अनुवाद भी मूलरचना-जैसा स्वादिष्ट है। हमने इसे सर्वथा आप्त मानकर अपने अनुचिन्तन का आधार मान लिया

है। स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने जिस शैली से आद्य शंकराचार्य पर विचार व्यक्त किए है; इस प्रकार हैं। यथा—

"—अशोक की मृत्यु के[1] बाद ही मौर्य साम्राज्य का पतन आरम्भ हुआ। मौर्यवंश का अन्तिम सम्राट् 'बृहद्रथ' ई० पू० शुंगवंशी पुष्यमित्र द्वारा निहत हुआ। पुष्यमित्र के समय से हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान हुआ। अशोक ने यज्ञानुष्ठान बन्द कर दिए थे। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ करके हिन्दूधर्म का पुनरभ्युत्थान आरम्भ किया। पुष्यमित्र ने १८४ ई० पू० से १४८ ई० पू० तक राज्य किया।[2] इतिहासकार स्मिथ के मत में महाभाष्यकार पतञ्जलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। ऐसी किंवदन्ती है कि आचार्य शंकर के गुरु गोविन्दपाद ही पतञ्जलि हैं। योगसूत्रकार पतञ्जलि अवश्य ही अति प्राचीन हैं। महाभाष्यकार पतंजलि को शंकर का गुरु अनुमित कर सकते है; किन्तु आचार्य शंकर का काल-निर्णय बहुत कठिन है। शृंगेरी मठ के आचार्यों के विवरण में उनका आविर्भावकाल ४४ ई० पूर्व माना गया है।[3] महामति तैलंग ने शंकर का आविर्भाव काल ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम भाग निर्धारित किया है।

---

१. पुराणमतानुसार अशोक का निधन सप्तर्षिसंवत् १२२६-२१९ ईसवी पूर्व में हुआ। यह लिखना इसलिए आवश्यक हो गया कि कुछ-एक पुराणशास्त्रो के भ्रान्त टीकाकारों ने अशोक का अवसानकाल १४१२ ईसवी पूर्व अथवा ७२३ ई० पूर्व ठहराया है। पं० उदयवीर शास्त्री ने काश्मीरी अशोक और मगध सम्राट् अशोक को अभिन्न मान लिया है। इतिहास की तथाकथित विसंगति पर अनुसन्धान का शोभन महल खड़ा नहीं किया जा सकता। अतः इतिहास की साफ-सुथरी तस्वीर को सामने रखना बहुत जरूरी है।

२. पुष्यमित्र का शासनकाल १८४ ई० पू० से १४८ ई० पूर्व मानना पुराणसंगत नहीं है। पुराण-शास्त्रानुसार पुष्यमित्र ने १०४ वर्ष तक राज्य किया। सप्तर्षि संवत् १२५६ से १३६० तक [ईसवी पूर्व १७९ से ७५ ई० पूर्व तक]। पुष्यमित्र का १०४ वर्षीय शासनकाल कल्पित या अतर्कित बिल्कुल नहीं है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि ई० पूर्व शती के अन्तिम चरण में आन्ध्रवंशी महाराजा हाल (१७ वां घटक) का शासनकाल १०० वर्षीय कूता गया है। [देखो—सम्मेलन पत्रिका : भाग ७० अंक १] इस तरह से पुष्यमित्र के शासनकालीन आयाम के आयताकार हो जाने से पतञ्जलि और शंकराचार्य का कालिक अन्तराल अनायास ही छोटा हो गया है। दूसरी बात—जिसकी उपेक्षा हरगिज नहीं करनी चाहिए—यह कि भगवान् पतञ्जलि और भगवान् शंकराचार्य के मध्य वर्तमान—
पतञ्जलि-गौड़पाद-गोविन्दपाद-शंकराचार्य
गुरु-शिष्य शृंखला विद्यमान है; जिससे तथाकथित कालिक अन्तराल की स्थानपूर्ति स्वतः हो जाती है। यथा—
पुष्यमित्र १७९ ई० पूर्व - ७५ ई० पूर्व। पतञ्जलि १४०-१०० ई० पूर्व
गौड़ पाद १००-६० ई० पूर्व
गोविन्दपाद ६०-२० ई० पूर्व।
शंकराचार्य २७ ई० पू० में दीक्षा ली।
निष्कर्षतः पतंजलि और शंकराचार्य के मध्य भयावह अन्तराल का समाधान आसानी से हो गया है। इस गुरु-शिष्य परम्परा से पतञ्जलि और गोविन्दपाद की अभिन्नता भी निरस्त हो जाती है; जिससे स्वामी जी बेहद विचलित हो रहे थे।

३. शंकराचार्य का आविर्भावकाल ४४ ई० पूर्व अन्य विद्वानों ने भी स्वीकारा है। पूना से प्रकाशित मराठी भाषा के साप्ताहिक पत्र 'मुमुक्षु' (१६ अक्टूबर १९१३) के अंक ३७ में जन्मकुण्डली सहित इस प्रकार से लिखा है : कलि गताब्द ३०५८ = ईश्वर संवत्सर वैशाख शुक्ल १५(?) रविवार आद्रा नक्षत्र तथा इष्टकाल ११/१५ मिथुन लग्न। [वेदान्त दर्शन का इतिहास : पृष्ठ ४४४]
कलिगताब्द ३०५८ विक्रमाब्द १४ = ४४ ई० पूर्व की स्थापना अखण्डनीय है। इसी ढंग से 'ईश्वर' संवत्सर की परीक्षा भी की जा सकती है। यथा—

प्रो० मोक्षमूलर ने ७८८ ई० शंकर का जन्मकाल निश्चित किया है। किन्तु पतञ्जलि को शंकर का गुरु मानने से वे शंकर पुष्यमित्र आदि के समकालीन हो जाते हैं और शंकर का आविर्भावकाल ४४ ई० पू० मानने से पतञ्जलि कम से कम १०० वर्ष से अधिक जीवित रहे—ऐसा मानना पड़ता है। चूंकि १५३ ई० पू० में मिलिन्द पुष्यमित्र द्वारा पराजित हुआ और उसे पराजित करके पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया।[1] अतः उस यज्ञ में यदि पतञ्जलि उपस्थित रहे हों, तो शंकर का आविर्भावकाल कम-से-कम १०० वर्ष पहले उनका वर्तमान होना स्वीकार करना पड़ता है। अवश्य ऐसे दीर्घकाल तक जीवित रहना मनुष्य के लिए अस्वाभाविक नहीं लगता, और अविश्वास का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु इस सम्बन्ध में स्थिरतर प्रमाण न होने से निष्कर्ष रूप में इसे माना नहीं जा सकता। और यदि यज्ञ के बाद पतञ्जलि का आविर्भाव हो तो काल का परिमाण कम हो जाता है।

यहाँ एक और विषय की चर्चा आवश्यक है।

भोजराज की पातंजल-दर्शन के ऊपर 'राजमृगांक' नामक वृत्ति है। भोजदेव धारानगरी के अधिपति के रूप में परिचित हैं। व्याकरण में 'शब्दानुशासन' और वैद्यक में राजमृगांक नामक ग्रन्थ उनका रचित हैं। भोज प्रबन्ध आदि ग्रन्थों के देखने से लगता है कि भोजराज एकादश शताब्दी ई० में मालव देश के शासक थे। शिशुपालवध के प्रणेता माघ के समकालिक थे।

भोजराज एकादश शताब्दी में वर्तमान थे। राजमृगांक वृत्ति में उन्होंने लिखा है :

"शब्दानामनुशासनं विदधता पतञ्जलेः कुर्वता
वृत्तिं राजमृगांक संज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्-चेतो वपुषां मलाः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धताः
तस्य श्री रणरंगमल्लनृपतेः वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः।"

'प्रमाथी संवत्सर १३ + ३०५८ कलिगताब्द ३०७१ योग ६० ÷ [३१] = शेष ११ ईश्वर। यहाँ दाक्षिणात्य रीति से गणना की गयी है।
परिणामतः भगवान् शंकराचार्य का जन्म विक्रमाब्द १४ को भारत के अधिकांश सुधीजनों का समर्थन प्राप्त है।

१. भगवान् पतंजलि के प्रसंग में काफी कुछ लिख आये हैं। हम ने भगवान् पतञ्जलि का कार्यकाल १४०-१०० ईसवी पूर्व ठहराया है। परवर्ती शिष्य-शृंखला के लिए भी ४० वर्ष प्रतिशिष्य कार्यकाल मान लिया है। पुष्यमित्र ने १५३-१५० ई० पूर्व में मिलिन्द (मिनाण्डर) पर विजय प्राप्त की—यह अनुमान सटीक लगता है। इसे ऐतिह्य तथ्य मानकर पतंजलि का अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराने के उपरान्त ही कार्यकाल आरम्भ होता है। यही आकलन प्रासंगिक है।
टिप्पणी लेखक को यहाँ कुछ-और भी कहना है। हाथीगुम्फा-अभिलेख के अनुसार भारत में यूनानियों का आगमन, बिन्दुसार से उनका संघर्ष और समझौता—ये सब ३१२ ई० पूर्व में सम्भव हुआ। पुराणशास्त्रों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि यूनानियों ने भारत में १६० वर्षों तक शासन किया : "अशीतिः द्वे" ८० + ८० = १६० वर्ष। ३१२-१६० = १५२ ई० पूर्व में पुष्यमित्र तथा मिलिन्द (यूनानी सेनापति) में संघर्ष होना पुराण-सम्मत भी है, यूनानी इतिहास-सम्मत भी है। अतः ई० पूर्व १५० में पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। हमारा अनुमान है, भगवान् पतञ्जलि यज्ञोपरान्त अधिक से अधिक चालीस वर्ष वर्तमान रहे। ११० ई० पू० भगवान् पतञ्जलि का अन्तिम वर्ष है।
—टिप्पणी लेख : चन्द्रकान्तबाली

इसे देखकर लगता है कि भोजराज वैद्यक शास्त्र के कर्ता चरक, योगसूत्रकार पतञ्जलि और महाभाष्यकार पतञ्जलि को अभिन्न समझते थे। भोजराज के मत में चरक और पतञ्जलि प्रभृति अनन्तदेव के अवतार थे। भोजराज के श्लोक से लगता है कि अनन्तदेव का योगशास्त्र पर कोई ग्रन्थ हैं। किन्तु कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिला। चरक के ग्रंथ में अनन्तदेव का नाम नहीं है। किन्तु भावप्रकाश में चरक को अनन्तदेव का अवतार माना गया है। भोजराज ने शब्दानुशासन, पतञ्जलवृत्ति और राजमृगांक नामक वैद्यक ग्रन्थ रचकर फणिभृत् भर्ता अनन्तदेव की भांति **वाक्, चित्त और शरीर** के मल को दूर किया है। अतः भोजराज के वाक्यानुसार चरक और पतञ्जलि अभिन्न व्यक्ति लगते हैं। हमें लगता है—योगसूत्रकार, महाभाष्यकार और पतंजलि अभिन्न व्यक्ति नहीं हैं। चरक महाभाष्यकार से पूर्ववर्ती हैं। पाणिनि के सूत्र में चरक का उल्लेख है। ये भिन्न-भिन्न समय में अवतीर्ण हुए थे। हो सकता है इनकी विद्वत्ता, ज्ञानगाम्भीर्य आदि के कारण इन्हें अनन्तदेव का अवतार माना जाता था। चरक और सुश्रुत बुद्धदेव से प्राचीन हैं। बुद्धदेव से पहले भी चरक और सुश्रुत का प्रचार था। बौद्धयुग में चिकित्सा शास्त्र का जो विस्तार हुआ, उसके मूल में चरक और सुश्रुत ग्रन्थ थे। महाभाष्यकार, और चरक एक व्यक्ति नहीं हो सकते। महाभाष्यकार यदि पुष्यमित्र के समकालीन हों तो वे द्वितीय शताब्दी ई० पू० में वर्तमान थे। किन्तु चरकाचार्य ई० पू० षष्ठ या सप्तम शताब्दी के पूर्ववर्ती थे।

नागार्जुन जिस प्रकार सुश्रुत के प्रतिसंस्कर्ता हैं, लगता है—महाभाष्यकार पतञ्जलि भी उसी प्रकार के प्रतिसंस्कर्ता हैं। योगसूत्रकार पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से प्राचीन हैं। कारण, पाणिनि के गणपाठ में पतञ्जलि का नामोल्लेख है। हमने भी देखा है कि दार्शनिक सूत्र सभी समसामयिक हैं। अतः सूत्रकार और महाभाष्यकार अभिन्न व्यक्ति नहीं हो सकते। आचार्य शंकर के समय चरक सुश्रुत का प्रामाण्य स्वीकृत हो चुका था। किन्तु वाग्भट्ट का नामोल्लेख नहीं। [श्री] कुण्टे महोदय के मत में वाग्भट्ट ई० पू० द्वितीय शताब्दी में वर्तमान थे। पद्मपादाचार्यकृत पंचपादिका में चरक सुश्रुत का नाम है। पद्मपाद शंकर के शिष्य थे अतः [उनके] समसामयिक हैं। शंकर के समसामयिक पद्मपाद के ग्रन्थ में चरक और सुश्रुत का उल्लेख है। किन्तु वाग्भट्ट का नामोल्लेख नहीं है। इससे लगता है कि शंकर के समय वाग्भट्ट का प्राधान्य स्थापित नहीं हुआ था। अतः देखते हैं—आचार्य शंकर का समयनिर्धारण बहुत सहज नहीं है।

शंकर का कालनिर्णय

अब देखना है—शंकर किस समय अवतीर्ण हुए? इस सम्बन्ध में तीन प्रधान मत है :—[१] ४४ ई० पूर्व; [२] षष्ठ शताब्दी का अंतिम भाग; और [३] ७८८ ई०। ये तीन मत प्रधान रूप से विद्यमान हैं। मोक्षमूलर प्रभृति ने ७८८ ई० ग्रहण किया है और बहुतों ने उसका अनुसरण किया है[1] हमारी समझ में शंकर ई० पू० में आविर्भूत हुए। शंकर के जीवन के बारे में माधवाचार्य कृत 'शंकरविजय' सदानन्दगिरि कृत 'शंकर दिग्विजय' तथा 'चिद् विलास' एवं सदानन्द-रचित 'जीवनी' भी है। मध्व सम्प्रदाय के पण्डित नारायणाचार्य ने 'मध्वविजय' और 'मणिमंजरी' नामक ग्रन्थों में शंकर का अति जघन्य चित्र आंका है। यह चित्र साम्प्रदायिक विरोध का विषमय फल है। कुछ लोगों के मत में "मध्व विजय" और "मणिमंजरी" नामक दो ग्रन्थों में शृंगेरी मठ के तात्कालिक मठाधीश "विजय शंकर आचार्य" को ऐसे घृणित रूप में चित्रित किया गया है। योरोपीय विद्वानों में विल्सन और मोक्षमूलर ने इस काल निर्णय को

---

१. किन्तु मोक्षमूलर प्रभृति ने ७८८ ई० को शंकर का जन्मकाल माना है; वह [दरअसल] पूना दक्कन कालिज के संस्कृताध्यापक स्व.के.बी.पाठक.के परिश्रम का फल है। 'शंकराविर्भाव' नाम से प्रायः १८-१९ मत प्रचलित हैं। किन्तु यह ७८८ ई० से साधारणतया गृहीत है।—लेखक

बारे में पर्याप्त गवेषणा की है । देशी विद्वानों में तैलंग महोदय की चेष्टा ही विशेष प्रशंसनीय है । कृष्णा स्वामी ऐय्यर महोदय ने शंकर का जीवन चरित लिखा है । उन्होंने मोक्षमूलर का मत समीचीन मान [कर] ग्रहण किया है ।

आचार्य शंकर के स्थितिकाल का निर्णय किए बिना तत्कालीन सामाजिक,राजनीतिक और राष्ट्रीय धर्मजीवन की अवस्था को हृदयंगम नहीं किया जा सकेगा । इसीलिए काल-निर्णय एकान्त (नितान्त) आवश्यक है । अब माधवाचार्य प्रणीत 'शंकरविजय' को उपादान रूप में लें । ये माधवाचार्य विद्यारण्य मुनीश्वर हैं, या नहीं, इस विषय पर बहुतों को सन्देह हैं । जो हो, शंकरविजय-लेखक और विद्यारण्य को अभिन्न मानने से भी 'शंकर-विजय' की प्रामाणिकता सुसिद्ध नहीं होती । विद्यारण्य का स्थितिकाल त्रयोदश से चतुर्दश शताब्दी [सम्भवतः ई०] है । वे 'शत दूषणीकार' वेदान्ताचार्य के समसामयिक हैं । वह शंकर की स्थिति से बहुत बाद का समझा गया है और इसमें ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं हुई है । माधव के मत में शंकर ने बाण प्रभृति पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था । बाण हर्षवर्धन का सम सामयिक है । हर्षवर्धन सप्तम शताब्दी [६४० ई०] में राज्य करते थे । अतः शंकर और बाण समकालीन नहीं हो सकते । इस तरह की ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ 'शंकर विजय' की प्रामाणिकता मान्य नहीं हो सकती । संभवतः 'शंकर विजय' किसी पुराने ग्रन्थ से संगृहीत उपादान से विरचित है ।

विल्सन साहब ने आनन्दगिरि की प्रामाणिकता स्वीकार की है । किन्तु तैलंग ने उनके मत का खण्डन किया है । हमें लगता है कि आनन्दगिरि भी शंकर के साक्षात् शिष्य नहीं हैं । आनन्दज्ञान या आनन्दगिरि ने शुद्धानन्द के शिष्य के रूप में अपना परिचय दिया है । उन्होंने शांकर भाष्य पर 'न्याय-निर्णय' नामक टीका रची । इस टीका के अन्त में लिखा है:

"सन्त्येवं बहुलानीह व्याख्यानानि महाधियाम् ।

व्याख्या तथापि सौख्येन व्याख्यानाय मया कृता ।।"

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि [यह] अनतिप्राचीन है । विशेषतः अन्य टीकाकारों से परवर्ती है । आनन्दगिरि विद्यारण्य से भी परवर्ती हैं । संभवतः वे १५ वीं शताब्दी में वर्तमान थे । अतः इनके ग्रन्थ की प्रामाणिकता सुदृढ़ नहीं है । आनन्दगिरि का खण्डन करके भी तैलंग महाशय भ्रम में पड़ गए हैं । इन्होंने इण्डियन ऐंटीकेरी खण्ड-५ पृष्ठ २८७ पर दोनों शंकर विजयों की चर्चा की है । क्योंकि वे चिद्विलास तथा चित्सुखाचार्य को अभिन्न समझकर चिद्विलास को शंकर के साक्षात् शिष्य के रूप में ग्रहण करते हैं । तैलंग महोदय के मत में चिद्विलास और चित्सुखाचार्य—दोनों एक ही व्यक्ति हैं । यदि चित्सुखाचार्य 'तत्त्वदीपिकाकार' चित्सुखमुनि हैं,तो वे शंकर के साक्षात् शिष्य नहीं हो सकते । इसका कारण यह है कि 'तत्त्वदीपिकाकार' चित्सुखाचार्य ने 'न्यायकन्दली' से वाक्य उद्धृत किये हैं । 'न्यायकन्दली' ९९१ ई० में रची गई थी । तत्त्वदीपिका में न्याय लीलावतीकार वल्लभाचार्य के मत का खण्डन भी है ।

न्यायलीलावतीकार ईसा की दशम शताब्दी में वर्तमान थे । तत्त्वदीपिकाकार चित्सुख न्यायकन्दलीकार श्रीधर से परवर्ती हैं और विद्यारण्य से पूर्ववर्ती हैं । विद्यारण्य ने चित्सुखाचार्य का नामोल्लेख 'सर्वदर्शन' में किया है । अतः चित्सुखाचार्य विद्यारण्य से पूर्ववर्ती हैं । चित्सुख 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' कार श्रीहर्ष मिश्र के परवर्ती हैं । श्रीहर्ष मिश्र राठौर राजा जयचन्द के समकालिक हैं । **जयचन्द ११९३ ई० में मुसलमानों द्वारा सिंहासन च्युत हुए** । अतः श्रीहर्ष मिश्र द्वादश शताब्दी [ई०] के मध्यभाग में थे ।

चित्सुखाचार्य ने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' की टीका रची है । अतएव चित्सुखाचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य नहीं हो सकते । इस सम्बन्ध में तैलंग महोदय का निष्कर्ष भ्रान्त है । 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक ब्रह्मसूत्रभाष्य की एक टीका है । इस टीका का प्रणेता है—अद्वैतानन्द बोधेन्द्र । इनका भी दूसरा नाम है—चिद्विलास । ये ११६६-११९६

ई० तक शृंगेरी के मठाधीश थे। वे भी श्रीहर्ष मिश्र के समकालीन थे। अतः वे भी शंकर के साक्षात् शिष्य नहीं हैं। अत एव चिद्विलासकृत् 'शंकरविजय' का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं हो सकता।

दूसरे जीवन चरित के लेखक हैं—सदानन्द। वेदान्तसारप्रणेता—सदानन्द 'सदानन्द' और वे 'सदानन्द' अभिन्न हों, तो वे भी विद्यारण्य से परवर्ती हो जाते हैं। क्योंकि 'वेदान्तसार' में पंचदशी के श्लोक उद्धृत हैं। इन सब प्रमाणों से लगता है कि शंकर का सम-सामयिक कोई भी जीवन चरित नहीं हैं।

जो हो, परवर्तीकाल में प्राचीन इतिवृत्त का अनुसरण करके आचार्य का जीवनचरित लिखा गया है। माधव के ग्रन्थ में इसका स्पष्ट इंगित है। अतः आचार्य के जीवन चरित की प्रामाणिकता के विषय में अधिक कुछ नहीं मिलता। अब समय के बारे में तैलंग महोदय के मत की चर्चा करें। उनके मत में—शंकर ने अपने भाष्य में राजा पूर्णवर्मा का वैसा उल्लेख किया है, उससे उन्हें शंकर के समसामयिक के रूप में ग्रहण करना चाहिए। हमें यह मत समीचीन नहीं लगा। क्योंकि जिन स्थलों पर पूर्णवर्मा का उल्लेख है, वहाँ पूर्णवर्मा नाम के किसी विशेष राजा का उल्लेख नहीं है। ब्रह्मसूत्र २/१/१८ सूत्र के भाष्य में शंकर लिखते हैं—

"न हि वन्ध्या पुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकात्।

इत्येवं जातकीयेन मर्यादाकारणेन निरूपाख्यो बन्ध्यापुत्रो राजा बभूव, भविष्यति वा विशिष्यते।" इति।

अर्थात् राजा पूर्णवर्मा के अभिषेक से पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा हुआ था। यह वाक्य जैसा है, उक्त वाक्य भी वैसा ही है। यहाँ पूर्णवर्मा किसी विशेष राजा का नाम नहीं है। यह नाम देवदत्त, यज्ञदत्त नामों की भांति व्यवहृत हुआ लगता है। मन्वादि शास्त्रों में क्षत्रियों की पदवी 'वर्मन्' ब्राह्मणादिका नाम देवदत्त-यज्ञदत्त और वैश्य का ऐश्वर्य के द्योतक के रूप में रखने का विधान है। ऐसे विधान के बल पर ही शंकर ने 'पूर्णवर्मा' यह साधारण नाम ग्रहण किया है; विशेषतः इस सूत्र के भाष्य में पूर्णवर्मा के उल्लेख से पहले और बाद में देवदत्त-यज्ञदत्त के नामों की भांति पूर्ण वर्मा भी साधारण नाम [मात्र] है। किसी विशेष राजा का नाम नहीं है। तैलंग के मत में शंकर छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे और मगध के राजा पूर्णवर्मा के समसामयिक थे। राजा पूर्णवर्मा मगध के स्थानीय नरपति थे। वे अशोक के अंतिम वंशधर हैं। चीनी पर्यटक हुएनसांग के अनुसार वे उसके प्रायः [?] समकालीन थे। उन्होंने बोधिवृक्ष फिर से लगाया था। शशाङ्क नरेन्द्रगुप्त ने बोधिवृक्ष समूल उखाड़ डाला था। पूर्णवर्मा ने उसे पुनः स्थापित किया था। हुएनसांग ने पुनः स्थापित बोधिवृक्ष के पुनः दर्शन किए थे। अतः पूर्णवर्मा सप्तम शताब्दी के प्रथम भाग में वर्तमान थे। [यदि] उस समय शंकर का अभ्युदय होता तो चीनी पर्यटक अवश्य ही उनके बारे में उल्लेख करते। शंकर का प्रभाव और प्रतिभा उनके जीवन काल में ही भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गई थी। शंकर के आविर्भाव के थोड़े बाद ही चीनी पर्यटक (६४० ई० पू०) का आगमन हुआ। शंकर के सम्बन्ध में उनके (विषय में) कुछ न कहकर मौन रहने का कोई कारण दिखाई नहीं देता।

शंकर के जीवन चरित में देखते हैं—कि उन्होंने पण्डित बाण को पराजित किया था। हर्षचरित के रचयिता बाण तथा हर्षवर्धन समकालीन हैं। हर्षवर्धन ने ६०६ ई० में सिंहासनारोहण किया। शंकर छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में रहे हों, तो [भी] बाण के साथ उनकी भेंट होने की सम्भावना बहुत कम है। और यदि मान लें कि षष्ठ शताब्दी के अन्तिम भाग में भी जीवित थे, तो भी जीवन चरितकारों में दूसरे विवरणों में एक रूपता नहीं रहती। षष्ठ शताब्दी के प्रथम भाग में वह मूल ग्रन्थ के अनुसार अनूदित हुआ, किन्तु हर्ष और बाण सप्तम शताब्दी के प्रथम भाग में वर्तमान थे; अतः ग्रन्थकार का आशय सप्तम शताब्दी के प्रथम भाग में है; ६०० ई० से सप्तम शताब्दी का आरम्भ होता है। षष्ठ शताब्दी का नहीं, अनुवाद के कारण, जीवनचरितकारों के मत में उन्होंने [शंकर] ने शास्त्रार्थ में भास्कर, दण्डी

तथा मयूर आदि पंडितों को पराजित किया। भारकराचार्य [वेदान्ती] शंकर के परवर्ती हैं। उसने भाष्य में शंकर के भाष्य का खण्डन किया है। विशेषत: शंकर ने अपने ग्रन्थ में भास्कराचार्य आदि का नामोल्लेख या मत उद्धृत नहीं किया, उन्होंने माहेश्वर मत का (२/३/३७-४०) निरसन किया है। किन्तु उसमें भास्कराचार्य के मत का खण्डन नहीं किया; अथवा उनका नामोल्लेख भी नहीं किया। भास्कर शंकर के परवर्ती हैं। कारण, उन्होंने शंकर के मत को प्रतिपक्ष के रूप में ग्रहण करके अपना भाष्य रचा है। जीवनचरितकारों ने परवर्ती काल के प्रधान-प्रधान पण्डितों के नाम शंकर के प्रतिपक्ष के रूप में ग्रहण किया है और प्राधान्य दिखाने के लिए अतथ्य को तथ्य के रूप में प्रपंचित किया है। अत: शंकरविजयोक्त बाण-पराजय को देखकर शंकर को उस समय स्थापित करना अन्याय है। फिर पर्यटक हुएनसांग ने नालन्दा में रहते हुए सांख्य, पातंजल और वेदान्त शास्त्रों का शीलभद्र के निकट अध्ययन किया था। उनका रचा हुआ विवरण [ही] उसका साक्षी है। हुएनसांग ने लिखा है, कि वहाँ वेद-वेदान्त आदि साधारण ग्रन्थों से लेकर न्याय, व्याकरण, चिकित्सा और शिल्पशास्त्र तक पठित रहते थे। नालन्दा में रहते हुए उसने योगशास्त्र तीन बार, न्यायानुसारी शास्त्र एक बार, अभिधर्मशास्त्र एक बार, हेतुविद्या शास्त्र दो बार तथा शब्दविद्याशास्त्र दो बार अध्ययन किया था। उसने पांच वर्ष नालन्दा में अध्ययन किया था। उसके विवरण में देखा जाता है कि १८ प्रकार के साम्प्रदायिक दार्शनिक मत प्रचलित थे। कन्नौज और नालन्दा में रहते हुए उसने ब्राह्मणों के साथ नाना प्रकार के शास्त्रार्थ किए थे। उन सब शास्त्रार्थों में तरह-तरह के दार्शनिक मतों की चर्चा होती थी। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों की चर्चा अधिक होती थी। बौद्ध हीनयान और महायान मतों के विवाद का उल्लेख भी उसने किया है। उसने नाना प्रकार [के] साहित्य-प्रचार के बारे में साक्षी दी है। विशेषत: शब्द विद्या, शिल्पविद्या, हेतुविद्या तथा अध्यात्मविद्या का उसने उल्लेख किया है। **अध्यात्मविद्या का अर्थ वेदान्त ही होना चाहिए।** इस विवरण को देखकर अनुमान होता है कि 'वेदान्त दर्शन' हुएनसांग के समय में भी अध्ययन और चर्चाधीन था। इससे लगता है कि शंकर-प्रतिपादित वेदान्त मत पहले [से] ही प्रचारित हुआ। अवश्य ही वेदान्त का मत शंकराभ्युदय से बहुत पहले से प्रचलित था। किन्तु शंकर के प्रभाव से उसका सविशेष परिवर्तन और परिवर्धन [के साथ] संशोधित हुआ था। नालन्दा में वेदान्त शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की सम्भावना है। इसलिए तैलंग महाशय के मत की प्रामाणिकता नहीं है।

अब देखना होगा, प्रो. मोक्षमूलर का निष्कर्ष ठीक है ? या नहीं। 'शृंगेरी मठ की तालिका में भ्रम, प्रमाद, और असावधानी होने पर भी उसे एकदम से अग्राह्य मान लेने का हेतु दिखाई नहीं पड़ता।'

शृंगेरी मठ के विवरण में सुरेश्वराचार्य का स्थितिकाल ८०० वर्ष कहा गया है। मठ के प्राचीन लेखानुसार सुरेश्वर ३० विक्रमाब्द से पीठाधीश थे। हमारे विचार से ३० विक्रमाब्द, अर्थात् ३७ ई० पू० सुरेश्वर का पीठाधिरोहणकाल है। किन्तु दीर्घ ८०० वर्षों के बीच जो पीठाधीश हुए, उनके नाम और विवरण लिखे नहीं गए; अथवा कालक्रम से लुप्त हो गए हैं।[1]

---

१. अब जटिलता का करिश्मा देखते हैं। शृंगेरीमठ की गुरु-परम्परा यों है—आचार्य का जन्म १४-विक्रमाब्द में हुआ, २२-विक्रमाब्द में उन्होंने संन्यास लिया और ४६-विक्रमाब्द में उन्होंने समाधि ली। सुरेश्वर ३०-विक्रमाब्द में संन्यास लेकर ६९५ शालिवाहनाब्द में मृत्यु को प्राप्त हुए—इत्यादि यह कालिक जटिलता लिपिकारों की असावधानी से पैदा नहीं हुई है। पर्याप्त समय तक लेखानुलेख चलते-चलते किसी ने ख्वामख्वाह बेमतलब 'शालिशक' शब्द जोड़ दिया है। वास्तविक शालिवाहन का जीवनकाल ५६ ई० पूर्व से ३४ ई० तक (कुल मिलाकर ९० वर्ष) है। भगवान् शंकर का उदयास्त शालिवाहन के जीवनकाल में ही हो गया था। अतः शालिवाहनाब्द ६९५ का सवाल ही पैदा नहीं होता। भगवान् शंकराचार्य. का तिरोधान शकाब्द ६४४ :

सर्वज्ञात्म मुनि का काल-निर्णय

संक्षेप शारीरिककार सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने को देवेश्वराचार्य का शिष्य बताया है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती ने 'देवेश्वर' का अर्थ सुरेश्वर ग्रहण किया है। संक्षेप शारीरिक में सर्वज्ञात्म मुनि ने लिखा है—

युग्मपयोधि रसान्वितशाके– में हुआ। यदि दोनों अंक आमने-सामने रख दिये जायें, यथा—
६४४ शकाब्द ६९६ शकाब्द
इसे आसानी से समझा जा सकता है। इसमें ५२ वर्षों का अन्तर है, जो असंभाव्य बिल्कुल नहीं है। दरअसल ये अंक उस प्राचीन शक-संवत् के हैं, जिस शकाब्द का स्रोत स्कन्दपुराण में है। यथा—
'त्रिषु वर्षसहस्रेषु शतेनाप्यधिकेषु च।
शको नाम भविष्यश्च सोऽपि दारिद्र्यहारकः।'

—स्कन्दपुराण : माहेश्वरखण्ड, शेष पूर्ववत्

इस शक-संवत् को ईसवी पूर्व में पलटने की विधि इस प्रकार है जो पूर्व कथन में लिख आए है
(क) मूल संख्या से ६१० वर्ष घटाएँ। विदित हो, भारतसंग्राम-काल के समय सप्तर्षि-संवत् ६१० था। ये अंक हटाने से हमें गणित का सरल मार्ग मिल जाता है। ३१००-६१० = २४९० ध्रुवाङ्क।
(ख) ध्रुवाङ्क को भारत-संग्रामकाल से घटाया। विदित हो, भारत-संग्राम १६ दिसम्बर ३१४८ ई० पूर्व में समाप्त हुआ था। अतः ३१४८-२४९० = ६५८ ई० पूर्व में पौराणिक शकाब्द की मान्यता सर्वत्र स्वीकृत है। यही शकाब्द यहाँ अभिप्रेत हैं।
(१) भगवान् शंकराचार्य का तिरोधान ६५८-६४४ = १४ ई० पूर्व में मान लेना यथार्थ है। गणित को अधिक सरल रखने के लिए आवश्यक है, गिनती भारत-संग्रामकाल से थोड़ा बाद में स्थापित ३१४७ ई० पूर्व से आरम्भ की जाय। अतः ३१४७-२४९० = ६५७; पुनः ६५७-६४४ = १३ ई० पूर्व का निर्धारण अधिकतम यथार्थ है।
(२) तथैव सुरेश्वराचार्य का निधनकाल भी अन्वेषणीय है। यथा—
६९५-६५७ = ३८ ईसवी संवत्। इसी गणित से—
—३० विक्रमाब्द = २७ ई० पूर्व में सुरेश्वराचार्य ने संन्यास की दीक्षा ली; ९६ विक्रमाब्द = ३८ ईसवी संवत् में सुरेश्वराचार्य ने दिवंगमन किया। सुरेश्वराचार्य ने ६६ वर्षीय संन्यस्त जीवन और भगवान् शंकराचार्य के पश्चात् ५२ वर्षीय मठाधीश जीवन व्यतीत किया।
कुछ विचारकों को, शायद यह अटकलबाजी प्रतीत हो; अथवा आंकड़ों का जादूभरा खिलवाड़ नज़र आये। हमारे पास इस जटिलता का समाधान भी है। भगवान् शंकराचार्य के १० वें मठाधीश आनन्दाविर्भावाचार्य का समय ९-विक्रम-संवत् (३७३ ईसवी) दर्ज है। दो-दो विक्रमादित्यों का अस्तित्व दो उन खूंटों के समान है, जिनके सहारे 'इतिहास-शिविर' तना—बंधा हुआ है। यथा—
विदित हो, संशोधित गणित के अनुसार गुप्तवंश का शासनकाल इस प्रकार है—

चन्द्रगुप्त प्रथम	समुद्रगुप्त	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य
३०७-३१४ ई०	३१५-३६३ ई०	३६४-४०० ईसवी

उभय विक्रमादित्यों द्वारा भिन्न-भिन्न समयों में स्थापित 'विक्रम-संवत्' यहाँ वाञ्छनीय है। आइने-अकबरी में लिखा है—दो विक्रमादित्यों के दरम्यान ४२२ वर्षों का व्यवधान है। ठीक है। ई० पूर्व ५८ + ३६४ ईसवी संवत् = ४२२ वर्ष। यदि विक्रम संवत् १४ = ४४ ईसवी पूर्व का साल शंकरयुग की पूर्ववर्ती सीमा का रेखाङ्कन है, तो विक्रम संवत् ९ = ३७३ ईसवी सन् का साल शंकरयुग की अवर सीमा की रेखा है। इस सारिणी ने शृंगेरीमठ की मान्यता को आप्तरूप दिया है, और शारदापीठ की स्थापना को निरस्त भी नहीं किया है।
निष्कर्षतः सुरेश्वराचार्य का निधनकाल (शालिवाहन) शकाब्द ६९५ (७७३ ई०) से प्राप्त कर उनकी जीवन डोरी को ८०० वर्ष लम्बी खींचने की अब आवश्यकता नहीं रही। —बाली

"महीप-सम्पर्कमवाप्य केवलं वरं कृतार्थाः निरवद्यकीर्तयः ।

जगत्सुते तारित-शिष्य पङ्क्तयः जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः ।"

—प्रथम अध्याय/८

इसकी व्याख्या में मधुसूदन ने लिखा है—'सुरपद' स्थाने 'देवपद' प्रयोगः साक्षात् गुरोर्नाम न गृह्णीयादिति स्मृतेः। अर्थात् 'सुरपद' के स्थान पर 'देवपद' का प्रयोग हुआ है। क्योंकि साक्षात् गुरु का नाम नहीं लेना चाहिए। स्मृति का भी कहना है—गुरु का नाम मत लो। दूसरे टीकाकार रामतीर्थ स्वामी ने भी वही बात कही है। अर्थात् 'देवेश्वरपादरेणवः' से सुरेश्वराचार्य का ग्रहण किया गया है।

अब देखना यह है कि सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्य के साक्षात् शिष्य थे ? या नहीं। हमें लगता है—सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वर के साक्षात् शिष्य नहीं थे। लगता है—वे देवेश्वराचार्य नामक किसी दूसरे महापुरुष के शिष्य थे। देवेश्वर के हाथ से ७५८ ई० में उन्होंने शृंगेरी मठ का कर्तृत्व भार पाया। प्राचीन लेख के सुरेश्वर २७ ई० पू० से ७५८ ई० या ७५७ ई० तक पीठाधीश थे। किन्तु इसकी कोई सम्भावना नहीं है। **लगता है, २७ ई० पू० की तारीख स्थिर है। ७५८ ई० भ्रमवश गृहीत है। ७५८ ई० में सर्वज्ञात्मुनि पीठाधीश हुए। इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य है।** इनका स्थितिकाल स्थिर मानने से इनके गुरु देवेश्वराचार्य थे, ऐसी धारणा की जा सकती है। किसी-किसी आचार्य के बारे में ऐसी अनवधानता अन्यत्र भी विद्यमान है। 'मध्वविजय' और 'मणिमंजरी' प्रभृत ग्रन्थों के प्रणेता नारायणाचार्य ने शंकर के बारे में जैसा चित्र आंका है, उसे देखकर लगता है—विद्याशंकर नामक तात्कालिक पीठाधीश के ऊपर क्रोधवश वैसा चित्र अंकित हुआ है। इस प्रसंग में विद्याशंकर के अतिरिक्त पद्मतीर्थ नाम एक दूसरे पीठाधीश का उल्लेख है। अवश्य ही पद्मतीर्थ से पद्मपाद का ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु तत्कालीन अवस्था का विचार करके पद्मतीर्थ नामक एक पीठाधीश का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य के जीवन-चरित्रकार कृष्णस्वामी ऐय्यर का मत हमने ग्रहण किया है।

इससे लगता है—सुरेश्वर और सर्वज्ञात्ममुनि के अन्तराल में देवेश्वराचार्य आदि आचार्य शृंगेरी मठ के अध्यक्ष थे। मधुसूदन सरस्वती सप्तदश शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे। उनके लिए ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव असम्भव नहीं लगता। उन्होंने गुरु का नाम लेना अन्याय समझा, देवेश्वर का सुरेश्वर किया है। हम ऐसा कोई दृष्टान्त अन्य किसी ग्रन्थकर्ता के ग्रन्थ में नहीं देखते। सभी ग्रन्थकारों ने अपने-अपने गुरु का नाम लिया है और पर्याप्त सम्मान के साथ उनका गुणकीर्तन किया है। आचार्य शंकर भी अपने गुरु का नामोल्लेख करने में कुंठित नहीं हुए। सर्वज्ञात्ममुनि ने भी आचार्य शंकर का नामोल्लेख करके उनको नमस्कार किया है। यदि गुरु का नाम लेना अन्याय समझ कर देवेश्वर लिखा है, तो परमगुरु शंकराचार्य का नाम लेना भी अयौक्तिक है। स्मृतिशास्त्र में केवल गुरु का नाम [ही] नहीं, अपना नाम लेना भी निषिद्ध है।

परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने-अपने गुरु का नामोल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में देवेश्वर का अर्थ सुरेश्वर ग्रहण करने का कोई हेतु दिखाई नहीं पड़ता। सर्वज्ञात्म मुनि यदि अपने गुरु का नाम लेना अनुचित समझते हैं तो 'मण्डन' नाम लेना भी अनुचित है; क्योंकि सुरेश्वर का पूर्वनाम मण्डनमिश्र है। किन्तु संक्षेप शारीरिक के २/६७४ श्लोक में **"परिहृत्य मण्डनवचः"**—ऐसा उल्लेख सर्वज्ञात्मुनि ने किया है। विशेषतः संक्षेप शारीरिककार सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने को देवेश्वर का शिष्य कहकर ही अपना परिचय दिया है। पहले अध्याय की समाप्ति पर उन्होंने लिखा है:

"इति श्रीदेवेश्वरपूज्यपाद-शिष्य-श्रीसर्वज्ञात्ममुनेः कृतौ शारीरिकप्रकरणे संक्षेप शारीरिकः"

इत्यादि। इससे भी लगता है—सर्वज्ञात्ममुनि देवेश्वर के शिष्य हैं। ग्रन्थ की समाप्ति पर उन्होंने गुरु का नाम और अपने स्थितिकाल का जो निर्देश दिया है, उसमें उन्होंने लिखा है:

"श्रीदेवेश्वरपादपङ्कजरजः सम्पर्कपूताशयः।
सर्वज्ञात्म गिरोऽङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरिकं
चक्रे सज्जनबुद्धिमण्डनमिदं राजन्यवंशे नृपेः
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति ॥"

अर्थात् श्री देवेश्वराचार्य के पादस्पर्श से पवित्रीकृत चित्त सर्वज्ञात्म मुनीश्वर ने अक्षतशासन मनुकुल के आदित्य स्वरूप श्रीमन् नामक राजा के राज्यकाल में सज्जनों की बुद्धि के मण्डन स्वरूप 'संक्षेप शारीरिक की रचना की। यहाँ भी उन्होंने देवेश्वर का शिष्य कह कर अपना परिचय दिया है। यहाँ जिस राजा का नाम उल्लिखित हुआ है, उसके बारे में चर्चा करने से सर्वज्ञात्मुनि का स्थितिकाल निर्णीत हो सकता है। सर्वज्ञात्ममुनि दक्षिणभारत के शृंगेरी मठ के अध्यक्ष थे। दक्षिण भारत के किसी राजा का नामोल्लेख करना ही उनके लिए स्वाभाविक है। 'श्रीमति' अर्थात् 'श्रीमान् नाम्नि' यह अर्थ ग्रहण करना ही संगत है। रामतीर्थ स्वामी ने भी यही अर्थ लिया है। श्री है जिसकी—इस प्रकार का अर्थ भी सम्भव है। इससे लगता है—'विष्णुनारायण' या कृष्ण नामक राजा को लक्ष्य करके ही "श्रीमति" सप्तम्यन्त पद व्यवहृत हुआ है। 'मनुकुलादित्य' इस विशेषण के व्यवहार से श्रेष्ठ राजवंश की प्रतीति होती है। 'राजन्यवंशे' इस पद के व्यवहार की भी सार्थकता है। दक्षिणभारत में चालुक्यवंश के बाद 'राष्ट्रकूटवंशीय' राजाओं का आधिपत्य रहा। राष्ट्रकूटवंशीय राजा को 'राजन्यवंश में' अर्थात् राजन्यवंशीय कहना ही सम्भव है। राष्ट्रकूटवंश अतिप्राचीन है। इस विषय में ऐतिहासिक [विद्वान्] स्मिथ साहब ने साक्ष्य दिया है। मनुकूलाऽऽदित्य कहना भी संगत है। राष्ट्रकूट-वंशीय प्रथम कृष्ण ने ७६० ई० में दत्तिदुर्ग [वर्मा] को सिंहासन-च्युत करके [स्वयं] सिंहासनारोहण किया। उसके समय में इतीश का कैलाशमन्दिर स्थापित हुआ। खोदित मन्दिरों में यही सर्वश्रेष्ठ स्थापत्य विद्या का आश्चर्यजनक निदर्शन है। कैलाश-मन्दिर राष्ट्रकूटवंशीय प्रथम कृष्ण की अक्षय कीर्ति है। प्रथम कृष्ण ने ६६०-७०० ई० तक शासन किया। इसी राष्ट्रकूट-वंशीय प्रथम कृष्ण का ही उल्लेख, सर्वज्ञात्ममुनि ने 'मनुकुलादित्य' 'राजन्यवंशीय' और 'श्रीमन्नामा' कहकर किया है। यही स्वाभाविक है। कृष्ण को लक्ष्मीपति [श्रीमान्] लिखना युक्तियुक्त है। इतीश की कीर्ति से कीर्तिमान् क्षत्रिय राजा को मनुकुल का प्रकाशक कहना भी युक्तियुक्त है। राष्ट्रकूटवंशीय राजा को राजन्यवंशीय कहना शोभन है। शृंगेरी मठ की प्राचीन लिपि से भी सर्वज्ञात्ममुनि का समय ७५८ ई० से ७६८ ई० का मालूम होता है। अतः सर्वज्ञात्यमुनि राष्ट्रकूट-वंशीय राजा 'प्रथम कृष्ण' के समसामयिक थे। उनके समय में ही उन्होंने संक्षेप शारीरिक की रचना की। और वैसा होने पर शृंगेरी मठ के काल राष्ट्रकूट-नरपति के काल में समता दिखाई पड़ती है। अतः सर्वज्ञात्ममुनि का स्थितिकाल-निर्णय सुस्थिर है। सर्वज्ञात्ममुनि के गुरु देवेश्वर थे—इसमें भी सन्देह नहीं है। सुरेश्वराचार्य का दूसरा नाम 'विश्वरूपाचार्य' है। अनति प्राचीन ग्रन्थों में यह नाम मिलता है। किन्तु कहीं भी देवेश्वर नाम दिखाई नहीं पड़ता। विद्यारण्य मुनीश्वर से स्वप्रणीत 'विवरणप्रमेयसंग्रह' में 'विश्वरूपाचार्य'—इस नाम का उल्लेख किया है। रामतीर्थ और मधुसूदन—दोनों ही नाम अनतिप्राचीन हैं। अतः उनके लिए ऐतिहासिकता का अभाव असम्भव नहीं है। इन सब कारणों से हम देवेश्वराचार्य को सुरेश्वर से पृथक् व्यक्ति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर प्रतीत होता है कि सुरेश्वराचार्य और सर्वज्ञात्ममुनि के बीच देवेश्वराचार्य आदि दूसरे आचार्य [भी] विद्यमान थे। प्रो० मोक्षमूलर का निर्दिष्ट काल ७८८ ई० ग्रहण करने से सर्वज्ञात्ममुनि शंकर के पूर्ववर्ती हो जाते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि का स्थितिकाल ७५८-ई० से ८४८ ई० है। राजा प्रथम कृष्ण ७६० ई० से ७८० ई० तक सिंहासन पर अधिष्ठित रहे। उसी समय के बीच सर्वज्ञात्म मुनि ने 'संक्षेप शारीरिक'

रचा । शंकर के आविर्भाव से पूर्व उन्होने 'संक्षेप शारीरिक' रचा—यह पूर्णतया असम्भव है । शंकर के काल-निर्णय के प्रसंग में शृंगेरी मठ के प्राचीन लेख और अन्य मठों के आचार्यों का प्रामाण्य अवश्य ग्राह्य है । विशेष कारण के बिना खण्डन करने का कोई हेतु दिखाई नहीं पड़ता । अत एव **हम शंकर का आविर्भावकाल ४४ ई० पूर्व मानने को प्रस्तुत हैं** । माधव के ग्रन्थ में जो जन्मपत्रिका दी हुई है, उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । बहुतों को उसकी प्रामाणिकता में सन्देह है । सन्देह के कारण भी पर्याप्त हैं । क्योंकि शंकराचार्य के जीवन चरित्र लेखक कृष्णास्वामी ऐयर महाशय ने माधव के ग्रन्थ-में दी गई जन्म-पत्रिका अग्राह्य कर दी है ।[१] अत एव जन्मपत्रिका-प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है । हमने आचार्य शंकर का स्थितिकाल ईसा से पूर्व [४४ वाँ वर्ष] ग्रहण किया है । हमारे निष्कर्ष के अनुकूल जो हेतु हैं, वे क्रमशः प्रदर्शित होंगे ।

---

१. भगवान् शंकराचार्य के समय-निर्धारणार्थ 'जन्म-पत्रिका' का उपयोग भी किया गया है । माधव के ग्रन्थ में एक जन्म-पत्रिका का संकेत है, जिसे अनेक सुधीजनों ने अस्वीकारा है । हमारे सामने भी माधव-प्रस्तावित जैसी जन्म-पत्रिका का विवरण है । जन्म-पत्रिका के अभाव में इस पर 'ननु नच' के नशतर कैसे चलाये जा सकते हैं ? हम स्वयं भगवान् शंकराचार्य का समय ४४-१२ ईसवी पूर्व का स्थिर मानते हैं । एतन्निमित्त साधनान्तर से प्राप्त शंकरीय जन्म पत्रिका पर विवेचन करते हैं ।

कलिगताशब्द ३०५८

४ ३ राहु २ १ सूर्य शुक्र बुध
५ चन्द्र १२ मंगल
६ ९
७ ८ केतु शनि १० ११ गुरु

ईश्वर-संवत्सर, वैशाख शुक्ल पंचमी
आद्रानक्षत्र, रविवार
साप्ताहिक 'मुमुक्षु' मराठी १६/१०/१३

कलिगताब्द ५०९१

सुभानुसंवत्सर, वैशाख शुक्ल ४/५
आद्रानक्षत्र, रविवार
श्री विश्वविजय पञ्चाङ्ग २०४७ विक्रमी ४७

कलियुगाब्द ५०९१-३०५८-२०३३ वर्षीय अन्तराल की गुरु शनि एवं राहु केतु की भगण-संख्या की कसौटी परीक्षा करेंगे । यथा—

गुरुग्रह

१२)२०३३(१६९
१२
——
८३
७२
——
११३
१०८
——
५

शनिग्रह

३५)२०३३(५८
१७५
——
२८३
२८०
——
३

राहुकेतु

१८)२०३३(११२
१८
——
२३
१८
——
५३
३६
——
१७

टिप्पणी—तीसरे स्तम्भ में गणना को सरल रखने के लिए १ अंक बड़ा दिया है

—आचार्य शंकर का स्थितिकाल-निर्णय और उसके हेतु—

रामानुज और मध्वाचार्य प्रभृति के भाष्यों में जिस तरह पौराणिक वाक्य उद्धृत हुए हैं, उसी तरह आचार्य शंकर के भाष्य में बहुल प्रयोग दिखाई नहीं पड़ता। श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य को [यदि] उनका भाष्य मानें, तो उसकी भूमिका में अनेक पौराणिक वाक्य दिखाई पड़ते हैं। उसके सिवाय अन्यत्र पौराणिक वाक्यों की बहुलता नहीं है। सूत्रभाष्य, गीताभाष्य और उपनिषद्-भाष्य में पौराणिक वाक्य बहुत थोड़े स्थलों पर उद्धृत हुए हैं। कहीं-कहीं

गुरु—गुरु का संचार १२ वर्षों में १ भगण पूरा होता है। अतः १६९ भगणों के पश्चात् ५ वर्ष अवशिष्ट रहते हैं। भगवान् शंकराचार्य के जन्म समय गुरु कुम्भ राशि पर वर्तमान थे। तत्पश्चात् आज १-मीन, २-मेष, ३-वृष, ४-मिथुन और ५ कर्क राशि में गुरु पहुंचे हैं। परिणामतः यह गणना साधु है।

शनि—शनि ३० वर्षों में १२ राशियों में संचार करते हैं। दीर्घकालीन भगणों को ३५ वर्षों के अनुपात से परखा जाता है। सो ५८ भगणों के पश्चात् शनि धनु से बढ़कर १०-मकर राशि में पहुंचे हैं। ३ वर्ष अभी शेष हैं। वक्री-मार्गी संचार को ध्यान में लाकर आगामी ३ वर्ष (युगाब्द ९१-९२-९३) तक शनि १०-मकर में ही रहेंगे। परिणामतः यह गणना भी प्रतिकूल नहीं है।

राहुकेतु—ये ग्रह वक्रगति से चलते हैं। ये १८ वर्षों में १२-राशीय भगण पूरा करते हैं।

टिप्पणी—भगवान् शंकराचार्य की जन्म-कुण्डली में राहु 'वृष' में है, चाहिए—वृष मे केतु। वृश्चिक में केतु की विद्यमानता के विपरीत राहु को होना चाहिए। ऐसा स्थानविपर्यय असावधानी से सम्भव है।

राहु-केतु ११२ भगण पूरे करके यथास्थान पहुंच गये हैं। तत्पश्चात् मेष-मीन-कुम्भ-मकर-धनुष-वृश्चिक-तुला-कन्या-सिंह और कर्क = १० राशियों में १०x१५ = १५ वर्ष समाप्त करने वाले हैं। अंशांश की घटत बढ़त से यह परिणाम-वैषम्य समाधेय हैं।

मीमांसा

लोगबाग हमारे इस गणना विस्तार को अटकलबाजी न समझें, हम प्रकारान्तर से भी इस पर विचार कर सकते हैं। सौभाग्य से शालिवाहन-पौत्र श्रीविक्रमादित्य [शकारि = साहसांक नामा] की ईसवी सन् १० = युगाब्द ३१११ की जन्मकुण्डली उपलब्ध है। उसी के माध्यम से काल-परीक्षा पुनः आरम्भ करते हैं।

चन्द्रकुंडली श्रीविक्रमादित्य कलिगताब्द : ३१११ अंगिरा संवत्सर, वैशाखशुक्ल [अक्षय] तृतीया; रविवार ईसवी संवत् १०, रविवार २५ अप्रैल,

मीमांसा [१]

उक्त जन्मलग्न 'एक ही संवत्सर' [लेखक : डॉ० परमेश्वर सोलंकी] रचना के पृष्ठ २० पर लेखकीय स्व-हस्तलिपि में लिखा-पढ़ा गया। इसकी आप्तता का दायित्व डॉ० सोलंकी पर है। परन्तु हमारी गणना के परिणामस्वरूप कलिगताब्द ३११३, अंगिरा संवत्सर, वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया, रविवार २५ अप्रैल ईसवी संवत् १० ज्ञात हुआ है। बस, हमारा आधार इतना है।

केवल 'पुराण शब्द व्यवहृत हुआ है । कोई वाक्य उद्धृत नहीं हुआ । रामानुज के भाष्य में पौराणिक वाक्यों का प्रयोग पर्याप्त दिखाई पड़ता है । मध्वाचार्य के भाष्य को यदि उद्धृत पौराणिक वाक्यों का पुंज कहें तो वह अत्युक्ति या अतिशयोक्ति न होगी । किन्तु आचार्य शंकर के भाष्य में पौराणिक वाक्यों की संख्या अत्यल्प है । सूत्रभाष्य में केवल दो स्थलों पर पौराणिक वाक्य उद्धृत हुए हैं । इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है-रामानुज और माध्व पौराणिंक प्रभाव से प्रभावित हैं । किन्तु शंकर पौराणिक अभ्युदय से पहले हुए । इतिहासकार स्मिथ साहब के तथा भण्डारकर के मत में ईसा की चौथी और पांचवीं शताब्दी में—गुप्त-साम्राज्य काल में—पुराणों का अभ्युदय हुआ था । हम सर्वांश में स्मिथ साहब का अनुमोदन नहीं करते । मन्त्रादि संहिताओं का रचनाकाल चौथी या पांचवीं शताब्दी है ऐसे

मीमांसा [२]

हम ने भगवान् शंकराचार्य की कुंडली में राहु-केतु के स्थानविपर्यय का संकेत किया है : केतु को वृश्चिक राशि की अपेक्षा वृष में लिखा है; और राहु को वृष राशि की अपेक्षा वृश्चिक में लिखा है । साथ में यह भी लिख दिया है कि यह भूल असावधानी से सम्भव है । हमारे इस संशोधन की पुष्टि राजा श्रीविक्रमादित्य की कुंडली से हो गयी है ।

अनुटिप्पणी : गुरु शनि और राहु-केतु के संचार-गणित इस प्रकार हैं—

गुरुग्रह	**शनिग्रह**	**राहु-केतु**
प्रस्तावित ५४ वर्ष	प्रस्तावित वर्ष ५४	प्रस्तावित वर्ष ५४
१२x४ = (-) ४८ =	केवल १ संचार-३०	१८x३ प्रतिसंचार ५४
शेष ६	शेष २४	शेष

स्पष्ट है—आचार्यश्री के जन्माङ्क में गुरु ग्रह कुम्भ में वर्तमान थे । ततः आगे बढ़ते-बढ़ते १-कुम्भ, २-मीन, ३-मेष ४-वृष ५-मिथुन और ६-कर्क राशि में जा पहुंचे । शनिग्रह भी ११- राशि आगे बढ़कर ११x२ = ५७ तुलाराशि में अवस्थित हैं । राहु-केतु की ? ? नितरां स्पष्ट हैं । उक्त ग्रह-संचार में यत्र-तत्र वैषम्य नज़र आता है, उसका समाधान 'राशि-अंश-कला विकला' की सूक्ष्मगणित से मिल जाता है । गणना-विस्तार के अप्रासंगिक होने से उधर ताकझांक की आवश्यकता नहीं रही ।

श्रीविक्रमादित्य : एक परिचय—

श्रीविक्रमादित्य शालिवाहन-विक्रमादित्य का पौत्र है । इसका वंशवृक्ष इस प्रकार है—

१ प्रमर : ६६ ईसवीपूर्व

२ गन्धर्वसन

३ शालिवाहन-विक्रमादित्यः ५६ ई० पू० से ३४ ईसवी ।

४ महेन्द्रादित्य

संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य और श्रीविक्रमादित्य की पहचान स्थापित करते हुए अरबयात्री अबूरिहाँ अल्बैरूनी लिखता है—'विक्रमादित्य ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की और उसे भगाकर मुल्तान और लोनी के दुर्ग के बीच करूर के प्रदेश में [आधुनिक कहरोड़ लालीसन, जिला मियाँताली, पाकिस्तान] मार डाला ।.. वे विजेता के नाम के साथ 'श्री' लगाकर उसका सम्मान करते हैं उसे **श्रीविक्रमादित्य** कहते हैं ।' इत्यादि ।

अस्वाभाविक मत की सारवत्ता हमें बोधगम्य नहीं है। जो हो, गुप्तवंशीय सम्राटों के समय पौराणिक साहित्य का प्रचार-प्रसार हम स्वीकार करते हैं। हिन्दुधर्म का पुनरभ्युदय भी स्वीकार्य है। पुष्यमित्र के समय से ही हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान शुरु हुआ था। १८४ ई० पूर्व से ४८० ईसवी तक हिन्दुधर्म का पुनरुत्थान हुआ, उसे अस्वीकार करने का कोई हेतु नहीं है। मौर्यवंशी अशोक के समय से कण्ववंश तक : यहाँ तक कि ईसा के जन्म तक ही बौद्ध प्रभाव अप्रतिहत गति से विस्तृत हुआ। स्मिथ साहब के मत में, जगह-जगह बौद्ध प्रभाव रहने पर भी भारत पुनः हिन्दू– भारत हो गया था। बौद्ध-भारत का हिन्दूभारत होना केवल राजनीतिक परिवर्तन का फल नहीं हो सकता। कारण, बौद्धमत की दार्शनिक भित्ति विध्वस्त हुए बिना बौद्धमत की अवनति नहीं हो सकती। पौराणिक साहित्य का प्रचार प्रसार और बौद्ध धर्म की अवनति शंकर की महती मनीषा का फल अनुमित होता है।

अतः ४४ ईसा पूर्व ही उनका आविर्भाव हुआ. और १२ ई०पू० में उन का तिरोभाव हुआ। यही समीचीन लगता है। स्मिथ साहब और भंडारकर के मत में चौथी-पांचवीं शताब्दी में पौराणिक अभ्युदय हुआ। आचार्य शंकर यदि अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान होते तो पौराणिक वाक्यों का अधिक व्यवहार करते। क्योंकि उस युग में सर्वत्र पौराणिक भावों की प्रबलता दिखाई पड़ती है। दक्षिण भारत में चालुक्य वंश के राजत्व काल [५५० ई० से ७५० ईसवी] में बौद्धधर्म की अवनति और पौराणिक धर्म का अभ्युदय हुआ।

उक्त पौराणिक अभ्युदय-युग में शंकर का आविर्भाव होने पर पौराणिक प्रभाव का अतिक्रमण उनके लिए असम्भव होता। रामानुज [१०१७-११३७ ई०] और मध्वाचार्य [११९९ ई० और त्रयोदश शताब्दी का अन्तिम भाग] दोनों पौराणिक अभ्युदय युग के परवर्ती हैं। इसलिए उनके ग्रन्थों में पौराणिक वाक्यों का बाहुल्य विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। किन्तु आचार्य शंकर पौराणिक प्रभाव से बिल्कुल प्रभावित नहीं है। इस कारण शंकर का काल पौराणिक अभ्युदय से पहले मानना ही संगत है। सुरेश्वराचार्य का आठ सौ वर्ष जीवित रहना अस्वाभाविक होने से शंकर का स्थितिकाल अष्टम शताब्दी ग्रहण करना कभी संगत नहीं है। शृंगेरी मठ के प्राचीन भारत में मिथ्या के प्रति घृणा सर्वत्र दिखाई पड़ती है। ऐसी हालत में संन्यासी के लिए मिथ्या बोलना कभी सम्भव नहीं (होता)। अवश्य ही प्राचीन लेखक संन्यासी हैं। अनवधानता के कारण कुछ आचार्यों के विवरण विस्मृत हो गए हैं। यही प्रतीत होता है।

—कुमारिलभट्ट का कालनिर्णय—

शंकर के उक्त स्थितिकाल के बारे में, दूसरा कारण भी है। शंकर के भाष्य में कुमारिल का नामोल्लेख उनका मत उद्धृत नहीं हुआ। किन्तु कुमारिल के वेदान्त का मत उद्धृत करके तर्कपाद में उसका खंडन किया है। क्योंकि श्लोकवार्तिक के तर्कपाद में उन्होंने लिखा है:

"स्वयं च शुद्धरूपत्वात्-असत्याच्वान्यवस्तुनः।
स्वप्नादिवद् अविद्यायाः प्रवृत्तिस्तत्र किं कृता ॥
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते।
स्वाभाविकीमविद्यां तु मोच्छेतुं कश्चिदर्हति।
विलक्षणोपपत्तेर्हि नश्येत् स्वाभाविकी क्वचित्।
न त्वेकात्माप्युपायानां हेतुरस्ति विलक्षणः ॥"

—श्लोकवार्तिक : ५ म सूत्र, ८४-८६

आचार्य शंकर का अभ्युदयकाल ७८८ ई० मानने से कुमारिल शंकर के पूर्ववर्ती हो जाते हैं। भट्ट कुमारिल पूर्ववर्ती होने से श्लोक वार्तिक, तन्त्र वार्तिक अथवा टुप्-टीका का कोई वाक्य उद्धृत करके खण्डन करना शंकर के लिए सम्भव था। किन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहीं भाट्ट-मत का खण्डन नहीं है। मीमांसक मत का खण्डन है। शबर स्वामी शंकर से प्राचीन हैं। शांकर भाष्य में शबर स्वामी का मत निराकृत हुआ है।

आचार्य शंकर ने १/१/१ सूत्र के भाष्य में लिखा है—"**अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता—इत्यपरे।**" अवश्य ही यह मत मीमांसकों को मान्य है। १/१/४ सूत्र के भाष्य में मीमांसक मत उद्धृत हुआ है। "**यद्यपि—केचिदाहुः प्रवृत्ति-निवृत्तिविधिस्तच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो वास्तीति।**" और "**अत्राहुः देहादिव्यक्तिरिक्तस्य आत्मजः आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति।**" यहाँ भी मीमांसक मत उद्धृत हुआ है। शबर स्वामी के मत को ही शंकर-भाष्य में स्थान मिला है। किन्तु भाट्टमत कहीं भी उद्धृत या खण्डित नहीं हुआ।

आचार्य शंकर ने १/१/४ सूत्र के आभास भाष्य में मीमांसक मत की आपत्ति उठाई है। यहाँ भी शबर स्वामी का मत उद्धृत किया है। शंकर ने लिखा है—"**न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति। क्रियाविषयत्वाद् विधेः। तस्मात् कर्मापेक्षितकर्तृ-स्वरूप-देवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्॥ अथ प्रमाणान्तर-भयान्नेतदभ्युपगम्यते, तथापि। स्व-वाक्यगतोपासनादि कर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते।**"

यहाँ टीकाकार आनन्दगिरि और रत्नप्रभाकर गोविन्दपाद ने इस मत को भट्ट कुमारिल का बताया है।[१] यहाँ दोनों टीकाकार भ्रम में पड़ गए हैं। यहाँ शंकर ने मीमांसक मत के लिए आचार्य शबर स्वामी का मत उद्धृत किया है। भाट्ट मत उद्धृत नहीं किया। वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या से यही सिद्ध होता है। वाचस्पतिमिश्र ने भामती टीका में लिखा है—'**उपसंहरति तस्मादिति।**' यहाँ भाट्ट मत उद्धृत हुआ है—ऐसा आभास नहीं दिया गया। आनन्दगिरि

---

१. कुमारिल भट्ट का समय भी विचारणीय है। कुमारिल भट्ट की तथा आद्य शंकराचार्य की भेंट प्रातः कालीन सन्ध्या की तरह चित्रणीय है, जिसमें इधर चन्द्रमा [कुमारिल] अस्त हो रहा है और उधर सूर्य (शंकराचार्य) उदित हो रहा है। हमारे कालिक अनुसन्धान के अनुसार यह अभूतपूर्व भेंट विक्रम संवत् ३२ = २८ ईसवी पूर्व में हुई। आचार्य कुमारिल के कहने पर भगवान् शंकराचार्य मंडनमिश्र से मिलने गये। यही शास्त्रार्थ का समय है और मण्डनमिश्र का संन्यस्त होने का वर्ष भी यही है—२८-२७ ईसवी पूर्व का साल। अब प्रश्न पैदा होता है कि कुमारिल भट्ट का समय क्या है?
यहाँ शतपथ ब्राह्मण के टीकाकार (हरिस्वामी' का समय प्रासंगिक है। उसने अपना रचनाकाल इस ढंग से प्रतिपादित किया है—
"यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्याः तदा भाष्यमिदं कृतम्।
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमादित्यभूभृतः
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं श्रुतिम्।
संस्कृत के बड़े बड़े नामी-गिरामी पंडितों ने श्लोकस्थ कालिक संदर्भ का अर्थ किया है: कलिसंवत् ३७४० = ६३८ ईसवी सन्। यह कालनिर्धारण अशुद्ध है। कारण, इतिहास के पृष्ठों पर ई० संवत् ६३८ में कोई विक्रमादित्य नामक राजा नहीं था। हमारी दृष्टि में यह श्लोकान्तर्गत कालिक संदर्भ ३७४० सप्तर्षि संवत् = ३६ ई० पूर्व का है। यथा—
(क) ३७४०-६२८ = ३११२ उपलब्धांक।
(ख) ३१४८-३११२ = ३६ ईसवी पूर्व का फलागम।

तथा गोविन्दपाद दोनों ही अनतिप्राचीन हैं। ऐतिहासिकता [की] रक्षा न करके उन्होंने केवल व्याख्या की है। शंकर-विजयकार का अनुवर्तन करके कुमारिल और शंकर की समकालिकता स्थिर करके वे ऐसी व्याख्या कर सकते हैं।

आचार्य शंकर भाष्य रचना से पूर्व कुमारिल के ग्रन्थादि देखते तो अपने ग्रन्थ में उनका अवश्य उल्लेख करते। उपवर्ष और शबरस्वामी के नाम उन्होंने लिए हैं। किन्तु कुमारिल अथवा उनके ग्रन्थ का नामोल्लेख कहीं नहीं किया। आचार्य शंकर ने मीमांसादर्शन के सूत्र उद्धत करके ही पूर्वपक्ष की आशंका स्थापित की है! कुमारिल के स्थितिकाल के बारे में भी मतभेद है। एक मत के अनुसार कुमारिल बौद्ध [विद्वान्] धर्मकीर्ति के सम-सामयिक थे।

मूल संख्या से ६२८ घटाने का एक नियमित कारण है; भारत-संग्राम सप्तर्षि संवत् ६२८ में हुआ था और भारत संग्राम ३१४८ ई० पूर्व में हुआ था। भारत संग्राम काल को बीच में रखने से मूल संख्या [३७४०] को ई० पूर्व में पलटने में सुविधा हो गई है। ३६ ई० में उज्जयिनी में विक्रमादित्य था। यथा—

१. महाराजा गर्दभिल्ल
[९६-७४ ईसवी पूर्व तक]

२. गन्धर्व सेन ६८-६२ ई० पूर्व तक।
३. विक्रमादित्य [प्रथम] संवत्स्थापक [५८-५० ई० पूर्व तक]
४. शिलादित्य :५०-३८ ई० पूर्व तक।
५. विक्रमादित्य [द्वितीय] संवत्स्थापक [३८-९ ई० पूर्व तक]
६. सारवाहन [ई० पूर्व ८-१२ ईसवी]
७. नरवाहन [ईसवी संवत् १२-३२ तक]

संदर्भ

(क) सप्तगर्दभिल्ला मोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।—वायु
(ख) एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहनभूपतिः।
विक्रमादित्य-पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्।—भविष्यपुराण

निष्कर्षत: पंचम मालवभूपति विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी का समय ३६ ईसवी पूर्व यथार्थ है।

प्रकृतमनुसरामः।

जैन ग्रन्थों के मन्थन से ज्ञात होता है कि कुमारिल भट्ट भगवान् शंकराचार्य से ८० वर्षीय ज्येष्ठ थे। ठीक है—मान लेते हैं कि कुमारिल भट्ट का जन्म ४४ + ८० = १२४ ईसवी पूर्व में अधिकाधिक यथार्थ है। प्रभाकर भट्ट कुमारिल भट्ट के शिष्य हैं—यह जग जाहिर है। हमने गुरु-शिष्य के दरम्यान ४० वर्षीय मानक 'अन्तराल काल' स्थिर किया है। सो, १२४-४० = ८४ ईसवी पूर्व स्वीकार्य होते ही यह अभिमत शतपथ ब्राह्मण के टीकाकार हरिस्वामी ने प्रभाकर मत का खण्डन किया है—सात्म्य होने लगता है।

निष्कर्षत:

१. हरिस्वामी तथा भगवान् शंकराचार्य नितान्त समकालीन हैं। यथा—ई० पूर्व ४४ से [३६ ई० पूर्व] १३ ई० पूर्व के बीच में हरिस्वामी हुए।

२. हरिस्वामी ने प्रभाकर मत का निराकरण किया है। जनश्रुति यह भी है—हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी के नितान्त समकालीन हैं प्रभाकर भट्ट।

३. कुमारिलभट्ट तथा आद्य शंकराचार्य की परस्पर भेंट को ऐतिहासिक आधार मिलते ही यह फलागम सहज लगता है—

आद्य शंकराचार्य ने कहीं कुमारिलभट्ट का सोल्लेख खण्डन नहीं किया है, हालांकि मीमांसक मत का निराकरण भाष्य में वर्तमान है—इसका कारण आचार्य श्री का कुमारिल के प्रति समादर भाव अनुमेय है। उनमें पूर्वापर का प्रश्न उदित होना, त्याज्य है।

धर्मकीर्ति का स्थितिकाल सप्तम शताब्दी का अन्तिम भाग है। चीनी पर्यटक इत्सिंग ने धर्मकीर्ति का नामोल्लेख किया है। [यदि] कुमारिल और धर्मकीर्ति सम-सामयिक हों तो कुमारिल का स्थितिकाल सप्तम शताब्दी का अन्तिम भाग मानना पड़ता है।

आचार्य शंकर अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में आविर्भूत होते तो अवश्य ही कुमारिल का नामोल्लेख या उनके मत अथवा उनके ग्रन्थ का उल्लेख करते। कुमारिल का स्थितिकाल सप्तम शताब्दी के अन्तिम में हो तो [७८८ ई० में शंकर का अभ्युदयकाल मानने से] १०० सौ वर्ष बाद आविर्भूत हुए। इस समय के बीच कुमारिल का यश अवश्य ही चारों ओर फैल गया होगा, अतः शंकर भाट्ट मत खण्डन करने की चेष्टा करते। किन्तु वह हमें दिखाई नहीं पड़ता। अत एव शंकर कुमारिल से प्राचीन हैं। शंकर के जीवन चरितकार माधव ने शंकर और कुमारिल को समकालीन बताया है। प्रयाग में तुषानल-प्रायश्चित के समय शंकर ने कुमारिल को **तारक ब्रह्म** नाम दिया। ऐसा उपाख्यान 'शंकरविजय' में दिखाई पड़ता है। हमारे विचार में माधव ने बाद में, भट्ट कुमारिल की विद्वत्ता आदि विषयों में अवगत होकर वे भी शंकर के निकट पराभूत हुए थे, यह दिखाने के लिए दोनों को समसामयिक बताया है।

जो हो, शंकर ने कुमारिल के मत का खण्डन नहीं किया, इससे प्रतीत होता है, शंकर कुमारिल से पूर्ववर्ती हैं। दक्षिण भारत में षष्ठ शताब्दी से अष्टम शताब्दी के बीच [५५० ई० से ६५० ई०] का प्रभाव और प्रसार ऐतिह्य सत्य है। सम्भवतः शास्त्री दीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र इसी समय-के बीच आविर्भूत हुए। पार्थसारथिमिश्र कुमारिल से परवर्ती और विद्यारण्य के पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि माधवाचार्य विद्यारण्य कृत 'जैमिनीय न्यायमालाविस्तार' में शास्त्रदीपिका का उल्लेख है। परवर्तीकाल में अप्पय दीक्षित ने स्वकृत 'परिमल' नामक प्रबन्ध में और विधिरसायन में पार्थसारथि के ग्रन्थों का उल्लेख है।

कुमारिल सप्तम शताब्दी में वर्तमान हों तो पार्थसारथि मिश्र के अष्टम शताब्दी में वर्तमान रहने की एकान्त सम्भावना है। [यदि] आचार्य शंकर अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग [७८८ ई०] में वर्तमान होते तो इन सब मीमांसाग्रन्थों का उल्लेख और भाट्टमत का खण्डन करते। किन्तु वह कहीं दिखाई नहीं पड़ता। अष्टम शताब्दी में भाट्टमत का सविशेष विस्तार साधित हुआ था। अतः शंकर को षष्ठ शताब्दी से पूर्ववर्ती मानना ही संगत है।

शंकर के ग्रन्थों में हीनयान और महायान आदि बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं! गुप्त साम्राज्य के समय बौद्ध धर्म की अवनति शुरु हो गई थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय चीनी पर्यटक फाहियान [४१५-४२१ ई० ?] भारत आए थे। उनके समय से बौद्ध धर्म की अवनति शुरु हो गई थी। फाहियान के उस सम्बन्ध में नीरव [खामोश] होने पर भी [लगता है] बौद्ध धर्म का प्रभाव कम हो गया था। इसमें सन्देह नहीं है। फाहियान-आगमन से बहुत पहले से ही हिन्दूधर्म का अभ्युदय शुरु हुआ है। ईसा की दूसरी शताब्दी से महायानी बौद्ध सम्प्रदाय हिन्दू-प्रभाव से प्रभावित हो गया था। नागार्जुन आध्यात्मिक दर्शन के आचार्य हैं। उनके जीवन में हिन्दू-प्रभाव सु-परिस्फुट है। ईसा की दूसरी शताब्दी में 'हिन्दु-प्रभाव' ऐतिह्य यथार्थ है।

स्मिथ साहब के मत में महायान बौद्धसम्प्रदाय की उन्नति का अन्यतम उदाहरण हिन्दूधर्म का अभ्युदय है। दूसरी शताब्दी में महायान सम्प्रदाय की सविशेष उन्नति हुई थी। इस उन्नति का कारण हिन्दूधर्म का विकास है हमने शंकर का काल ई० पू० माना है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दूधर्म का पुनरभ्युदय शंकर के अतिमानुष प्रयास का फल है। इतिवृत्त से ज्ञात होता है कि आचार्य शंकर के प्रभाव से ही बौद्धधर्म की अवनति शुरु हुई। हमारा माना हुआ शंकर काल [मान] लेने से इतिवृत्ति की सार्थकता भी सुरक्षित रहती है। अवश्य ही बौद्ध धर्म का विकास ईसा की दूसरी शताब्दी से अष्टम शताब्दी [१५०-७५० ई०] तक हुआ है। बौद्धमत ने हिन्दूमत– आक्रमण से विध्वस्त होकर दार्शनिक क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित होने की सविशेष चेष्टा की है। उसी के फलस्वरूप दार्शनिकता का प्रसार हुआ है। अष्टम

शताब्दी में शंकर का आविर्भाव मानने से इतिवृत्त की सार्थकता नहीं रहती। क्योंकि चीनी पर्यटक हुएनसांग के समय से, यहाँ तक कि उससे पहले से ही बौद्धधर्म की अवनति शुरु हो गई थी। बौद्ध धर्म की अवनति का साक्ष्य हुएन सांग ने अपने विवरण में दिया है। स्मिथ साहब ने सिद्ध किया है कि चतुर्थ और पंचम शताब्दी में [३३०-४८० ई०] हिन्दूधर्म जनसाधारण में समादृत था। संस्कृत-भाषाऽभिज्ञ पण्डितों का पर्याप्त आदर था। हिन्दूधर्म ही पण्डितों का धर्म था। हिन्दूधर्म के अभ्युदय के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी साहित्य विस्तृत हुआ। **हिन्दूधर्म का यह विकास महामनीषा के प्रभाव के बिना असम्भव है।** बौद्धधर्म का निरसन करके ही हिन्दूधर्म का अभ्युदय होने की सम्भावना समधिक है। **शंकर की दार्शनिकता हिन्दूधर्म के अभ्युदय का कारण थी—ऐसा अनुमान है।** शंकर की अतिमानुष प्रतिभा से बौद्धमत दुर्बल हो गया और हिन्दूधर्म का प्राधान्य और प्रसार हो गया।

स्मिथ साहब हिन्दूधर्म की इस अभ्युन्नति का कारण बताने में असमर्थ हैं। किन्तु हमारी दृढ़ धारणा है कि आचार्य शंकर की प्रतिभा ही इसका मूल कारण है। महायान सम्प्रदाय ने शंकर मत के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने मत का संस्कार और संशोधन किया। उसी के फलस्वरूप उनके मत का विकास साधित हुआ। शंकर और उनके शिष्य-प्रशिष्यों की चेष्टा से हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान हुआ। इतिहास में आचार्य शंकर हिन्दूधर्म के उद्धर्ता के रूप में परिचित हैं। इसलिए शंकर का आविर्भाव महायान मत के विकास से पूर्व ही सम्भव है।

शंकर के ग्रन्थों में बौद्धमत के 'महायान' और 'हीनयान' प्रभृति साम्प्रदायिक विभाग दिखाई नहीं पड़ते। ईसा की दूसरी शती में महायान सम्प्रदाय की उन्नति शुरु हुई है। [यदि] हीनयान और महायान-इस प्रकार का विभाग शंकर के समय में प्राधान्य प्राप्त करता तो वे [उनका] अलग-अलग मत-निरसन करते। उन्होंने २/२/१८ सूत्र के भाष्य में बौद्धमत का सामान्य विवरण दिया है। यहाँ 'हीनयान' और 'महायान का कोई उल्लेख नहीं है। केवल सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी और सर्वशून्यवादी [मत] का उल्लेख है। 'बौद्धगण' मत और बुद्धि की विभिन्नता से बहु प्रकार [के] हैं। यही कहा गया है। "**प्रतिपत्तिभेदात् विनेयभेदाद् वा**"—इस वाक्य का अन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार का मतभेद बुद्धदेव के निर्वाण के तुरन्त बाद ही शुरू हुआ। पहले सम्मेलन के सभापति थे—महाकाश्यप। इस सम्मेलन में विरोध की निष्पत्ति हुई थी। मौर्यवंशी अशोक के राजत्व काल में बौद्धों का दूसरा सम्मेलन हुआ। बौद्धसाहित्य इसका साक्ष्य देता है। हीनयान और महायान का भेद दूसरी शताब्दी में विशेष रूप से प्रकट हुआ। शंकर के समय में ऐसा प्राधान्य होता, तो वे उसका उल्लेख करते। किन्तु ऐसा उल्लेख न मिलने से, और महायान का प्रसार हिन्दूधर्म के प्रभाव के फलस्वरूप होना—निर्णीत होने से आचार्य शंकर का स्थितिकाल इससे पूर्व बताना ही [युक्ति-] संगत है। आपत्ति हो सकती है कि शंकर दक्षिण भारत के अधिवासी हैं। उनके लिए ईसवी पूर्व में बौद्धमत जानने का कोई कारण नहीं हो सकता। इसके उत्तर में हम कहेंगे कि कम-से-कम २०० वर्ष पहले [से] ही, मौर्यवंशी अशोक के समय दक्षिणभारत में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार हो चुका था। विशेषतः काशी प्रभृति स्थानों में बौद्धधर्म के बहुत पहले ही प्रचारित हुआ था। सारनाथ धर्मचक्र प्रवर्तन का स्थान है। सारनाथ में बौद्ध-विहार था। शंकर काशी में रहते समय बौद्धमत से अवगत हुए थे। यह असंगत नहीं लगता। अतएव ऐसी आशंका का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। वेदान्तसूत्र में जिस बौद्धमत का खण्डन है, वह अतिप्राचीन है। अतः प्रतीत होता है, शंकर ने प्राचीन बौद्धमत का खण्डन किया है। उनके समय हीनयान और महायान का भेद नहीं था। अथवा उनके भेद का प्राधान्य नहीं था। फाहियान के समय में [४०६-४१३ ई०] पाटलिपुत्र में हीनयान और महायान सम्प्रदायों के मठ और विहार थे।'

ह्वेनसांग के समय में [६४०-६४५ ई०] भी दोनों सम्प्रदायों में विरोध था। शंकर (यदि) अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान होते तो हीनयान और महायान-इन दोनों सम्प्रदायों का मत अलग-अलग दिखाते। किन्तु उनके किसी भी भाष्य में वह दिखाई नहीं पड़ता।

शंकरभाष्य में बौद्धदार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं है

विशेषत: बोधिसन्त नागार्जुन के समय से बौद्ध दर्शन का विकास शुरु हुआ। नागार्जुन दूसरी शताब्दी ईसवी में हुए। उनके समय से माध्यमिक मत का प्रसार और प्राबल्य शुरू हुआ। सौत्रान्तिक मत के प्रधान आचार्य कुमार लब्ध हैं। वे भी नागार्जुन के सम-सामयिक हैं। कनिष्क के समय बौद्धों का तृतीय सम्मेलन हुआ। कनिष्क और नागार्जुन सम-सामयिक हैं। तृतीय सम्मेलन के सभापति वसुबन्धु ने महाविभाषासूत्र रचा। यह ग्रन्थ चीन के त्रिपिटक के अन्तर्गत है। लगता है, यह ग्रन्थ अभी अनूदित नहीं हुआ। कनिष्क के समय से महायान मत का उल्लेख देखनें में मिलता है। वैभाषिक मत का विकास भी तीसरी शताब्दी के शुरु में हुआ है। आर्यदेव के शिष्य भदन्त धर्मपाल, भदन्त घोषक, भदन्त वसुमित्र प्रभृति के समय वैभाषिक अभिमत का अभ्युदय हुआ। 'आर्यदेव' और सिंहल के 'थेरदेव' यदि अभिन्न हैं, तो वे ईसा की तीसरी शताब्दी में वर्तमान थे। भदन्त वसुमित्र कनिष्क के पुत्र हुविष्क के सम-सामयिक थे। हुविष्क ने १५० ई० में सिंहासनारोहण किया। अत: हमने देखा कि वैभाषिक मत द्वितीय और तृतीय शताब्दी में विकसित हुआ। वैभाषिक मतावलम्बी 'भदन्त' कहलाते हैं। चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग में योगाचार सम्प्रदाय के प्रधानतम-आचार्य 'प्रसंग' और उनके भ्राता वसुबन्धु का अविर्भाव हुआ। पंचम शताब्दी बुद्धघोष, चन्द्रकीर्ति तथा प्रमाणसमुच्चयकार दिङ्नाग आदि का आविर्भाव काल है।

षष्ठ शताब्दी के अन्तिम भाग में तथा सप्तम शताब्दी के प्रथम भाग में दार्शनिक गुणप्रभ वर्तमान थे। वे हर्षवर्धन के उपदेष्टा थे। उन्होंने १०० प्रबन्ध रचे—ऐसा इतिवृत्त है। सप्तम शताब्दी में स्थिरमति, संघदास, बुद्धदास, धर्मपाल, शीलभद्र, जयसेन, चन्द्रगोभिन्, गुणमति, वसुमित्र, यशोमित्र, भाष्य, रविगुप्त, बुद्धपालित, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्धाचार्यों के आविर्भाव से बौद्ध-दर्शन का विकास साधित हुआ। आचार्य शंकर यदि अष्टम शताब्दी में आविर्भूत होते, तो इन सभी दार्शनिक ग्रन्थों और मतों का उल्लेख करते। कम से कम द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ शताब्दी के सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार—ये साम्प्रदायिक प्रस्थान भेद परिस्फुट हैं। इन चार सम्प्रदायों में सौत्रान्तिक और वैभाषिक हीनयान मतावलम्बी हैं और माध्यमिक तथा योगाचार महायान मतावलम्बी हैं। शंकर ने (जिस प्रकार) महायान और हीनयान का उल्लेख नहीं किया; उसी प्रकार सम्प्रदाय-चतुष्टय का भी उल्लेख नहीं किया। अष्टम शताब्दी के संक्षिप्त शरीरकार सर्वज्ञात्म मुनि ने 'भदन्तपथ' का उल्लेख करके वैभाषिक मत का खण्डन किया है।

अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में तथा नवमशताब्दी के प्रथमभाग में वाचस्पतिमिश्र वर्तमान थे। उन्होंने भामती में दार्शनिक धर्मकीर्ति का नामोल्लेख करते हुए, उनका वचन उद्धृत किया है। किन्तु शंकर ने किसी का भी उल्लेख नहीं किया। किंवा 'भदन्त' आदि शब्दों का भी व्यवहार नहीं किया। उन्होंने केवल सर्वास्तिवादी, (अर्थात् सौत्रान्तिक और वैभाषिक) विज्ञानवादी (अर्थात् योगाचार) और सर्वशून्यवादी (अर्थात् माध्यमिक)—इन तीन प्रकार के मतों का उल्लेख किया है। हीनयान मतावलम्बी बौद्ध ही सौत्रान्तिक और वैभाषिक हैं। वे ही सर्वास्तिवादी हैं। महायान सम्प्रदाय में योगाचार और माध्यमिक आते हैं। वे ही विज्ञानवादी और सर्वशून्यवादी हैं। शंकर ने जिस मत का खण्डन किया है, वह प्राचीन मत है। जापानी विद्वान् यामाकामी ने भी यही सिद्ध किया है। नागार्जुन और परवर्ती दार्शनिकों ने जो मत स्थापित किये हैं; शंकर ने उनका खण्डन नहीं किया। नागार्जुन से पहले भी विज्ञानवादी और सर्वशून्यवादी थे; सर्वास्तिवाद भी प्राचीन हैं। शंकर ने प्राचीन बौद्ध मत का निरसन किया है। अत: इनका आविर्भावकाल ई० पू० होना ही संगत है। तिब्बत के इतिहासकार लामा तारानाथ ने भी नागार्जुन के जीवन-चरित में नागार्जुन द्वारा शंकर के पराभव का उल्लेख किया है।

तारानाथ ने सप्तदश शताब्दी के प्रारम्भ में इतिहास रचा और उन्होंने जगह-जगह भ्रान्ति का परिचय भी दिया है। उन्होंने इतिवृत्त का अनुसरण करके इतिहास रचा। यहाँ इतिवृत्त की सत्यता भी हो सकती है। सम्भवतः शंकरमत से प्रभावित होकर नागार्जुन ने माध्यमिक मत का विस्तार-साधन किया।

[शंकर नागार्जुन से पूर्ववर्ती हैं—यह बाद में दिखाएँगे]

—वेदान्ती भास्कर शंकर के परवर्ती हैं—

वेदान्ती मिहिरभोज पांचालराज [कन्नौज] के समसामयिक थे। मिहिरभोज ने ८४०-८९० ई० तक शासन किया। मिहिरभोज ने वेदान्ती भास्कर को विद्वत्ता के लिए उपाधि विभूषित किया था। सम्भवतः भास्कर वृद्धवय में मिहिरभोज द्वारा उपाधि-विभूषित हुए। क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने भास्कराचार्य के मत का 'भामती' में खंडन किया है। वाचस्पतिमिश्र अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में तथा नवमशताब्दी के प्रथम भाग में वर्तमान थे। ८४२ ई० में उन्होंने 'न्यायसूची-निबन्ध' नामक प्रबन्ध रचा। वे गौड़राज धर्मपाल के सम-सामयिक थे। धर्मपाल ७९५ ई० में सिंहासनारूढ हुए थे। वेदान्ती भास्कर वय में वाचस्पति से प्राचीन हैं। वाचस्पति का स्थितिकाल अष्टम शताब्दी से नवम शताब्दी का प्रथम भाग है।

भास्कर वाचस्पति से पूर्ववर्ती हैं। अतः वे अष्टम शताब्दी में वर्तमान थे, और नवम शताब्दी में, वृद्धवय में वे मिहिरभोज द्वारा उपाधि-विभूषित हुए।

वेदान्ती भास्कर ने अपने भाष्य में शंकर प्रतिपादित मायावाद को महायान मत के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने शंकरमत के खण्डन के लिए ही अपना भाष्य रचा है। भास्कर ने जब शंकरमत [का] खण्डन किया है—तब भास्कर शंकर से प्राचीन नहीं हैं। भास्कर अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे। **अतः ७८८ ई० शंकर का स्थितिकाल नहीं हो सकता।** ७८८ ई० ग्रहण करने से भास्कर और शंकर समकालीन हो जाते हैं। किन्तु यह असम्भव है। अतः शंकर अष्टम शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं। ७८८ ई० में उनका स्थितिकाल नहीं हो सकता।

वाचस्पति के काल निर्णय में शंकर का स्थितिकाल ७८८ ई० (प्रासंगिक) नहीं हो सकता। उसका कारण यह है—वाचस्पति मिश्र ने स्व-रचित 'न्यायसूची निबन्ध' का (रचना) काल ८९८ संवत्, अर्थात् ८४१ ई० बताया है। भामती के समाप्तिश्लोक में देखते हैं—उन्होंने नृग राजा का उल्लेख किया है। हमारी समझ में नृगराजा और गौड़राज धर्मपाल अभिन्न व्यक्ति हैं। धर्मपाल ने ७९०-७९५ ई० के बीच सिंहासनारोहण किया और ३५ वर्ष तक राज्यपालन किया। अतः **वाचस्पति ने ७९० ई० (अथवा) ७९५ ई० से ८२५ ई० (अथवा) ८३० ई० के बीच रची।** न्याय सांख्य, और पतञ्जलि प्रभृति दर्शनों की टीका रचकर, अन्त में वाचस्पति ने 'भामती' रची। इसलिए लगता है—ईसा की अष्टम शताब्दी के अन्त में भी वर्तमान थे। शंकर का स्थितिकाल ७८८ ई० मानने से दोनों समसामयिक हो जाते हैं; यह पूर्णतः असम्भव है। अतएव शंकर का स्थितिकाल ७८८ ई० नहीं हो सकता।

—शंकर श्रीकण्ठ से भी प्राचीन हैं—

शैवाचार्य श्रीकण्ठ ने शंकरमत का निरसन किया है। अतःश्रीकण्ठ शंकर के परवर्ती हैं। श्रीकण्ठ सम्भवतः चतुर्थ या पंचम शताब्दी में आविर्भूत हुए। चीनी पर्यटक इत्सिंग के भारत-आगमन से ठीक पहले भर्तृहरि विद्यमान थे। ईत्सिंग सप्तम शताब्दी के अन्तिम भाग (६७१-६७५ ई०) में भारत आए थे। सप्तम शताब्दी में भर्तृहरि वर्तमान थे। श्रीकण्ठाचार्य का मृगेन्द्रसंहिता पर भाष्य है। इस भाष्य के ऊपर भट्ट नारायण कंठ ने वृत्ति लिखी है। श्रीकण्ठ भट्ट नारायणकण्ठ से तीन पीढ़ी प्राचीन हैं। भट्ट नारायण ने स्वरचित 'मृगेन्द्रागम' अथवा 'मृगेन्द्रसंहिता' की वृत्ति के आरम्भ में अपना परिचय दिया है। उसमें उन्होंने [जो] लिखा है, वह यह है—

"साक्षाच् छ्रीकण्ठ नाथादिमबुध-सुजनानुग्रहान्।

ज्ञात्वा श्रीरामकण्ठाच्छिवतनुकमलोन्मीलन प्रौढभास्वान्॥

श्रीविद्याकण्ठ भट्टस्ततादिमुपदिशन्नादिदेशैकदां याम्

स्पष्टार्थमत्र लक्ष्मीं [विरच्य] विवृतिं तस्य (सर्वस्य) योग्याम्॥

यहाँ हम देखते हैं—नारायणकण्ठ विद्याकण्ठ के पुत्र हैं। एवं श्रीकण्ठ भट्ट नारायण से तीन पीढ़ी पूर्ववर्ती हैं। भट्टनारायणके 'मृगेन्द्रागम' की वृत्ति पर भर्तृहरि ने व्याख्या लिखी है। सप्तम शताब्दी के प्रथम भाग में भर्तृहरि का स्थितिकाल है। अतः भट्टनारायण उससे पूर्ववर्ती हैं। भट्टनारायण सम्भवतः षष्ठ शताब्दी में आविर्भूत हुए। भट्ट नारायण से श्रीकण्ठ ३-पीढ़ी प्राचीन हैं। अतएव श्रीकण्ठ का काल पंचम शताब्दी के प्रथम भाग अथवा चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग में मान सकते हैं। श्रीकण्ठ ने शंकर मत का खण्डन करने के लिए 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' रचा। श्रीकण्ठ ने अपने भाष्य में नाना स्थलों पर शंकर मत का निरसन किया है। अतः शंकर श्रीकण्ठ से पूर्ववर्ती हैं। इसलिए शंकर का स्थितिकाल चतुर्थ शताब्दी से पहले हैं। शंकर और श्रीकण्ठ यदि सम-सामयिक होते तो श्रीकण्ठ उनको पूर्वाचार्य के रूप में (पूर्वाचार्यैः) निर्देश न करते। श्रीकण्ठ (द्वारा) शंकर मत का निरसन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि—शंकर चतुर्थ शताब्दी से भी पूर्व आविर्भूत हुए। यदि शंकर चतुर्थ या पंचम शताब्दी के आरम्भ में होते तो चीनी पर्यटक फाहियान (४०५-४११ ई०) उनके बारे में उनका उल्लेख अवश्य करते। शंकर की मनीषा और प्रभाव उनके जीवनकाल में ही समस्त भारत में फैल गया था। इस सम्बन्ध में फाहियान का नीरव (खामोश) रहने का कोई हेतु दिखाई नहीं पड़ता। विशेषतः फाहियान के समय बौद्धधर्म की अवनति और हिन्दूधर्म का पुनरभ्युदय शुरू हुआ था। इस अवनति के हेतु शंकर-दर्शन का अभ्युदय ही लगता है। बौद्धधर्म के प्रतिपक्ष के रूप में शंकर का उल्लेख करना फाहियान के लिए विशेष स्वाभाविक होता। किन्तु वे शंकर के बारे में नीरव [चुप] हैं। अतः शंकर चतुर्थ शताब्दी से भी प्राचीन हैं। फाहियान के आगमन से कई शताब्दी पूर्व आविर्भूत होने से फाहियान ने उनका नामोल्लेख नहीं किया—यही युक्ति-युक्त लगता है।

—शंकर लंकावतार-सूत्र के प्रणेता से भी प्राचीन हैं—

"लंकावतार सूत्र" बौद्धों का अतिप्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ १९०० ई० में पण्डित प्रवर सतीशचन्द्र विद्याभूषण और शरत् चन्द्रदास महाशय-द्वय के सम्पादन में, असम्पूर्ण अवस्था में प्रकाशित हुआ है। शरत् बाबू ने इस ग्रन्थ के उत्सर्गपत्र में लिखा है कि आचार्य शंकर और सायणाचार्य (माधवाचार्य) लंकावतार-सूत्र मत-खण्डन करने के लिए कृतसंकल्प होकर भी खण्डन नहीं कर सके। हमें लगता है कि यहाँ शरत् बाबू भ्रम में पड़ गए हैं। उन्होंने शंकर को परवर्ती मानकर वैसा मत गढ़ा है। शंकर ने दो सूत्रों के भाष्य में बौद्धदर्शन के वाक्य उद्धृत किये हैं। उन्होंने २/२/२२ सूत्र के भाष्य में लिखा है—**"अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं भयदन्यत् संस्कृतं क्षणिकं च"** और २/२/२४ सूत्र के भाष्य में लिखा है—**सौगते हि समये पृथिवी किं संनिःश्रया—इत्यस्मिन् प्रश्न-प्रतिवचन-प्रवाहे पृथिव्यादिनामन्ते वायुः किं संनिःश्रयः ? इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति किं वायुराशः संनिःश्रय इति**। लंकावतार सूत्र में प्रश्न-प्रतिवचन-प्रवाह होने पर भी इस प्रकार का कोई प्रश्न अथवा उत्तर नहीं है। एक जगह आकाश और रूप के अभेदत्व के सम्बन्ध में विचार है। यहाँ वैसा कोई प्रश्न-प्रतिवचन नहीं है। इसके सिवाय अन्यत्र कहीं भी वैसे प्रश्न का वैसा उत्तर दिखाई नहीं पड़ता। लंकावतार सूत्र का जो अंश प्रकाशित हुआ है, उसमें कहीं भी वैसा प्रश्न और वैसा उत्तर नहीं है। जो अंश प्रकाशित हुआ है, उसके सिवाय दूसरा अंश भी नहीं मिलता अतः आचार्य शंकर लंकावतार-सूत्र के मत का खण्डन करने जमकर अकृतकार्य हुए हैं—ऐसा निष्कर्ष नितान्त असमीचीन है। लंकावतार सूत्र में सांख्यमत, न्याय और वैशेषिक मतों का उल्लेख है। पातंजल योगदर्शन का प्रभाव भी लंकावतार

सूत्र में दिखाई पड़ता है। स्पष्टत: पातंजल योग दर्शन का उल्लेख न होने पर 'धर्ममेघ' प्रभृति समाधि का उल्लेख है। लंकावतार सूत्र में 'एकत्ववाद' का भी उल्लेख देखते हैं। यह एकत्ववाद अद्वैतवाद से भिन्न कुछ भी नहीं हो सकता। कारण, 'एकत्ववाद' को लंकावतार सूत्र में अपसिद्धान्त बतलाया गया है। लंकावतार-सूत्र में देखते हैं—"**एवम् एव महामते अनादिकाले तीर्थप्रवञ्चनावादवासनादिभिः निविष्टाः एकत्वान्यत्वास्तित्व-नास्तित्ववादान् अभिनिविशन्ते। स्वचित्तदृष्टमात्रानवधारितेमतयः।**" [लंकावतार सूत्र, पृष्ठ ९२] यहाँ एकत्ववाद का उल्लेख करके अद्वैतवादी वेदान्ती के ऊपर कटाक्ष किया गया है। इन सब मतों को कुदृष्टि बताया गया है। वेदान्ती के दृष्टान्त ही लंकावतार-सूत्र में बहुत से स्थलों पर गृहीत हुए हैं।

लंकावतार-सूत्र में दो स्थलों पर 'सप्तभूमि' का उल्लेख है। यह 'सप्तभूमि' बौद्धों की 'दशभूमि' अथवा 'त्रयोदश भूमि' नहीं है। 'धर्मसंग्रह' 'महावस्तु' 'ललितविस्तार' और 'महाव्युत्पत्ति' प्रभृति ग्रन्थों में 'दशभूमि' और 'त्रयोदशभूमि' का उल्लेख है। 'सप्तभूमि' के बारे में लंकावतार में रावण ने बुद्धदेव से पूछा—"**चित्तं हि भूमयः। सप्त कथं केन कदाहि मे।**" [पृष्ठ ३२] यहाँ योगवासिष्ठ रामायण की सप्तभूमियों का विषय जिज्ञासित हुआ है? या नहीं? यह भी विवेच्य है। लंकावतार-सूत्र में कई जगह वेदान्त का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

हमारी समझ में शांकरमत के प्रभाव से, तत्प्रपंचित मायावाद ने बौद्ध महायान को प्रभावित किया है। लंकावतार-सूत्र में वेदान्तमत के अध्यारोप अपवाद के सम्बन्ध में तीव्र कटाक्ष हैः

"**समारोपवादो हि चित्तमात्रे न विद्यते।**

देहभाग-प्रतिष्ठाभं ये चित्तं नाभिजानते।

समारोपापवादेषु ते चरन्त्यविपश्चितः।"[पृष्ठ ७३]

यहाँ वेदान्तिकों के 'अध्यारोप अपवाद' के ऊपर कटाक्ष अतिसुस्पष्ट है। अविपश्चितः [अर्थात् अविद्वान्] व्यक्ति ही 'अध्यारोप अपवाद' का आश्रय लेते हैं—ऐसा कटाक्ष अद्वैत वेदान्तिक के सिवाय और किसी पर प्रयुक्त नहीं हो सकता। अतः अनायास अनुमित होता है, कि 'शांकरमत' के ऊपर ऐसा आक्रमण हुआ है। आचार्य शंकर ने २/२/२२ सूत्र के भाष्य में बौद्धमत के '**प्रतिसंख्यानिरोध**' और '**संप्रतिसंख्यानिरोध**' नामक विरोधद्वय के बारे में विचार किया है। बौद्धमत में प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या आकाश को छोड़कर समस्त पदार्थ ही उत्पाद्य हैं। क्षणिक हैं बुद्धि-प्रकाश्य हैं। ये तीनों बौद्धमत में स्वरूप शून्य, तुच्छ और अभाव मात्र हैं। २२ वें सूत्र के भाष्य में शंकर ने विरोध-द्वय की असंगति दिखाई है? २४ वें सूत्र के भाष्य में आकाश का वस्तुत्व प्रतिपन्न किया है। लंकावतार-सूत्र में भी आकाश और विरोध-द्वय का उल्लेख है। **यथा—**

"**देशे निःशून्यतां नित्यं शाश्वतोच्छेदवर्जितम्।**

संसारं स्वप्नमायाख्यं न च कर्म विनश्यति॥

आकाशमथ निर्वाणं विरोध-द्वयमेव च।

बाला कल्पन्त्यकृतकान् आर्या नास्त्यस्तिवर्जितान्॥"

शंकर ने लंकावतार-सूत्र से इस विरोध-द्वय का और आकाश का अवस्तुत्व ग्रहण करके उसका खण्डन किया है—ऐसा बिल्कुल नहीं लगता। क्योंकि कर्म का विकास नहीं और आत्मा भी शून्य है— इस मत के बारे में कुछ नहीं कहा। आत्मा 'शून्य' होने से कर्म कैसे करता है? इस असंगति के विरुद्ध शंकर का आक्रमण नितान्त स्वाभाविक है। हमारी समझ में यह विरोध-द्वय और आकाश अ-वस्तुत्व अतिप्राचीन काल से ही दार्शनिक समाज में चला आ रहा था। वेदान्त-सूत्र में भी [२/२/२२ सूत्र] प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या—ये दो शब्द दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों

शब्दों का व्यवहार [प्रयोग] देखकर लगता है, अति प्राचीनकाल से ही इनका व्यवहार [प्रयोग] आरम्भ हुआ है। बौद्धों ने ये दो शब्द अपने दर्शन में परिभाषायी तौर पर ग्रहण किये हैं।

इन सब प्रमाणों से लगता है—शंकर के प्रभाव से ही महायानिक माध्यमिक सम्प्रदाय प्रभावित हुआ है। और शंकर ने लंकावतार-सूत्र के मत का खण्डन नहीं किया। शंकर लंकावतार-सूत्र की रचना से पहले ही आविर्भूत हुए थे।

—शंकर नागार्जुन से पूर्ववर्ती हैं—

श्रीकण्ठाचार्य के काल-निर्णय के प्रसंग में हमने देखा है कि—शंकर श्रीकण्ठ से पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि श्रीकण्ठ ने उनके मत का खण्डन किया है। श्रीकण्ठ संभवतः चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग में अथवा पंचम शताब्दी के प्रथम भाग में वर्तमान थे। अतः शंकर चतुर्थ शताब्दी से पूर्व आविर्भूत हुए ? नागार्जुन के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। पण्डित प्रवर सतीशचन्द्र विद्याभूषण महोदय ने नागार्जुन का काल चतुर्थ शताब्दी (३०० ई०) के आरम्भ में बताया है। बौद्ध इतिहास में नागार्जुन बुद्ध निर्वाण के ४०० वर्ष बाद आविर्भूत हुए। बुद्ध-निर्वाण ५४३ ई० पूर्व मानने से नागार्जुन का काल १४३ ई० पूर्व हो जाता है। पण्डितवर कर्नमहोदय के मत में नागार्जुन का काल ईसा की दूसरी शताब्दी है।

विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय महोदय ने स्वकृत ग्रन्थ [हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कैमिस्ट्री] में नागार्जुन का काल-द्वितीय शताब्दी, यज्ञ-श्री शातकर्णी आन्ध्रवंशीय राजा के समकालिक बताया है।[1] हमने कर्नसाहब और प्रफुल्लबाबू का अनुसरण करके नागार्जुन का काल द्वितीय शताब्दी का निर्दिष्ट किया है।

नागार्जुन ने 'मध्यमकारिका' नामक ग्रन्थ रचा। उन्होंने अन्य अनेक ग्रन्थ भी रचे। 'युक्ति यष्टिकाकारिका' 'विग्रहव्यावर्तिनी कारिका' 'विग्रहव्यावर्तनिवृत्ति' आदि ग्रन्थ उनके रचित हैं। माध्यमिक कारिका उनका प्रथम ग्रन्थ है। माध्यमिक साम्प्रदायिक वर्ग में यह ग्रन्थ अति प्रामाणिक हैं। हमें लगता है—इस ग्रन्थ की कारिकाओं के साथ-साथ गौड़पादीय कारिका का अवलम्बन लेकर ही 'माध्यमिक कारिका' विरचित हुई है। उन पर गौड़पादीय कारिका का प्रभाव सुस्पष्ट है। दृष्टान्त स्वरूप कुछ कारिकाएँ उद्धृत हैं—

[१]

यः प्रतीत्य समुत्पादम् प्रपञ्चोपशमं शिवम्।

---

१. यह विचार-मन्थन अतीव महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-इतिहास की बात मानें तो नागार्जुन का समय १४३ ई० पूर्व मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने नागार्जुन को यज्ञश्री शातकर्णि का समकालीन ठहराया है और उसका समय स्थिर किया है ईसवी द्वितीय शताब्दी। श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने इससे सहमति व्यक्त की है। इस पर हमारी राय अलग है। हम यज्ञ श्री शातकर्णि का समय सप्तर्षि-संवत् ३५५६ = २२० ईसवी पूर्व का मान चुके हैं। बौद्ध इतिहास के अनुसार नागार्जुन १४६ ई० पूर्व के हैं और हमारी दृष्टि में वह बौद्ध विद्वान् २२० ई० पूर्व का है। सामान्यतया ५६ वर्षों की घटत/बढ़त आड़े आती है। बौद्ध इतिहास में ऐसा कौन सा सन्दर्भ है, जो १४६ ई० पूर्व की पृष्ठभूमि प्रदान करता है—हम नहीं जानते; परन्तु हम इतना पक्के तौर पर बता सकते हैं, यज्ञश्री शातकर्णि तथा नागार्जुन की समकालिकता के मद्देनज़र ३५५६ सप्तर्षि-संवत् = २२० ई० पूर्व का समय 'ब्रह्माण्ड पुराण' के अनुसार गणित किया है, जिसमें संशोधन की सम्भावना नगण्य है।

—बाली

देशयामास सम्बुद्धः तं वन्दे वदतांवरम् ॥

ज्ञानिनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गणनोपमान् ।

ज्ञेयाऽभिन्नेन सम्बुद्धः तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥

माध्यमिक कारिका के आरम्भ में लिखा है—यह श्लोक माध्यमिक कारिका के 'प्रत्यय परीक्षा' नामक प्रथम प्रकरण में, शरत् बाबू के संस्करण के पृष्ठ ४ पर देखा जा सकता है। गौड़पादीय कारिका के चतुर्थ प्रकरण के आरम्भ में यह श्लोक हैं। गौड़पादीय कारिका "सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ।" इस अंश के साथ साम्य परिस्फुट हैं। केवल गौड़पादीय कारिका के '**द्विपदां वरम्**' की जगह नागार्जुन की कारिका में '**वदतां वरम्**' लिखा गया है। माध्यमिक कारिका का '**प्रपञ्चीय शमं शिवम्**' यह माण्डूक्योपनिषद् का प्रसिद्ध अंश है। यथा—**प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम् । चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा, स विज्ञेयः** उपनिषत् का वाक्य उद्धृत करने से लगता है—कि गौड़पादीय कारिका के प्रभाव से ही माध्यमिक कारिका प्रभावित हुई है। गौड़पादीय कारिका में "सम्बुद्धः" शब्द सम्यक्-ज्ञानी के अर्थ में आया है, और माध्यमिक शब्द कारिका में "सम्बुद्धः" शब्द बौद्ध प्रभाव से बुद्धदेव के अर्थ में लिया गया है। गौड़पादीय कारिका में 'बुद्ध' शब्द ज्ञान के अर्थ में कई स्थलों पर व्यवहृत हुआ है।

[२]

अस्तित्वं यत्तु पश्यन्ति नास्तित्वं चाल्पबुद्धयः ।

भावनान्तेन पश्यन्ति दृष्ट्योपशमं शिवम् । —पंचम प्रकरण ।

माध्यमिक कारिका में अस्तित्व-नास्तित्व प्रभृति विकल्प के बारे में [जो] लिखा है, गौड़पादीयकारिका के आत्मा के नाना प्रकार के विकल्पों का उल्लेख करके समाप्ति में कहा गया है। यहाँ भी भाव साम्य विद्यमान हैं। यथा—

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।

एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ।

भावैरसद्भिरेवायम् अद्वयेन च कल्पितः ।

भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद्द्वयता शिवा ॥

—अध्याय २/श्लोक ३०, ३३

[३]

माध्यमिक कारिका में नागार्जुन ने लिखा है—

यथा माया यथा स्वप्न गन्धर्वनगरं यथा ।

तथोत्पादः तथास्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम् । —सप्तम प्रकरण/श्लो. ५७२

स्वप्नमात्रे यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।

तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ —२/३१

गौड़पादीय कारिका में वैसा ही दृष्टान्त है।

यहाँ भी भावसाम्य परिस्फुट है। विश्व के अनस्तित्व के बारे में दोनों मतों का साम्य विद्यमान है। यहाँ भी गौड़पादीय आगम के प्रभाव से नागार्जुन प्रभावित हैं।

[४]

जिसका आदि नहीं है, अन्त नहीं है, उसका वर्तमान भी नहीं है। इस प्रसंग में नागार्जुन का कहना है—

यथा बीजस्य दृष्टान्तो न चादिस्तस्य विद्यते।

तथा कारण-वैकल्यं जन्मनाऽपि सम्भवः।

नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेद्?

गौड़पाद ने भी यही कहा है। गौड़पाद का प्रभाव नागार्जुन पर स्पष्ट है। नागार्जुन का मत गौड़पाद का अभिव्यक्ति मात्र है।

आदौ अन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत्तथा॥

[५]

प्रकृति का अन्यथाभाव नहीं हो सकता। इस प्रसंग में नागार्जुन ने कहा है—

यद्यस्तित्वं प्रकृत्या स्यात् न भवेदस्य नास्तिता।

प्रकृतेरन्यथाभावो नहि जातु उपपद्यते॥

गौड़पाद भी यही कहते हैं। यहाँ केवल भावसाम्य नहीं है; भाषा का साम्य भी दिखाई पड़ता है। क्योंकि गौड़पाद कहते हैं—"न कथञ्चिद् भविष्यति।" और नागार्जुन ने कहा है—"न जातु उपपद्यते॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मत्यममृतात्तथा।

प्रकृतेरन्यथाऽभावो न कथंचिद् भविष्यति॥

[६]

माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्य ही तत्त्व दिखाई पड़ता है। नागार्जुन कहते हैं—

शून्यमाध्यात्मिकं पक्ष्य पश्य शून्यं बहिर्गतम्।

न विद्यते सोऽपि कश्चित् यो भावयति शून्यताम्॥

तत्त्वमाध्यमिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यता।

तत्त्वीभूतस्तदारामो तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्॥

गौड़पाद ने शून्य की जगह तत्त्व के बारे में कहा है। ऐसे बहुत से स्थलों में भाव साम्य तथा भाषासाम्य दिखाई पड़ता है। ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से उद्धृत नहीं किया। प्रश्न हो सकता है कि कौन किस के निकट ऋणी है? हमें लगता है—नागार्जुन ही ऋणी है। नागार्जुन हिन्दू-प्रभाव से प्रभावित थे—यही इतिहासकारों को मान्य है।

तिब्बत के इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है—नागार्जुन ने श्रीकृष्ण और गीता से ज्ञान पाया था। नागार्जुन के गुरु ब्राह्मण थे। उनका नाम राहुलभद्र था। नागार्जुन का ही हिन्दू-प्रभावों से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार भाषासाम्य भावसाम्य में ही नागार्जुन गौड़पादीय कारिका द्वारा प्रभावित हुए हैं—यही युक्तियुक्त है। पण्डितवर बालगंगाधर तिलक महोदय के मत में नागार्जुन गीता के प्रभाव से प्रभावित हुए थे। हमारी समझ में केवल गीता के प्रभाव से प्रभावित होकर नागार्जुन माध्यमिक दर्शन की स्थापना न कर पाते। गीता में मायावाद सविशेष स्फुट नहीं है। गौड़पाद की कारिका में शंकरभाष्य में 'मायावाद' मूर्तिमान् विग्रह के रूप में प्रकाशित हुआ है। अतः शांकर मायावाद से प्रभावित होना ही स्वाभाविक है। **माध्यमिक कारिका गौड़पादीय कारिका में साम्य देखकर यही**

सत्य लगता है । आचार्य गौड़पाद शंकर के परमगुरु हैं और समकाल में वर्तमान थे । अतः शंकर नागार्जुन से पूर्ववर्ती हैं; और आचार्य गौड़पाद और शंकर के प्रभाव से ही महायानिक बौद्धमत प्रभावित हुआ है । अतएव शंकर ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व आविर्भूत हुए—यही सुस्थिर है ।

—सप्तम शताब्दी में अद्वैतवाद का उल्लेख

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अन्यतम आचार्य हैं—समन्तभद्र वे सप्तम शताब्दी के प्रारम्भ [६०० ई०] में वर्तमान थे । उन्होंने जैनाचार्य उमास्वातिकृत "तत्त्वार्थाधिगमसूत्र" पर 'गन्धहस्तिमहोदधि' का भाष्य रचा । इस भाष्य पर भी 'उपक्रमणिका भाष्य' नाम का 'देवागमस्तोत्र' अथवा "आप्त-मीमांसा" है । आप्तमीमांसा में अन्यान्य दार्शनिक विचार-प्रसंग में अद्वैतवाद पर भी विचार किया गया है । यथा—

"अद्वैतकान्तिकपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।

कारणानां क्रियायाश्च नैकं स्वस्यात् प्रजायते ।।"[२४]

इससे प्रमाणित होता है कि सप्तम शताब्दी के प्रारम्भ में भी अद्वैतवाद का प्रचार था । सप्तम शताब्दी के प्रारम्भ में भी अद्वैतवाद का अर्थात् विवर्तवाद का उल्लेख दिखाई पड़ता है । क्योंकि दार्शनिक भर्तृहरि सप्तम शताब्दी के प्रथम भाग में वर्तमान थे । चीनी पर्यटक इत्सिंग ने इस सम्बन्ध में, अपने भ्रमण वृत्तान्त में लिखा है—**भर्तृहरि ने 'मृगेन्द्रसंहिता' की वृत्ति के ऊपर टीका लिखी ।** भट्ट नारायणकण्ठ ने श्रीकण्ठ के भाष्य के ऊपर वृत्ति लिखी थी, उसी वृत्ति पर भर्तृहरि की टीका है । इस टीका में भर्तृहरि ने अद्वैतवाद का उल्लेख किया है—

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतजनः ।

संकीर्णमिव मायाभिः चित्राभिरभिमन्यते ।।

यथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।

कलुषित्वमापन्नं भेदरूपे प्रवर्तते ।।"

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वाप्रपोभिन्नो

बहुधैकोऽनुगच्छन् ।

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः

क्षेत्रेष्वेवम् अजोऽयमात्मा ।।

भर्तृहरि ने पाणिनिसूत्र के महाभाष्य के ऊपर 'वाक्यपदीय' नामक वृत्ति लिखी है । [?] उस वाक्यपदीय में उन्होंने 'अद्वैतवाद' का उल्लेख किया है । यथा—

यत्र द्रष्टाच दृश्यं च दर्शनं चापि कल्पितम् ।

तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुः त्रयोऽप्यन्त वादिनः ।।

ब्रह्मकाण्ड में भर्तृहरि ने विवर्तवाद का उल्लेख भी किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यथा ।।

अतः कहना होगा कि भर्तृहरि के समय भी अद्वैतवाद का या विवर्तवाद का सविशेष प्रचार था ।

जो कहते हैं कि इन शताब्दियों में अद्वैतवाद का उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता, वे अवहित होकर इन स्थलों का पाठ करने पर देखेंगे कि इन दार्शनिक ग्रन्थों में अद्वैतवाद का उल्लेख है। और दूसरी आपत्ति यह है कि इन शताब्दियों में शंकर का नाम किसी ग्रन्थ में दिखाई नहीं पड़ता। इनके उत्तर में मैं कहूंगा कि चतुर्थ शताब्दी के अन्त में श्री कण्ठाचार्य ने शांकर मत का खण्डन किया है। यदि यह कहा जाये कि उन्होंने शंकर का नामोल्लेख तक नहीं किया। तब मैं कहूंगा कि वैदान्तिक भास्कराचार्य ने भी अष्टम शताब्दी में शंकर मत का खण्डन किया है, किन्तु शंकर का नामोल्लेख नहीं किया। आचार्य रामानुज भी शंकरमत के निरसन में बद्धपरिकर हैं; किन्तु कहीं भी उन्होंने शंकर का नामोल्लेख नहीं किया। मध्वाचार्य के बारे में भी यही बात है। भारतीय आचार्य लगता है इस प्रकार व्यक्तिगत आक्रमण के पक्ष में न थे। इसीलिए केवल मत-खण्डन उन्होंने किया है। अतः कई शताब्दियों तक शंकर का नामोल्लेख न होने से वे उक्त काल में आविर्भूत हुए थे—ऐसा निष्कर्ष निरस्त हो जाता है। दार्शनिक साहित्य में जब उनके मत का खण्डन करने का प्रयास वर्तमान है; तब उनको उन शताब्दियों से प्राचीन मानना ही संगत और शोभन है।

—आपत्ति और परिहार—

शंकर के काल के सम्बन्ध में कई आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। यथा—

एक : शंकर प्रथम शताब्दी ईसापूर्व में आविर्भूत होते, तो जिन ग्रन्थों के वाक्य उन्होंने अपने भाष्य में उद्धृत किये हैं, उनका उद्धृत करना कैसे सम्भव है ?

शंकर ने प्रायः [करके] श्रुति ही उद्धृत की है। इस सम्बन्ध में आपत्ति उठाने का अवसर ही नहीं है। उसके बाद स्मृतियों से भी [वाक्य] उद्धृत किये हैं। महाभारत [विशेषतः गीता] रामायण, मनु, यास्क प्रभृति के वाक्य उद्धृत किये हैं। केवल दो के बारे में यहाँ चर्चा आवश्यक है। शंकर ने अपने भाष्य में 'सांख्यकारिका' और मार्कण्डेयपुराण से वाक्य उद्धृत किए हैं। हम पहले ही कह चुके हैं। पौराणिक वाक्य शांकर भाष्य में बहुत कम हैं। एक प्रकार से नहीं हैं—[ऐसा] कहा जा सकता है। पुराणों के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि पंचम शताब्दी में उनका समाधिक प्रचार हुआ था। महाभारत के [खिलभाग] हरिवंश में भी अष्टादश पुराणों का उल्लेख है। पुराण ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं थे—ऐसा कहना नितान्त अशोभन है। हो सकता है—पंचम शताब्दी [ईसा की] में पौराणिक अभ्युदय हुआ। किन्तु पुराण ईसापूर्व में भी थे। क्योंकि 'मिलिन्द पञ्ही' नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी पुराणों का उल्लेख है। 'मिलिन्द पञ्ही' ईसा की प्रथम शताब्दी में विरचित हुआ था—ऐसा इतिहासकारों का मत है। अतः मार्कण्डेयपुराण से उद्धृत वाक्यों के लिए शंकर को अनतिप्राचीनकाल का कहना नितान्त शोभन नहीं है।

दो : सांख्यकारिका के बारे में पहिले ही विचार कर चुके हैं। सांख्यकारिका ५५७-५८० ई० के बीच चीनी भाषा में अनूदित हुई थी। इसी से इस ग्रन्थ का प्राचीनत्व नष्ट नहीं हो जाता। ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका ईसा से पूर्व विरचित हुई थी और कई शताब्दियों तक प्राधान्य के फलस्वरूप षष्ठ शताब्दी में, चीनी भाषा में अनूदित हुई थी—यही युक्तियुक्त लगता है। अतः इस पर आपत्ति का भी कोई अवकाश नहीं है।

तीन : अब एक और आपत्ति उठाई जा सकती है। शंकर ने बौद्ध [सौगत] मत के प्रसंग में [से] दो स्थलों के वाक्य उद्धृत किये हैं। ऐसा देखा जाता है। किसी-किसी के मत में, उन में से एक वाक्य 'अभिधर्मकोश' व्याख्या नामक ग्रन्थ में दिखाई पड़ता है। इस व्याख्या के प्रणेता हैं—गुणमति। वे चीनी पर्यटक ह्वेनसांग के समकालिक हैं और ६३० ई० ६४० ई० के बीच नालन्दा में वर्तमान थे। दार्शनिक प्रसंग के कनिष्ठ भ्राता वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोश' रचा। इस ग्रन्थ पर गुणमति ने भाष्य रचा। शंकर ने दो स्थलों पर [२/२/२२ तथा २/२/२४ सूत्र के भाष्य में] उद्धृत दो वाक्यों का प्रयोग किया है। इन उद्धृत दो वाक्यों में से प्रथम [वाक्य] सप्तम शताब्दी के गुणमति कृत 'अभिधर्मकोश व्याख्या' नामक ग्रन्थ का वाक्य है। दूसरे वाक्य का कोई पता नहीं मिल रहा। हमें

लगता है—**इनके किसी [अन्य] मौलिक ग्रन्थ से उद्धत होने की सम्भावना समधिक है।** किसी टीका-ग्रन्थ से संगृहीत हुआ है—ऐसा नहीं लगता, सम्भवतः गुणमति ने अपने ग्रन्थ में अन्य किसी प्राचीन मौलिक ग्रन्थ से यह वाक्य उद्धृत किया है। जब देखते हैं कि चतुर्थ या पंचम शताब्दी में श्रीकण्ठ शंकर मत का खण्डन करने में लगे हैं; तब शंकर सप्तम शताब्दी में वर्तमान गुणमति के ग्रन्थ से वाक्य उद्धृत करें— यह असम्भव है। अतः इस आपत्ति में मौलिकता नहीं है—ऐसा कहना अनुचित न होगा।

—सुरेश्वर और धर्मकीर्ति विषयक आपत्ति का खण्डन—

यहाँ एक और आपत्ति हो सकती है। सुरेश्वराचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य है। अतः शंकर के सम-सामयिक हैं। सुरेश्वर ने 'बृहद् आरण्यक भाष्यवार्तिक' में धर्मकीर्ति के मत का उल्लेख किया है। [भामती में भाष्य-व्याख्या करते हुए उसका वाक्य उद्धृत किया है। पृष्ठ ११८ पर द्रष्टव्य] सुरेश्वर का वाक्य है—

त्रिष्वेष त्वविनाभावादिति धर्मकीर्तिना।

प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयतासौ न संशयः॥

—आनन्दाश्रम संस्करण ४/४/७५३, पृष्ठ १५१५

इससे लगता है कि प्रसिद्ध दार्शनिक 'धर्मकीर्ति' का मत ही उद्धृत किया है। धर्मकीर्ति सप्तम शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे। सुरेश्वराचार्य द्वारा धर्मकीर्ति का उल्लेख करने से वे [स्वयं] सप्तम शताब्दी के परवर्ती हो जाते हैं। शंकर भी सुरेश्वर के समसामयिक हैं। इसलिए शंकर का काल सप्तम शताब्दी या [उससे] परवर्ती बताना होगा। किन्तु यह असम्भव है। हमने पहले ही देखा है कि शंकर श्रीकण्ठ और नागार्जुन प्रभृति के पूर्ववर्ती हैं। इसलिए सप्तम शताब्दी के परवर्ती नहीं हो सकते। इतिवृत्त में शंकर और सुरेश्वर सम-सामयिक हैं। **हमारी समझ में सुरेश्वर-कथित धर्मकीर्ति प्रसिद्ध धर्मकीर्ति नहीं है।** सुरेश्वर ने वार्तिक में अन्यत्र भी अविनाभाव सम्बन्ध [प्रत्यक्ष विषय] में चर्चा की है—

"त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति योक्ता प्रयत्नतः।

प्रतिज्ञार्थस्य सत्यांशो न युक्तः शाक्यभिक्षुभिः॥"

—बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक [आनन्दाश्रम संस्करण]

यहाँ धर्मकीर्ति का नामोल्लेख नहीं है। विशेषतः बौद्ध साहित्य में एक ही नाम के बहुत से व्यक्ति हैं। अश्वघोष, धर्मरक्षित, धर्मोत्तर, धर्मपाल प्रभृति नाम एकाधिक व्यक्तियों के हैं। सिंहलराज दत्तगामिनी के समय विख्यात धर्मरक्षित वर्तमान थे। उनको भी धर्मोत्तर कहते थे। और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु के टीकाकार का नाम भी 'धर्मोत्तर' है। सुरेश्वर ने बौद्धों के 'प्रत्यक्ष' विषय में संज्ञा सम्बन्ध पर विचार किया है। हो सकता है, प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में किसी धर्मकीर्ति का उल्लेख उन्होंने किया हो। दूसरे प्रमाण हमें जो मिले हैं, उनकी तुलना में केवल धर्मकीर्ति के नामोल्लेख का प्रामाण्य समधिक हमें नहीं लगता। सुरेश्वर ने जिस धर्मकीर्ति का नामोल्लेख किया है, वह प्रसिद्ध धर्मकीर्ति से भिन्न है। अतएव इस आपत्ति की सार्थकता कम है। जो प्रमाण हमने उपस्थापित किये हैं, उनसे आचार्य शंकर का काल ई० पू० प्रथम शताब्दी में मानना ही युक्तियुक्त है।" इति।

२. डा० परमेश्वर सोलंकी

प्रखरमनीषी डॉ. परमेश्वर सोलंकी ने प्रकृत लेखक को पत्र लिखकर यह सुझाव दिया कि **"यह A.D. और B.C. का मोह क्यों नहीं छोड़ देते। मेरा विश्वास है, आधी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी।"** यह सुझाव प्रकृत लेखक केलिए महाभयप्रद है। ऐसा सुझाव वही दे सकता है, जिसकी इतिहास से आँख चुराने की आदत पड़ गई हो। जैन

समाज अपने इतिहास के प्रति हमेशा से आँखें बन्द किए हुए हैं। डॉ. सोलंकी अपनी सामाजिक नेचर के विपरीत कोई सुझाव भी कैसे दे सकते थे ? **डॉ. सोलंकी ने वही सुझाव दिया, जो उनके धार्मिक व सामाजिक परिवेश में व्याप्त था**। यकीनन प्रकृत लेखक यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकता था। इसका अर्थ यह नहीं है—मेरे हृदय में डॉ. सोलंकी के प्रति सम्मान भावना क्षीण हो गई है, अथवा मुझे उनके वैदुष्य में कोई कमी नज़र आती है। बस, बात इतनी-सी है कि **इतिहास के प्रति मेरा दृष्टिकोण कुछ और है; डॉ. सोलंकी का दृष्टिकोण सामाजिक विवशता-वश कुछ-और है**। बस।

समन्तभद्र : ४१ ई० पूर्व

हमारा लक्ष्य है भगवान् शंकराचार्य का ठीक-ठीक समय खोजना। हमें भगवान् शंकराचार्य का समय वही ठीक-ठीक जंचता है, जो धार्मिक परिवेश के अनुरूप हो। हमने पूरी ताकत लगाकर ईसवी पूर्व की प्रथम शताब्दी में बौद्ध-सन्तों और दार्शनिक वृत्त को खोज निकाला है—**जो पूर्व पृष्ठों में पढ़ा गया**। इसी परम्परा में जैन-चिन्तक **समन्तभद्र** का नाम सामने आया। सच्ची बात तो यह है कि गत तीन दशकों से हम जैन-कालगणना पर मत-मन्थन कर रहे हैं; इधर समन्तभद्र का नाम आते ही हम ठिठक गए। द्रुतबुद्धि की प्रेरणा से हम डॉ. सोलंकी की शरण में गए। उन्होंने मेरी लाज की रक्षा करते हुए २७-४-९५ ई० को मुझे एक पत्र लिखा। वह पत्र नहीं है **वह जैन-इतिहास का आप्त संदर्भ है**। पत्र पढ़कर मैं सहज भाव से इस निष्पन्नार्थ तक जा पहुंचा कि **डॉ. परमेश्वर सोलंकी समन्तभद्र के प्रति जितने 'आप्त हैं, उसके इतिहास के प्रति उतने ही 'नास्तिक' भी हैं**। फिर भी डॉ. सोलंकी के पत्र से संदोहन-प्राप्त तथ्य मेरे लिए ऐतिह्य पूंजी बन गए हैं।

समन्तभद्र के समय-निर्धारण में वह पत्र अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ। उक्त पत्र में डॉ. सोलंकी ने जो कुछ लिखा है, उससे पहले 'शककाल' पर नये सिरे से, परन्तु संक्षिप्त विचारना बहुत ज़रूरी है।

१. शककाल : ७१ ई० पूर्व—हम पहली पंक्तियों में पढ़ आए हैं ७४ ई० पूर्व में, सरस्वती-अपहरण से आहत कालकाचार्य सिन्धु नदपार से शकों को [हमारे विचार में कुषाणों को] को बुला लाए और शकों ने मालवराजा [हमारे विचार में गर्दभिल्ल राजा] को परास्त कर उज्जयिनी में **नये 'शक' की स्थापना की, जो ७१ ई० पूर्व से गिना गया**। यद्यपि यह 'शककाल-गणना' जैन-जगत् में लोकप्रिय रही है; तथापि जैनेतर काल-गणना में भी इसके प्रयोग देखने को मिलते हैं। प्रश्न-समन्तभद्र के लिए वांछित 'शक' क्या ७१ ई० पूर्व से गिनना ठीक रहेगा ? [इसका समाधान मीमांसा प्रकरण में पढ़िए]

२. शककाल : ६६ ई० पूर्व— यह 'शककाल' जैन कालगणना में तथा जैनेतर काल-गणना में भी समान रूप से पाया जाता है। हम क्रमशः इसका विश्लेषणात्मक परिचय देंगे—

—जैन-सम्मत शकाब्द गणना : जैन-ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है, कि जैन-कालगणना में वीर-निर्वाण संवत् ४६१ में कोई 'शककाल' चला। यथा—

> **"वीर जिणे सिद्धिगदे चउसद इगिसट्ठि वास परिमाणे।**
>
> **कालम्मि अदिक्कन्ते उपपन्नो एत्थ सगराया।"**

वीरनिर्वाण-संवत् ४६१ = ६६ ईसवी पूर्व का साल। मुनिश्री कल्याणविजय ने इस स्थापना का बलपूर्वक निराकरण किया है।

—जैनेतर-सम्मत शकाब्द गणना: भारत में हूणवंश का इतिहास महाराजा 'प्रमर' से आरम्भ होता है। विदित हो—भविष्यपुराण में महाराजा 'प्रमर' का समय सप्तर्षि-संवत् ३७१० लिखा है—

"सप्तत्रिंशे शते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ"

—भविष्यपुराण।

सप्तर्षि-संवत् ३७१० को सुगम विधि से [जैसे कि पहले कई बार ऐसा प्रयोग देख चुके हैं] ईसवी पूर्व में पलटते हैं—

[क] ३७१० में से ६२८ वर्ष घटाए : **३७१०-६२८ = ३०८२ वर्ष**

[ख] उक्त उपलब्ध संख्या को भारत-संग्रामकाल : ३१४८ ई० पूर्व से घटाया।

'३१४८-३०८२ = ६६ ई० पूर्व'

जैन-सम्मत तथा जैनेतर-सम्मत शकाब्द गणना के अभिन्न फलितार्थ—**६६ ई० पूर्व का साल**—को देखते हुए, इसकी विश्वसनीयता उजागर हुई है।

अथ मीमांसा—

डॉ. परमेश्वर सोलंकी के पत्र से पता चला कि समन्तभद्र के लिए दो संदर्भ—**(क) शक-संवत् २५ तथा [ख] शक-संवत् ६०**—विचारणीय है। प्रश्न पैदा होता है कि किस-प्राक्तन शकाब्द गणना में इन सन्दर्भों को समाहित किया जाय; हम दोनों के प्रयोग सामने रख लेते हैं। यथा—

७१ ई० पूर्व [—६० = ११ ई० पू०]

अर्थात् यदि ७१ ई० पूर्व का शकाब्द सामने रख लें, तब **समन्तभद्र का समय ६० = ११ ई० पूर्व** सिद्ध होता है, और वैकल्पिक तौर पर ६६ ई० पूर्व का शकाब्द सामने रख लें, तब **समन्तभद्र का समय ४१-६ ई० पूर्व** प्रकाशित होता है। अन्तर केवल पांच वर्ष का है।

हमारा चिन्तन इसी आधार पर सुदृढ़ होता जा रहा है कि जब भगवान् शंकराचार्य का समय **४५-१३ ई० पूर्व** है तो उनके नितान्त समकालीन **समन्तभद्र का समय भी ४६-११ ई० पूर्व** का होना बिल्कुल अनुरूप और यथार्थ है। शंकर-कालीन बौद्ध चिन्तकों की समकक्षता में एक जैन-चिन्तक का आ जाना हमारे लिए सुखद है। समन्तभद्र के उल्लेख ने हमारे शोध कार्य को एकांगी नहीं रहने दिया, बल्कि उसे सर्वाङ्ग बना दिया है। **कुमारिल-धर्मकीर्ति-समन्तभद्र के युग में भगवान् शंकराचार्य हुए—यह बात पक्की हो गई।**

डॉ. परमेश्वर सोलंकी उक्त पत्र में प्रकृत लेखक से जोरदार लहज़े में पूछते हैं—**"आपने कहाँ पढ़ा कि समन्त भद्र ४४ A.D. में हुए और सम्भावना थी कि ४४ B.C. में हुए ?"** इस पर हमारा विनम्र उत्तर है—

आपका पत्र पढ़कर पक्का यकीन हो गया कि समन्तभद्र ४६-११ ई० पूर्व में ही हुए।

डॉ. परमेश्वर सोलंकी का मूल पत्र इस प्रकार है—

तुलसी प्रज्ञा लाडनूं

मान्यवर बाली जी **३४/३०६**

आपका २२/४ का पत्र मिला। सप्तर्षि-संवत्सर का उल्लेख अच्छा लगा। **२७.४.९५**

आपने कहाँ पढ़ा समन्तभद्र ४४ में हुए यह A.D. और B.C. का मोह क्यों नहीं छोड़ देते ! मेरा विश्वास है, आधी समस्याएं समाप्त हो जाएँगी।

अलग डॉक से दो रीप्रिन्ट्स् भेज रहा हूं।

२. समन्तभद्र के उल्लेख वाले दो श्लोक श्रवणबेलगोला के शिलालेख क्र. ५४ में है—

१. "पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।

पश्चान्मालव-सिन्धु-टक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभरं विघोत्कटं सङ्कटं

वादार्थी विचाराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।"

२. वन्ध्यो भास्मक-भस्मसात्कृतिपरटु-पद्मावती देवता।

दत्तोदात्तपदस्वमन्त्रवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः।

आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृत् येनेह काले कलौ कौलं वर्त्म समन्तभद्रामहावद्भद्रं समन्तान्मुहुः।

३. स्वयम्भूस्तोत्र के एक गुट के पं. जुगलकिशोर मुख्तार को दो श्लोक और मिले थे—

१ कौञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्ताम्बुरो पाण्डुपिण्डः।

पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे भिष्टभोजी परिव्राट्॥

वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरङ्गः तपस्वी

राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो निर्ग्रन्थवादी॥

२. आचार्योऽहं कविरहं भट्टं वादिराट् पण्डितोऽहं

दैवज्ञोऽहं भिषगहममहं मन्त्रिवरस्तान्त्रिकोऽहम्।

राजन्नस्यां जलाधिवलया-मेखलायाभिलाषा

माशासिद्धः किमिति बहुना सिद्ध-सारस्वतोऽहम्।

४. एक लघु समन्तभद्र हुए हैं, जिन्होंने अष्टसहस्री पर विषयपद तात्पर्य टीका लिखी है—

देवं स्वामिनभमतं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या

विवृणोम्यहम्यष्टसहस्रीं-विषमपदं लघुसमन्तभद्रोऽहम्।

५. मेरी राय में स्वामी समन्तभद्र पहले हैं, जिन्होंने देवागम, आप्त मीमांसा और रत्नकरण्डक लिखा और इन्हें बाद में जिनशासन-प्रणेता [श्रवणबेलगोला-शिला नं. १०८] माना गया आदिपुराण में इन्हें ही—

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।

यशः सान्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूड़ामणीयते॥

लिखा गया है और वादिराज सूरि [११ वीं वैक्रम] ने भी इन्हें ही—

श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः

सन्तु नः सन्ततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः। लिखा है।

६.वीर जिन स्तोत्र अथवा युक्त्यनुशासन के रचयिता समन्तभद्र सम्भवतः दूसरे हैं। वे युक्त्यनुशासन कारिका ६१ में महावीर भगवान् को सर्वोदय तीर्थ कहते हैं और कारिका ६२ में भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः (चौथा चरण) अपने को अभद्र मानते हैं। सम्भवतः उपर्युक्त ३ का दूसरा श्लोक : आचार्योऽहं-आदि में इन्हीं को संबोधित हैं। जबकि समन्तभद्र प्रथम ने दिगम्बर साधु भस्मरमाए शैवसाधु मिष्ट भोजी परिव्राजक **पाण्डुरंगी** तपस्वी और निग्रर्न्थवादी जैसे कई रूप धारण किए हैं।

७.डॉ. भण्डारकर ने अपनी हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों के अनुसंधान विषयक रिपोर्ट सन् १८८३-८४ में समन्तभद्र का समय शक संवत् ६० लिखा है।

८.विद्वज्जन बोधक ग्रन्थ में कहीं से एक और श्लोक उद्धृत हुआ है—

वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।

उमास्वामी मुनि र्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥

९.इसी प्रकार एक कनड़ी शिलालेख एपिग्राफिका कर्णाटिका की ८ वीं जिल्द में छपा है—जो शकसंवत् ९९९ का है। यह शिलालेख ज़िले के ह्यून स्थान से मिला है।

इसमें भद्रबाहु स्वामी के बाद कलिकाल का प्रवेश बताया गया है। जिससे गणभेद हुआ और फिर समन्तभद्र स्वामी का उदय हुआ, जो कलिकाल गणधर और शास्त्रकार कहे गए हैं। उनकी शिष्य परम्परा में शिवकोटी, वरदत्ताचार्य, आर्य देव, सिंहनन्दि, सुमतिभट्टारक आदि हैं। सिंहनन्दि को गंगराज्य-निर्माण में सहयोगी बताया गया है। शिलालेख का कुछ अंश इस प्रकार है—

—श्रीवर्धमान स्वामि गलतीर्थ प्रवर्ति से गौतमगणि धरर एने त्रिज्ञानिगल् अप्प मुणिगल् रुलेभू अवरिं चतुर्रगुल् ऋद्धि प्राप्तर् एनि सिद कोडकुन्दाचार्य्यरिं केवल कालं योगे भद्रबाहु स्वामिगलिन्द इत्त कलिकालवर्तनेमिं गणभेदं पुट्टिदुदअवरे अन्वय कुमदिं कलिकालगणधरुं शास्त्र कर्त्तुगलुम् एनिसिद समन्तभद्र स्वामीगल् अवर शिष्यसन्तानं शिव कोटयाचार्य्यर अर्वारं वर दत्ताचार्यर अवरिं तत्त्वार्थ सूत्र कर्न्तुगल्एनिसिद् आर्यदेवर अवरिं गंगराज्यमं याडिद सिंहनन्दा चार्यार अवरिन्द एक संघि सुमति भट्टारकर अवरिं।—

गंगवंश का प्रथम राजा कोगुणि वर्मा है, जिसका लेख गंजनगूढ तालुके से शक संवत् २५ का मिला है। इसलिए उसका समय विक्रमसंवत् १६० माना जा सकता है। यह यदि सिंहनन्दि का समय तय होता है तो आर्यदेव, वरदत्ताचार्य, शिवकोटि के पहले समन्तभद्र का समय होता है।

१०.सिंहनन्दि द्वारा गंगराज्य स्थापना में योगदान किया गया, इसके प्रमाण में अनेकों दूसरे शिलालेख भी हैं।

समन्तभद्रकृत ग्रन्थों की संख्या भी बड़ी है।

आपका परमेश्वर सोलंकी

विमर्श-परामर्श [१]

पत्र ने जहाँ हमारे लिए 'सुखद' स्थिति बना दी है, वहाँ उस पत्र ने एक समस्या भी सामने ला खड़ी कर दी है। पत्र में कोंकणी शिलालेख के हवाले से 'भद्रबाहु' का उल्लेख है। यह 'भद्रबाहु कौन हैं? इनकी सुलभ पहचान क्या है? इस पर विचार करना हमें सामयिक लगता है।

हमारे अनुसन्धान के अनुसार भद्रबाहु दो हैं—**प्रथम भद्रबाहु** नवम नन्द का समकालीन है। नन्द के मंत्री शकटार का पुत्र **स्थूलभद्र** भद्रबाहु का शिष्य है और उनका समय है—**३७० ई० पूर्व का साल**। जहाँ तक हमारा अनुमान पहुंचता है, उसके अनुसार प्रथम भद्रबाहु 'समन्तभद्र'—प्रकरण के अनुरूप नहीं है। अत: उनकी चर्चा को अनावश्यक समझ कर यहीं छोड़ते हैं।

द्वितीय भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय के दीक्षागुरु हैं। इनकी पहचान में यह स्मरण रख लेना आवश्यक है कि प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् आचार्य वराहमिहिर इसके ज्येष्ठ भ्राता हैं। द्वितीय भद्रबाहु का समय : **१४६-१०० ईसवी पूर्व का** है ! तर्क का तकाजा यह है कि उक्त भद्रबाहु के प्रसंग में समन्तभद्र की जमकर चर्चा की जा सकती है। **भद्रबाहु [२] तथा समन्तभद्र के ऐतिह्य सूत्र श्रवण बेलगोला के विकीर्ण शिलालेखों में खोजे जा सकते हैं**। उन्हें जरूर खोजना चाहिए।

यदि गंगराज्य की स्थापना **शक २५ = विक्रमसंवत् १६० = ईसवी १०३** मान लें, तो उसमें राज्य के स्थापक 'सिंहनन्दि' का उल्लेख भी जरूरी ठहराएँ तो सिंहनन्दि समेत चार ऊर्ध्ववर्ती शिष्यों की परम्परा : **आर्यदेव, वरदत्ताचार्य, शिवकोटि सिंहनन्दि**—में इन चार घटकों का समय २५ वर्ष प्रति पीढ़ी के अनुपात से १०० वर्ष होते हैं; **ईसवी सन् १०३-१०० = ३ ई० पूर्व का अर्थ है आर्यदेव से २५ वर्ष प्राक् समन्तभद्र का समय युक्ति-संगत है।**

हम इस अनुसन्धान को नया आयाम भी दे सकते हैं। भद्रबाहु के पट्टशिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय = जैन **दीक्षा के बाद विशाखाचार्य** का एक शिलालेख प्राप्त है; जिस पर शक संवत् ५२२ लिखा है। हम स्मरण करा दें—यह शक-संवत् ६२२ ई० पूर्व से चला, जिसका प्रयोग उक्त शिलालेख में है; जो ६२२-५२२-१०० **ई० पूर्व का द्योतक** है। लगभग यही समय भद्रबाहु के दिवंगमन का है। ज़रा सोचें—**समन्तभद्र का समय यदि १००— ईसवी पूर्व तय कर लें, तब १२५-१०३ = २२ ई० पूर्व से पहले** वह समय निश्चयपूर्वक था। यही गणना शक ७० ई० के अनुरूप भी पड़ती है।

हम पूर्व पंक्तियों में लिख आए हैं—"उनके इतिहास के प्रति उतने ही नास्तिक है।" इसका मतलब यह है कि डॉ. सोलंकी को चाहिए था—समन्तभद्र का काल-गणनासिद्ध इतिहास हमारे सामने प्रस्तुत करते। वह इतिहास तो प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि एक अन्धगली में लाकर हमें खड़ा कर दिया : **यह A.D. और B.C. का मोह छोड़ क्यों नहीं देते ?**

प्रो० काशीनाथ बापू पाठक

हमने पंचम अध्याय में **कुमारिलभट्ट** तथा **धर्मकीर्ति** की समकालिकता पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है, और संदर्भ-सहित लिखा भी है। इधर श्रीमान् प्रोफैसर काशीनाथ बापू पाठक का एक निबन्ध सामने आ गया है। जिसका शीर्षक है 'धर्मकीर्ति और शंकराचार्य'। इसे प्रकारान्तर से लेखन प्रक्रिया कहते हैं। हमने लिखा है—कुमारिल और धर्मकीर्ति का यह विषय रूपेण शंकराचार्य का समय प्रतिपादित करता है और प्रोफेसर पाठक का निबन्ध परोक्षरूपेण कुमारिल का समय प्रतिपादित करता है ज़रा देखें—डॉक्टर पाठक क्या लिखते हैं—

"मेरा एक लेख शंकराचार्य की तिथि के विषय में भारतीय क्वेरी वाल्यूम ११, पृष्ठ १७४ पर छपा है। जो एक पाण्डुलिपि में शक ७१० [१८८ ई०] दिया था। यह तिथि मैक्समूलर के द्वारा सही रूप में स्वीकार की गई है। श्री के.टी. तैलंग ने इसी जनरल के पृष्ठ ९६, वाल्यूम १३ में स्वीकार नहीं किया। मैं ऐसा विश्वास करता हूं कि उन्होंने इस विषय पर अनेकों लघु शोध प्रबन्ध पढ़े हैं। उनमें से एक भी उनकी स्थिति को नहीं पहुंच सका। उनके तर्कों का सारांश उनके प्रथम पेपर में मिलता है। वे शंकराचार्य को छठी शताब्दी का मानते हैं। मैं उनके तर्कों से सहमति को दूसरे प्रकरण के लिए रिजर्व रखूंगा। वे जानना चाहते हैं केरलोत्पत्ति के कार्य— जो शंकराचार्य का जन्म १४०० ई०

मानते है—वह स्वीकृत नहीं हुआ। इस (कथन) की ऐतिहासिकता क्या है ? इसी जनरल के वाल्यूम १४ पृष्ठ ६४ से डॉ. भण्डाकर की संस्कृत MSS पर रिपोर्ट की समीक्षा करते हुए डॉक्टर वूल्हर कहते हैं—शंकर की यह तिथि निश्चित करने के लिए उपयुक्त नहीं है। इसी पत्रिका [इंडियन एन्टी क्वेरी] के वाल्यूम १५ के पृष्ठ ४१ पर श्री फ्लीट कहते हैं कि शंकराचार्य नेपाल के राजा वृषदेव के समकालीन हैं। इसे डॉ. भगवान् लाल इन्द्र जी २६० ई० मानते हैं, लेकिन मिस्टर फ्लीट इसे नेपाल की वंशावली के माध्यम से ६३० ईसवी—६५५ ईसवी पाते हैं। मालती माधव की पाण्डुलिपि में भूभूति को कुमारिलस्वामी का शिष्य सिद्ध करती है। इस स्वतंत्र परिवेश पर श्री एम.पी. पण्डित कुमारिल और शंकर की आयु पर अपना निर्णय देते हैं और डॉ. कोलबुक के इस कथन—शंकराचार्य का अप्रत्यक्ष रूप से कुमारिल का संकेत करते हैं—स्पष्टता का विरोध करते हैं। गौडवाही के संस्करण के प्राक्कथन में भी श्री पण्डित कहते हैं कि शंकराचार्य के ज्ञात सम्पूर्ण साहित्य में से कुमारिल भट्ट और उनके कार्य के बारे में एक भी अनुच्छेद [पैरा] ढूंढने में असमर्थ रहा। यह स्पष्ट है—कि जिसने सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य का अध्ययन किया है, इस प्रकार की गलती नहीं करेगा। बृहदारण्यक-वार्तिक कुमारिलभट्ट के साथ-साथ प्रभाकर और शंकराचार्य के दृष्टिकोण का विरोध करता है और शंकराचार्य स्वयं उपदेश साहस्री में कुमारिल का वर्णन करते हैं।

सचाई यह है कि शंकराचार्य पर जिस प्रकार अध्ययन होना चाहिए था; वह नहीं हो सका। टीकाकारों [सुरेश्वराचार्य और वाचस्पति मिश्र] का ठीक प्रकार से अध्ययन नहीं किया जा सकता। सुरेश्वराचार्य शंकराचार्य के योग्य और समकालीन शिष्य थे। सुरेश्वराचार्य के पश्चात् वाचस्पति मिश्र ही शंकराचार्य के विचारों के योग्य प्रवक्ता थे।

वाचस्पति सांख्यतत्त्व कौमुदी में राजवार्तिक उद्धृत करते हैं—यह श्री भारती ने कहा है ये वार्तिक हैं, बोधारण्ययति के शिष्य भोजराजा के जो ९९३ ई० के भोजराजा हैं। वाचस्पति की भामती [टीका] पर यादव वंश के राजा के शासनकाल में छपी थी। कल्पतरु अमलानन्द भूमिका से पता चलता है कि इस कार्य का प्रारम्भ समृद्धि को आगे बढ़ाया, जो महादेव से सम्बन्धित था। मैं इस राजा की इन्सक्रिप्शन प्रकाशित कर चुका हूं, जिसकी तिथि शक ११७० है [इण्डियन एण्टीक्वेरीः वाल्यूम १४ पृष्ठ ६८] उसने १२४७-१२६० ई० में त्यागपत्र दे दिया।

हम यह भी जानते हैं कि वाचस्पतिमिश्र उदयनाचार्य का वर्णन करते हैं। जिसने बाद में वाचस्पतिमिश्र के कार्य पर एक टीका लिखी। इस टीका की एक पाण्डुलिपि ताड़ के पत्रों पर लिखी मिलती है, जिसका समय संवत् १३०४ या १२४८ ई० है। यह एक सत्य है कि बुद्धि भारत में १३ वीं शताब्दी में था। उदयन से यह भी पता चलता है कि वह धर्म उस समय उन्नति पर था। जब इस पर आक्रमण हुए वह (उदयन) १२ वीं शताब्दी में अपनी टीका लिख चुका था। हम अधिक गलती पर नहीं होंगे, यदि हम वाचस्पति मिश्र को देखें, उनसे उदयनाचार्य को ११ वीं शताब्दी में स्वीकार किया है।

यह अच्छी प्रकार से जाना जाता है शारीरिक भाष्य के एक भाग में शंकराचार्य बौद्धों के योगाचार का वर्णन किया है। भामती-टीकाकार कई बार धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हैं। **शंकराचार्य** अपने महान् कार्य में बौद्ध दार्शनिक [धर्मकीर्ति] के दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं। यह निष्कर्ष बृहदारण्यक वार्तिक के एक भाग के मिलने पर निराकृत हो जाता है, जिसमें सुरेश्वराचार्य—जो शंकराचार्य के शिष्य हैं—धर्मकीर्ति का नाम लेते हैं और उन पर आक्रमण करते हैं।

हमें चीनी और तिब्बत के स्रोतों से बौद्ध लेखक की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। चीनी तीर्थयात्री इत्सिग—जो ७ वीं शताब्दी के पश्चात् भारत भ्रमण के लिए आया था। और उसने ६९५ ई० में लौटने के पश्चात् अपनी यात्राओं का विवरण प्रचारित किया था। उसका फ्रैंच अनुवाद इण्डियन एण्टीक्वेरी के नवम्बर-दिसम्बर १८८८

में छपा, जिसमें पता चलता है कि धर्मकीर्ति इत्सिंग का समकालीन था। ईत्सिंग ७०३ ई० में दिवंगत हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म कीर्ति ७ वीं शताब्दी के प्रथम अर्धपटल में हुआ।

तिब्बती लेखक [बौद्ध] तारानाथ कहते हैं कि धर्मकीर्ति तिब्बती राजा ट्रोन-टीन-गम्पो जो ६१७ ई० में पैदा हुआ तथा उसने ६२९-६९८ तक राज्य किया समय विद्यमान था। राजा ने एक चीनी राजकुमारी से विवाह किया था, उसका समय निश्चित है। इस प्रकार हम पाते हैं कि तिब्बती और चीनी लेखक धर्मकीर्ति को स्वेच्छया ७ वीं शताब्दी में स्वीकार करते हैं।

आठवीं शताब्दी के दिगम्बर साहित्य से भी समान परिणाम मिलते हैं। इसका साक्ष्य है कि दिगम्बर जैन लेखकों द्वारा धर्मकीर्ति को जो योगदान दिया, वह कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य के द्वारा आलोचित हुआ। संस्कृत-साहित्य में धर्मकीर्ति की पोज़ीशन एकदम अद्वितीय और रसपूर्ण है। उसका साहित्य बार-बार उद्धृत किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं रहना चाहिए कि तिब्बती मन्दिरों में उनके मूल संस्कृत कार्य मिलते हैं। एक अनुच्छेद—जिसमें सुरेश्वराचार्य तथा धर्मकीर्ति के त्रि-लक्षणा-हेतु की आलोचना करते हैं—विशाल और रोचक हैं। मैं उसकी कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर उनका अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत करता हूं। सुरेश्वराचार्य का दृष्टिकोण है साध्य का कथन—'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' अर्थ और परिभाषा बताने में पर्याप्त हैं। परन्तु यदि किसी को सन्देह हो तो सम-विषम निर्णय से यह समझा जा सकता है—जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि है। अथवा जहाँ-जहाँ आग नहीं है, वहाँ-वहाँ धुंआ [भी] नहीं है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति इन निर्णयों को निरर्थक मानते हैं। सुरेश्वराचार्य सम-विषम निर्णयों को साध्य के सत्य की स्थापना के लिए पर्याप्त नहीं मानते।

सुरेश्वराचार्य अपने कार्य में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर चुके हैं। जिसे बौद्धों ने अस्वीकार कर दिया। जो धर्म न केवल भारत में है, अपितु सम्पूर्ण योरुप [?] में है। वह बौद्ध धर्म का एक रोचक सर्वे भी प्रस्तुत कर चुके हैं, जैसा कि वह अपने में था, चार-भागों में विभाजित है। यथा—[१] माध्यमिक, [२] योगाचार, [३] सौत्रान्तिक और [४] वैभाषिक। शंकराचार्य उनका स्वयम् उल्लेख करते हैं। वास्तव में बृहदारण्यक वार्तिक शारीरिक भाष्य में कुछ भाग पर टिप्पणी करते हैं। इसके प्रकाश में यह अमूल्य होगा, क्योंकि वह शंकराचार्य के समकालिक की कलम से निकला है। और उसके उस समय के साहित्य पर भी प्रकाश पड़ता है। बौद्धों के दृष्टिकोण की एक सुदीर्घ अनुच्छेद में समीक्षा की। इससे धर्मकीर्ति व्यक्तिगत दृष्टिकोण की भी विनम्र शब्दों में समीक्षा की गई। बृहदारण्यक-वार्तिक के टीकाकार आनन्दज्ञान ने अपने कार्य को विश्वसनीय रूप से उद्धृत किया है। धर्मकीर्ति के रचना कार्य से बार-बार उद्धरण लेते हैं। उसे वे 'कीर्ति' कहकर स्मरण करते हैं। यह बताना भी उचित होगा—दिगम्बर जैन लेखक विद्यानन्द भी अपनी रचना 'पात्र-परीक्षा' में 'कीर्ति' को बौद्ध दार्शनिक के रूप में उद्धृत करते हैं। निम्नलिखित पक्षों में आनन्दज्ञान कहते हैं—इसका लेखक धर्मकीर्ति को उद्धृत करता है—

[१] उत्पन्न एव ज्ञाने तत्संदेह निवृत्तये। अन्वयव्यतिरेत स्कौ न ताभ्यामनुमेयधीः॥ १॥

सन्देह निर्णयादन्यत् स्वाभावापि यदुच्यते। तस्यानुमित्यनंगात्वात् प्राप्तं तत्तुषकंडनम्॥ २॥

अविनाभावसिद्ध्यर्थं नन्विदं वर्ण्यते त्र्यम्। त्रिष्वेव त्वविनमाभावाद् भन्तैरपि कीर्तितम्॥ ३॥

स्वाभावादविनाभावे स्यादौष्ण्यस्यग्निलिंगिता। स्वभावेऽथाविनाभावात् कार्ये प्राप्ता स्वाभावता॥ ४॥

औष्णयस्वाभावो दृष्टोऽग्निस्तस्था न्यत्रपिदर्शनात्। क्षितितोयाग्निमरुतां दृष्टा स्पर्शस्वभावता॥ ५॥

मतं चेदस्वभावोऽसौ योऽनेकार्थप्रवृत्तिमान्। द्यावादापि तद्वृत्तेः वृक्षात्मा शिंशपा नहि॥ ६॥

शिशिपा वृक्ष एवेति ह्यविनाभावकारणात्। क्षणिकत्वं न भावानां स्वभावः स्यात्तथा सति॥ ७॥

तस्यानेकार्थशाथित्वाद् अहेतुत्वं प्रसज्यते । क्षणिकत्वं यदेकस्य तदासाधारणात्मता ॥ ८ ॥

हेतोः साधारणात्मत्वं यदानेकस्य तन्मतम् । अग्ने र्धूमाच्च धूमत्वं कार्यत्वस्य समीक्षणात् ॥ ९ ॥

अनैकान्तकिता हेतोः कार्यत्वस्वेह सज्यते । यदि नाम सदा स्पर्शो वाप्तादावपि वर्तते ॥ १० ॥

नैतावता यवेल्लोको गौरस्पर्शस्वभाविका । भुवो हि स्पर्शवत्त्वस्य लोकेऽस्मिन् सुप्रसिद्धितः ॥ ११ ॥

किं चाप्यव्यभिचारेण स्वभावत्वं विवक्षतः । स्वभावान्नैव संसिद्धेद् वस्तुनोऽव्यभिचारिता ॥ १२ ॥

त्रिष्वेव त्वविनाभावात् इति यद् धर्मकीर्तिना । प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः ॥ १३ ॥

तथैवाव्यभिचारेण स्वभावत्वं विवक्षतः । परैवाव्यभिचारस्य संसिद्धेः किं ततः परम् ॥ १४ ॥

स्वभावहेतुना साध्यं वद यत्ते विवक्षितम् ॥ १५ ॥

इस पर आनन्दज्ञान की व्याख्या इस प्रकार है—

[२] सर्वस्य ज्ञानभावत्वा तदन्यथा संभवत्वतः । तस्यैव ज्ञानमात्रस्य ग्राह्यग्राहकलक्षणम् ॥ १ ॥

मलं प्रकल्प तत्स्वास्थ्यं शुद्धिं व्याचक्षते परे । अभिन्नोऽपि बुद्ध्याला विपर्यसितबुद्धिभिः ॥ ॥

ग्राह्य-ग्राहक संवित्ति भेदवान् इव लक्ष्यते

यहाँ अन्तिम श्लोक "अभिन्नोऽपि" से आरम्भ होता है, वह आनन्दज्ञान की राय में धर्मकीर्ति से उद्धृत है। इससे पता चलता है कि 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में जो विचार और अभिव्यक्ति एक विश्वसनीयरूप में इस श्लोक से घटित होते हैं। वे उपदेशसाहस्री में मिलते हैं। (शंकराचार्य स्वयं बौद्ध दार्शनिक को उद्धृत करते हैं। इस प्रकार गुत्थी नहीं सुलझ सकती।) क्योंकि इस विषय का श्लोक 'उपदेश साहस्री' में मिलता है, जहाँ शंकर विज्ञानवादी बुद्धवचन को उद्धृत करते हैं—

[३]"अपरे इति विज्ञान ादिनामेवोक्तिः ग्राह्यग्राहकभावस्य कल्पितत्वम्

न बौद्धराद्धान्तः। ते खल्वेकत्र ज्ञाने तद्भावं

वास्तव मिच्छन्तीत्याशंक्य तत्कल्पितत्वे कीर्तिवात्मुदाहरत्वभिन्नोऽपि

तस्मान्न वस्तुतो ग्राहक भेदोऽऽस्तीति शेषः

यह द्वितीय श्लोक धर्मकीर्ति का है। यहाँ बुद्धिभिः के स्थान पर दर्शनैः पढ़ा जाता है। बाद में बृहदारण्यक वार्तिक की सभी पाण्डुलिपियों में पाया जाता है। मैंने उसकी परीक्षा कर ली है। ऐसा कुछ भी नहीं मिला जो इसके भावार्थ के ऐतिहासिकता तथ्यों को बदल सके, जो वह कहता है। मैं इसमें इतना और जोड़ देता हूं कि धर्मकीर्ति की यह कविता अष्टसाहस्री अध्याय १ में उद्धृत है। और सायण माधव ने भी बौद्धधर्म के विषय में कहा है—

[४] अनुभूतेः किमन्यस्मिन् स्याप्तवापेक्षया वद । अनुभावितरीष्टा स्यात् सोऽप्यानुभूति रेव च ॥ १ ॥

अभिन्नो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्य ग्राहक संवित्ति भेदवान् इव लक्ष्यते ॥ २ ॥

यहाँ दूसरी कारिका धर्मकीर्ति की है, जिसे शंकराचार्य तथा सुरेश्वराचार्य अष्टसाहस्री में उद्धृत करते हैं। यहाँ **अभिन्नोऽपि** के स्थान पर **अवियागोऽपि** पढ़ा जाता है। प्रोफैसर गोंघ ने इस कविता का इंगलिश में अनुवाद किया—इसमें यद्यपि आत्मा और बुद्धि में कोई विभाजन नहीं है—माया की स्वीकृति के कारण अद्वैत की स्वीकृति को प्रतिबिम्बित करता है।

[५] सहोपलंभनियमाद् अभेदो नीलतद्धियो । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैः दृश्यतेन्दाविवाद्वयम् इति ॥ १ ॥

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्ति भेदवान् इव लक्षते । इति च ॥ २ ॥

मेरे विचार में यह सही अनुवाद नहीं है । सही अनुवाद व्याख्या तो रामतीर्थ ने उपदेशसाहस्री की टीका में तथा जैन व्याख्याकार लघु समन्तभद्र ने की है । इससे यह पता चलता है कि शंकराचार्य और उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हैं । वह तिब्बती राजा ट्रांगट्रीन गम्पों के समकालीन हैं । दूसरे बुद्धिष्ट दार्शनिकों के उद्धरण—धर्मकीर्ति की अच्छी तरह से जानी गई कविता बुद्धिमानों ने स्वीकार की थी । ऐसा लगता है कि शंकराचार्य के समय बौद्धों के लिए यह एक फैशन था कि वे अपने महान् दार्शनिकों का अनुसरण करें, जहाँ अप्रामाणिक अध्यापकों के साथ विरोध हो । मैं संस्कृत विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहूंगा, जिसमें सुरेश्वराचार्य की ओर से बौद्ध दार्शनिकों को श्रद्धाञ्जलि दी जाती है । वह उन्हें शाक्यपुंगव तथा महान् बौद्ध कहता है । इन परिस्थितियों में ऐसा कहना उचित होगा कि शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य समकालीन लेखक नहीं हैं । वे प्रसिद्धि के लिए प्रयास कर रहे थे । किन्तु एक जो पहले से शास्त्रीय प्रामाणिकता प्राप्त कर चुका था और वह अर्धशताब्दी से अधिक पहले स्वीकार किया जाना चाहिए । दूसरे शब्दों में धर्मकीर्ति सातवीं शताब्दी का लेखक है; यह भी आसानी से निर्णय लिया जा सकता है कि शंकराचार्य [जो उसका वर्णन करते हैं] आठवीं शताब्दी में हुए । उत्तरी भारत में, जैन-साहित्य में भी इनको आठवीं शताब्दी का ही स्वीकार किया गया है ।

एक और रोचक तथ्य : इत्सिंग कहता है कि भर्तृहरि वाक्यपदीय के लेखक ६५० ई० में मर गए । कुमारिल ने इनके वाक्यकाण्ड से ही ११८ वीं कारिका अपने तन्त्रवार्तिक में उद्धृत की है । [पृष्ठ २५१ = बनारस संस्करण] बाद में उपदेश-साहस्री तथा बृहदारण्यक वार्तिक में उद्धृत किया गया है । दोनों कुमारिल और शंकराचार्य ७ वीं शताब्दी के अलग-अलग लेखक हैं । यह विषय मेरे द्वितीय पत्र में विवेचनाधीन रहेगा" ।

—अनुवादक :

अथ मीमांसा

वरिष्ठ विद्वान् काशीनाथ बापू पाठक भगवान् शंकराचार्य का समय ६८८-७२० **ईसवी** मानते हैं । इनसे भिन्न मत रखने वाले विद्वान् भगवान् शंकराचार्य का समय ७८८-८२० **ईसवी** स्थिर करते हैं । **दोनों पक्षों में मात्र १०० वर्षों का व्यवधान है**—जो कर-कंकण की तरह स्पष्ट है और दोनों पक्ष एक दूसरे को निरस्त करते हैं इसका कारण यह है कि दोनों पक्ष पुस्तकीय प्रमाण की अपेक्षा 'तर्क' और 'अनुमान' का आश्रय लेते हैं, जो [तर्क और अनुमान] अभी स्वयं साध्य हैं । **यः स्वयमसिद्धः, स कथमन्यान् साधयिष्यति ?** फिर भी दोनों अपने-अपने तौर-तरीकों से यत्नशील हैं । हम महामान्य पाठक महानुभाव के विचारों को कसौटी पर परखते हैं । यथा—

विदेशी विद्वान् : दक्कन कालिज के संस्कृत प्रोफेसर श्रीयुत पाठक अपने पक्ष-सिद्ध के लिए पदे-पदे विदेशी विद्वानों को बार-बार उल्लेख करते हैं । लगता है—श्री पाठक महोदय को पक्का विश्वास है: **विदेशी विद्वानों का अनुसन्धान सर्वाङ्गतः आप्त है; उनके निष्कर्ष परीक्षोत्तर है; उनके विचार अनुगन्तव्य हैं** । इससे यह भी झलकता है कि श्रीयुत पाठक महोदय को स्वयम् अपने ऊपर विश्वास नहीं है; उन्हें अपना आविष्कृत अनुसन्धान लड़खड़ाता नज़र आ रहा है । अनुसन्धान में जो परिपक्वता होनी चाहिए, वह श्रीयुत पाठक महोदय के उक्त निबन्ध में कहीं नज़र नहीं आई । हमें इस बात पर भी आश्चर्य है कि राष्ट्रनायक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने श्रीयुत पाठक पर जरूरत से ज्यादा विश्वास कर लिया है ।

इत्सिंग : भारत में दो चीनी यात्रियों का जी भरकर नामोल्लेख होता है । इनमें—**एक ह्वेनसांग और दूसरा इत्सिंग**—हैं । परन्तु इनका समय अत्यन्त विवादास्पद है । बिलकुल स्पष्ट और सर्वसम्मत मान्यता यह है कि ह्वेनसांग महाराजा हर्षवर्धन के समय में भारत आया था । हमने ठोक-बजाकर हर्षवर्धन का शासनकाल ६०६-६६५ **ईसवी**

अस्वीकृत किया है, उसके विकल्प में ५७०-६३० ईसवी का समय सम्राट् हर्षवर्धन के लिए स्थिर किया है। हम इस विश्वास को दृढ़तापूर्वक विज्ञापित करते हैं कि **ह्वेनसांग हर्षवर्धन के शासन के चतुर्थ पटल में, अर्थात् ६२०-६३० ईसवी में थानेश्वर आया था**। उसका शेष भारत-भ्रमण तत्परवर्ती वर्षों में सम्भाव्य है। इसके विपरीत प्रोफेसर पाठक **इत्सिंग** का समय ७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हैं। इत्सिंग ६९५ ईसवी में भारत से बिदा हुआ, **ईसवी सन् ७०३ में वह दिवंगत हुआ**। —ये दोनों तिथियां श्रीयुत पाठक जी ने स्वयं लिखी हैं।

यहाँ विवादास्पद प्रश्न उदित होता है—**क्या ह्वेनसांग और इत्सिग सातवीं शताब्दी के समकालीन यात्री हैं? एक ईसवी साल ६२४ में भारत में प्रविष्ट हो रहा है और दूसरा ईसवी साल ६९५ में भारत से विदा हो रहा है**। जब तक इस गुत्थी को सुलझाया नहीं जाएगा; अनुसन्धान आगे चल ही नहीं सकता। **क्या इत्सिंग ने धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है?** इसके समाधान को अपराजेय तर्क के रूप में परोसा जा रहा है। क्या यह ठीक है? माननीय प्रोफेसर पाठक जी ने धर्मकीर्ति और इत्सिग को समकालिक माना है।

प्रश्न के गर्भ में एक-और प्रश्न? इत्सिंग ने धर्मकीर्ति को उद्धृत किया है, ठीक; उसने सुरेश्वराचार्य को भी उद्धृत किया है? नहीं; क्यों नहीं? सुरेश्वराचार्य और धर्मकीर्ति और कुमारिल-एक-दो दशकों के विस्तार का अनुमान करते हुए तीनों समकालिक हैं। जब इत्सिंग **धर्मकीर्ति का समकालीन है**, अर्थापत्ति न्याय से वह सुरेश्वराचार्य का भी समकालीन हैं, और कुमारिल का भी समकालीन है। **हमने इस समकालिकता के परिसर में आद्य शंकराचार्य को जानबूझ कर नहीं लिया**। हम समझते हैं, आद्य शंकराचार्य दो दशकों का न्यास रखकर इनसे कनिष्ठ पड़ते हैं। जब इत्सिंग भारत से लौट रहा था। ६९५ ई० में आद्य शंकराचार्य मात्र ७ वर्ष के थे [पाठक जी की मान्यतानुसार] अतः इत्सिंग द्वारा आद्य शंकराचार्य का उल्लेख न करना कालसंगत है; जिस पर आपत्ति करने की कोई गुंजायश नहीं है।

धर्मकीर्ति : चीनी यात्री इत्सिंग द्वारा-केवल 'धर्मकीर्ति' का उल्लेख होना और प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठक द्वारा दोनों को समकालिक ठहराना हमें कुछ और सोचने का अवकाश प्रदान करता है। अर्थात् हम एक-अन्य **धर्मकीर्ति** को प्रासंगिक बनाते हैं। क्या **न्याय बिन्दु के लेखक धर्मकीर्ति** को प्रासंगिक बनाया जा सकता है? क्यों नहीं। एक तो वह बौद्धविद्वान् है। तिब्बत के राजा ट्रोन-ट्रीन-गम्पो के शासन-काल [६१७ ई०] में वर्तमान धर्मकीर्ति का स्थान सुरक्षित है। अतः इत्सिंग का समय स्थिर करने में उक्त धर्मकीर्ति—जो निश्चय पूर्वक बौद्ध-विद्वान् है– के अस्तित्व पर विचार करना चाहिए। 'रूपावतार' का लेखक—जो बौद्ध विद्वान् भी है—धर्मकीर्ति उक्त धर्मकीर्ति से भिन्न है।

भवभूति : यदा कदा कुमारिल का उल्लेख होता है, तदा-तदा भवभूति का भी स्मरण होता है। इस समय दो कुमारिल हमारे सामने हैं—

१. कुमारिल : आद्यशंकराचार्य का किंचित्कालीन पूर्ववर्ती। हमारे विचार में उसका समय १०५ ई० पू० से ३० ई० पूर्व तक

२. कुमारिल : इत्सिंग द्वारा स्मृत धर्मकीर्ति का समकालीन व्यक्ति, जिसका समय ई० ६१७-६९५ है।

भवभूति को बीच में लाकर वास्तविक कुमारिल की पहचान विचारणीय है। महाकवि भवभूति एक भ्रम के कारण प्रासंगिक बन गया है। कुमारिल के शिष्यों में एक शिष्य उज्बेक भी है। इधर भवभूति का नामान्तर भी **उज्बेक** है। बस, भाई लोग इस बात को ले-उड़े : भवभूति कुमारिल का शिष्य है।

ज़रा गम्भीरता से विचार करें—कुमारिल का शिष्य **'उज्बेक'** है; भवभूति नहीं। इधर **भवभूति** का नामान्तर 'उज्बेक' भी है। भवभूति उर्फ उज्बेक का गुरु **ज्ञाननिधि** है; कुमारिल नहीं है। अतः कुमारिल के समय-साधन में भवभूति को अलग ही रखना चाहिए। यह अलग बात है—भवभूति व्याकरण का महाविद्वान् भी है। इत्सिंग द्वारा

स्मृत धर्मकीर्ति से लगभग १०० वर्ष पूर्वकाल में भवभूति हुए थे। राजतरंगिणी के अनुसार वह ललितादित्य का समकालीन है; अर्थात् **सप्तर्षि-संवत् ४३३५=१२१७ प्रा० शक तथा ईसवी संवत् ५९५ है** जिसमें महाराजा ललितादित्य का राज्यावसान हुआ। कल्हण पंडित लिखता है—

कविर्वाक्पतिराज: श्रीभवभूत्यादिसेवित: ।

जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥ ४/१४४

पहले संवत्सरद्वयी को ईसवी साल में पलट कर देखते हैं। **प्राचीन शक १२१७-६२२=५९५ ईसवी** का समय सिद्ध होता है। **सप्तर्षि-संवत् को ईसवी साल में पलटने का नियम—**

[क] मूल संख्या में ७ जमा किए—४३३५+७=४३४२,

[ख] उपलब्ध संख्या को ३७६५ [मील पत्थर के अंक में] से घटाया;

४३४२—३७६५=५७७ सामान्यवर्ष।

[ग] संसर्पकाल के १८ वर्ष पुनः जमा किए—

५७७+१८=५९५ ईसवी संवत्

अर्थात् ईसवी सन् ५९५ भवभूति का निम्नवर्ती समय है। मान लो, भवभूति ४० वर्ष जीवित रहे हों: **५९५-४०=५५५ ई० संवत्** उसके लिए मान्य हो सकता है। अतः इन्हीं से १०० वर्ष बाद: ६५५ ईसवी में इत्सिंग भारत यात्रा पर था। अतः इत्सिंग का समकालीन धर्मकीर्ति और धर्मकीर्ति का समकालीन कुमारिल का **शिष्य भवभूति**—यह सारी सोच ही निराधार है।

भर्तृहरि: इत्सिंग द्वारा भर्तृहरि का उल्लेख करना किसी सीमा तक मान्य है। वह लिखता है—भर्तृहरि के निधन को ४० वर्ष हुए हैं। इसका अर्थ ग्रहण किया है—**भर्तृहरि का निधन सप्तर्षि-संवत् ४० में हुआ**। यह ठीक है। वाक्यपदीय प्रणेता भर्तृहरि सप्तर्षि-संवत् ४०=१०५ ईसवी पूर्व में निधन हुआ मान लेना साक्ष्यसिद्ध भी है और काल-सिद्ध भी। साक्ष्य सिद्ध से हमारा तात्पर्य प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ '**काशिका**' द्वारा वाक्यपदीय को उद्धृत करना है। विदित हो—हमने 'काशिका' के प्रणेतृद्वय **वामन-जयादित्य** को उज्जयिनीश्वर साहसाङ्क [शासन काल १४६ ई० पूर्व] से ११७ ई० पूर्व की ब्रह्म-संसत् का सदस्य स्वीकार किया है। हम अपनी बात की पुष्टि के लिए ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य वराहमिहिर का नाम प्रस्तुत करते हैं। साहसांक की ब्रह्मसंसद उसके पिता के समय **[चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय: शासनकाल १६०-१४६ ई० पू०] से चली आ रही थी। पुष्यमित्र [शुंगनरेश] तथा चन्द्रगुप्त मौर्य [द्वितीय] नितान्त समकालीन हैं**। इस बात की पुष्टि 'महाभाष्य' तथा 'काशिका में समान रूप से उद्धृत '**पुष्यमित्र सभम्**' तथा '**चन्द्रगुप्त सभम्**' संज्ञाओं से हो जाती है। अतः ईसवी पूर्व १०५ में अवसन्न भर्तृहरि से परवर्ती कुमारिल तथा धर्मकीर्ति को समकालीन तो मान सकते हैं; परन्तु इसके लिए 'इत्सिंग' के साक्ष्य को फिलहाल प्रश्नों और शंकाओं के आलवाल में छोड़ देते हैं।

लघुसमन्तभद्र: माननीय प्रोफेसर के.वी.पाठक ने अपने विस्तृत निबन्ध में 'लघु समन्तभद्र' का संकेत दिया है; जिसने किसी टीकाग्रन्थ में शंकराचार्य और उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हैं—लिखा है। लघु समन्तभद्र की चर्चा डॉ. परमेश्वर सोलंकी ने भी की है, जो विगत संदर्भ में पढ़ आए हैं। लघुसमन्तभद्र ने 'अष्ट साहस्री' पर विषमपद-तात्पर्य टीका लिखी है—

देवं स्वामितममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या,

विवृणोम्यहमष्टसाहस्त्रीं विषमपदं लघुसमन्त भद्रोऽहम् ॥

लघुसमन्तभद्र से पहले वरिष्ठ समन्तभद्र हो चुके हैं। जिन का निश्चित समय शक संवत् ११ = ५५ ई० पूर्व सोचा जा सकता है। अगर यह यथार्थ है तो समन्तभद्र धर्मकीर्ति और कुमारिल भट्ट का नितान्त समकालीन है। लघुसमन्तभद्र निश्चितरूपेण परवर्ती है, उसका संदर्भ किसी सीमातक आप्त है; परन्तु **लघुसमन्तभद्र का संदर्भ अपरिवर्तनीय तौर पर इत्सिंग के समर्थन में नहीं है**। जबतक लघु समन्तभद्र का समय स्थिर नहीं हो जाता; तब तक उसे इत्सिंग-प्रसंग से बाहर रखना ही सामयिक है।

वाचस्पति मिश्र : इत्सिंग ने बार-बार वाचस्पति मिश्र का उल्लेख किया है। वाचस्पति मिश्रि दो हैं। पहला वाचस्पति मिश्र भामती नामक टीका लिखने वाला है। उसने अपना समय लिखा है—**'वस्वङ्कवसुवत्सरे'** अर्थात् संवत्सर ८९८ है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि यह विक्रम-संवत् या शक-संवत् है। विक्रम-संवत् ८९८ = ८४० ईसवी है और शक संवत् ८९८ = ९७६ ईसवी है। यह दोनों अंक इत्सिंग के समय से नीचे पड़ते हैं। हमारी राय के अनुसार **८९८-४५७ = ४४१ ईसवी** में वाचस्पति मिश्र हुए। अन्य वाचस्पति का समय अभी विचाराधीन है। इस समग्र संदर्भ पर पहले विचार कर चुके हैं।

इत्सिंग : एक बार फिर– चीनी यात्री ने जो मुद्दे उठाए हैं, वे सभी सारगर्भित हैं। यथा—

१. भर्तृहरि का निधन ४० वर्ष पूर्व हुआ;

२. धर्मकीर्ति और कुमारिल समकालीन है; और

३. शंकराचार्य धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हैं।

चीनी यात्री इत्सिंग की पकड़ मज़बूत है। हम भी इसी दायरे में घूम रहे हैं। परन्तु हम **१-५ ई० पूर्व से १३ ई० पूर्व तक** सीमाबद्ध समय में अपने आपको बांधकर रखे हुए हैं। जो विद्वान् भगवान् शंकराचार्य का समय **७८८-८२० ईसवी स्वीकारते है; निराधार हो जाता है**। और जो विद्वान् भगवान् शंकराचार्य का समय **६८८-७२० ईसवी मानते हैं;** उनकी स्थापना चरमराती नज़र आती है। कारण, उनके समयास्तित्व को बहिः साक्ष्य ठेल-ठालकर ऊपर ले जाते हैं, जिसका चुनाव हमने किया है—**जो १०५ ई० पू० से १३ ई० पूर्व तक है।**

निष्पन्न समाधान

प्रो० के० वी० पाठक महोदय का निबन्ध—जिसमें अनुसन्धान का सूक्ष्म प्रावधान विद्यमान हैं—इत्सिंग की धुरीपर इतस्ततः घूम रहा है। अब समय आ गया है—हम दो टूक फैसला करें कि **इत्सिंग का समय ठीक-ठीक क्या है ?** यदि सोच विचार के बाद हम इस असंशोध्य निर्णय तक पहुंचते हैं कि **इत्सिंग का समय ६१६-६९५ ई०** है; तब उसके द्वारा चर्चित भर्तृहरि वाक्यपदीय का लेखक नहीं है; कोई और बौद्ध विद्वान् भर्तृहरि है; और धर्मकीर्ति भी वह नहीं है, जिसे भगवान् शंकराचार्य 'कीर्ति' कहकर याद करते हैं। कोई न्यायबिन्दु का लेखक एवं बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति है। **यदि इत्सिंग का समय संशोधित होकर कहीं पूर्ववर्ती शताब्दियों में आ सकता है, तब इस निबन्ध का पुनर्मूल्यांकन भी हो सकता है**। अन्यथा हम जानते हैं—न नो मन तेल होगा और न राधा नाचेगी। इति।

इसी शृंखला में प्रो० पाठक का एक अन्य निबंध भी प्रासंगिक है।

भर्तृहरि एवं कुमारिल भट्ट

मैंने अपने पिछले लेखों में इत्सिंग के कार्य की सम्बद्धता को दिखाया था। वहाँ प्रथम अनुच्छेद में (फ्रेंच अनुवाद के आधार पर) धर्मकीर्ति को उसके समकालिक रखा है, लेकिन भारतीय पुराविद् वाल्यूम-१९, पृष्ठ ३१९

पर इसे दूसरे "चीनी विशेषज्ञ" प्रो-वेसीलिव' को समर्पित बताया गया है जिसके मत में 'चीनी अभिव्यक्ति' अधिक समयानुकूल है। द्वितीय अनुच्छेद में इत्सिंग के कार्य के प्रति लेखक का कथन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, तथा जो भावी पीढ़ी को अग्रसारित किया जा चुका है।

मैंने पिछले पेपर के द्वितीय अनुच्छेद में अनुरोध किया था कि एक भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० में इत्सिंग उद्धृत करता है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह जाना गया कि इत्सिंग व्याकरण पर अपनी टिप्पणी देते हैं। व्याकरण के प्रकाण्ड-पण्डितों का जिक्र करते हैं। भर्तृहरि को महान्, प्रसिद्ध व्याकरणविद् और वाक्यपदीय का लेखक बताता है। इत्सिंग ७०० श्लोक के लगभग वाक्यपदीय में गिनाते हैं। इस कार्य की परीक्षा करने पर पाया गया कि यह सत्य के अधिक पास है, इसकी पाण्डुलिपि डक्कन कालेज लायब्रेरी से सम्बन्धित तथा बनारस से प्रकाशित एक संस्करण है। भर्तृहरि और उनके वाक्यपदीय के विषय में इतने तथ्य देने के पश्चात् यह सिद्ध हो जाता है कि भर्तृहरि की मृत्यु का समय ६५० ई० है। **यह रोचक साहित्यिक सत्य है, और ऐतिहासिक महत्त्व का विषय है** जिसके द्वारा एक समकालिक लेखक को जान सके। **इत्सिंग का जन्म ६३५ ई० और भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० है।**

तन्त्रवार्तिक में १/३ में कुमारिल, ने पाणिनि कात्यायन, पतञ्जलि और अन्य व्याकरणविदों पर एक शक्तिशाली आक्रमण किया और व्याकरण को किसी वैदिक परम्परा से सम्बन्धित न होने के दावा किया। वेद नित्य है, व्याकरण मानव-मन की उपज है तथा बुद्ध और अन्यों की उक्त अभिव्यकित से अच्छी नहीं है।

न च वेदाङ्गभावोऽपि कश्चिद्व्याकरणं प्रति।

तादर्थ्यावयवाभावद्बुद्धादिवचनेष्विव ॥

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तावत्तादर्थं नास्य गम्यते।

अकृत्रिमस्य वा कश्चित्कृत्रिमोऽवयवः कथम् ॥

कुमारिल तर्क देते हैं कि वेद की सुरक्षा में और न ही प्रत्येक दिन की बोलचाल की पवित्रता में शब्द विज्ञान लाभदायक है। प्रमुख शास्त्रीय लेखकों जैसे यास्क, आश्वलायन, नारद और राजकुमार, पालकार्य आदि पाणिनि के प्रति कोई सम्मान प्रदर्शित नहीं करते हैं।

इस महत्त्वपूर्ण विवाद में कुमारिल भर्तृहरि के वाक्यपदीय से बहुत से श्लोक देते हैं। मैं अपने उद्देश्यपूर्त्यर्थ उनमें से केवल पाँच श्लोक उद्धृत करूंगा।

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्। अपूर्व देवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥

वाक्यपदीय २/१२१, पृ० १३२

यह श्लोक कुमारिल दो बार उद्धृत करते हैं। यथाहुः

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।

अपूर्व देवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु" ॥ इति ॥

यत्तु— 'अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहु" रिति।

तत्राभिधीयते ॥

तन्त्रवार्तिक, बनारस संस्करण पृ० २५१, २५४

वाक्यपदीय के प्रथम अध्याय में १३ वें श्लोक की द्वितीय पंक्ति, पृष्ठ ६ पर उपलब्ध है, इसमें जो संवेदना कुमारिल भट्ट ने की है। वह तन्त्रवार्तिक के पृष्ठ २०९ और २१० पर इस प्रकार है—

यद्यपि केनचिदुक्तम् ॥

"तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" इति,

तद्रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि वक्तव्यमासीत् ।

को हि प्रत्यक्षगम्येऽर्थे शास्त्रात्तत्त्वावधारणम् ।

शास्त्रलोकस्वभावज्ञ ईदृशं वक्तुमर्हति ॥

अतएव श्लोकस्योत्तरार्द्धं वक्तव्यम् ।

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते इति ॥

न ह्यत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते बधिरेष्वेवमदृष्टत्वात् ।

वाक्यपदीय के द्वितीय अध्याय में १४ वाँ श्लोक

पृष्ठ ७३ पर, तथा तन्त्रवार्तिक के पृष्ठ २२० पर उद्धृत है

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मण कम्बले ।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥

यहाँ दो और प्रश्न—

वृषलै र्न प्रचेष्टव्यमित्येतस्मिन् गृहे यथा ।

प्रत्येकं संहतानां च प्रवेशः प्रतिषिध्यते ॥ ३७७ ॥

वाक्यपदीय अध्याय—द्वितीय

वृषलैर्न प्रचेष्टव्यं गृहेऽस्मिन्निति चोदिते ।

प्रत्येकं संहतानां च प्रवेशः प्रतिषिध्यते ॥

तन्त्रवार्तिक, अ० ३, सेक्शन प्रथम

बनारस संस्करण । पृष्ठ-७३२ ।

काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिपि बालोऽपि चोदितः ।

उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति । ३०९ ।

वाक्यपदीय, अ० द्वितीय ।

और इसके पश्चात् कहा—

काकेभ्यो रक्ष्यतामन्नमिति बालोपि चोदितः ।

उपघात प्रधानत्वान्न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥

न त्विदमत्रोदाहरणं घटते ।

तन्त्रवार्तिक. अ. तृतीय, सेक्शन-प्रथम

बनारस संस्करण, पृ० -७६३१

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि कुमारिल भर्तृहरि को अनेक बार उद्धृत करते हैं और पाणिनि व पतञ्जलि के साथ आलोचना करते हैं । ऐसा लगता है कि कुमारिल के समय भर्तृहरि एक अच्छे व्याकरणविद् जाने जाते थे । अपने

समय में वे पाश्चात्य विद्वानों के ध्यानाकर्षण केन्द्र नहीं बन सके, और एक मीमांसक नेता के अनुसार पाणिनि, पतञ्जलि के अनुयायियों में भी वैसा स्थान प्राप्त नहीं कर सके। ह्वेनसाङ्ग ई० ६२९ से ६४५ ई० तक भारत में रहा, परन्तु उसने उसके विषय में कुछ नहीं कहा। डेढ़ शताब्दी पश्चात् इत्सिंग के कार्य से पता चलता है कि भर्तृहरि भारत के पाँच मण्डलों में अच्छी प्रकार जाने जाते थे। इस प्रकार स्पष्टरूप से यह कहा जा सकता है कि भर्तृहरि की मृत्यु तिथि ई० ६५० के और तन्त्रवार्तिक के लेखन के मध्य डेढ़ शताब्दी अवश्य व्यतीत हो गयी होगी। दूसरे शब्दों में—कुमारिल आठवीं शताब्दी के प्रथम पूर्वार्द्ध में होने चाहिए।

हम यहाँ दो उद्भट विद्वानों इत्सिंग-और कुमारिल को उद्धृत कर रहे हैं। प्रथम सुसंस्कृत और विद्वान् चीन निवासी है, शाक्यसिंह का अनुयायी, स्मृति-आकाश पर जिसका नाम अमर है, पर्वत की चोटी की भाँति, जिसकी श्रेष्ठता दीर्घकाल तक चमकती रहेगी। दूसरे विद्वान्-कुमारिल भट्ट, दक्षिणनिवासी अपने समय के उद्भट विद्वान् विद्वता में अपने समकालीनों में सर्वश्रेष्ठ, वह यह कल्पना नहीं कर सका कि बुद्ध एक क्षत्रिय, गुरुपद की अभिलाषा कैसे कर सका, वह केवल जन्मजात ब्राह्मण का ही अधिकार है, और स्वयं को मानवता का एक रक्षक घोषित करके सबको आश्चर्य चकित कर दिया :

कलिकलुषकृतानि यानि लोके।
मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोकः ॥

तन्त्रवार्तिक अ०—१/१/पृष्ठ ११६

कुमारिल ने अपनी लेखनी और कथनी से उस धर्म को उखाड़ दिया जो ब्राह्मणत्व की अन्तिम चिन्गारी को प्रायः बुझा चुका था और जिसने इत्सिङ्ग को भारत से सुदूर पूर्व से आकर्षित किया।

दोनों लेखक एक ही विषय "भारतीय व्याकरण-साहित्य" पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से बोले। पाणिनि, पतञ्जलि और भर्तृहरि-समान व्यक्तित्व वाले, भर्तृहरि के वाक्यपदीय से सहमत हैं। इनका सम्बन्ध निम्न तालिका से देखा जा सकता है—
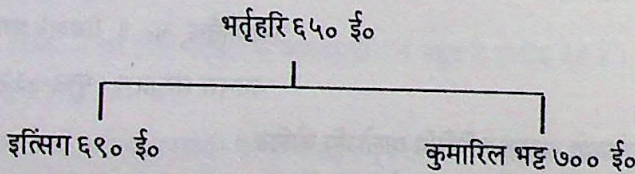
कुमारिल ने स्वयं को भर्तृहरि के विपरीत टीका-टिप्पणी और आलोचना तक ही सीमित रखा, तथा अपने और भर्तृहरि की समय, तिथि के विषय में कोई जानकारी नहीं दी हैं। दूसरी ओर इत्सिंग दो विषयों पर निश्चित जानकारी देते हैं—एक भर्तृहरि की मृत्यु, और समय का अन्तराल जो उस घटना और सम्पूर्ण भारत में उसकी प्रसिद्धि के बीच व्यतीत हुआ। तन्त्रवार्तिक उसी समय लिखा गया जब भर्तृहरि की व्याकरणविद् के रूप में प्रसिद्धि भारत के पाँच भागों में पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। ये तथ्य कुमारिल को आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थापित करते हैं।

इस रोचक तथ्यों के साथ कालक्रमानुसार कुमारिल को शंकराचार्य से प्राथमिकता देते हैं, इनमें से प्रथम का तैत्तिरीय भाष्य से सम्बन्ध जोड़ा गया तथा सुरेश्वर के द्वारा तैत्तिरीयवार्तिक में उसी सम्बन्ध में उद्धृत किया गया। तैत्तिरीय भाष्य का परिचय एक मीमांसक पर आक्रमण से प्रारम्भ होता है:

"काम्यनिषिद्धयोरारम्भादारब्धस्य चोपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानेन प्रत्यवायाभावादयत्रतः एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतुत्वात्कर्मभ्य एव मोक्ष इति चेन्न।"

उस अनुच्छेद के अनुसार सुरेश्वर बताते हैं कि उसके गुरु शंकराचार्य के द्वारा एक मीमांसक पर आक्रमण किया गया, जो स्वयं कुमारिल था। तैत्तिरीयवार्तिक में कथित—

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।

नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया॥

इति मीमांसकंमन्यैः कर्मोक्तं मोक्षसाधनम्।

प्रत्याख्यायाऽऽत्मविज्ञानं तत्र न्यायेन निर्णयः॥

यहाँ प्रथम श्लोक सुरेश्वर के द्वारा उद्धृत, कुमारिल के श्लोक वार्तिक में भी है, यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य मीमांसक का दृष्टिकोण जानने के लिए इस श्लोक का भावानुवाद कर चुके हैं। अग्रिम श्लोक में सुरेश्वर कुमारिल मीमांसकाम्नाय के विषय में कहते हैं। सुरेश्वर जो कुमारिल के कुछ समय बाद हुए, एक विद्वान् मीमांसक के प्रति निरादरपूर्ण अभिव्यक्ति के प्रयोग का खतरा उठा सका।

इस प्रकार हम क्रमानुसार भर्तृहरि और कुमारिल, शंकराचार्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं। कुमारिल भर्तृहरि की आलोचना करते हैं और शंकर कुमारिल की, भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० में हो गयी, इत्सिंग के अनुसार डेढ़ शताब्दी पश्चात् यह सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध हो गये। कुमारिल, भर्तृहरि के आलोचक आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रसिद्ध हो गये। शंकराचार्य उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने चाहिए यह किसी परम्परा पर आधारित नहीं, अपितु इत्सिंग, कुमारिल और सुरेश के कथनों पर आधारित हैं। कोई इसकी प्रामाणिकता को 'इत्सिंग की रचना मात्र जालसाजी' नहीं कह सकता।

दिगम्बर जैन साहित्य की ओर आते हुए, समन्तभद्र प्रथम नाम है, जिनकी आप्तमीमांसा की वाचस्पति मिश्र के द्वारा शंकराचार्य की स्याद्वाद सिद्धान्त पर आलोचना की व्याख्या में आलोचना की गयी।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।

सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत्॥

समन्तभद्र का दक्षिण-भारत में प्रकट होना न केवल दिगम्बर जैन के वर्ग साहित्य में अपितु संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी एक युग को अंकित करता है। आप्तमीमांसा स्याद्वाद सिद्धान्त की एक प्रामाणिक अभिव्यक्ति है और सर्वज्ञ के विषय में जैन विचार सभी समकालीन दार्शनिक विधाओं, ब्रह्मदैवसिद्धान्त सहित की समीक्षा से गुजरता है।

यह कार्य समन्तभद्र द्वारा लिखा गया 'उमास्वती की तत्त्वार्थ श्वर समन्तभद्र की टीका "गन्धास्तिमहाभाष्य" एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, भारत में देवागमनस्तोत्र के रूप में जाना जाता है। उसी के आरम्भ का एक श्लोक—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

समन्तभद्र ने युक्त्यानुशासन, रत्नाकरनन्दक, स्वयम्भुस्तोत्र, जिनशतक भी लिखे हैं। आप्तमीमांसा पर सब से पहली टीका अकलंका की अष्टशती है जो अकलंकादेव या अकलंकाचन्द्र के नाम से जानी जाती है।

वह लघीय सत्रय, न्यायविनिश्चय, अकलंकास्तोत्र स्वरूपबोधन और प्रायश्चित्त के भी लेखक थे। दूसरी और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आप्तमीमांसा की टीका, विद्यानन्द की अष्टसाहस्री या आप्तमीमांसा है, वह हमें बताते हैं कि उन्होंने अष्टशती का अनुसरण सहायक के रूप में किया :—

श्रीमदकलङ्कविवृत्तां समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात् ।

परमागमार्थविषयामष्टसाहस्त्रीं प्रकाशयति ।। अ० १०

उन्होंने "युक्त्यानुशासन" पर एक टीका युक्त्यानुशासनालङ्कार भी लिखी। 'आप्तदीक्षा' भी उन्हीं की रचना है।

श्लोकवार्तिक जो अष्टसाहस्री में उद्धृत है और युक्त्यानुशासनालङ्कार में उद्धृत परमाणपरीक्षा भी उन्हीं को समर्पित है।

परीक्षामुख में माणिक्यानन्दी ने समन्तभद्र अकलंका और विद्यानन्द को उद्धृत किया है।

सिद्धं सर्वजनप्रबोधजननं सद्यःकलङ्काश्रयं

विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम् ।

निर्दोषं परमागमार्थविषयं प्रोक्तं प्रमालक्षणम्

युक्त्या चेतसि चिन्तयन्तु सुधिय श्रीवर्धमानं जिनम् ।।

अ० —१

प्रभाचन्द्र की माणिक्यानन्दी के कार्य पर पहली टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड है, उनका कहना है कि उसका कार्य 'उसके कार्य अकलंका की सूक्तियों' पर आधारित है। जो बाद में बच्चों की समझ के लिए कठिन हो गया।

श्रीमदकलङ्कार्थोव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत्तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितु—कामस्तत्परिज्ञानानुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थ प्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणप्रकरममिदमाचार्यः प्राह।

प्रभाचन्द्र के अनुसार उसने प्रमेयकमल मार्तण्ड के अतिरिक्त अकलंका की 'लाघ्वीयचन्द्रोदय' की एक टीका 'न्यायकुमुद-चन्द्रोदय' भी लिखी, जिन्हें वह अपना गुरु मानता है :

माणिक्यनन्दिपदमप्रतिमप्रबोधम्,

व्याख्याय बोधनिधिरेष पुनः प्रबन्धः ।

प्रारभ्यते सकलसिद्धिविधौ समर्थे

मूले प्रकाशितजगत्रयवस्तुसार्थे ।। ३ ।।

बोधः कोप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याकलंकं पदम्

जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम् ।

किं न श्रीगणभृज्जिनेन्द्रपदतः प्राप्तप्रभावः स्वयम्,

व्याख्यात्यप्रतिमं वचो जिनपतेः सर्वात्मभाषात्मकम् ।। ८७ ।।

माणिक्यनन्दि के कार्य पर टिप्पणी करने के पश्चात्, अप्रतिम ज्ञानवाहक यह टीका फिर एक ग्रन्थ पर प्रारम्भ की गयी, जो त्रि-लोक में बहुसंख्यक चीजों की प्रकाशक और सभी इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ हुई। अकलंकपद प्राप्त करके मुझे अवर्णनीय और अप्रतिम ज्ञान प्राप्त हो गया; और मैं इसे सभी विषयों के समाधान के रूप में उद्धृत करता हूं। क्या श्री गणभृत् जिनेन्द्र पद से स्वयं प्रभाव नहीं प्राप्त किया, अपने अतुलनीय वचन जो लोगों की बोलियों में कहे गये।

इससे यह पता चलता है कि प्रभाचन्द्र अकलंक विद्यानन्द का शिष्य था। माणिक्यनन्दि अकलंक और विद्यानन्द को उद्धृत करते हैं, अकलंक के शिष्य प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि के कार्य पर एक टीका लिखते हैं। जिसमें वह बार-बार विद्यानन्द को उद्धृत करते हैं। इन तथ्यों पर आधारित हमें चार समकालीन लेखक प्राप्त होते हैं—अकलंक उनमें से सब से पुराने हैं। कालक्रमानुसार—

अकलंक

विद्यानन्द

माणिक्यनन्दि

प्रभाचन्द्र

प्रभाचन्द्र बाण की कादम्बरी से यह मंगल श्लोक उद्धृत करते हैं—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये

स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।

अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे

त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र दोनों बार-बार भर्तृहरि को उद्धृत करते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्॥

यहाँ यह सुस्पष्ट है कि अकलंक और प्रभाचन्द्र ७ वीं शताब्दी के पश्चात् हुए। ये अमोघवर्ष के गुरु जिनसेन से पहले हुए, जो उन्हें आदि-पुराण में याद करते हैं। ये सत्य हमें यह स्वीकार करने के लिए पर्याप्त है कि ब्रह्मनेमिदत्त की राय सत्य है। यद्यपि एक आधुनिक लेखक अकलंक राष्ट्रकूट राजा सुभातुंग या कृष्णराजा के समकालीन थे।" मैं यहाँ 'आदि पुराण' जिसमें अकलंक और प्रभाचन्द्र को उनके महान् कार्य "न्यायकुमुदचन्द्रोदय" तथा संक्षिप्त नाम 'चन्द्रोदय' के साथ उद्धृत करूंगा।

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रं कविं स्तुवे।

कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥ ४७॥

चन्द्रोदयकृतस्तस्य यशः केन न शस्यते।

यदाकल्पमनाग्लायि सतां शेखरतां गतम्॥ ४८॥

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः।

विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेतिनिर्मलाः॥ ५३॥

चन्द्रोदय लिखने के कारण प्रभाचन्द्र चन्द्रमा की किरणों की भाँति उज्ज्वल है, और प्रशंसा के पात्र हैं। भट्टाकलंक और श्रीपाल, पात्रकेसरी, वे ऐसे चमकते हैं मानों वे बुद्धिमानों के हृदयारूढ हार हों।

इस अनुच्छेद जिनसेन, 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' और 'पात्रकेसरी' के लेखक अकलंक और प्रभाचन्द्र को याद करते हैं। आदि-पुराण की बहुत पुरानी भोजपत्र पाण्डुलिपि श्रवणबेलगोला के ब्रह्मसूरी शास्त्री से सम्बन्धित है।

पात्रकेसरी का दूसरा नाम विद्यानन्द दिया हुआ है। 'सम्यक्त्वाप्रकाश' में जैन श्लोकवार्तिक से एक गद्य उद्धृत है जो विद्यानन्द उर्फ पात्रकेसरी स्वामी का माना जाता है।

"तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्दि [द] अपरनामपात्रकेसरीस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। ननु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्वि [प्रति]पत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थे तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेकातामपाकरोति।

यह अनुच्छेद 'जैन श्लोकवार्तिक' के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ से है, जिसमें हिन्दी टीकाकार 'रत्नाकरन्दक' में विद्यानन्द पर आरोप लगाते हैं। वादीचन्द्र एक नाटक 'ज्ञानसर्वोदय' में 'अष्टशती' का परिचय एक नारी के रूप में देते हैं। जब वह मीमांसा एवम् अन्य सम्प्रदायों पर आक्रमण करती है, तब वह देवागमनस्तोत्र का वर्णन एवं व्याख्या करती है। परन्तु चुप करने में—असमर्थ रही; और उनकी मौजूदगी में भयभीत हो गयी। चौथे अंक में कहती है—

"देव, ततोऽहमुत्तालितहृदया श्रीमत्पात्रकेसरिमुखकमलं गता तेन साक्षात्कृतसकलस्याद्वादाभिप्रायेण लालिता पालिताष्टसहस्रीतया पुष्टिं नीता देव स यदि नापालयिष्यत्तदा कथं त्वामद्राक्षं (द्रक्ष्यं)"

पात्रकेसरी ने उसे मीमांसकों के आक्रमण से बचाया और 'अष्टसाहस्री' में विकसित कर दिया। ये तथ्य हमें यह बताने में असमर्थ रहे हैं कि पात्रकेसरी और विद्यानन्द ने अष्टसाहस्री लिखी।

हम पहले ही देख चुके हैं कि जिनसेन ने अकलंक, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द उर्फ पात्रकेसरी की प्रशंसा की है। उत्तरपुराण की अन्तिम प्रशस्ति में जिनसेन को अमोघवर्ष का प्रथम गुरु बताया गया है, और जो शक सं० ८२० में लिखा गया। जब चाल्लकेतन परिवार का लोकादित्य वंकापुर पर शासन कर रहा था, मैंने अन्वेषण किया और १८८३ में भारतीय पुराविद को अग्रसारित कर दिया। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र को उनके टीका ग्रन्थ आत्मानुशासन में उनको कृष्णराज द्वितीय का गुरु बताया गया है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिनसेन के आदि पुराण की तिथि, यथासम्भव निश्चित करना आवश्यक है। उसका पहला कार्य "जैन हरिवंश" शक. सं. ७०५ का है। राष्ट्रकूट शासक बल्लभ द्वितीय के समय जिनसेन युवक होना चाहिए। उस समय हरिवंश की गरिमा घट रही थी। जैन हरिवंश की रोचक प्रशस्ति के अनुच्छेद में गुप्त सम्राट् का वर्णन है जिसको भारतीय पुरावशेषसंग्राहक में प्रकाशित किया जा चुका है।

जिनसेन 'अमोघवर्ष प्रथम' के समय था, पार्श्वाभ्युदय में स्वयं बताता है।

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं

बहुगुण (मप) दोषं कालिदासस्य काव्यम्।

मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कम्,

भुवनमवतु देवस्सर्वदामोघवर्षः ॥ ७० ॥

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः

श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।

तच्चोदितेन जिनसेन मुनीश्वरेण

काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥ ७१ ॥

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरु श्री जिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टितचेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्य-वर्णनं नाम चतुर्थस्सर्गः ॥ ४ ॥"

यह संस्कृत साहित्य की उत्साहपूर्ण कविता है जिससे समय निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है भारतीय कवियों में प्रथम स्थान कालिदास को प्राप्त है, परन्तु जिनसेन मेघदूत के लेखक से अधिक बुद्धिमान् होने का दावा करता है। लेकिन 'भावी पीढ़ियाँ जो कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कवि मानती है, इसको सहन नहीं कर सकती है। कालिदास के विषय में सर्वप्रथम 'हर्षचरित' में और जिनसेन के ऐहोल अभिलेख पुलकेशिन् द्वितीय में संकेत प्राप्त होते हैं।

"जयति भगवाजि(ञ्जि) नेन्द्रो वीतजरा[मर] णजन्मनो यस्य। ज्ञान समुद्रान्तर्गतमाखिलञ्जगदन्तरीपमिव॥"

इस महान् के विषय में अगला संकेत कुमारिल के कार्य से प्राप्त होता है, तथा बाद में पार्श्वाभ्युदय में संकेत प्राप्त होता है।

पार्श्वाभ्युदय की रचना अमोघवर्ष प्रथम के समय में हुई, और उसके बाद 'आदिपुराण' में जिसने साहित्य के क्षेत्र में ऊँचा पद प्राप्त किया, परन्तु जिनसेन इसको समाप्त करने के लिए अधिक समय तक जीवित नहीं रहे। परम्परा से पता चलता है कि जब जिनसेन का अन्तिम समय निकट आ पहुंचा तो उन्होंने अपने दो शष्यों को बुलाया, और एक लकड़ी के टुकड़े की व्याख्या करने को कहा। उनमें से एक ने—

'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे।'

दूसरा जो गुणभद्र था—

'नीरसदारु भाति पुरा।'

जिनसेन ने आदि-पुराण को परिष्कृत करने के लिए गुणभद्र को चुना। बाद में उत्तरपुराण और आत्मानुशासन लिखा गया जिसमें यह संकेत पाया गया।

पार्श्वाभ्युदय और आदि पुराण से हमें जिनसेन के विषय में अन्तिम तिथि विषयक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। परन्तु जयधवलातिका अमोघवर्ष प्रथम को अपना शिष्य एवं समकालीन बताते हैं। उसके समापन पर उसकी तिथि ७५९ शक देते हैं—

इति श्रीवीरसेनीया टीका सन्तार्थदर्शनी।
मठग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्ने दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमान पूजायां नन्दीश्वर महोत्सवे॥
अमोघवर्ष राजेन्द्रराज्य प्राज्यगुणोदया।
निष्ठितप्रचयं यायादाकल्पान्तमनकल्पिका।
षष्टिरेव सहस्त्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः॥
श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वशः॥
विभक्तिः प्रथमस्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयः।
उपयोगश्च शेषास्तु तृतीयस्कन्ध इष्यते॥
एकोन्नषष्टि समधिक सप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जय धवला प्राभृतव्याख्या॥

गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकम्।

टीकाश्रीवीरसेनीया शेषा पद्धतिंपञ्चिका ॥

श्रीवीरप्रभुभाषितार्थघटना निर्लोठितान्यागम-

न्याया श्रीजिनसेनसन्मुनिवरैरादेशितार्थास्थितिः।

टीका श्रीजयचिन्हितोरुधवला सूत्रार्थसंद्योतिनी

स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतया श्रीपाल सम्पादिता ॥

हम आसानी से आदि पुराण को शक ७६० का स्वीकार कर सकते हैं। जब जिनसेन ने अपनी पहली कृति 'हरिवंश' शक ७०५ में लिखी, तब वह वृद्ध हो चुके होंगे।

हम प्रायः देख चुके हैं कि आदि पुराण में अकलंका प्रभाचन्द्र 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' के लेखक, विद्यानन्द उर्फ पात्रकेसरी का वर्णन है। हम यह बता चुके हैं कि आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अकलंक राष्ट्रकूट शासक शुभतुंग या कृष्णराजा प्रथम के समकालीन थे। अकलंक के शिष्य प्रभाचन्द एवं विद्यानन्द नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने चाहिए और जिनसेन के समकालीन जिन्होंने अपना 'हरिवंश' राष्ट्रकूट शासक बल्लभ द्वितीय के समय लिखा। इस प्रकार प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द का समय शक ७६० है आदि पुराण का समय भी यहीं है जिसमें इनका वर्णन है।

प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द भर्तृहरि के वाक्यपदीय को उद्धृत करते हैं और अनेक बार भर्तृहरि के आलोचक कुमारिल को भी उद्धृत किया। प्रभाचन्द्र तत्त्ववार्तिक के लेखक कुमारिल या भट्ट को स्वीकार करते हैं।

"ज्ञान स्वभावस्य ज्ञार्तृव्यापारस्यार्थं तथात्वप्रकाशकतया प्रमाणताभ्युपगमान्न भट्टस्यानन्तरोक्ताशेषदोषानुसं (षं) ग इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्"।

"तथार्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरं तल्लक्षण ह्यार्थापत्तिरपि दृष्टः [श्र]तो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना कुमारिलोऽप्येतदेव भाष्यकारवचो व्याचष्टे।

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथाभवन्।

अदृष्टं कल्पयेदन्यत् सार्थापत्तिरुदाहृता ॥

प्रमेयकमल मार्तण्ड में अधिक श्लोक भट्ट को आरोपित करते हैं; अष्टसाहस्त्री कुमारिल के श्लोकवार्तिक में गयी, जो विद्यानन्द के 'जैनश्लोकवार्तिक' के शीर्षक को बताती है। कोई भी लेखक कुमारिल की तरह से अनेक बार आलोचित नहीं हुआ। इसका कारण विद्वान् मीमांसक का, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में स्थापित जैन सिद्धान्त पर आक्रमण करना है। इस कार्य पर अकलंक अपनी टीका प्रस्तुत करते हैं परन्तु कुमारिल का उत्तर नहीं देते। प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द समन्तभद्र को महान् मीमांसक के आक्रमणों से बचाने का प्रयास नहीं करते। मैं यहाँ यह रोचक प्रश्न दोहराना नहीं चाहता कि कुमारिल अकलंकादेव के समकालीन थे। यह कहना पर्याप्त होगा कि कुमारिल की आलोचना और प्रभाचन्द का उत्तर का एक भाग, सायण व माधव ने 'जैनिज्म' पर अपने अध्याय में दिया।

अकलंक आप्तमीमांसा के तीसरे श्लोक की व्याख्या में कपिल और बुद्ध को व्याख्यापित करते हैं, जो मानवता के अध्यापक स्वीकार नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि उनकी शिक्षाएँ सामञ्जस्यहीन हैं। विद्यानन्द जोड़ते हैं कि इस कविता का उद्देश्य प्रभाकर और भट्ट के अनुयायी हैं। वे वैदिक वाक्यों के अर्थ 'अर्थ लगाने' के प्रकार से असहमत हैं। कुमारिल की बहुपरिचित पङ्क्ति को उद्धृत करते हैं:—

भावना यदि वाक्यार्थौ नियोगो नेति का प्रभा।

तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥

कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किं न तत्प्रमा।

द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ।

विद्यानन्द वेदान्ती मण्डनमिश्र का वर्णन करते हैं। और बृहदारण्यक के तीसरे अध्याय से कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं—

यदुक्तं बृहदारण्यकवार्तिके—

आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितं।

ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥

आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्य सद्वितीयत्वबाधनात्।

पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धिं समीहितम् ॥

त्वत्पक्षे बहुकल्प्यं स्यात्सर्वं मानविरोधि च।

कल्प्या विद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रयेति।

कश्चित् सोऽपि न प्रेक्षावान्।

ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्।

निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसत्यते ॥

मैं यहाँ यह दिखा चुका हूं कि शंकर कैसे धर्मकीर्ति के सुपरिचित श्लोक को विज्ञानवादी बौद्ध के समक्ष रखते हैं और उन परिस्थितियों से अनुमान लगा चुके हैं कि शंकर और सुरेश के समय में योगाचार के अनुयायियों का इस श्लोक को उद्धृत करने का फैशन था। एक विज्ञानवादी विद्यानन्द एक विज्ञानवादी का ब्रह्मदैतवादी से विरोध प्रदर्शित करते हैं तथा उस श्लोक को उद्धृत करते हैं। शंकर और सुरेश के कार्य से जैन लेखक को यह विचार प्राप्त होता है। फिर सुरेश और विद्यानन्द धर्मकीर्ति के त्रिविध कारण पर आक्रमण करते हैं। दोनों कुमारिल को उद्धृत करते हैं जिसको हम आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में निर्धारित कर चुके हैं। दोनों शंकराचार्य और अकलंक के पश्चात् आते हैं, दोनों आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा आदि पुराण की तिथि शक ७६० से पहले आते हैं। ये तथ्य बताते हैं कि सुरेश अपने आलोचक विद्यानन्द के समकालीन थे

प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द का कार्य, सूचनाओं की खान है। प्रभाचन्द्र 'भगवान् उपवर्ष' दिङ्नाग उद्योतकर धर्मकीर्ति, भर्तृहरि, शबर स्वामी, प्रभाकर और कुमारिल का वर्णन करते हैं। ये सभी लेखक 'भगवान् उपवर्ष' के अपवाद के रूप में विद्यानन्द के द्वारा उद्धृत किये गये।

भगवान् उपवर्ष, शबरस्वामी, धर्मकीर्ति, कुमारिल शङ्कराचार्य के द्वारा सन्दर्भित किये गये हैं। अष्टसाहस्री कुमारिल को धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र के विचारों का खण्डन करते हुए प्रस्तुत करती है। इस प्रकार हम काल क्रमेण कुमारिल की तुलना में अन्तिम दो वर्णित लेखकों की प्रधानता का अनुमान करते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार उद्योतकर दिङ्नाग का खण्डन करते हैं। जैन श्लोकवार्तिक के अनुसार धर्मकीर्ति ने उद्योतकर का खण्डन किया।

डा० पीटरसन अपने पेपर में न्यायबिन्दु टीका पर कहते हैं कि जैसलमेर खण्ड में कुमारिल के आलोचक दिङ्नाग का रोचक सन्दर्भ है। लेखक निश्चयपूर्वक दावा करता है कि जब कुमारिल मानसिक प्रत्यक्ष बोध को त्याग

देता है जिसकी स्थापना धर्मग्रन्थों से दिङ्नाग ने की । क्योंकि वह दिङ्नाग की परिभाषा नहीं जानता था । दिङ्नाग की आलोचना कुमारिल के श्लोकवार्तिक के प्रत्यक्ष अध्याय में है । उसी कार्य में दिङ्नाग का दूसरा सन्दर्भ है ।

वासनाशब्दभेदोत्यविकल्पमविभागतः ।

न्यायविद्भिरिदं चोक्तं धर्मादौ बुद्धिमाश्रिते ॥ १६७ ॥

व्यवहारोनुमानादेः कल्पते न बहिःस्थिते ।

अस्तीदं वचनं तेषामिदं तत्र परीक्ष्यताम् ॥ १६८ ॥

"न्यायविद्धिरिति । न्यायविद्धिर्हि दिङ्नागाचार्यैरिदमुक्तम् । सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सत्त्वमपेक्षत इति । एतदपि दूषयति" ।

इस अनुच्छेद में सुचरितमिश्र कहते हैं कि कुमारिल दिङ्नागाचार्य को "न्यायविद्धिः" अभिव्यक्ति से स्वीकार करते हैं । सुचरितमिश्र जैसलमेर खण्ड के बौद्धलेखक और ब्राह्मण टीकाकार के अनुसार कुमारिल के द्वारा दिङ्नाग की आलोचना की गयी । अपने अध्याय में शून्यवाद को अधिकार देते हैं, मीमांसक बौद्ध दृष्टिकोण को 'बुद्धि से अलग आत्मा की सत्ता का अस्वीकार' का विरोध करते हैं । इस श्लोकवार्तिक के इस भाग की व्याख्या करते हुए सुचरितमिश्र बार-बार धर्मकीर्ति के सुपरिचित श्लोक का उच्चारण करते हैं, जिसे शंकर और सुरेश ने भी उद्धृत किया है, और हमें यह आलोचना यह अनुमान कराने में सहायक होती है कि धर्मकीर्ति और दिङ्नाग कुमारिल के परवर्ती हैं ।

हम देख चुके हैं कि विद्यानन्द इस दृष्टिकोण को पुष्ट करते हैं तथा 'अष्टसाहस्त्री में कुमारिल को धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए दिखाते हैं ।

इन तथ्यों से हम दिङ्नाग, उद्योतकर, धर्मकीर्ति और कुमारिल का कालक्रमानुसार समय निर्धारण कर सकते हैं । ये लेखक एक के बाद एक प्रमुखता से रहे । ये सभी शंकर के पूर्वज थे । यदि हमें इनमें से एक की भी समय तिथि पता चल जाए, तो हम शंकराचार्य के काल को निर्धारित कर सकते हैं । इस प्रकार भर्तृहरि और कुमारिल क्रमशः चतुर्थ और पंचम स्थान पर आते हैं । भर्तृहरि के समय से कुमारिल और शंकर आसानी से जाने जा सकते हैं ।

ह्वेनसाङ्ग ने ६४५ ई० में भारत छोड़ दिया था, पाँच वर्ष पश्चात् ६५० ई० में भर्तृहरि मर गये, और भर्तृहरि के प्रसिद्ध आलोचक कुमारिल ह्वेनसाङ्ग के डेढ़ शताब्दी पश्चात् तक फलते-फूलते रहे । जैसा हम जानते हैं, बाण ह्वेनसाङ्ग का समकालीन था, हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कुमारिल बाण के पश्चात् उन्नति करते रहे । इस कथन से भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० की सचाई को झुठलाया नहीं जा सकता है क्योंकि यह समकालीन लेखक इत्सिंग पर आधारित है । ह्वेनसाङ्ग अपने समकालीन भर्तृहरि का वर्णन करने में असमर्थ रहे हैं । अतः हम यह कैसे मान लें कि ह्वेनसाङ्ग की यात्रा से ऐसा प्रमाण प्राप्त होता है, जो कुमारिल को भर्तृहरि के बाद सिद्ध कर सके ।

ह्वेनसाङ्ग कुमारिल का वर्णन "बोद्धों का शत्रु महान् और खतरनाक ब्राह्मण" के रूप में करते हैं । डा० ब्रुनेल मानते हैं कि कुमारिल ६४५ ई० के पहले नहीं हुए थे । डा० ब्रुनेल मि० तेलंग के तर्कों की अपेक्षा ठीक हैं । वह तर्क मेरे द्वारा खोले गये तथ्य के प्रकाश में स्पष्ट हैं । परन्तु चीनी यात्री कुमारिल का वर्णन नहीं करता अपितु वह धर्मकीर्ति और भर्तृहरि का वर्णन करता है जिसकी आलोचना कुमारिल और शंकराचार्य ने की । परन्तु इत्सिंग की चुप्पी कुमारिल के सम्मान की पर्याप्त रूप से व्याख्या करती हैं । उनका अपना कथन कि भर्तृहरि अपनी मृत्यु से डेढ़ शताब्दी पश्चात कुमारिल ने अपनी प्रसिद्धि स्थापित होने के पश्चात् व्याकरणविद् पर आक्रमण किया, जिसको मैं बता चुका हूं । यह

कहना आसान प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति और भर्तृहरि चीनी एवं भारतीय इतिहास के मध्य खोये हुए प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं: और कुमारिल दो चीनी तीर्थ यात्रियों के भारत छोड़ जाने के पश्चात् फले-फूले।

कन्नड प्रदेश के अभिलेख से यह सिद्ध हो जाता है कि कुमारिल और शंकराचार्य एक निश्चित सीमा में हुए। वास्तव में यह सत्य है कि ये अभिलेख प्रत्यक्षतः कुमारिल और शंकराचार्य को वर्णित नहीं करते हैं। परन्तु ये राष्ट्रकूट राजा (शुभतुंग, बल्लभ II, अमोघ वर्ष I, अकाल वर्ष) के विषय में बताते हैं। ये राजा हैं जो दिगम्बर जैन साहित्य की प्रशस्ति में प्रशंसा के पात्र बने, यह बात वर्तमान लेखक के द्वारा उद्‌घाटित की गयी। ये प्रशस्तियाँ दिगम्बर जैन लेखक अपने समकालिक राजाओं के साथ फले-फूले। ये लेखक अकलंक, विद्यानन्द उपनाम पात्र केसरी प्रभाचन्द्र, जिनसेन और गुणभद्र हैं। जिनसेन का आदिपुराण जो लगभग ८३८ ई० में लिखा गया, प्रभाचन्द्र और पात्रकेसरी की प्रशंसा करता है, जिन्होंने कुमारिल को एक सौ बार वर्णन किया। प्रभाचन्द्र के गुरु अकलंक का वर्णन एक पत्थर के अभिलेख तिथि १०७७ ई०, मैसूर स्थित बिलग्रामी में प्राप्त हुआ है:—"विस्तृत शब्दशास्त्र में, वह विश्वविख्यात पूज्यपाद, तर्कशास्त्र में अकलंकदेव के समान, काव्य में समन्तभद्र के समान, इस प्रकार रामसेन एक प्रमुख विद्वान् था।" यह मि० राइस का अनुवाद है। मैं इस अनुच्छेद में अकलंकदेव को संकेतित कर सकता हूं परन्तु इससे भ्रम उत्पन्न होगा। एक नाम जिसके द्वारा यह जैन लेखक अपने कार्य कनारसी शक० ८६३ में लिखित कार्य पम्पा के विषय में बोले। एक दूसरे शिलालेख सौनदत्ती तिथि शक ९०२ में एक जैन लेखक इस प्रकार बोला—"वह उसके समान चमकता है जो हेतु के षट्-सिद्धान्त के अपने ज्ञान में दाग रहित था।" यह मि० फ्लीट का अनुवाद है। मेरी राय इस अनुच्छेद के विषय में यह है—कि अकलंक के समान तपस्वी दर्शन के षट्-सिद्धान्त में प्रवीण था। मि० फ्लीट की गलती डा० किल्हरन के समान थी, जो मैंने भारतीय पुरातत्त्वावशेष में संकोच की थी। पात्रकेसरी का वर्णन श्रवणबेलगोला मैसूर में स्थित एक शिलालेख में है। त्रिलक्षणा या त्रिलक्षणहेतु का खण्डन करने के लिए जैन देवी पद्मावती के आशीर्वाद से जिनकी प्रशंसा की गयी है। जैसा कि मैं पहले ही संकेत कर चुका हूं कि त्रिलक्षणाहेतु का अष्टसाहस्री और प्रमाणमीमांसा में विचार-विमर्श और खण्डन किया जा चुका है। मि० राइस यहाँ इस प्रकरण को समझने में असमर्थ रहे। नयसेन शक १०३७ में लिखित अपने कन्नड कार्य में विद्यानन्द का वर्णन करते हैं। सायण, और माधव अकलंक के 'स्वरूपसम्बोधन' को उद्धृत करते हैं और विद्यानन्द व प्रभाचन्द्र की "प्रमेयकमलमार्तण्ड" का वर्णन करते हैं। भर्तृहरि पर कुमारिल के आक्रमणों का वर्णन 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कर दिया गया है। इस प्रकार हमारे तथ्य चीनी इतिहास, ब्राह्मण और जैन साहित्य और कन्नड-देश के अभिलेख से लिये गये और इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि कुमारिल का समय ७०० ई० से ७५० ई० रहा है। इस प्रकार शंकराचार्य और उनके शिष्य सुरेश ७५० ई० से ८३८ ई० में रहे।

अब मैं संक्षेप से तैलंग के तर्कों की तुलना अपने तर्कों से करूंगा। भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० में हुयी, कुमारिल ने उनकी आलोचना की, यह तथ्य उनके अन्तिम योगदान से प्राप्त होता है। उसका दुर्भाग्य तब शुरू होता है, जब उस तथ्य को स्वीकार या असिद्ध करना पड़ा। परन्तु वह उसे अनुद्धृत ही छोड़ देते हैं, क्योंकि यह सफलता पूर्वक उनके सिद्धान्त को उखाड़ देता है और कुमारिल के समय निर्धारण पर एक बड़ा सन्देह क्षेत्र फैला देता है। उनका कहना है कि शंकराचार्य का समय ५७० ई० था। इस गणना सिद्धान्त के अनुसार शंकर के पूर्ववर्ती कुमारिल को ५५० ई० का मानना होगा। भर्तृहरि कुमारिल के पूर्ववर्ती ५२५ ई० से ६५० में मृत्यु को प्राप्त हो गया। इत्सिंग के अनुसार भर्तृहरि १२५ वर्ष के रहे होंगे। इस स्थिति की असंगति का संस्कृतज्ञों द्वारा पर्याप्त रूप में मूल्यांकन किया जायेगा। मैं अपने-तथ्यों को विस्तार से कह चुका हूं।

दिगम्बर जैन के विनाश पर मि० तैलंग की व्याख्या के ढंग को मीमांसा सम्प्रदाय मुश्किल से विद्वानों के सुपुर्द करेगा, जो उनकी व्याख्या करने के लिए दिगम्बर साहित्य का स्वयम् अवलोकन करेगा, माधव की शंकरविजय

की नहीं। यह तर्क कल्पना आधारित, निर्मूल दिखायी पड़ता है वहाँ केवल तीन मीमांसक जैमिनी, शबरस्वामी तथा कुमारिल थे, पूर्व दो लेखक जैन धर्म का संकेत नहीं करते हैं। सुबन्धु के संकेत की कुमारिल को उद्धृत करते हुए व्याख्या की जानी चाहिए। यह निष्कर्ष भ्रान्ति पूर्ण है। प्रभाचन्द्र पाँच मीमांसक लेखकों का वर्णन करते हैं वे जैमिनी, उपवर्ष, शबर स्वामी, प्रभाकर और कुमारिल हैं। बाद के दो लेखक अष्टसाहस्री तथा श्लोकवार्तिक में जैन धर्म के सबसे खतरनाक शत्रु के रूप में उद्धृत हैं। विद्यानन्द भट्ट को प्रभाकर का खण्डन करते हुए प्रस्तुत करते हैं, जो पहले से बाद वाले की प्रधानता दिखाते हैं गोविन्दानन्द कहते हैं कि प्रभाकर का शारीरक भाष्य से बार-बार सम्बन्ध जोड़ा गया है। वह कुमारिल की भाँति विद्वान् मीमांसक था, दोनों ने ही मीमांसा परम्पराओं की स्थापना की—प्रभाकर परम्परा तथा भट्ट परम्परा। दोनों परम्पराओं का जीवन, शंकर के उदय से पहले, उनके शिष्य सर्वाज्ञात्ममुनि ने संवारा। इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि प्रभाकर को उद्धृत करते हुए कुमारिल को नहीं सुबन्धु के संकेत की व्याख्या होनी चाहिए क्योंकि बाद का कोई भी समय ६५० ई० से कम नहीं माना जायेगा : यही भर्तृहरि की मृत्यु तिथि है। यह सत्य है कि कुमारिल का वासवदत्ता में संकेत भ्रमपूर्ण है और त्रुटिपूर्ण है। मि० तैलंग इस वास्तविकता से परिचित नहीं होना चाहते हैं कि शबर स्वामी बौद्ध धर्म पर आक्रमण करते हैं या स्वयं बौद्ध साहित्य में आलोचना के शिकार बनते हैं।

मि० तैलंग कहते हैं कि यदि संकेत ठीक है और उन पर किया निर्णय सही है, दूसरे संकेतों से पता चलता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के समकालीन हैं," यह दूसरे संकेत 'तारानाथ' स्वयं हैं, जिसके आधार पर तैलंग प्रायः अविश्वास की भावना ला चुके हैं। यही तथ्य उसी के सिद्धान्त के आधार पर हम से स्वीकार करने के लिए पूछा गया। उनका दूसरा तर्क भी पहले के समान असन्तोषजनक है, वह संकेत करता है कि पाटलीपुत्र नगरी ७५६ ई० से पूर्व ही विध्वंस कर दी गयी थी; इसलिए हमें कोई संकेत इस शहर के विषय में नहीं प्राप्त होता है तदनन्तर ह्वेनसाङ्ग के विषय में भी नहीं। यह संकेत सत्य को छिपाता है। विद्यानन्द जो नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए, कहते हैं—'असत्ता के चार भाग हमने स्वीकार किये क्योंकि हम यह विचार देना चाहते हैं कि एक निश्चित वस्तु की पहले सत्ता नहीं होती है।' क्योंकि हम जानते हैं कि "पाटलीपुत्र या चित्रकूट मिले हुए हैं, अन्तर्विष्ट हैं।" ब्रह्मनेमिदत्त के अनुसार विद्यानन्द (पात्र केसरी) पाटलीपुत्र निवासी थे, जो मगध की राजधानी, राजा अवनिपाल के द्वारा शासित थी। वाचस्पति मिश्र, सोमदेव, अमितगति दूसरे लेखकों के अतिथि, पाटलिपुत्र का संकेत देते हैं।

उनका अग्रिम तर्क शारीरक भाष्य में पूर्णवर्मा का संकेत है। मि० तैलंग 'वर्गाद्वय' को जानते हैं, एक मगध का बौद्ध शासक जो छठी शताब्दी में हुआ और दूसरा राजा जावा अभिलेख में वर्णीत हैं। हमें बताया गया है कि बौद्ध राजा ऊपर संकेतित कार्य से सम्बन्धित हैं। यहाँ मि० तैलंग की कठिनता है कि ब्राह्मण लेखक बौद्ध राजा का वर्णन नहीं करते हैं। इस परेशानी से बाहर कैसे निकला जाए?

मि. तैलंग का मानना है शंकर और बौद्धराजा (मगध) समकालीन थे! यह सामान्यतः प्रश्न उपस्थित कर रहा है।

कांगुदेशराजकाल पर आधारित तर्क मि० तैलंग की स्वीकारोक्ति लिये बिना ही समाप्त किया जा सकता है। वे स्वीकार करते हैं कि तमिल इतिहास शायद ताम्बे की पलेटों से समर्थित है जिसे मि० फ्लीट उचित नहीं ठहराते हैं। मि० तैलंग का अन्तिम तर्क "छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका की टीका चीनी भाषा में अनूदित की गयी; यह टीका गौडपाद की होनी चाहिए। गौडपाद शंकर से पहले हुए। यह एक ऐसी वास्तविकता है जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। वह शंकर के गुरु का गुरु था। जो केवल परम्परा पर आधारित है। परन्तु इस तर्क पर चीनी विद्वान् के अनुसार मेरी शंका यह है कि मि० कसवराः के अनुसार "चीनी में अनूदित टीका गौडपाद से समानता रखती है परन्तु लेखक का नाम नहीं है। मान शायद यह सत्य हो भी जाए कि गौडपाद का कार्य ५५७

ई० से ५८३ ई० के बीच चीनी भाषा में अनूदित हुआ, यह सत्य लेखक के सम्य्य के निर्णायक संकेत को पुष्ट करेगा। परन्तु शंकर के समय के लिए यह निर्णय उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि शंकर को भर्तृहरि की मृत्यु तिथि ६५० ई० से पूर्ववर्त्ती नहीं रखा जा सकता है। भर्तृहरि के आलोचक कुमारिल शंकराचार्य के द्वारा वर्णित तथा सुरेश्वराचार्य के द्वारा उद्धृत किये गये।

मैं कुछ ऐसे तथ्य पेश करना चाहता हूं जो मि० तैलंग की दृष्टि से बच गये हैं। "उनके मत में पूर्णवर्मा शंकर के समकालीन थे, मि० तैलंग कहते हैं कि क्या पूर्णवर्मा का वर्णन उस निष्कर्ष का निगमन करेगा, कोई कारण नहीं कि एक राजा जिसका शासन काल समाप्त हो गया क्यों ऐसे राजा को दिया जाना चाहिए जो शासन कर रहा है।" सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि, जो एक रचना के द्वारा शंकर से अलग कर दिये गये, रचना की व्याख्या करते हुए मि० तैलंग पूर्णवर्मा के स्थान पर युधिष्ठिर को स्थित करते हैं—

विशेषणानामसतिप्रवृत्तिर्न दृश्यते क्वापि न युज्यते च
युधिष्ठिरात् प्रागभवन्नरेन्द्रो
बन्ध्यासुतः शूर इतीह यद्वत् ॥ २९० ॥

संक्षेप-सारिका-अ० तृतीय।

मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं होगा कि यदि एक प्रस्ताव युधिष्ठिर को शंकर या सर्वज्ञात्ममुनि या दोनों के समकालीन बताने के लिए बनाया जाए मि० तैलंग अपने अन्तिम पेपर में भर्तृहरि के आलोचक कुमारिल को भर्तृहरि से अधिक पुराना दिखाने को तैयार नहीं थे। हमें बताया गया है कि शंकर के पास में एक सकारात्मक कारण था जिससे एक जीवित राजा का नाम पता चले जिसका सम्मान अवास्तविक और ऐतिहासिक दृष्टि से अपूर्ण था।

यहाँ मि० तैलंग का मानना है कि दार्शनिक ऐतिहासिक विचार में अपनी आयु से बहुत आगे थे, परन्तु वे बहुत सारे महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक की तिथि देने में असमर्थ रहे हैं, जो उन्होंने वास्तव में लिखा है। मि० तैलंग दूसरे पत्र में स्वयं का विरोध करते हैं—जिसका शीर्षक "पूर्णवर्मा और शंकराचार्य है" जिसमें वह यह संकेत देते हैं कि वह दार्शनिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से त्रुटिपूर्ण था, क्योंकि वे पूर्णवर्मा के परिवार के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं देते। परन्तु शंकर के पूर्णवर्मा की निर्धारित पहचान बौद्ध राजा के साथ जिसका नाम अब अयुक्तिसंगत है। क्योंकि चीनी यात्री इत्सिंग के कथन से विरोध होता है। जबकि भर्तृहरि को मैं सिद्ध कर चुका हूं। ऐतिहासिक रूप से कुमारिल और शंकराचार्य आगे-आगे आते हैं, जिनकी मृत्यु सातवीं शताब्दी के मध्य हुयी। फिर भी मि० तैलंग १८८९ ई० में अथवा पेपर पढ़ते हुए डा० भण्डारकर को उद्धृत करते हैं। डा० भण्डारकर अपने पेपर में ५ अक्टूबर १८८७ ई० में कहते हैं कि शंकराचार्य की स्वीकरणीय तिथि आठवीं शताब्दी के अन्त में होनी चाहिए तथा कुमारिल को एक सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए।

मि० तैलंग यह भी बताते हैं—"कि शंकर का कार्य दक्षिण की वस्तु या आदमी का संकेत नहीं देता है।" यह सच नहीं है, मैं दिखा चुका हूं कि शंकर कुमारिल, समन्तभद्र और धर्मकीर्ति के विचारों की आलोचना करते हैं। जो दक्षिण के रहने वाले थे। शंकराचार्य कुमारिल भट्ट से एक प्रसिद्ध हाथी और एक चींटी का चित्र जैन धर्म के विरुद्ध उधार लेते हैं। क्योंकि शरीरों में आत्मा का (साइज) आकार तो एक जैसा ही होता है। शंकराचार्य फिर आगे श्वेताम्बर जैनियों के विषय में नहीं लिखते, परन्तु दिगम्बर जैनियों के विषय में (जो दक्षिणवासी थे) हमेशा बोलते हैं। अपनी गौड़पाद की आगम कारिका पर अपनी टीका में वे "दिग्वासाः" और शारीरक भाष्य में विवासना मत पर विचार करते हैं। दिगम्बरों की अभिव्यक्ति बौद्धों की 'रक्तपत्तनम्' से अलग एक अनुच्छेद में है जो डा० थिव्वुट के द्वारा सही रूप में समझा और अनुवाद नहीं किया गया जिसे उन्होंने पूर्व की पवित्र पुस्तक में दिया था।

मैंने सन्तोषजनक ढंग से मि० तैलंग के तर्कों को सुव्यवस्थित कर दिया। अब मैं उन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डालूंगा जो मैंने इस पेपर में सिद्ध किये हैं ह्वेनसाङ्ग ने ६४५ ई० में भारत छोड़ दिया था। पाँच वर्ष पश्चात् भर्तृहरि की मृत्यु हो गयी जो वाक्यपदीय के लेखक थे। उनकी व्याकरणवेत्ता के रूप में प्रसिद्धि इत्सिंग के डेढ़ शताब्दी पश्चात् हुई। भर्तृहरि की वाक्यपदीय कुमारिल के द्वारा अपने तन्त्रवार्तिक में कई बार उद्धृत की गयी। यह अन्तिम कार्य, भर्तृहरि की प्रसिद्धि स्थापित हो जाने के पश्चात् रचा गया। इन कारणों के लिए मैंने कुमारिल को निर्धारित किया जो दोनों चीनी यात्रियों ह्वेनसाङ्ग और इत्सिंग के भारत छोड़ने के ७०० ई० के पश्चात् हुए। उन्होंने अकलंक के तुरन्त पहले; उन्नति की, जिसको मैंने आठवीं का उत्तरार्द्ध सिद्ध किया है, और जिसका शिष्य प्रभाचन्द्र अनेक बार तन्त्रवार्तिक में वर्णन करता है, दूसरे शब्दों में कुमारिल आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से सम्बन्धित हैं।

कुमारिल अकलंकदेव और शंकराचार्य की आयु निर्धारण के महत्त्व को बढ़ाचढ़ाकर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। बौद्ध लेखक तारानाथ, जैन लेखक ब्रह्म नेमिदत्त और ब्राह्मण लेखक माधवाचार्य, कपिलवस्तु के भिक्षुओं द्वारा संस्थापित धर्म के पतन की तिथि निर्धारण में स्वतन्त्र है, जो संसार में भाई-चारे की घोषणा करता है और वैदिक धर्म के अनुयायियों द्वारा फैलायी गयी अनुदार भावनाओं के प्रति दक्षिण भारतीय सुविख्यात लेखकों का विरोध था। कुमारिल अकलंकदेव और शंकराचार्य का युग चालुक्य साम्राज्य का साक्षी था और इसकी बर्बादी पर राष्ट्रकूट साम्राज्य का उदय होता है। यह एक मीमांसा परम्परा की संक्षिप्त भव्यता जैन धर्म के समर्थन में एक प्रतिक्रिया के द्वारा समर्थित है जो अमोघवर्ष प्रथम के समय अपने चरम बिन्दु पर पहुंच गया था। जिसका सुविस्तृत और समृद्ध राज्य दिगम्बर साहित्य की भव्यता का हकदार बन सकता है"।

—अनुवादः

अथ मीमांसा

विद्वच्चक्र-चूड़ामणि श्रीकाशीनाथ बापू पाठक महोदय ने आद्य शंकराचार्य का समय : ६८८-७२० ईसवी, सिद्ध करने के लिए आकाश-पाताल एक कर दिया है। पाश्चात्य लेखकों ने आद्य शंकराचार्य का समय उलझाने में कोई कमी नहीं छोड़ी; अगर उसमें कुछ कमी रह गई, तो उसे मान्यवर पाठक जी ने पूरा कर दिया है। श्रीयुत पाठक जी के प्रस्थापित 'उलझाव' को समझना और सुलझाना निहायत ज़रूरी है। हम श्री मान्यवर पाठक जी के 'आलेख' को सामने रख लेते हैं; और उसमें पर्त-दर-पर्त फैले हुए तर्क-जाल का कर्तन आरम्भ करते हैं।

[१]

श्री युत पाठक जी की वैचारिक पृष्ठभूमि चीनी यात्री **इत्सिंग** का 'भारत-यात्रा-वृत्तान्त' है। **इत्सिंग का निश्चित समय—जन्म ६३५ ई०, निधन ६९० ई०** विचाराधीन है। श्रीपाठक जी का समग्र अनुसन्धान इसी धुरी के इतस्ततः घूम रहा है। यथा—[क] इत्सिंग ने भर्तृहरि [वाक्यपदीय प्रणेता] का उल्लेख किया है; [ख] भर्तृहरि का उल्लेख कुमारिल ने किया है; [ग] कुमारिल और आद्यशंकराचार्य की थोड़े समय की समकालिकता सर्वमान्य है। **इत्सिंग के कथनानुसार भर्तृहरि का निधन ६५० ई० श्रीपाठक जी द्वारा मान्य है।** इस उलझन को निम्न रेखाचित्र द्वारा समझने का प्रयास करते हैं। यथा—

भर्तृहरि—६५० ई० निधन

↓

कुमारिल ⟶ शंकराचार्य का जन्म ६८८ निधन ७२० ई०

{ अनुमानतः शंकराचार्य तथा
कुमारिल—भेंट : ७०५ ई० }
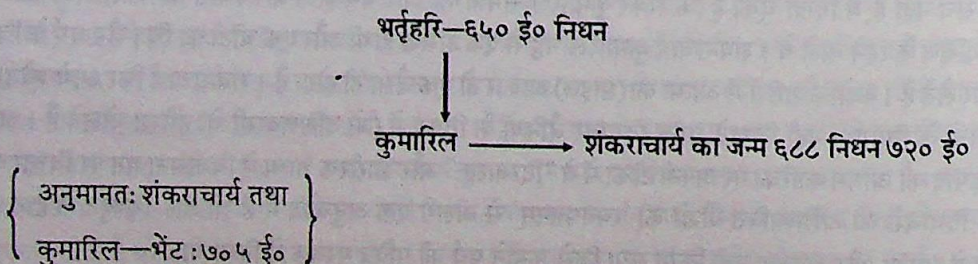
दो चीनी यात्री—१. ह्वेनसांग तथा २ इत्सिंग थोड़े से अन्तराल के साथ भारत में आए और गए। यथा—

१. **ह्वेन सांग**—६२४ ई० भारत में आए, ६४५ ई० भारत से प्रस्थान।

२. **इत्सिंग**—६५५ ई० में भारत आए; ६९५ ई० भारत से प्रस्थान किया।

मान्यवर श्रीपाठक द्वारा उलझाए हुए वैचारिक सूत्र हमारे सामने हैं; ज़रा इनकी उलझन को समझ लें—

१. ह्वेनसांग के भारत-भ्रमण के दौरान भर्तृहरि का निधन [यदि वह सचमुच ६५० ई० में हुआ है] मान लें, तब भी वह संगति-सिद्ध प्रतीत नहीं हो रहा। कारण, चीनी यात्री ह्वेनसांग ६४५ ई० में भारत से प्रस्थान कर गया था। भर्तृहरि का निधन ६५० ई० मानने का मतलब है, **वह भर्तृहरि तथा ह्वेनसांग परस्पर समकालिक है**। तो फिर तथा-कथित चीनी यात्री ने भर्तृहरि का नामोल्लेख क्यों नहीं किया? भर्तृहरि के बारे में ह्वेनसांग का मौन किसी अन्य मतलब की ओर इशारा कर रहा है।

२. अगर ऊपर कथित आपत्ति का समाधान यह प्रस्तुत किया जाता है कि चीनी यात्री ह्वेनसांग बौद्ध था और वह अपने समानधर्मा बौद्ध-परन्तु भारतीय विद्वानों की खोज-खबर लेने भारत आया था; प्रसिद्ध व्याकरणविद् भर्तृहरि उसकी लक्ष्य सूची में न था, अतः चीनी यात्री ने उसका उल्लेख नहीं किया। यही युक्ति-संगत है! मान लिया। किन्तु ठीक यही तर्क इत्सिंग की भारत-यात्रा पर उछाला जा सकता है। **इत्सिंग की भारत-यात्रा की प्रकल्पित लक्ष्य सूची में दार्शनिक विद्वान् तो थे; व्याकरणविद् भर्तृहरि का नाम कैसे आ गया?** कहने वाले यह तर्क भी जुटाते हैं कि भर्तृहरि शब्दाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक होने से दार्शनिक विद्वानों की पंक्ति में आ जाते हैं और इसी प्रसंग में इत्सिंग ने उसे याद किया है। हम इस अवधारणा से आंशिक तौर पर सहमत हैं। हम जानते हैं—**वाक्यपदीय मुख्यतः व्याकरणग्रन्थ है, शब्दाद्वैतवाद उसका परोक्ष अर्थात् गौण विषय है।** अतः इत्सिंग-युग में व्याकरणविद् भर्तृहरि को दार्शनिक विद्वानों में उपस्थापित करना 'भर्तृहरि' और 'इत्सिंग'—दोनों से अन्याय करना है। शब्दाद्वैत भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वानों के लिए संवाद का विषय तो हो सकता है, चीनी यात्री के लिए 'शब्दाद्वैत' बेमतलब की बात है।

३. मान्यवर के.बी. पाठक इत्सिंग—प्रकरण में कुछ-कुछ भ्रमग्रस्त हो गए लगते हैं। इत्सिंग और भर्तृहरि के संदर्भ में उनके दो वाक्य गौरतलब हैं—

> [अ] **"ह्वेन सांग ६२४ से ६४५ ई० तक भारत में रहा, परन्तु उसने उसके विषय में कुछ नहीं कहा। डेढ़ शताब्दी पश्चात् इत्सिंग के कार्य का पता चलता है कि भर्तृहरि भारत के पांच मण्डलों में अच्छी प्रकार माने जाते थे।"**

> [आ] **"भर्तृहरि की मृत्यु तिथि ६५० ई० और तन्त्रवार्तिक के लेखन के मध्य डेढ़ शताब्दी अवश्य व्यतीत हो गई होगी।"**

हम 'डेढ़ शताब्दी' का लक्ष्यार्थ समझने में असमर्थ रहे हैं। उसका अभिधेयार्थ साफ है—१५० वर्ष। १५० वर्षों का समावेश निबन्ध के समग्र वस्तुजात को ध्वस्त करता है। ६५० + १५० = ८०० ई० इत्सिंग का समय मानना ज़रा कठिन है। **यह समय तो भगवान् शंकराचार्य का समय है, जिसके मानने तथा मनवाने के लिए प्रतिपक्ष डटा हुआ है।** यही बात तन्त्रवार्तिक के रचयिता कुमारिल पर लागू होती है। ६५० + १५० = ८०० ई० में कुमारिल तथा शंकराचार्य के भेंट के लिए स्वीकार्य हो जाती है। भगवान् शंकराचार्य अपने वयोमान के १७ वें वर्ष में कुमारिल से मिले थे। प्रतिपक्ष के मतानुसार ७८८ ई० में आद्य शंकराचार्य की जन्मतिथि सबके सामने हैं। अतः ७८८ + १७ = ८०५ ई० में शंकर-कुमारिल की मुलाकात मानने की मजबूरी पक्की हो जाती है।

इस पर हमें आपत्ति यह है कि विद्वद्वर पाठक जी ने एक लोक प्रसिद्ध उक्ति : "**युग्मपयोधिरसान्वितशाके । रौद्रकवत्सरऊर्जकमासे**" [अर्थात् ६४२ + ७८ = ७२० = रौद्रक संवत्सर) का आश्रय लेकर भगवान् शंकराचार्य का समय ६८८-७२० ई० प्रसिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु अनुसन्धान की 'सुई' पूरा चक्कर लगाकर ७८८-८२० ई० पर ठिठक गई है। इसे कहते हैं—**वदतो व्याघातः**। अर्थात् अपनी कही हुई बात का स्वयं खण्डन करना। मान्यवर पाठक जी इस आरोप से बच नहीं सकते।

४. पूर्वोक्त संदर्भ में बृहत्तर आपत्तिपूर्ण बात यह है कि हम '**इत्सिंग की भारतयात्रा**' वृत्तान्त के पृष्ठ २७५ पर पढ़ते हैं कि **भर्तृहरि की मृत्यु को चालीस बरस हुए हैं**। उक्त चालीस वर्ष पूर्व का मृत्यु बिन्दु कहाँ स्थापित करें ? क्या इत्सिंग के भारत-आगमन वर्ष से चालीस वर्ष पूर्व भर्तृहरि दिवंगत हुए ? अथवा यात्रा-मध्यकाल से चालीस वर्ष पूर्व अथवा इत्सिंग की यात्रा-समाप्ति से चालीस वर्ष पूर्व भर्तृहरि दिवंगत हुए ? इत्सिंग के यात्रा के तीन बिन्दु इस प्रकार हैं—

यात्रारम्भकाल	**यात्रामध्यकाल**	**यात्रान्तकाल**
↓	↓	↓
६१५ ई०	६७८ ई०	६९० ई०
↓	↓	↓
५७५ ई०	**६३८ ई०**	**६५० ई०**

[४० वर्ष का अन्तराल]

इस प्रकार भर्तृहरि की तीन मृत्यु-तिथियाँ विचारास्पद हो जाती हैं। **मान्यवर पाठक जी अन्तिम बिन्दु [६५० ई०] पर अपना निबन्ध केन्द्रित किए हुए हैं**। हालाँकि ये तीनों वर्ष-बिन्दु भर्तृहरि के निधन के लिए अमान्य हैं।

५. फिर प्रश्न पैदा होता है कि चीनी यात्री क्या मिथ्या सार-संग्रह करते रहे ? इसका समाधान है—नहीं। चीनी यात्री इत्सिंग दो प्रकार की विद्वत्पंक्ति से परिचित रहे होंगे; एक विद्वत् पंक्ति व्याकरणज्ञों की थी; दूसरी पंक्ति दार्शनिकों की थी, जिसमें बौद्ध विद्वान् भी समाहित थे। संस्कृत व्याकरण के प्रति यात्री इत्सिंग विशेष उत्सुक नज़र आता है, जैसे निम्न संदर्भों से पता चलता है—

[अ] इत्सिंग अपनी भारत-यात्रा में लिखता है।—इसके अनन्तर 'पेइ-न' है, इसमें ३००० श्लोक हैं और इसका टीका भाग १४००० श्लोकों में है। श्लोक भाग भर्तृहरि की रचना है और टीका भाग शास्त्र के उपाध्याय धर्मपाल का माना जाता है।

—पृष्ठ ३९०, २३-२६

[आ] इत्सिंग अपनी भारत यात्रा विवरण में दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है। परन्तु इस लेख से यह विदित नहीं होता कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी अथवा कुछ भाग पर।

—पृष्ठ ४०२; पंक्ति ११-१४

[३] चीनी यात्री इत्सिंग न अपनी भारत यात्रा के वर्णन में जयादित्य को काशिका का रचयिता लिखा है।

—पृष्ठ ५०१; पंक्ति १०-११

—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

[म. म. पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक]

संस्कृत व्याकरण शास्त्र में गहन रुचि रखने वाला चीनी यात्री इत्सिंग **भर्तृहरि के निधन वर्ष में इतनी भयंकर भूल नहीं कर सकता।** उसने ठीक सुना है और ठीक ही लिखा है। उसने सुना होगा कि **संवत् ४० में भर्तृहरि की मृत्यु हुई थी।** संवत्-४० कोई सामान्य वर्ष गणना नहीं है, **बल्कि सप्तर्षि-संवत् [१३] ४० में भर्तृहरि का निधन हुआ।** सप्तर्षि संवत् [१३] ४० को ईसवी सन् में परिणत करने के लिए यह विधि अपनाई जाती है—

[अ] मूल संख्या में ७ जमा किए : +७=[१३]४७;

[आ] इस फलागम को १४५२ से घटाया। यथा—

१४५२-१३४७=१०५ ईसवी पूर्व साल में भर्तृहरि का निधन हुआ

६. व्याकरण-शास्त्र के महापण्डित महामहोपाध्याय युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इत्सिंग की एक भूल की ओर संकेत दिया है। दर असल बात यह है कि बौद्ध सूची में आगत '**भर्तृहरि** तथा व्याकरणविद्-सूची में आगत '**भर्तृहरि**' की पहचान में चीनी यात्री इत्सिंग सफल नहीं हुए। ज़रूर कहीं न कहीं भूल हुई है। अन्यथा इत्सिंग भर्तृहरि को "बौद्ध मतावलम्बी" न लिखते। इस अप्रत्याशित भूल का समाधान खोजते-खोजते म० म० मीमांसक महोदय लिखते हैं : **"इत्सिंग ने भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है, वह भागवृत्तिकार विमलमति उपनाम भर्तृहरि के लिए उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि विमलमति एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार हैं।"** [संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास : पृष्ठ ४०१] जो हमें उपयुक्त नहीं लगा। कारण, भर्तृहरि-भर्तृहरि-इस प्रकार नाम समीकरण से भ्रान्ति सम्भव है, परन्तु भागवृत्तिकार विमलमति की पहचान '**विमलमति**' के नाम से होनी बुद्धिसंगत है, उसका नाम 'भर्तृहरि' भी है, कितने लोग जानते हैं? विमलमति का ठीक-ठीक समय न बताकर आचार्य मीमांसक महोदय ने बात अधूरी छोड़ दी—यह चिन्ता का विषय है। व्याकरणविद् भर्तृहरि का समय—हमारी काल गणना के अनुसार—१०५ ई० पूर्व स्थिर होता है।

मान्यवर पाठक जी भर्तृहरि का समय ६९०-४०=६५० **ईसवी** स्थिर किया है, वह इतिहास मूलक नहीं है। **चीनी यात्री इत्सिंग भूल नहीं कर रहा; हम उसे समझने में भूल कर रहे हैं।** इति।

[२]

विद्वान् विवेचक श्री के. बी. पाठक महानुभाव अपनी मान्यता को दृढ़तर आयाम देने के लिए दिगम्बर जैन विद्वान् समन्तभद्र को बीच में लाए हैं और लिखते हैं—**"समन्तभद्र प्रथम नाम है, जिसकी आप्तमीमांसा पर वाचस्पति की आलोचना है, [क्योंकि] उसमें शंकराचार्य द्वारा 'स्याद्वाद' पर की गई आलोचना का प्रत्याख्यान है।** यहाँ मामला कुछ गड़बड़ नज़र आता है। हमारे आदरणीय सखा डॉक्टर परमेश्वर सोलंकी ने पांच-पांच समन्तभद्रों की पहचान स्थापित की है। [द्रष्टव्य इसी अध्याय का एक अभिमत] उनके कथनानुसार प्रथम समन्तभद्र शककाल २१ =५० ईसवी पूर्व में हुए। वही समन्तभद्र दिगम्बर जैन समाज के प्रथम शलाकापुरुष हैं और 'स्याद्वाद' के प्रचारक भी। हमारी समझ में आद्य शंकराचार्य [४४-१२ ई० पू०] युग में स्याद्वाद' की स्थापना तर्कसंगत लगती है।

[३]

जिनसेन बनाम जिनसेन

भगवान् शंकराचार्य को ६८८-७२० ई० सन् में सुस्थापित करते हुए दिवंगत पाठक महाशय ने कतिपय समकालीन जैन-समाज के दार्शनिक विद्वानों का उल्लेख किया है, जो बिल्कुल अनावश्यक है। इन सब दार्शनिकों का केन्द्रीभूत आचार्य है—**जिनसेन**। मज़े की बात यह है, जिनसेन-नामा एक अपर-व्यक्ति भी है, जो बड़ी गम्भीरता के साथ इस मामले को पेचीदा बना रहा है। हमने सम्पूर्ण घटनाक्रम पर विचार किया है। यथा—

मुनि श्री कल्याणविजय ने मौज में आकर लिख मारा है कि—

"यह मान्यता विक्रम और शककाल को एक मानने सम्बन्धी भूल का परिणाम है।" मज़े की बात यह है कि विक्रम के चलाए हुए सभी संदर्भ—जो शकसंवत् से जुड़े हुए हैं—जैन-ग्रन्थों तथा जैनेतर ग्रन्थों में एक समान पाए जाते हैं, और उनका मूल सम्बन्ध ७८ ईसवी से तो कतई नहीं है। उनका सम्बन्ध ५७ ईसवीपूर्व तथा ६६ ईसवीपूर्व से चलाए शक संवत् से भी नहीं है; बिल्कुल नहीं है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् वीर स्वामी ने 'षड् खण्डागम' की धवला टीका में विक्रम-शक ७३८ लिखा है। वीर स्वामी द्वारा प्रणीत रचना 'काषायप्राभृत' की जयधवला टीका—जो बीच में अधूरी रह गई थी—जिनसेन प्रथम [?] द्वारा समाप्त हुई। और लेखक ने टीकापूर्ति का समय लिखा है : विक्रम संवत् ७५९। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि वीरस्वामी ने 'विक्रम शक' का उल्लेख किया है और दूसरे लेखक ने केवल विक्रम ही लिखा है। जिस 'विक्रम' और 'शक' की अभिन्नता से मुनि श्री कल्याणविजय पलायन कर रहे हैं, उसी 'अभिन्नता' की पृष्ठ भूमि में रचे 'संदर्भ' ढेरों मिल जाते हैं। जय धवला टीका के लेखक जिनसेन से भिन्न एक जिनसेन और भी हैं, जो अपना शककाल ७०१ लिखता है। सरसरी निगाह से देखने पर आभास हो जाता है कि **ये काल-गणनाएँ निर्दोष हैं। यथा—**

[क] वीरसेन : विक्रम-संवत् ७३८ [-५७ =] ६८१ ईसवी,

[ख] जिनसेन [१] : विक्रम-संवत् ७५९ [-५७ =] ७०२ ईसवी;

[ग] जिनसेन [२] : शककाल ७०१ [+ ७८ =] ७७९ ईसवी।

परन्तु इस काल-परम्परा का रहस्य तब खुलता है, जब जिनसेन प्रथम [७०२ ई०] जिनसेन द्वितीय [७७९ ई०] का उल्लेख अपनी रचना में करता है। क्या यह सम्भव है ? क्या जैन मुनि अथवा जैन समाज अपने काल-विसंगत संदर्भों का समाधान कर सकता है ?

हमारा विश्वास है, नहीं।

हमारे पास इसका समाधान है। यथा—

१. जिनसेन द्वितीय = शककाल ७०१ + ७८ = ७७९ ईसवी;

२. वीरसेन गुरु = विक्रमसंवत् ७३८ + ६६ = ८०४ ईसवी;

३. जिनसेन प्रथम = विक्रमशक ७५९ + ६६ = ८२५ ईसवी।

जिनसेन द्वितीय को [जो हमारी दृष्टि में प्रथम स्थानीय है] जिनसेन प्रथम [८२४ ई०] का अपनी रचना में स्मरण करना काल-संगत है। राजा अमोघवर्ष का समय ६६ ईसवी में स्थापित विक्रमादित्य-शक में ही खोजना उचित है।

हम अपने इस काल-बिछावन पर श्री पाठक महाशय के संदर्भ परोस कर रखते हैं, ताकि विवेकशील पाठक स्वयम् इसका निष्पीड़न करके सभी छल-छिद्रों को आसानी से समझ सकें—

[क] **"इससे यह पता चलता है कि प्रभाचन्द्र अकलंक विद्यानन्द का शिष्य था। माणिक्यनन्दि 'अकलंक' और 'विद्यानन्द' को उद्धत करते हैं। अकलंक के शिष्य प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि के कार्य पर एक टीका लिखते हैं, जिसमें वह बार-बार विद्यानन्द को उद्धत करते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हमें समकालीन चार लेखक प्राप्त होते हैं। अकलंक उनमें से सबसे पुराने हैं।"**

[ख] **"यहाँ यह सुस्पष्ट है कि अकलंक और प्रभाचन्द्र ७ वीं शताब्दी के पश्चात् हुए। ये अमोघवर्ष के गुरु जिनसेन से पहले हुए जो उन्हें आदिपुराण में याद करते हैं। ये सत्य हमें यह स्वीकारने के लिए पर्याप्त**

हैं कि ब्रह्मनेमिदत्त की राय सत्य है। यद्यपि एक आधुनिक लेखक [का मानना है कि] अकलंक राष्ट्रकूट राजा सुभातुंग या कृष्ण राजा के समकालीन थे।

[ग] इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिनसेन के आदिपुराण की तिथि यथा सम्भव निश्चित करना आवश्यक है। उसका पहला कार्य 'जैन हरिवंश' शकसंवत् ७०५ का है। राष्ट्रकूट शासक वल्लभ द्वितीय के समय जिनसेन युवक होना चाहिए। उस समय हरिवंश की गरिमा घट रही थी।

टिप्पणी : शक-संवत् ७०५ का अर्थ है—७७१ ईसवी

अपनी मीमांसा को समाप्ति की ओर ले जाते हुए हम यह निश्चय पूर्वक बताते हैं कि आदिपुराण तथा हरिवंशपुराण के प्रसिद्ध लेखक जिनसेन का रचनाकाल ७०५-७५९ (चौवन वर्ष) = ७७१ = ८२५ ईसवी है, इसी के आसपास—थोड़ा बहुत आगे पीछे—उक्त चारों आचार्यों का समय स्थिर करना अनिवार्य-जैसा लगता है। अर्थात् **आठवीं शताब्दी में वर्तमान इन आचार्य समुदाय के समय स्थिर करते हुए आद्य शंकराचार्य का काल-निर्णय टेढ़ी खीर बन गया है।** बाण-परवर्ती [बाण का ५५७-६३४ ईसवी] आचार्य आठवीं शताब्दी में अवश्य हुए होंगे। वे शंकर-काल निर्धारण में एकदम से अप्रासंगिक लगते हैं। हमारा निवेदन केवल इतना है। आगे राम जाने।

—चन्द्रकान्तबाली

भर्तृहरि-त्रयी किमु ?

भारत के इतिहास का शोभन रूप उस समय अप्रीतिकर हो जाता है, जब उसमें समनामा अनेक व्यक्ति एक-दूसरे की पहचान में घुल-मिल जाते हैं, और ऐतिहासिक कालक्रम में व्युत्क्रम पैदा करते हैं। वैसे तो इतिहास में समनामा व्यक्तियों की नामावली काफी विस्तृत है; फिर भी ये नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं यथा—विक्रमादित्य, कालिदास, भद्रबाहु, समन्तभद्र, आदि-आदि। इस तरह का एक नाम 'अनेक व्यक्तित्वों पर आच्छादित है, और उनकी पहचान न रहने से विभ्रम पैदा कर रहा है; वह नाम है—भर्तृहरि।

आज भर्तृहरि पर निर्णायक निबन्ध लिखने का इरादा है।

१. भर्तृहरि [१५०-१०५ ई० पूर्व] — शुंगवंशी सम्राट् पुष्यमित्र ने यूनानी सेनापति मीनेण्डर पर ऐतिहासिक विजय-प्राप्त कर अश्वमेध यज्ञ किया। यह भारतीय इतिहास का यथार्थ है। उक्त बृहत्कथा के साथ अनुकथा यह भी जुड़ी हुई है कि महान् वैय्याकरण भगवान् पतञ्जलि ने उक्त प्रसिद्ध महायज्ञ सम्पन्न कराया होगा। हम यह मान कर चलते हैं— भगवान् पतञ्जलि ने वह यज्ञ १५२ ईसवी पूर्व में कराया होगा। पौराणिक कालगणना के अनुसार सम्राट् शुंगनरेश ने १०४ वर्ष पर्यन्त शासन किया था। चूंकि इस काल-गणना पर विवाद की सम्भावनाएँ अधिकाधिक पैदा हो गई हैं; अतः फिलहाल इसे यहीं छोड़कर, इतनी बात पक्की कर लेते हैं कि १५० ईसवी पूर्व में सम्राट् पुष्यमित्र भी था और भगवान् पतञ्जलि भी वर्तमान थे।

हम जानते हैं—भगवान् पतञ्जलि एकमेव, अप्रतिहत-मार्ग तथा निर्द्वन्द्व व्याकरणविद् न थे; भगवान् पतञ्जलि को शास्त्रार्थ की चुनौती देने वाले एक अन्य महावैय्याकरण भी विद्यमान थे—उनका नाम है, वसुरात। व्याकरण-जगत् के शलाका-पुरुष वसुरात के पट्टशिष्य का नाम है—भर्तृहरि। इसी भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' लिखकर अमर विश्रुति अर्जित की है। हम भर्तृहरि को भगवान् पतञ्जलि का शिष्य तो नहीं मान सकते; पर भर्तृहरि को पतञ्जलि का शिष्यकल्प मानने में हमारे सामने कोई दिक्कत आने वाली नहीं है।

भगवान् पतञ्जलि एवं महाविद्वान् वसुरात का समय [१५० ईसवी पूर्व में मेरुदण्ड मानकर] १८० ई० पू० से लेकर १३० ई० पू० निःशंक भाव से ठहरा सकते हैं।

अधुना भर्तृहरि का समय आसानी से स्थिर कर सकते हैं। मान लो, भर्तृहरि १४० ई० पूर्व, वसुरात के यहाँ अध्ययनार्थ पहुंचा हो, तब 'वाक्यपदीय' का रचनाकाल १४०-११० ई० पूर्व ठहराना हमें निरापद प्रतीत होता है।

२. भर्तृहरि [५०-६५ ईसवी] — दूसरे भर्तृहरि की पहचान बड़ी आसान है। यह भर्तृहरि हूणवंशी ब्राह्मण है और उज्जयिनी का राजा है। इसका वंशवृक्ष इस प्रकार है—
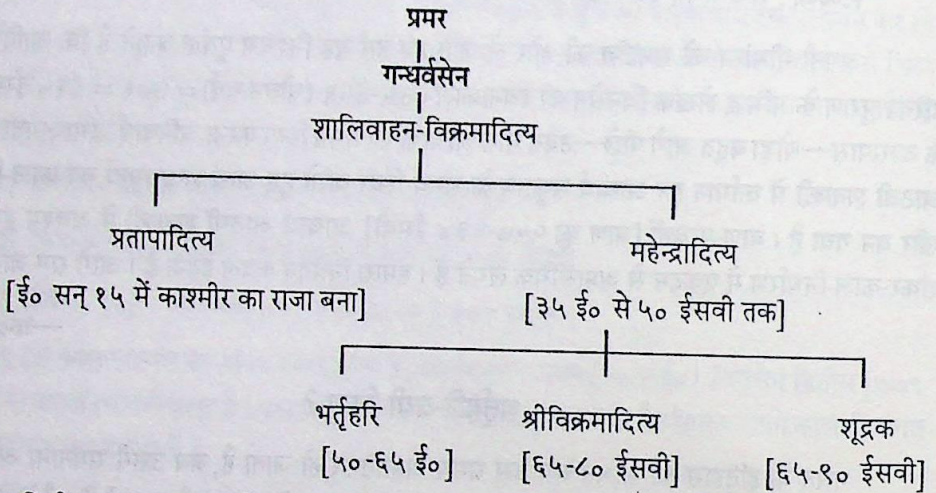
उज्जयिनी का सन्त नृपति भर्तृहरि 'शतकत्रय' का प्रणेता है। अपनी दुःशीला पत्नी से खिन्न होकर भर्तृहरि ने राज-पाट सब छोड़ दिया। उसका राज्य दो अनुजों—श्रीविक्रमादित्य और शूद्रक—में बराबर-बराबर बँट गया और उज्जयिनी श्रीविक्रमादित्य को बँटे में मिले राज्य की राजधानी स्थिर हुई। बड़े खेद की बात है—संस्कृत-जगत् श्रीविक्रमादित्य को बिल्कुल नहीं पहचानता, हालाँकि विश्वकवि कालिदास ने श्रीविक्रमादित्य की कीर्ति को सातवें आसमान तक पहुंचाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, यथा—

"रसभाव विशेषदीक्षागुरोः साहसाङ्कस्य श्रीविक्रमादित्यस्य" श्रीविक्रमादित्य का ठीक-ठीक परिचय अबूरेहाँ अल्-बैरूनी से पूछा जा सकता है। हमारी समझ के अनुसार ६५-६६ ईसवी के मध्य भर्तृहरि तथा श्री विक्रमादित्य के दरम्यान सत्ता-हस्तान्तरण हुआ होगा। हमारे पास श्रीविक्रमादित्य की जन्म-कुण्डली वर्तमान है। जिसके अनुसार श्रीविक्रमादित्य का जन्म १० ईसवी सम्भाव्य है। इस गणित से भर्तृहरि का समय ईसवी सन् १० से ६५ तक मान लेना सर्वथा निरापद है।

३. भर्तृहरि [ईसवी ६००-६३०] — वेदान्त सम्प्रदाय में तथा कथित भर्तृहरि का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो स्थान शब्दाद्वैतवादी एवं व्याकरणविद् भर्तृहरि का है; अथवा शृंगार-साहित्य में [राजा अमरुक से लेकर गाथा सप्तशती के प्रणेता महाराजा हाल तक] जो स्थान सन्त नृपति भर्तृहरि का है। अलबत्ता इतना उल्लेखनीय अवश्य है कि तीन-तीन भर्तृहरियों की चर्चा से इतिहास के कई सूत्र स्वतः सुलझ गए हैं। बंगविद्वान् संन्यस्त नाम स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने तीसरे भर्तृहरि का पूर्ण परिचय दिया है। वह परिचय इस प्रकार है—

श्री कण्ठ : आचार्य श्री कण्ठ की दो रचनाएँ चर्चाधीन हैं। यथा—१. ब्रह्मसूत्रभाष्य; २. मृगेन्द्रसंहिता पर वृत्ति। यतिवर स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने श्रीकण्ठ का समय अनुमानतः चतुर्थ शती का अन्तिम भाग अथवा पंचन शताब्दी का आदिम भाग स्थिर किया है। [वह समय हमारे विचार में ३७५-४२५ ईसवी का होना सम्भाव्य है]

विद्याकण्ठ : विद्याकण्ठ श्रीकण्ठ का वंशधर है, और उनसे तीन पीढ़ी के क्रम में निम्नतर है। आचार्य विद्याकण्ठ ने श्रीकण्ठ-प्रणीत 'मृगेन्द्र-संहिता पर 'वृत्ति' लिखी है। [हमारे अनुमानाश्रित एवं पूर्वानुगत समय के अनुसार उससे १२० वर्ष परवर्ती, अर्थात् ४२५ + १२० = ५४५ ईसवी में आचार्य विद्याकण्ठ हुए]

भर्तृहरि : प्रासंगिक भर्तृहरि [३] ने श्रीकण्ठ-प्रणीत 'मृगेन्द्र-संहिता' पर विद्याकण्ठ द्वारा लिखी वृत्ति पर भाष्य लिखा है। अर्थात् वृत्ति-दर-वृत्ति लिखी है। इस प्रकार तीसरे दर्जे पर वृत्ति लिखने वाले भर्तृहरि [३] का समय क्या होना चाहिए ? यह विवेकशील पाठक का स्वयं का निर्णय विषय है। (हमारी समझ में यह समय ६०० ईसवी सम्भाव्य है।

अथ विमर्श-परामर्श

हमने तीन-तीन भर्तृहरि-नामा व्यक्तियों को इस आधार पर प्रासंगिक बनाया है कि भगवान् श्रीशंकराचार्य के समय निर्धारण में 'भर्तृहरि' नामोल्लेख का दुरुपयोग हो रहा है। हम इनका समय-चिन्तन स्थिर करते हुए दूध-का-दूध और पानी-का-पानी के न्याय से स्थिति स्पष्ट करना चाहते हैं।

—शतक-त्रय के प्रणेता भर्तृहरि को बिल्कुल अलग-थलग मानते हैं,

—शेष दो भर्तृहरि विवाद में हैं।

आज से १०० साल पहले डक्कन कालेज पूना के संस्कृत प्रोफेसर रहे माननीय के.बी. पाठक ने चीनी यात्री इत्सिंग को बीच में लाकर वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि का समय लगभग ६२० ई० स्थिर किया है। उनके समूचे विचार-चक्र का केन्द्रबिन्दु चीनी यात्री इत्सिंग है, जिसने अपनी यात्रा के दौरान सुना और लिख लिया कि भर्तृहरि ४० वर्ष पूर्व दिवंगत हुए। चीनी यात्री की भारत-यात्रा ६६५ ई० से आरम्भ होती है। परिणामतः ६६५-४० = ६२५ ई० का भर्तृहरि का समय मान लेना तर्क संगत हैं। यही पूज्य के. बी. पाठक को अभीष्ट है।

'सिंह की सिंह चपेट सहे, गजराज सहे गजराज का धक्का'—यह उक्ति बहुत पुरानी है। इसी उक्ति के अनुसार महाविद्वान् के.बी. पाठक का जवाब देने के लिए बंगमणि स्वामी प्रज्ञानानन्द जी सरस्वती मैदान में उतरे। उनका कहना है—इत्सिंग का 'भर्तृहरि' वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि नहीं है, बल्कि 'मृगेन्द्रसंहिता' की वृत्ति पर वृत्ति लिखने वाला भर्तृहरि है। इसमें समय सदुपयोग की भूमिका अहम है। मृगेन्द्रसंहिता पर भाष्य-दर-भाष्य लिखने वाले भर्तृहरि का समय सार्थक अनुमान से ६०० ई० कूता गया है। इत्सिंग के उपलब्ध संकेतानुसार भर्तृहरि का समय समय ६२० ई० के लगभग है।

नामसाम्य के कारण जो ऐतिह्य-विसंगति सहज में पैदा हो जाती है, उसका समाधान आनल-फानन नहीं हो सकता। वह समाधान बड़े भारी परिश्रम से ही मिल सकता है। इस समूचे विवाद पर हमारी टिप्पणी इस प्रकार है—

—विद्वद्वर श्री के.बी. पाठक ने इत्सिंग का नाम लेकर जिस भर्तृहरि [वाक्यपदीय-प्रणेता] को सातवीं शताब्दी ईसवी में लाकर खड़ा किया है, उसे मृगेन्द्र-संहिता के उपव्याख्याकार भर्तृहरि के बहाने अपदस्थ करने के इच्छुक यतिवर प्रज्ञानानन्द सरस्वती अपने मिशन में कामयाब नहीं हुए। कारण, वेदान्त-विद्वान् भर्तृहरि व्याकरणविद् भर्तृहरि का विकल्प नहीं बन सका। यद्यपि महानुसन्धायक प्रज्ञानानन्द जी सरस्वती कालिक सीमाएँ मिटाकर दोनों को आमने-सामने लाने में सफल रहे हैं। फिर भी दोनों की अमिट पहचान वेदान्ती भर्तृहरि तथा व्याकणविद् भर्तृहरि इतिहास में सुरक्षित हैं; आज तक।

—महापण्डित के. बी. पाठक ने इत्सिंग की [६६५-६९० ई०] ओट लेकर वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि को सातवीं शताब्दी ईसवी में स्थापित करने का जो प्रयास किया है, उसमें कोई यथार्थ नहीं है, कोई आकर्षण नहीं है और कोई पारदर्शी इतिहास भी नहीं है। बात केवल भर्तृहरि की होती, तब तुक-और-तुक का मेल हो जाता।

वाक्यपदीय-प्रणेता भर्तृहरि के पीछे पूरा इतिहास सक्रिय है। भर्तृहरि का गुरु है—वसुरात। वसुरात और पतञ्जलि की व्याकरणी-प्रतिद्वन्द्विता साहित्य और इतिहास का प्रमुख विषय है। किस-किस को समेट कर १५० ई० पूर्व से घसीट कर ईसवी सातवीं शती में लाया जाएगा ? यह प्रोफेसर पाठक महानुभाव ने कभी सोचा ही नहीं होगा।

—अब हमारी सुनिए। इत्सिंग मिथ्यावादी नहीं है। इत्सिंग का इतिहास भी आगे-पीछे नहीं सोचा जा सकता। इत्सिंग ने जो सुना, वह लिख दिया। परन्तु उसके अर्थ अनुसन्धान में हमें सचेष्ट होना पड़ेगा। इत्सिंग द्वारा प्रतिपादित ४० वर्ष पूर्व भर्तृहरि का निधन यथार्थ है। वह वस्तुतः ४० सप्तर्षि संवत् = १०५ वर्ष ई० पूर्व की बात कहता है सप्तर्षि संवत् की भाषा और गणना इस प्रकार है—

सप्तर्षि संवत् ४० का मतलब है = [१३] ४०; अर्थात् सप्तर्षि गणना में सैंकड़ा और हज़ार के अंक वर्जित रहते हैं। अपवाद को छोड़कर यदि हमारा यह प्रस्ताव कोविद-समाज मंजूर कर ले, तो उसके निम्नफलितार्थ मिलेंगे—

१—इतिहास अपने स्थान पर न केवल अविचल रहेगा, अपितु उसकी छवि भी म्लान नहीं होगी।

२—तीनों भर्तृहरि नामा व्यक्तियों की पहचान भी यथावत् बनी रहेगी।

३—विद्वद्वर के. बी. पाठक की इत्सिंग के प्रति अवधारणा तथा महाविद्वान् स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती की वेदान्ती भर्तृहरि की उद्‌भावना में टकराव की सम्भावना भी क्षीण हो जाएगी। भर्तृहरि बनाम भर्तृहरि जीत-हार के बिना भी बने रहेंगे।

हमें हमेशा याद रहेगा—

एको न चीयते हन्त ! भर्तृहरिर्न केनचित्। अगाधे ग्रन्थसंसारे भर्तृहरि-त्रयी किमुत् ?

—चन्द्रकान्त बाली

इति षष्ठोऽध्यायः

सप्तम अध्याय

सार्थक परिशिष्ट

भगवान् शंकराचार्य ने चार 'पीठ' स्थापित किये थे। नियमानुसार उन मठों के अनुशासनार्थ चार मठाधिपति भी नियुक्त और अभिषिक्त किये थे। तत्पश्चात् उनके समयानुसार उत्तराधिकारी भी आते रहे और अभिषिक्त होते रहे। **यह परम्परा चल निकली। यह परम्परा आज भी अक्षुण्णरूपेण चल रही है।** यदि उत्तरोत्तर आनेवाले पट्टधर आचार्यों का समय सातिशय सावधानी से सुरक्षित रखा जाता, तो आचार्य आदिशंकराचार्य के समय-निर्धारण में विवाद उत्पन्न ही नहीं होता। चूंकि पट्टधर- शृंखला क्वचित्-क्वचित् विखण्डित हो गई है; अतः समूचा मठीय-इतिहास धूमिल हो गया है। हम समझते हैं—आज भी उक्त मठ-चतुष्टय का इतिहास अनुसन्धान-सापेक्ष नज़र आता है। इस विश्वास से अनुप्राणित हमने पट्टधरों की सारिणी उद्धृत की है, ताकि अनुसन्धान-सामग्री संचित रहे; कोई हमारा समानधर्मा उत्पन्न होगा और इस वस्तुजात को प्रयोग में लेकर भगवान् शंकराचार्य का समय स्थिर करने में योगदान दे सकेगा।

दूसरी बात बिल्कुल साधारण है। **"युग्मपयोधिरसान्वितशाके रौद्रकवत्सर-ऊर्जकमासे"** का प्रयोग श्री काशीनाथ बापू पाठक ने अपने तौर-तरीके से अपनाया है; हमने इसे अपने लक्ष्यानुरूप देखा है। यथा—

६४२ शक = ७२० ईसवी = रुद्र संवत्सर [श्रीपाठक]

६४४ शक = १३ ई० पूर्व = रुद्र संवत्सर [प्रकृत लेखक]

महामनीषी विद्वान् इस बात को समझ सकते हैं; परन्तु अल्प मेधावी जनता को समझाने के लिए षष्टि-संवत्सर की कलियुग व्यापिनी सारिणी लिखना हमें जरूरी लगा। वह भी इस संग्रह में है।

पट्टधर-सारिणी—

पट्ट = उत्तराधिकारी। पट्टधर = दायधारक। **'पट्टशिष्य से तात्पर्य आश्रमवासी उस शिष्य से है, जो दिवंगत आचार्य के बाद आचार्यपद पर आसीन होता है।** उसी परम्परा को हृदयंगम करते हुए, 'पट्टधर आचार्य' के पश्चात् अभिषिक्त होने वाले आचार्यों की सारिणी प्रस्तुत है। यह कितनी आप्त है? इसका दायित्व न लेते हुए हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि **इस अत्यावश्यक ऐतिह्य वस्तु पर जमकर अनुसन्धान होना चाहिए।** फिलहाल हम उपर्युक्त सारिणी (केवल नामावली मात्र) उद्धृत कर रहे हैं। इस नामावली का स्रोत आचार्य उदयवीर शास्त्री-प्रणीत **'वेदान्तदर्शन का इतिहास'** है। हमने यह सब सामग्री वहीं से उधार ली है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि **आचार्य नामावली के साथ-साथ जुड़ा हुआ अध्यक्षताकाल तथा 'ईसवी पूर्व' आदि कुछ भी उद्धृत नहीं किया।** हमारे लिए वह-सब वस्तु भरोसे लायक नहीं है। केवल नामावली इस प्रकार है—

—शारदापीठ आचार्य—

१. ब्रह्मस्वरूप [सुरेश्वराचार्य]
२. चित्सुख
३. सर्वज्ञान
४. ब्रह्मानन्दतीर्थ
५. स्वरूपाभिज्ञान
६. मंगलमूर्ति
७. भास्कर
८. प्रज्ञान
९. ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य
१०. आनन्दाविर्भावाचार्य
११. कलानिधितीर्थ
१२. चिद्विलास
१३. विभूत्यानन्द
१४. स्फूर्तिनिलयपाद
१५. बसन्तपाद
१६. योगारूढ
१७. विजयडिण्डिम
१८. विद्यातीर्थ
१९. विच्छित्तिदैशिक
२०. विज्ञानेश्वर
२१. ऋतम्भर
२२. अमरेश्वरगुरु
२३. सर्वतोमुखतीर्थ
२४. आनन्द दैशिक
२५. समाधिरसिक
२६. नारायणाश्रम
२७. वैकुण्ठाश्रम
३०. अम्बकाश्रम
३१. विष्ण्वाश्रम
३२. केशवाश्रम
३३. चिदम्बराश्रम
३४. पद्मनाभाश्रम
३५. महादेवाश्रम
३६. सच्चिदानन्दाश्रम
३७. विद्यार्थकराश्रम
३८. अभिनव सच्चिदानन्दाश्रम
३९. शशिशेखराश्रम
४०. वासुदेवाश्रम
४१. पुरुषोत्तमाश्रम
४२. जनार्दनाश्रम
४३. हरिहराश्रम
४४. भवाश्रम
४५. ब्रह्माश्रम
४६. वांमनाश्रम
४७. सर्वज्ञाश्रम
४८. प्रद्युम्नाश्रम
४९. गोविन्दाश्रम
५०. चिदाश्रम
५१. विश्वेश्वराश्रम
५२. दामोदराश्रम
५३. महादेवाश्रम [२]
५४. अनिरुद्धाश्रम
५५. अच्युताश्रम
५६. माधवाश्रम

२८. विक्रमाश्रम

२९. नृसिंहाश्रम

५९. चिदानाश्रम

६०. नृसिंहाश्रम

६१. मनोहराश्रम

६२. प्रकाशानन्द सरस्वती

६३. विशुद्धाश्रम

६४. वामनाश्रम

६५. केशवाश्रम

६६. मधुसूदनाश्रम

६७. हयग्रीवाश्रम

६८. प्रकाशाश्रम

६९. द्वयग्रीवानन्द सरस्वती

५७. अनन्ताश्रम

५८. विश्वरूपाश्रम

७०. श्रीधराश्रम

७१. दामोदराश्रम

७२. केशवाश्रम

७३. राजराजेश्वरशंकराश्रम

७४. माधवतीर्थ

७५. शान्त्यानन्द सरस्वती

७६. चन्द्रशेखराश्रम

७७. अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ

*　*　*

—　—　—

*　*　*

—वेदान्तदर्शन का इतिहास : पृष्ठ ३१६

उपर्युक्त शारदापीठ की स्थापना कब हुई ? इसका समाधान खोजते हुए आचार्य उदयवीर शास्त्री ने पीठ स्थापनाकाल **युधिष्ठिर—संवत् २६४८ [कार्तिक मास]** स्वीकारा है। और युधिष्ठिर-संवत् की परिभाषा भी वे मनमाने ढंग से करते हैं। हमारे विचार में **युधिष्ठिर-संवत् २६४८ = सप्तर्षि-संवत् ३७४८ = ई० पूर्व २८ का** साल है ऐसा तालमेल संभव है। परन्तु काल-गणना के अनुसार ई० पूर्व २८ में भगवान् शंकराचार्य परकाया-प्रवेशाधीन थे। अतः इस गणना के सामने प्रश्नचिह्न [?] अटका हुआ है। इस समस्या पर फिर विचार—विमर्श होगा।

—कांची कामकोटि पीठ—

१. भगवान् शंकराचार्य

२. सुरेश्वराचार्य

३. सर्वात्मन्

४. सत्यबोध

५. ज्ञानानन्द

६. शुद्धानन्द

७. आनन्दज्ञान

८. कैवल्यानन्द

९. कृपाशंकर

१०. सुरेश्वर [२]

१४. विद्याघन [१]

१५. गंगाधर [१]

१६. उज्ज्वलशंकर

१७. सदाशिव

१८. सुरेन्द्र

१९. विद्याधन [२]

२०. मूलशंकर

२१. चन्द्रचूड

२२. परिपूर्णबोध

२३. सच्चित्सुख

११.चिद्घन
१२.चन्द्रशेखर [१]
१३.सच्चिद्घन
२७.चिद्विलास
२८.महादेव
२९.पूर्णबोध
३०.बोध [१]
३१.ब्रह्मानन्दघन [१]
३२.चिदानन्दघन
३३.सच्चिदानन्द
३४.चन्द्रशेखर
३५.चित्सुख
३६.चित्सुखानन्द
३७.विद्याधन [३]
३८.अभिनव शंकर
३९.सच्चिद् विलास
४०.महादेव
४१.गंगाधर
४२.ब्रह्मानन्दघन [२]
४३.आनन्दघन
४४.पूर्णबोध
४५.परमशिव
४६.बोध [२]
४७.चन्द्रशेखर [३]
२४.चित्सुख [१]
२५.सच्चिदानन्दघन
२६.प्रज्ञाधन
४८.अद्वैतानन्द बोध
४९.महादेव [३]
५०.चन्द्रचूड़ [२]
५१.विद्यातीर्थ
५२.शंकरानन्द
५३.पूर्णानन्द सदाशिव
५४.महादेव [४]
५५.चन्द्रचूड़ [३]
५६.सर्वज्ञ सदाशिव बोध
५७.परमशिव [२]
५८.आत्मबोध
५९.बोध [३]
६०.अद्वैयात्मा प्रकाश
६१.महादेव [५]
६२.चन्द्रशेखर [४]
६३.महादेव [६]
६४.चन्द्रशेखर [५]
६५.महादेव [७]
६६.चन्द्रशेखर [६]
६७.महादेव
६८.चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती

—वेदान्त दर्शन का इतिहास : पृष्ठ ३२२

विमर्श- परामर्श [२]

[१] मठाम्नाय के भी कुछ नियम होते हैं। नियमानुसार एक समय में एक मठ का एक ही अध्यक्ष होता है। एक मठाध्यक्ष के दिवंगमन के पश्चात् ही कोई दायाधिकारी अभिषिक्त होता है। **यह नियम लिखित में उपलब्ध नही है। यह केवल परम्परा में जीवित है।** विद्वद्वर उदयवीर शास्त्री ने मठाम्नायों की केवल पट्टधर वंशावलियाँ ही उद्धृत

की हैं; उसका विश्लेषण या खोजबीन की आवश्यकता उनके खाते में दर्ज नहीं है। यही कारण है, उनकी प्रस्तावित सारणियाँ ही उनका प्रतिवाद कर रही हैं। उनके प्रस्तावानुसार **आद्य शंकराचार्य कांचीकामकोटि पीठ के प्रथमाध्यक्ष** है।; **शृंगेरीमठ के भी वही अध्यक्ष हैं** यह कैसे सम्भव है? चलो, वादी-सन्तोष न्याय से मान लिया कि भगवान् शंकराचार्य सभी मठों के संस्थापक हैं, उन पर यह नियम या सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता। परन्तु यह कठोर नियम सुरेश्वराचार्य को प्रतिबन्धित करता है! हम सारणियों में पढ़ते हैं—

२. सुरेश्वराचार्य

[मठ]	[अध्यक्षताकाल]	[समयानुबन्ध]
कांचीकामकोटि पीठ	**७० वर्ष**	**४०६ ईसवी पूर्व तक**
शारदापीठ	**४२ वर्ष**	**४४९ ईसवी पूर्व तक।**

इस कठिन घाटी को कौन पार करेगा?

नियमानुसार सुरेश्वराचार्य के दिवंगमन के पश्चात् ही परवर्ती आचार्य का अभिषेक होना सम्भव है, इससे पहले नहीं। हम भगवान् शंकराचार्य तथा सुरेश्वराचार्य का अवसानकाल क्या मानते हैं? हम इस बात को नहीं उछाल रहे। हमारा प्रश्न केवल इतना है? **सुरेश्वराचार्य का दिवंगमन कब हुआ? क्या ४४९ ई० पूर्व में? या फिर ४०६ ईसवी पूर्व में हुआ?** कोई देहवान् दो बार तो मरता नहीं। हम अपने मृदुस्वभाव के वशीभूत यह भी मान लेते हैं—सुरेश्वराचार्य ने ४४९ ई० पूर्व में शारदापीठ की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया होगा; और **उनका स्वर्गवास ४०६ ई० पूर्व में हुआ होगा।** यह बात भी आसानी से गले से नीचे नहीं उतर रहीं। उनका समग्र वयोमान इस बिन्दु पर विचारणीय हो सकता है—

७० वर्ष मठाध्यक्ष + १५ वर्ष संन्यस्त जीवन + ३० प्राक् शास्त्रार्थकाल = ११५

यह काल-व्यवस्था असम्भव तो नहीं है; पर यह ननु-नच से रहित भी नहीं है।

[२] दूसरी बात। हम इस मुद्दे पर बड़ी दृढ़ता से स्थितप्रज्ञ हैं कि भगवान् शंकराचार्य का समस्त कालचक्र सप्तर्षि-संवत् के आइने में देखा परखा जाय। इधर विद्वद्वर उदयवीर शास्त्री ने कांची कामकोटि की आचार्य परम्परा में तीन बिन्दुओं को रेखांकित किया है, जो सीधे सप्तर्षि-संवत् को 'फोकस' में लेते हैं। यथा—

आचार्य	अध्यक्षताकाल	कलि संवत्	ईसवी सन्
१४ विद्याघन	४५	३४१९	३१७
S.E. २३९ [सप्तर्षि-संवत्]			
२० मूलशंकर (४)	३९	३५३९	४३७
S.E. ३५९ [सप्तर्षि-संवत्]			
२५ सच्चिदानन्दघन	२१	३६५०	५४८
S.E ४७० [सप्तर्षि-संवत्]			

इन सप्तर्षि वर्षीय अंकों को अपनी कसौटी पर कसकर देखने से पहले यह सूचित करना उचित मानते हैं कि **इन अंकों में १०० अतिरिक्त जमा है।** हम १०० वर्षों का शातन करके ही इन अंकों की परीक्षा करेंगे। यथा—

प्रथम उदाहरण—

मूल संख्या २३९
—१०० अतिरिक्त वर्ष
१३९
सप्तर्षि संवत् [४] १३९
नियमानुसार —६२८ घटाए
३५११
संग्रामकाल— ३१४८ ई० पू० घटाया
३६३ ईसवी सन्

विद्याघन का अध्यक्षता-काल समापन
३१६ +
भगवान् शंकराचार्य का जन्म ई. पूर्व.
४५ =
३६१ ईसवी सन्

ऐसा प्रतीत होता है, सप्तर्षि-संवत् की कोई परम्परा रही होगी। प्रयोग में अप्रचलन के कारण उसमें खामी आना स्वाभाविक है। आवश्यकता इस बात की है कि शांकर मठों के दस्तावेज़ का पुनरवलोकन और पुनः परीक्षण हो।

द्वितीय उदाहरण—

मूल संख्या ३५९
—१०० अतिरिक्त वर्ष
२५९
सप्तर्षि संवत् [४] २५९
नियमानुसार —६२८ घटाया।
३६३१
संग्रामकाल —३१४८ ई० पूर्व
४८३ ईसवी संवत्

मूलशंकर का अध्यक्षताकाल समापन
+४३७ ई० सन्
भगवान् शंकराचार्य का जन्म वर्ष-
+४५ ई० पूर्व =
४८२ ई० सन्

परिणामसाम्य इस बात को सोचने पर विवश करता है कि समूचे काल-तन्त्र को सप्तर्षि-संवत् के आइने में लिया जाय।

तृतीय उदाहरण—

मूल संख्या ४७०
—१०० अतिरिक्त वर्ष
३७०
सप्तर्षि संवत् [४] ३७०
नियमानुसार = —६२८ घटाया
३७४२
संग्रामकाल —३१४८ ई० पू० घटाया
५९४ ईसवी सन्

सच्चिदानन्दघन का अध्यक्षताकाल का समापन ५४८ ईसवी
भगवान् शंकराचार्य का जन्म वर्ष
+४५ ई० पू०
५९३ ईसवी

तीनों उदाहरणों के अभिन्न परिणाम किसी निश्चित परम्परागत काल-गणना का प्रमाण है।

इन तीनों उदाहरणों में १ वर्ष की न्यूनता है। यथा—**[क] ३६३-१ = ३६२ [ख] ४८३—१ = ४८२, तथा [ग] ५९४-१ = ५९३**। यह एक वर्ष की न्यूनता दो गणना-शैलियों की भिन्नता का परिणाम है। भारतीय गणना के अनुसार गणनाएँ ०० शून्य से आरम्भ होती है, जबकि पाश्चात्य गणना में ऐसा नहीं है। यथा—

द्वापरान्त ०० = ३१०२ ई० पूर्व
कल्यारम्भ ०१ = ३१०१ ई० पूर्व
कलि-संवत् ०२ = ३१०१ ई० वर्ष

कलि-संवत् ३१०१ = ०१ ई० पूर्व
कलि-संवत् ३१०२ = ०१ ईसवी संवत्
कलि-संवत् = ३१०३ = ०२ ईसवी संवत्

जैसे कलि-संवत् ३१०३ = २ ईसवी साल [ए.डी.] में १—साल की न्यूनता किसी भूल की पहचान नहीं है, बल्कि **गणना-वैचित्र्य की सूचना है**; तथैव पूर्वोक्त उदाहरणों में यही गणना वैचित्र्य अनुभूय है। प्रथम पटल पर सप्तर्षि-गणना भारतीय गणना शैली के अनुरूप है, तथा द्वितीय पटल पर ईसवी पूर्व + ईसवी सन् -पाश्चात्य शैली के अनुरूप है। उक्त एक वर्ष की न्यूनता अनिवार्य नियमानुसार है।

गोवर्धन मठ

१. पद्मपाद
२. शूलपाणि
३. नारायण [१]
४. विद्यारण्य [१]
५. नामदेव [१]
६. पद्मनाभ
७. जगन्नाथ [१]
८. मधुरेश्वर
९. गोविन्द [१]
१०. श्रीधर [१]
११. माधवानन्द
१२. कृष्णब्रह्मानन्द
१३. रामानन्द [१]
१४. वागीश्वर
१५. परमेश्वर
१६. गोपाल [१]
१७. जनार्दन [१]
१८. ज्ञानानन्द
१९. बृहदारण्य
२०. महादेव
२१. परमब्रह्मानन्द
२२. रामानन्द [२]
२३. सदाशिव [१]
२४. हरीश्वरानन्द
२५. बोधानन्द [१]
२६. रामकृष्ण [१]
२७. चिद्बोधात्मा
२८. तत्त्वाक्षर
२९. शंकर [१]
३०. वासुदेव [१]
३१. हयग्रीव [१]
३२. स्मृतीश्वर
३३. विद्यानन्द [१]
३४. मुकुन्दानन्द
३५. हिरण्यगर्भ
३६. नित्यानन्द
३७. शिवानन्द [१]
३८. योगीश्वर
३९. सुदर्शन
४०. व्योमकेश
४१. दामोदर [१]
४२. योगानन्द
४३. गोलकेश
४४. कृष्णानन्द [१]
४५. देवानन्द
४६. चन्द्रचूड़
४७. हलायुग
४८. सिद्धसेन्य
४९. तारकात्मा
५०. बोधायन [२]

५१.श्रीधर [२]
५२.नारायण [२]
५३.सदाशिव [२]
५४.जयकृष्ण
५५.विरूपाक्ष
५६.विद्यारण्य [२]
५७.विश्वेश्वर
५८.विबोधेश्वर
५९.महेश्वर [१]
६०.मधुसूदन [१]
६१.रघूत्तम [१]
६२.रामचन्द्र [१]
६३.योगीन्द्र
६४.महेश्वर [२]
६५.ओङ्कार
६६.नारायण [३]
६७.जगन्नाथ [२]
६८.श्रीधर [३]
६९.रामचन्द्र [२]
७०.ताम्राक्ष
७१.उग्रेश्वर
७२.उद्दण्ड : उदयानन्द
७३.संकर्षण
७४.जनार्दन [२]
७५.अखण्डात्मा
७६.दामोदर [२]
७७.शिवानन्द [२]
७८.विद्याधर
७९.गदाधर
८०.वामन
८१.शंकर [२]
८२.नीलकण्ठ
८३.रामकृष्ण [२]
८४.रघूत्तम [२]
८५.दामोदर [३]
८६.गोपाल [३]
८७.मृत्युञ्जय
८८.गोविन्द [२]
८९.वासुदेव [२]
९०.गंगाधर
९१.सदाशिव [३]
९२.वामदेव [२]
९३.उपमन्यु
९४.हयग्रीव
९५.हरि
९६.रघूत्तम [३]
९७.पुण्डरीकाक्ष
९८ परमशंकर तीर्थ
९९.वेदगर्व
१००.वेदान्त भास्कर
१०१.विज्ञानात्मा
१०२.शिवानन्द [३]
१०३.महेश्वर [३]
१०४.रामकृष्ण [३]
१०५.वृषध्वज
१०६.शुद्धबोध
१०७.सोमेश्वर
१०८.गोपदेव
१०९.शम्भुतीर्थ
११०.भृगु

१११. केशवानन्द
११२. विद्यानन्द [२]
११३. वेदानन्द
११४. बोधानन्द [१]
११५. सुतपानन्द
११६. श्रीधर [४]
११७. जनार्दन [३]
११८. कामनाशानन्द
११९. हरिहरानन्द
१२०. गोपाल [३]
१२१. कृष्णानन्द [२]
१२२. माधवानन्द [२]
१२३. मधुसूदन
१२४. गोविन्द [३]
१२५. रघूत्तम [३]
१२६. वामदेव [३]
१२७. हृषीकेश
१२८. दामोदर [४]
१२९. गोपालानन्द
१३०. गोविन्द [४]
१३१. रघूत्तम [५]
१३२. रामचन्द्र [३]
१३३. गोविन्द [४]
१३४. रघुनाथ
१३५. रामकृष्ण [४]
१३६. मधुसूदन [३]
१३७. दामोदर [५]
१३८. रघूत्तम [९]
१३९. शिव
१४०. लोकनाथ
१४१. दामोदर [६]
१४२. मधुसूदन [४]
१४३. भारती कृष्ण
१४४. निरंजनदेव।

—वेदान्तदर्शन का इतिहास : पृष्ठ ३२६-२८

—शृंगेरी मठ—

१. आद्यशंकराचार्य
२. सुरेश्वराचार्य
३. नित्यबोधनाचार्य
४. ज्ञानघनाचार्य
५. ज्ञानोत्तमाचार्य
६. ज्ञानगिर्याचार्य
७. सिंहगिर्याचार्य
८. ईश्वरतीर्थ
९. नरसिंहतीर्थ
१०. विद्याशंकरतीर्थ
११. भारतीकृष्णतीर्थ
१२. विद्यारण्य
१३. चन्द्रशेखर भारती [१]
१४. नरसिंह भारती [१]
१५. पुरुषोत्तम भारती [१]
१६. शंकरानन्द भारती
१७. चन्द्रशेखर भारती [२]
१८. नरसिंह भारती [२]
१९. पुरुषोत्तम भारती [२]
२०. रामचन्द्र भारती [२]
२१. नरसिंह भारती [३]
२२. नरसिंह भारती [४]

२३. नरसिंह भारती [५]

२४. अभिनव नृसिंह भारती

२५. सच्चिदानन्द भारती

२६. नरसिंह भारती [६]

२७. सच्चिदानन्द भारती [१]

२८. अभिनव सच्चिदानन्द भारती [१]

२९. अभिनव नरसिंह भारती [२]

३०. सच्चिदानन्द भारती [३]

३१. अभिनव सच्चिदानन्द भारती [२]

३२. नरसिंह भारती [७]

३३. सच्चिदानन्द-शिवाभिनवनरसिंह भारती

३४. चन्द्रशेखर भारती [३]

३५. अभिनव विद्यातीर्थ।

\+ + +

—पूर्ववत् : पृष्ठ ३४५-४७

— ज्योतिर्मठ—

१-बालकृष्ण

२-हरिब्रह्म

३-हरिस्मरण

४-वृन्दावन

५-सत्यनारायण

६-भवानन्द

७-कृष्णानन्द

८-हरिनारायण

९-ब्रह्मानन्द

१०-देवानन्द

११-रघुनाथ

१२-पूर्णदेव

१३. कृष्णदेव

१४. शिवानन्द

१५. बालकृष्ण

१६. नारायण उपेन्द्र

१७. हरिचन्द्र

१८. सदानन्द

१९. केशव

२०. नारायण तीर्थ

२१. रामकृष्ण-

—पूर्ववत् : पृष्ठ ३३१

— कुंडलीमठ —

१-आद्यशंकराचार्य

२-विश्वरूप भारती [सुरेश्वर]

३-चिद्रूप भारती

४-गंगाधर भारती

५-चिद्घन भारती

६-बोधायन भारती

७-ज्ञानोत्तम भारती

८-नरसिंह भारती

९-ईश्वर भारती

१०-विद्याशंकर भारती

११-श्रीकृष्ण भारती

१२-शंकर भारती

१३- चन्द्रशेखर भारती

१४-सच्चिदानन्द भारती

१५-ब्रह्मानन्द भारती

१६-विद्घन भारती

१७-पुरुषोत्तम भारती
१८-मधुसूदन भारती
१९-जगन्नाथ भारती
२०-विश्वानन्द भारती
२१-विमलानन्द भारती
२२-विद्यारण्य भारती
२३-विश्वरूप भारती
२४-बोधायन भारती
२५-ज्ञानोत्तम भारती
२६-ईश्वर भारती।
२७-विजयशंकर भारती
२८-विद्यातीर्थ भारती
२९-भारतीतीर्थ
३०-विद्यारण्य भारती
३१-नरसिंह भारती
३२-चन्द्रशेखर भारती
३३-रामचन्द्र भारती
३४-शंकरभारती
३५-नरसिंह भारती
३६-चन्द्रशेखर भारती
३७-पुरुषोत्तम भारती
३८-नरसिंह भारती
३९-मधुसूदन भारती
४०-विष्णुभारती
४१-गंगाधर भारती
४२-नरसिंह भारती
४३-शंकर भारती
४४-पुरुषोत्तम भारती
४५-रामचन्द्र भारती
४६-नरसिंह भारती
४७-विद्यारण्य भारती
४८-नरसिंह भारती
४९-शंकर भारती
५०-नरसिंह भारती
५१-शंकर भारती
५२-नरसिंह भारती
५३-शंकर भारती
५४-नरसिंह भारती
५५-शंकर भारती
५६-नरसिंह भारती
५७-शंकरभारती
५८-नरसिंहभारती
५९-शंकर भारती
६०-नरसिंह भारती
६१-नृसिंह भारती
६२-विद्याशंकर भारती
६३-शंकर भारती

\+ \+ \+

—पूर्ववत् : पृष्ठ ३४९-५०

—सुरेश्वराचार्य—

ये सारिणी अपूर्ण और शोध-सापेक्ष हैं। इनमें भगवान् शंकराचार्य के प्रथम उत्तराधिकारी **सुरेश्वराचार्य** का समय विवादास्पद है। विवाद इस बात पर है कि **सुरेश्वराचार्य कितने समय तक मठाध्यक्ष रहे ?** इसके पीछे कारण क्या है ? यह शोध का विषय है। विवाद का विषय नहीं है। शृंगेरी मठ के दस्तावेज के अनुसार सुरेश्वराचार्य का समय **शालिशक ६९५ है**। हमने ७८ ई० सन् से चलने वाले शालिवाहन संवत् को निरस्त कर दिया है। स्कन्दपुराण के संदर्भानुसार हम प्राचीन शक-संवत् खोजकर लाए हैं। परन्तु **उस शालिवाहन शक की परिभाषा स्थापित करने में**

हमें सफलता नहीं मिली, जिस सफलता की हमें प्रतीक्षा थी। ऐसे लगता है—इसकी गणना-शैली विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रहीं है। यथा—

१. काश्मीर-प्रदेशानुसार ६७६ ई० पूर्व से
२. मुल्तान-प्रदेशानुसार ६५८ ई० पूर्व से

यह कालगणना शालिवाहन के अभिषेक काल से गणनाधीन है; परन्तु उसने प्रजा को ऋणमुक्त करके ६२२ ई० पूर्व से विधिपूर्वक संवत्स्थापना की, जिसका प्रमुख प्रवक्ता आचार्य वराहमिहिर है।

इन विविध मान्यताओं में फंसकर सुरेश्वराचार्य का समय अस्त व्यस्त हो गया है। जिसका परिणाम विविध सारणियाँ बिन्दुओं पर बँट गई हैं।

[१] शारदापीठ की सारिणी के अनुसार **सुरेश्वराचार्य ४२ वर्ष मठाधीश रहे**। यह तो निश्चित है, सुरेश्वराचार्य २६ ई० पूर्व में संन्यस्त हुए। शृंगेरीमठ के अनुसार सुरेश्वराचार्य का समय संकेत ६९५ शालिशक काश्मीर-शैली के अनुसार समस्या का समाधान खोजा जाय तो **६९५—६७६ = १९ ईसवी सन्** में सुरेश्वराचार्य का दिवङ्गमन तथा उनकी मठाध्यक्षता की समाप्ति साथ-साथ हुए। उक्त गणनाचक्र इस प्रकार है—

ईसवी पूर्व २६ + १९ ईसवी सन् = ४५ वर्ष का मठाधिपत्य इस स्थापना को एकदम से नकारा नहीं जा सकता।

हम इस अंकविधान [६९५] को शालिशक न मानकर युधिष्ठिर-संवत् मान लेते हैं, जिसमें हजार का अंक छोड़ दिया गया है। अब अंक इस प्रकार होंगे—६९५ = [२]६९५; जैसा कि हम जानते हैं, भगवान् शंकराचार्य का देहावसान युधिष्ठिर संवत् २६६३ में हुआ। अतः

१. भगवान् शंकर का देहावसान २६६३ = १३ ई० पूर्व।

२. प्रथम शिष्य सुरेश्वर का देहावसान २६९५ = १९ ईसवी

यहाँ ३२ वर्षीय पूर्वापर व्यवधान प्रामाणिक है : ३२ + १२ = ४४ विदित हो, सुरेश्वराचार्य२६ ई० पू० मे संन्यन्त हुए थे। २६ + ९ + ४५ वर्ष सिद्ध है।

[२] शृंगेरी मठ की आचार्य परम्परा के अनुसार **सुरेश्वराचार्य ६२ वर्ष मठाधीश रहे**। प्रत्यक्षरूपेण ६२ वर्ष तथा ४५ वर्षों का पार्थक्य चिन्त्य है; परन्तु परोक्षरूपेण 'शारदापीठ' और 'शृंगेरी पीठ' में मतैक्य भी है। कारण, शृंगेरीमठ की सप्तर्षिगणना में संसर्पकाल के १८ वर्ष सहगणित हैं, जबकि शारदापीठ की सप्तर्षि-गणना में १८ वर्ष पृथक् रखे गए हैं। अतः६२-१८ = **४४/४५ वर्ष** का फलागम कर-कंकणवत् सामने हैं।

हमने ६९५ शालिशक को युधिष्ठिर-संवत् मान लिया है; और पहले की तरह इस संख्या में ११०० ज़ोड़कर सप्तर्षि-संवत् मान लेते हैं, आगे की गणना प्रक्रिया इस प्रकार है—

[२] ६९५ + ११०० = ३७९५ सप्तर्षि संवत्;

−६२८ वर्ष संग्राम काल के घटाए।

३१६७ शेष सामान्य वर्ष।
ई० पूर्व भारत-संग्राम के वर्ष = ३१४८ घटाए—
१९ ई० पूर्व में सुरेश्वराचार्य दिवंगत हुए।

१९ + २५ = ४४ वर्षीय फलागम की उपलब्धि पूर्ववत् संग्राह्य है।

[३] काँची कामकोटि-पीठ की सारिणी के देखते हुए **सुरेश्वराचार्य ७० वर्ष मठाधीश रहे।** यह मान्यता सचमुच इतिहास तथा विज्ञान [गणित] का उल्लंघन करती है। भगवान् शंकराचार्य का विग्रह-विसर्जन १३-ईसवी पूर्व में हुआ था—यह हमारी मान्यता है। इसी गणना के परिप्रेक्ष्य में '७०-१९ = **५१ ई० सन् तक** सुरेश्वराचार्य का मठाधीश रहना चिन्त्य है।

शारदा-पीठ तथा शृंगेरी पीठ की उपलब्धियों के विपरीत कांचीकामकोटि की मान्यता अलग क्यों है? इसका कारण खोजना कोई जटिल काम नहीं है। कांचीकामकोटिपीठ के आचार्यों ने

'युग्मपयोधिरसान्वितशाके'

का अर्थ ६४४ न लेकर ६४२ लिया है। सुरेश्वराचार्य के निधन वर्ष **६९५ से ६४२ वर्ष घटाकर ५३ वर्ष हुए।** १९ वर्ष कलमचूक के मान लेते हैं। इस प्रकार जोड़-तोड़ करके ७० वर्ष थोप दिए हैं।

[नोट-पूर्व पंक्तियों में इस विषय पर पर्याप्त लिख आए हैं]

५४-१ कलम चूक = ५३ + संसर्प काल के जमा करने पर १८ = ७१ वर्ष;

षष्टि संवत्सर—

भारत की प्रचलित नव-विध कालगणनाओं में "बार्हस्पत्य कालमान" का स्थान विशेष और निर्णायक है। जब कभी सौर कालगणना के विविध सूत्रों में उलझन पैदा हो जाती है, तभी उक्त बार्हस्पत्य कालगणना को बीच में लाकर सुलझाव प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए एक उदाहरण देना पर्याप्त रहेगा। यथा—

"युग्मपयोधिरसान्वित शाके : ६४२ शक-संवत्"

प्रश्न पैदा होता है—यह शक संवत् कौन सा है? हम ओरों की बात नहीं करते; हम स्वयं १० के लगभग 'शक-संवत्' अपनी शोध-पट्टी पर लिख लिये हैं। इस स्वतः अर्जित संशय-स्थिति का समाधान भी बार्हस्पत्य कालमान के 'एक' संवत्सर से किया—

"रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे"

रुद्रसंवत्सर ६४२ शक का ग्रहण किया है। हमारी निगाह में इसका एक विकल्प और भी है। उक्त **शक संवत् ६४२ = ७२० ईसवी है,** इसके विकल्प में **शक-संवत् ६४४ = १३ ई० पूर्व** पर भी हमने विचार किया है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है—ऐतिह्य काल-निर्धारण में तथाकथित षष्टि संवत्सरों का योगदान भी निहित है—जिसे **'बार्हस्पत्य कालमान'** कहते हैं।

जब हम षष्टि-संवत्सरों का क्रमानुसार उल्लेख करते हैं, तब **१-प्रभव २-विभव ३-शुक्ल से आरम्भ करते हैं और ५८ रक्ताक्ष-५९ क्रोधन-६० क्षय पर्यन्त** समाप्त करते हैं।

प्रश्न पैदा होता है—सर्गारम्भ में कौन सा संवत्सर था? इसी के गर्भ में छोटा प्रश्न है—युगारम्भ में कौन सा संवत्सर था? इस पर हमारा उत्तर है—जो संवत्सर सर्गरम्भ में था; वही संवत्सर युगारम्भ में भी था। प्रत्येक युग की मौलिक इकाइयाँ ६० पर विभाजित हो जाती हैं। यथा—

१	२	३	४
कृतयुग	त्रेतायुग	द्वापरयुग	कलि (काल)
६०)१७२८० (२८८	६०)१२९६० (२१६	६०)८९४० (१४९	६०) ४३२० (७२
-१२०	-१२०	−६०	४२०
५२८	९६	२९४	१२०
४८०	६०	२४०	१२०
४८०	३६०	५४०	x
४८०	३६०	५४०	
x	x	x	

इस चित्र के अवलोकन से ज्ञात होता है कि जिस संवत्सर से यहां सर्गारम्भ होगा, उसी से युगारंभ भी होगा। विस्तार में न जाते हुए हम मात्र कलिकाल को संदर्भ में लेते हुए संवत्सर शृंखला उपस्थित है—

संवत्सर-नामावलि

प्रभवो विभवः शुक्लः प्रमोदोऽथ प्रजापतिः। अंगिराःश्रीमुखो भावो युवा धाता तथैव च ।१ ॥

ईश्वरो बहुधान्यश्च प्रमाथी विक्रमो वृषः। चित्रभानुः सुभानुश्च तारणः पार्थिवो व्ययः ॥ २ ॥

सर्वजित् सर्वधारी च विरोधी विकृतिः खरः। नंदनो विजयश्चैव जयो मन्मथ दुर्मुखौ ॥ ३ ॥

हेमलंबी विलंबी च विकारी शार्वरी प्लवः। शुभकृच्छोभनः क्रोधी विश्वावसु-पराभवौ ॥ ४ ॥

प्लवंगः कीलकः सौम्यः साधारणे विरोधकृत्। परिधावी प्रमादी च आनंदो राक्षसोऽनलः ।५ ।

पिंगलः कालयुक्तश्च सिद्धार्थी रौद्र दुर्मती। दुंदुभी रुधिरोद्गारी रक्ताक्षी-क्रोधनः क्षयः ॥ ६ ॥

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
१३ प्रमाथी	००	२७ विजय	४२ कीलक	२९	५६ दुन्दुभी
१४ विक्रम	०१	२८ जय	४३ सौम्या	३०	५७. रुधिरोद्गारी
१५ वृष	०२	२९ मन्मथ	४४ साधारण	३१	५८ रक्ताक्ष
१६ चित्रभानु	०३	३० दुर्मुख	४५ विरोधकृत	३२	५९ क्रोधन
१७ सुभानु	०४	३१ हेमालम्ब	४६ परिधावी	३३	६० क्षय
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४७ प्रमादी	३४	१ प्रभव
१९ पार्थिव	०६	३३ विकारी	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२० व्यय	०७	३४ शार्वरी	४९ राक्षस	३६	३-शुक्ल
२१ सर्वजित्	०८	३५ प्लव	५० अनल	३७	४-प्रमोद
२२ सर्वधारी	०९	३६ शुभवृत्	५१ पिंगल	३८	५-प्रजापति
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	५२ कालयुक्त	३९	६-अंगिरा
२४ विकृति	११	३८ क्रोधी	५३ सिद्धार्थ	४०	७-श्रीमुख
२५ खर	१२	३९ विश्वसु	५४ रौद्र	४१	८ भाव
२६ नन्दन	१३	४० पराभव	५५ दुर्मति	४२	९-युवा
२७ विजय	१४	४१ प्लवन	५६ दुंदुभी	४३	१०-धाता
२८ जय	१५	४२ कीलक	५७ रुधिरोद्गारी	४४	११ ईश्वर
२९ मन्मथ	१६	४४ सौम्या	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३० दुर्मुख	१७	४४ साधारण	५९ क्रोधन	४६	१३ प्रमाथी
३१ हेमलम्ब	१८	४५ विरोधकृत्	६० क्षय	४७	१४ विक्रम
३२ विलम्ब	१९	४६ परिधावी	१ प्रभव	४८	१५ वृष
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	२ विभव	४९	१६ चित्रभानु
३४ शर्वरी	२१	४८ आनन्द	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
३५ प्लव	२२	४९ राक्षस	४ प्रमोद	५१	१८ तारण
३६ शुभकृत्	२३	५० अनल	५ प्रजापति	५२	१९ पार्थिव
३७ शोभन	२४	५१ पिंगल	६ अंगिरा	५३	२० व्यय
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	७ श्रीमुख	५४	२१-सर्वजित्
३९ विश्वावसु	२६	५३ सिद्धार्थ	८ भाव	५५	२२-सर्वधारी
४० पराभव	२७	५४ रौद्र	९ युवा	५६	२३ विरोधी
४१ प्लवंग	२८	५५ दुर्गति	१० धाता	५७	२४ विकृति

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
११.ईश्वर	५८	२५ खर
१२.बहुधान्य	५९	२६ नन्दन

१.प्रमाथी प्रथमं वर्ष सर्गादौ ब्रह्मणा स्मृतम्। —सि० शिरोमणि

२.षष्ट्यब्दा विजयादयः। —सूर्यसिद्धान्त

हम इस सारिणी को आगे बढ़ाते हैं; परन्तु **प्रतिवर्ष का उल्लेख न करके प्रत्येक पांचवें वर्ष का संग्रह करके** सारिणी को समृद्ध करते हैं। यथा—

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय	३ शुक्ल	१७०	१७ सुभानु
१८ तारण	६५	३२ विलम्ब	८ भाव	१७५	२२ सर्वधारी
२३ विरोधी	७०	३७ शोधन	१३ प्रमाथी	१८०	**२७ विजय**
२८ जय	७५	४२ कीलक	१८ तारण	१८५	३२ विलंबी
३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी	२३ विरोधी	१९०	३७ शोभन
३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त	२८ जय	१९५	४२ कीलक
४३ सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी	३३ विकारी	२००	४७ प्रमादी
४८ आनन्द	९५	२ विभव	३८ क्रोधी	२०५	५२ कालयुक्त
५३ सिद्धार्थ	१००	७ श्रीमुख	४३ सौम्य	२१०	५७ रक्तोद्गारी
५८ रक्ताक्ष	१०५	१२ बहुधान्य	४८ आनन्द	२१५	२-विभव
३ शुक्ल	११०	१७ सुभानु	५३ सिद्धार्थ	२२०	७ श्रीमुख
८ भाव	११५	२२ सर्वधारी	५८ रक्ताक्ष	२२५	१२ बहुधान्य
१३ प्रमाथी	१२०	**२७ विजय**	३ शुक्ल	२३०	१७ सुभानु
१८ तारण	१२५	३२ विलम्बी	८ भाव	२३५	२२ सर्वधारी
२३ विरोधी	१३०	३७ शोभन	**१३ प्रमाथी**	२४०	**२७ विजय**
२८ जय	१३५	४२ कीलक	१८ तारण	२४५	३२ विलम्बी
३३ विकारी	१४०	४७ प्रमादी	२३ विरोधी	२५०	३७ शोभन
३८ क्रोधी	१४५	५२ कालयुक्त	२८ जय	२५५	४२ कीलक
४३ सौम्य	१५०	५७ रक्तोद्गारी	३३ विकारी	२६०	४७ प्रमादी
४८ आनन्द	१५५	०२ विभव	३८ क्रोधी	२६५	५२ कालयुक्त
५३ सिद्धार्थ	१६०	०७ श्रीमुख	४३ सौम्य	२७०	५७ रक्तोद्गारी
५८ रक्ताक्ष	**१६५**	**१२ बहुधान्य**	४८ आनन्द	२७५	२ विभव

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
५३ सिद्धार्थ	२८०	७ श्रीमुख	**१३ प्रमाथी**	४२०	२७ विजय
५८ रक्ताक्ष	२८५	१२ बहुधान्य	१८ तारण	४२५	३२ विलंबी
३ शुक्ल	२९०	१७ सुभानु	२३ विरोधी	४३०	३७ शोभन
८ भाव	२९५	२२ सर्वधारी	२८ जय	४३५	४२ कीलक
१३ प्रमाथी	३००	**२७ विजय**	३३ विकारी	४४०	४७ प्रमादी
१८ तारण	३०५	३२ विलम्बी	३८ क्रोधी	४४५	५२ कालयुक्त
२३ विरोधी	३१०	३७ शोभन	४३ सौम्य	४५०	५७ रक्तेद्गारी
२८ जय	३१५	४२ कीलक	४७ आनन्द	४५५	०२ विभव
३३ विकारी	३२०	४७ प्रमादी	५३ सिद्धार्थ	४६०	०७ श्रीमुख
३८ क्रोधी	३२५	५२ कालयुक्त	५८ रक्ताक्ष	४६५	१२ बहुधान्य
४३ सौम्य	३३०	५७ रक्तोद्गारी	३ शुक्ल	४७०	१७ सुभानु
४८ आनन्द	३३५	२-विभव	८ भाव	४७५	२२ सर्वधारी
५३ सिद्धार्थ	३४०	७ श्रीमुख	१३ प्रमाथी	४८०	२७ विजय
५८ रक्ताक्ष	३४५	बहुधान्य	१८ तारण	४८५	३२ विलम्बी
३ शुक्ल	३५०	१७ सुभानु	२३ विरधी	४९०	३७ शोभन
८ भाव	३५५	२२ सर्वधारी	२८ जय	४९५	४२ कीलक
—	—	—	३३ विकारी	५००	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	३६०	२७ विजय	३८ क्रोधी	५०५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	३६५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५१०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	३७०	३७ शोधन	४८ आनन्द	५१५	२-विभव
२८ जय	३७५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	५२०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	३८०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	५२५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	३८५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५३०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	३९०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५३५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	३९५	२ विभव	१३ प्रमाथी	५४०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	४००	७ श्रीमुख	१८ तारण	५४५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	४०५	१२.बहुधान्य	२३ विरोधी	५५०	३७ शोभन
३ शुक्ल	४१०	१७ सुभानु	२८ जय	५५५	४२ कीलक
८ भाव	४१५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	५६०	४७ प्रमादी

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
३८ क्रोधी	५६५	५२ कालयुक्त	५८ रक्ताक्ष	७०५	१२ बहुधान्य
४३ सौम्य	५७०	५७ रक्तोद्गारी	३ शुक्ल	७१०	१७ सुभानु
४८ आनन्द	५७५	२ विभव	८ भाव	७१५	२२ सर्वधारी
५३ सिद्धार्थ	५८०	७ श्रीमुख	१३ प्रमाथी	७२०	२७ विजय
५८ रक्ताक्ष	५९५	१२ बहुधान्य	१८ तारण	७२५	३२ विलंबी
३ शुक्ल	५९०	१७ सुभानु	२३ विरोधी	७३०	३७ शोभन
८ भाव	५९५	२२ सर्वधारी	२८ जय	७३५	४२ कीलक
१३ प्रमाथी	६००	२७ विजय	३३ विकारी	७४०	४७ प्रमादी
१८ तारण	६०५	३२ विलम्बी	३८ क्रोधी	७४५	५२ कालयुक्त
२३ विरोधी	६१०	३७ शोभन	४३ सौम्य	७५०	५७ रक्ते द्गारी
२८ जय	६१५	४२ कीलक	४८ आनन्द	७५५	२ विभव
३३ विकारी	६२०	४७ प्रमादी	५३ सिद्धार्थ	७६०	०७ श्रीमुख
३८ क्रोधी	६२५	५२ कालयुक्त	५८ रक्ताक्ष	७६५	१२ बहुधान्य
४३ सौम्य	६३०	५७ रक्तोद्गारी	३ शुक्ल	७७०	१७ सुभानु
४८ आनन्द	६३५	२-विभव	८ भाव	७७५	२२ सर्वधारी
५३ सिद्धार्थ	६४०	७ श्रीमुख	१३ प्रमाथी	७८०	२७ विजय
५८ रक्ताक्ष	६४५	१२ बहुधान्य	१८ तारण	७८५	३२ विलम्बी
३ शुक्ल	६५०	१७ सुभानु	२३ विरोधी	७९०	३७ शोभन
८ भाव	६५५	२२ सर्वधारी	२८ जय	७९५	४२ कीलक
—	—	—	३३ विकारी	८००	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	६६०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८०५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	६६५	३२ विलंबी	४३-सौम्य	८१०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	६७०	३७ शोभन	४८ आनन्द	८१५	२-विभव
२८ जय	६७५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	८२०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६८०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	८२५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६८५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	८३०	१७ सुधानु
४३ सौम्य	६९०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	८३५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	६९५	२ विभव	१३ प्रमाथी	८४०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	७००	७ श्रीमुख	१८ तारण	८४५	३२ विलम्बी

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
२३ विरोधी	८५०	३७ शोभन	४३ सौम्य	९९०	५७ रक्तोद्गारी
२८ जय	, ८५५	४२ कीलक	४८ आनन्द	९९५	२ विभव
३३ विकारी	८६०	४७ प्रमादी	५३ सिद्धार्थ	१०००	७ श्रीमुख
३८ क्रोधी	८६५	५२ कालयुक्त	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
४३ सौम्य	८७०	५७ रक्तोद्गारी	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४८ आनन्द	८७५	२ विभव	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
५३ सिद्धार्थ	८८०	७ श्रीमुख	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५८ रक्ताक्ष	८८५	१२ बहुधान्य	१८ तारण	२५	३२ विलम्बी
३ शुक्ल	८९०	१७ सुभानु	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
८ भाव	८९५	२२ सर्वधारी	२८ जय	३५	४२ कीलक
—	—	—	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	९००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	९०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विरोधी	९१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	२ विभव
२८ जय	९१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	९१०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	९२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	९३०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	७५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	९३५	२-विभव	१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	९४०	७ श्रीमुख	१८ तारण	९५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	९४५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	९०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९५०	१७ सुभानु	२८ जय	९५	४२ कीलक
८ भाव	९५५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	११००	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	९६०	२७ विजय	३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	९६५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९७०	३७ शोभन	४८ आनन्द	१५	२-विभव
२८ जय	९७५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	९८०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	९९५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	३०	१७ सुभानु

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२ विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	१३००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	१२००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	०२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	३०	५७ रकतोद्गारी	८ भाव	७५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	३५	२-विभव	१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख	१८ तारण	८५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	९०	३७ शोभन
३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु	२८ जय	९५	४२ कीलक
८ भाव	५५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	१४००	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय	३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	६५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	७०	३७ शोभन	४८ आनन्द	१५	२-विभव
२८ जय	७५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२ विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	१६००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	१५००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	०२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	७५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	३५	२-विभव	१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख	१८ तारण	८५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	९०	३७ शोभन
३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु	२८ जय	९५	४२ कीलक
८ भाव	५५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	१७००	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय	३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	६५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२ विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	२२००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	१८००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विकारी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	०२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	७५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	३५	२- विभव	१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख	१८ तारण	८५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	९०	३७ शोभन
३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु	२८ जय	९५	४२ कीलक
८ भाव	५५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२३००	४७ प्रमादी

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्ब
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुभानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२ विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	२५००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	२४००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	६२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	७५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	३५	२-विभव	१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख	१८ तारण	८५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	९०	३७ शोभन

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	२६००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुधानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	२८००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	२७००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	०२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	७५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	३५	२-विभव	१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	२९००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	३१००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	३०००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	६२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख
३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	३२००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	३४००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	३३००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी
२३ विरोधी	१०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५५	०२ विभव
२८ जय	१५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	१०	३७ शोभन
३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु	२८ जय	१५	४२ कीलक
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	३५००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	३७००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	३६००	२७ विजय	३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	०५	३२ विलम्बी	४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
४८ आनन्द	५५	०२ विभव	१३ प्रमाथी	३९००	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख	१८ तारण	०५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	१०	३७ शोभन
३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु	२८ जय	१५	४२ कीलक
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	३८००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुभानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन
३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु	२८ जय	३५	४२ कीलक
८ भाव	९५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्वारी	८ भाव	९५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	५५	०२ विभव	१३ प्रमाथी	४२००	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख	१८ तारण	०५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	१०	३७ शोभन
३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु	२८ जय	१५	४२ कीलक
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्वारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	४१००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्वारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्वारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४३००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्वारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख	१८ तारण	२५	३२ विलंबी
५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	३०	३७ शोभन

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
२८ जय	३५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्वारी	८ भाव	९५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	५५	०२ विभव	१३ प्रमाथी	४५००	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख	१८ तारण	०५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	१०	३७ शोभन
३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु	२८ जय	१५	४२ कीलक
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्वारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	४४००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्वारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्वारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोबन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४६००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्वारी	८ भाव	१५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	७५	२ विभव	१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
१८ तारण	२५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	७०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	३०	३७ शोभन	४८ आनन्द	७५	२ विभव
२८ जय	३५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	८०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	८५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	९०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी	८ भाव	९५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	५५	०२ विभव	१३ प्रमाथी	४८००	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख	१८ तारण	०५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	१०	३७ शोभन
३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु	२८ जय	१५	४२ कीलक
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	३०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	४७००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	०५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	१५	२-विभव	१३ प्रमाथी	६०	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	२०	७ श्रीमुख	१८ तारण	६५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	२५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	७०	३७ शोभन
३ शुक्ल	३०	१७ सुधानु	२८ जय	७५	४२ कीलक
८ भाव	३५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	८०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	४०	२७ विजय	३८ क्रोधी	८५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	४५	३२ विलम्बी	४३-सौम्य	९०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	५०	३७ शोभन	४८ आनन्द	९५	२-विभव
२८ जय	५५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	४९००	७ श्रीमुख
३३ विकारी	६०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	०५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	६५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	१०	१७ सुभानु

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य	दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
८ भाव	१५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	५०६०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	२०	२७ विजय	३८ क्रोधी	५०६५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	२५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	५०७०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	३०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५०७५	२ विभव
२८ जय	३५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	५०८०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	४०	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	५०९५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	४५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५०९०	१७ सुभानु
४३ सौम्य	५०	५७ रक्तेद्गारी	८ भाव	५०९५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	५५	०२ विभव	१३ प्रमाथी	५१००	२७ विजय
५३ सिद्धार्थ	६०	०७ श्रीमुख	१८ तारण	५१०५	३२ विलम्बी
५८ रक्ताक्ष	६५	१२ बहुधान्य	२३ विरोधी	५११०	३७ शोभन
३ शुक्ल	७०	१७ सुभानु	२८ जय	५११५	४२ कीलक
८ भाव	७५	२२ सर्वधारी	३३ विकारी	५१२०	४७ प्रमादी
१३ प्रमाथी	८०	२७ विजय	३८ क्रोधी	५१२५	५२ कालयुक्त
१८ तारण	८५	३२ विलंबी	४३ सौम्य	५१३०	५७ रक्तोद्गारी
२३ विरोधी	९०	३७ शोभन	४८ आनन्द	५१३५	२-विभव
२८ जय	९५	४२ कीलक	५३ सिद्धार्थ	५१४०	७ श्रीमुख
३३ विकारी	५०००	४७ प्रमादी	५८ रक्ताक्ष	५१४५	१२ बहुधान्य
३८ क्रोधी	५००५	५२ कालयुक्त	३ शुक्ल	५१५०	१७ सुभानु
४३-सौम्य	५०१०	५७ रक्तोद्गारी	८ भाव	५१५५	२२ सर्वधारी
४८ आनन्द	५०१५	२-विभव			
५३ सिद्धार्थ	५०२०	७ श्रीमुख			
५८ रक्ताक्ष	५०२५	१२ बहुधान्य			
३ शुक्ल	५०३०	१७ सुभानु			
८ भाव	५०३५	२२ सर्वधारी			
१३ प्रमाथी	५०४०	२७ विजय			
१८ तारण	५०४५	३२ विलम्बी			
२३ विरोधी	५०५०	३७ शोभन			
२८ जय	५०५५	४२ कीलक			

अथ शलाका-परीक्षण—

प्रकृत लेखक ने जो सारिणी प्रस्तुत की है, वह कितनी सार्थक है ? कितनी विश्वसनीय है ? इसकी परीक्षा करते हैं । यथा—

१. षष्टि संवत्सर-गणना के दो सम्प्रदाय हैं—१. दाक्षिणात्य सम्प्रदाय है, जो **१३ प्रमाथी संवत्सर** से गणना आरम्भ करता है, उसके मतानुसार कलि संवत्०० = १३ प्रमाथी संवत्सर ही प्रथम-संवत्सर है । २. दूसरा औदीच्य सम्प्रदाय है, जो **२७—विजय-संवत्सर** से गणना आरम्भ करता है । उसके मतानुसार कलि संवत०० = २७ विजय संवत्सर ही प्रथम संवत्सर है । समग्र सारिणी इसी सिद्धान्त के आधार पर तैयार की है । **हमारी गणना-प्रक्रिया इसी सारिणी के दायरे में सिमटी हुई है ।**

२. इस सारिणी तथा वर्तमान पंचांग रचना के तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है इसमें **१-संवत्सर की भूल है ।** यथा—

दाक्षिणात्य	कलि संवत्	औदीच्य
८ भाव	५०९५	२२ सर्वधारी
९ युवा	५०९६	२३ विरोधी
१० धाता	५०९७	२४ विकृति
११ ईश्वर	५०९८	२५ खर
१२ बहुधान्य	५०९९	२६ नन्दन
१३ प्रमाथी	**५१००**	**२७ विजय**

पंचकूला (हरियाणा) के निवासी आचार्य विद्वद्वर **पं० प्रियव्रत शर्मा** के प्रणीत **श्री मार्त्तण्ड पञ्चाङ्गम्** के पृष्ठ ८३ पर मुद्रित है : **कलि संवत् ५०९६ = सर्वधारी [२२]** संवत्सर । सारिणी और पंचांग के पुनरवलोकन से पता चलता है कि कलि संवत् ५०९६ के अनुरूप विरोधी संवत्सर होना चाहिए था, परन्तु पंचांग में २२ वाँ संवत्सर 'सर्वधारी' है । **इस अध्ययन से १ वर्ष की क्षति सामने आई है ।**

३. प्रश्न—क्या यह भूल सारिणी की संरचना में कहीं है ? इसका परीक्षण पहले करते हैं । **विक्रम-संवत्** [अत्यन्त विश्रुत कालगणना] **का आरम्भ १० धाता संवत्सर से मान्य है ।** उस समय कलि संवत् कितना था ? इसके समाधान के लिए प्रस्तुत है श्रीमद् यल्लयाचार्य का कथन :

"गुणाब्धिव्योमरामोना [३०४३] विक्रमाब्दाः कलेर्गताः ।"

—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त; १/११०

अर्थात् ३०४३ कलि-संवत् व्यतीत होने पर 'विक्रम-संवत्' प्रचलन में आया । इसके विशदीकरणार्थ प्रस्तुत है, सारिणी—

दाक्षिणात्य	कलिकाल	औदीच्य
५३ सिद्धार्थ	**३०४०**	**७ श्रीमुख**
५४ रौद्र	**३०४१**	**८-भाव**
५५ दुर्मति	**३०४२**	**९-युवा**
५६ दुन्दुभी	**३०४३**	**१० धाता**

उक्त सारिणी यह सिद्ध करती है कि कलि-संवत् ३०४३[+५८=३१०१ ई० पूर्व] से विक्रम-संवत् की स्थापना गणना-सिद्ध है । **कलि संवत् ३०४३ के पश्चात् षष्टि-संवत्सर गणना में १ वर्ष की भूल उत्पन्न हुई है ।**

४. प्रश्न-दर-प्रश्न—इस भूल-उत्पत्ति का कारण क्या है ?

इस १-संवत्सरीभूल के उगने के दो कारण हैं । एक तो जैन काल-गणना इसका मुख्य कारण है; चाहिए तो यह था कि **कलि-संवत् ३०४३ से विक्रम-संवत् अस्तित्व में आया, उसे उसी स्थिति में सुरक्षित रखना चाहिए था;**

परन्तु जैन-कालगणना के अनुसार संकेत या संदेश यह दिया गया कि **वीर-निर्वाण संवत् ४७० में विक्रम-संवत् स्थापित हुआ।** यथा—

"विक्रमरज्जारंभा पुरओ सिरीवीरनिव्वुई भणिया

सुन्नमुणिवेयराजुत्तो विक्कमकालओ जिनकालो ॥"

—मेरुतुंग स्थविरावाली

—वीरनिर्वाणसंवत् और जैन काल गणना: १४६

अर्थात् ५२७-४७० = ५७ ई० पूर्व से कालगणना का मुद्दा विचारणीय बन जाता है। है न गलती एक साल की—**५८-१ = ५७ ई० पूर्व का साल।**

टिप्पणी—बड़े ताज्जुब की बात है, विक्रमादित्य [तथाकथित] के पिता गद्दर्भिल्ल ने **सरस्वती-अपहरण-काण्ड जैसा घृणित अपराध किया**, उसी के आत्मज/ अथवा पौत्र विक्रमादित्य को इतना अधिमान दिया गया कि जैन कालगणना के दो स्थिर बिन्दु—

वीर निर्वाण ४७० = विक्रमादित्य का अभिषेक

परिकल्पित कर लिये गए? अगर बात यहीं पर पक्के तौर पर पल्ले बांध ली जाती, तब भी सन्तोष हो जाता; विक्रम-अभिषेक और विक्रमसंवत् के दरम्यान १३ वर्ष की दीवार भी खड़ी कर दी—

"विक्रम रज्जाणंतर तेरसवासेसु वच्छरपवित्त।"—पूर्णवत् अर्थात् विक्रमराज्यारम्भ वीरनिर्वाण संवत् ४७० = ५७ ईसवी पूर्व से और **विक्रम-संवत् की स्थापना वीर-निर्वाण-संवत् ४८३ = ४४ ईसवी पूर्व से मान्य हुई।** इस पर तुर्रा यह कि विक्रमादित्य का स्वर्गारोहण वीरनिर्वाण संवत् ४७७ में हो गया। है न कमाल? यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि "जैनकालगणना" एक डगमगाती नाव के समान है, जिससे १-वर्षीय भूल का होना कोई अचरज की बात नहीं है।

प्रश्न-दर-प्रश्न के विपक्ष में निवेदन यह है कि 'ज्योतिषग्रन्थ संरचना' शक = संवत् ०० = ७८ ईसवी संवत् के माध्यम से होती है; यथा—

[१] शका नाम म्लेच्छराजानः ते यस्मिन् काले विक्रमादित्येन व्यापादिताः स शकसम्बन्धी कालः शाक इत्युच्यते।

—खण्डखाद्यक का टीकाकार: आमराज [१२३७ वि. संवत्]

[२] नन्दाद्रीन्दुगुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः

—सिद्धान्तशिरोमणिः कालमानाध्याय १/२८

[३] याता कलेर्नवगनगेन्दुगुणा [३१७९] शकान्ते।

—सिद्धान्तशेखर

[४] कलेर्गोऽगैकगुणा शकान्ते अब्दाः।

—ब्रह्मगुप्त

इन सभी साक्ष्यों का मिश्रित निष्पन्नार्थ यह है कि **कलि-संवत् ३१७९ में** शक-निधन के पश्चात् शक संवत् चला। अर्थात् **३१७९ = ३१०१ = ७८ ईसवी संवत्** से स्थापित 'शककाल' का निर्णय अनाहत है। इस पर हमारा

कहना है कि यहाँ **भी १-वर्ष की भूल** उजागर होती है। ५८ ई० पूर्व + ७८ ईसवी संवत् = **फलितार्थ १३६ चाहिए;** परन्तु ज्योतिषग्रन्थों में उक्त व्यवधान के हेतु १३५ वर्ष ही स्वीकृत हैं—

'स एव पञ्चाग्निकुभिः युक्तः स्यात् विक्रमस्य वै।

रेवायाः उत्तरे तीरे संवन्नाम्नातिविश्रुतः।'

—ज्योतिषसार,

यहाँ १-वर्ष की भूल स्पष्ट है। हम यहाँ पर निःसंकोच भाव से लिख रहे हैं कि **यह एक वर्ष की भूल भी जैन कालगणना के खाते से उधार ली गई प्रतीत होती है।** इसके लिए एक प्रमाण भी उपलब्ध है—

"ततो वर्षशते पञ्चत्रिंशतासन्धिके पुनः

तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः।

—प्रभावकचरितम् : श्लोक १/९२,

अर्थात् विक्रम संवत् से १३५ वर्षों के पश्चात् आक्रान्ता राजा का वंशधर मारा गया। १३५-५७ = ७८ ईसवी का फलितार्थ सामने है।

ज्योतिष ग्रन्थों का जैन-इतिहास का अन्धानुकरण ही उक्त भूल का दूसरा कारण है।

यहाँ एक सीधी-सादी काल-विभाजक लक्ष्मण रेखा साफ-साफ नजर आती है : ३१७९ कलि संवत् = ७८ ईसवी से पूर्ववर्ती काल-गणना निरापद और सन्तुलित है; जबकि तत्परवर्ती गणना में १-वर्ष की भूल उग-आने से कलिसंवत् तथा षष्टि संवत्सर का संतुलन बिगड़ गया है। अत्र हम यह निरन्तर स्मरणार्थ लिख रहे हैं कि चूंकि भगवान् शंकराचार्य तथा आचार्य सुरेश्वराचार्य का समय प्राक् ७८-ईसवीय है, उस काल-गणना में कोई भूल नहीं है; जबकि ७८-ईसवीय-परवर्ती गणना में १ वर्ष का उलट-फेर या क्षरण झेलना पड़ेगा। सावधान!

इतने विस्तृत विश्लेषण के बाद भी समस्या का समाधान नहीं मिल रहा। यथा—

१. विभव संवत्सर : भगवान् शंकराचार्य की जन्मतिथि का विवाद-बिन्दु **'विभव'** संवत्सर है। विभव का उल्लेख अनेक साक्ष्यों में पढ़ने को मिलता है। यथा—

"वैशाखे विभवे सिते च दशमी मध्ये विवस्वानिव"

—पुष्यश्लोकमंजरी : सदाशिव बोध

"स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः।

निधि-नागेभवह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः॥"

—शृंगेरी पीठ का तिथि निर्णय

'संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते

राधे सिते शिवगुरो गृहिणी दशम्याम्॥'

—शंकरमन्दारसौरभे : नीलकण्ठ भट्ट

अतः विभवसंवत्सर को फूंक मारकर उड़ाया नहीं जा सकता। इस पर विचार होना चाहिए। यथा सारिणी—

दाक्षिणात्य	कलि-संवत्	औदीच्य	टिप्पणी
५८ रक्ताक्ष	३८८५	१२ बहुधान्य	जहाँ-जहाँ 'विभव' संवत्सर का उल्लेख है, वहाँ वहाँ कलि-संवत् ३८८९ का उल्लेख भी है। निधि = ९, नाग = ८, इभ = ८ वह्नि = ३; अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार गणना साधु है—
५९ क्रोधन	३८८६	१३ प्रमाथी	
६० क्षय	३८८७	१४ विक्रम	
१ प्रभव	३८८८	१५ वृष	
२. विभव	**३८८९**	१६ चित्रभानु	**कलि संवत् ३८८९ = ईसवी सन् ७८८**
३. शुक्ल	३८९०	१७ सुभानु	

२. नन्दन-संवत्सर : नन्दन संवत्सर का प्रयोगान्वय साक्षात् तो नहीं है, उसका परोक्ष प्रयोग अवश्य है। यथा—

"षड्विंशे शतके श्रीमद् युधिष्ठिरशकस्य वै।

एकत्रिंशेऽथ वर्षे तु हायने नन्दने शुभे ॥"

युधिष्ठिरसंवत् २६३१ = नन्दन संवत्सर

तिष्ये प्रयात्यनलशेवधिबाणनेत्रे।

ये नन्दने दिनमणाबुद्ग्ध्वभाजि ॥

२५९३ कलि-संवत् = नन्दन संवत्सर।

इन दो संदर्भों में एक महागम्भीर विवाद है—

[१] युधिष्ठिर-संवत् २६३१ = नन्दन संवत्सर = ई० सन् ?

[२] कलि-संवत् २५९३ = नन्दन संवत्सर = ५०८ ई० पूर्व।

पहले हम युधिष्ठिर संवत् २५३१ को समझ लें। हमारे विचार में युधिष्ठिर-संवत् ०० = ३१४८ ई० पूर्व से प्रचलित होना मान्य है। सो ३१४८-२६३१ = ५१७ ई० पूर्व का परिणाम किसी को स्वीकार्य न होगा। दूसरे संदर्भ में 'तिष्य' शब्द पठित है, जिसका अर्थ तिष्य = कलि है। इसको छोड़ हम युधिष्ठिर-संवत् पर आते हैं। हमने एतद् हेतु एक फार्मूला आविष्कृत किया है। इसी संख्या में ११०१ अंक जमा करने पर यह संख्या सप्तर्षि-संवत् में परिणत हो जाएगी। यथा—

[क] युधिष्ठिर संवत् २६३१

[ख] इसमें जमा किए + ११०० = ३७३१ सप्तर्षि संवत्।

इसे ईसवी-संवत् में पलटने का नियम यह है—

[क] मूल संख्या से ६२८ वर्ष घटाए : ३७३१-६२८ = ३१०३

[ख] सामान्य संख्या को भारत-संग्राम काल ३१४८ ई० पू० से घटाया

भारत-संग्राम ३१४८-३१०३ = ४५ ई० पूर्व का साल

परिणाम स्वरूप ४५ सर्वधारी संवत्सर शुद्ध है।

अब विवाद इस बात पर है कि **ई० पू० ५०८ = विभव संवत्सर शुद्ध है** ? या फिर ई० पूर्व ४४ = नन्दन संवत्सर शुद्ध है ? इसमें से किसे अपनाया जाय ?

[३.] **ईश्वर संवत्सर** : अनेक संदर्भों में '**ईश्वर संवत्सर**' का भी उल्लेख है। मराठी की 'मुमुक्षु' पत्रिका में कलि संवत् ३०५८ = 'ईश्वर' संवत्सर का उल्लेख है। दाक्षिणात्य तथा औदीच्य संवत्सर-गणना में १४ वर्षों का अन्तराल है। परन्तु भगवान् शंकराचार्य के जन्म विषयक संवत्सर-गणना में १५ वर्षों का अन्तराल पैदा हो गया है : **११ ईश्वर + १५ = २६ नन्दन** [वही एक वर्ष की भूल,जो होनी तो नहीं चाहिए,है] यह परवर्ती आने वाले शोधजनों ने गणित बैठाने का यत्न किया; परन्तु एक वर्ष की भूल रह गई।

[४.] **रौद्रसंवत्सर** : कुछ लोगों का कहना है कि शक-संवत् ६४२ = रुद्र संवत्सर में भगवान् शंकराचार्य ने विग्रह विसर्जन किया। परन्तु हमारी राय में **शक-संवत् ६४४ = रुद्र संवत्सर** में भगवान् शंकराचार्य ने विग्रह-विसर्जन किया। इसका संतुलित ईसवी पूर्व या ईसवी संवत् क्या है ? इसका निर्णय बृहत्सारिणी में देखे। 'विभव' 'नन्दन' और 'ईश्वर' में कौन सा संवत्सर ग्राह्य है ? इसका निर्णय भी 'षष्टि' संवत्सर के पास है। द्रष्टव्य बृहत्सारिणी—

अथ बृहसारिणी—

दाक्षिणात्य	कलि संवत्	ईसवी पूर्व	औदीच्य	टिप्पणी—
— —	३०५६	४५	२२ सर्वधारी	**जन्म** : सप्तर्षि-संवत्
— —	३०५७	४४	२३ विरोधी	३७३१ = ४५ ईसवी पूर्व का साल
११.ईश्वर	३०५८	४३	२४ विकृति	
१२.बहुधान्य	३०५९	४२	२५ खर	
१३.प्रमाथी	३०६०	४१	**२६ नन्दन**	**उपनयन संस्कार**
१४ विक्रम	३०६१	४०	२७ विजय	
१५ वृष	३०६२	३९	२८ जय	
१६ चित्रभानु	३०६३	३८	२९ मन्मथ	**संन्यासदीक्षा**
१७ सुभानु	३०६४	३७	३० दुर्मुख	**गोविन्द पाद का शिष्यत्व**
१८ तारण	३०६५	३६	३१ हेमलम्ब	
१९ पार्थिव	३०६६	३५	३२ विलम्ब	
२० व्यय	३०६७	३४	३३ विकारी	
२१ सर्वजित्	३०६८	३३	३४ शार्वरी	
२२ सर्वधर्मा	३०६९	३२	३५ प्लव	
२३ विरोधी	३०७०	३१	३६ शुभकृत्	**ब्रह्मसूत्र का भाष्यारम्भ**
२४ विकृति	३०७१	३०	३७ शोभन	**ज्योतिमठ की स्थापना**
२५ खर	३०७२	२९	३८ क्रोधी	**मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ**
२६ नन्दन	३०७३	२८	३९ विश्वावसु	**परकाया प्रवेश/ शास्त्रार्थत्रय**

२७ विजय	३०७४	२७	४० पराभव	
२८ जय	३०७५	२६	४१ प्लवक	**मण्डनमिश्र संन्यस्त हुए/** सुरेश्वराचार्य
२९ मन्मथ	३०७६	२५	४२ कीलक	के रूप में प्रथम शिष्य
३० दुर्मुख	३०७७	२४	४३ सौम्य	**दिग्विजययात्रा**
३१ हेमलम्ब	३०७८	२३	४४ साधारण	
३२ विलम्ब	३०७९	२२	४५ विरोधकृत	
३३ विकारा	३०८०	२१	४६ परिधावी	**गोवर्धनमठ की स्थापना**
३४ शार्वरी	३०८१	२०	४७ प्रमादी	
३५ प्लव	३०८२	१९	४८ आनन्द	**नेपालयात्रा**
३६ शुभकृत	३०८३	१८	४९ राक्षस	
३७ शोभन	३०८४	१७	५० अनल	
३८ क्रोधी	३०८५	१६	५१ पिंगल	**देवीक्षमापन-स्तोत्र रचना**
३९ विश्वावसु	३०८६	१५	५२ कालयुक्त	कलि संवत् [३०]८५ का संकेत
४० पराभव	३०८७	**१४**	**५३ सिद्धार्थ**	**विग्रह-विसर्जन:** प्राचीन शक
४१ प्लवन	३०८८	१३	५४ रौद्रक	= ६४४ : १३ ईसवी पूर्व
४२ कीलक	३०८९			
४३ सौम्य	३०९०			

अथ सर्वेक्षण—

१. कलिसंवत् तथा ईसवी पूर्व वर्षों में **३१०१ वर्षों** का अन्तराल है; ३१०२ वर्षों का नहीं। जैसा कि लोग बाग मानते हैं।

२. विक्रमसंवत् **कलि-संवत् ३०४३** से गणनाधीन है; कलि संवत् ३०४४ से नहीं। भगवान् शंकराचार्य का जन्म विक्रम संवत् १४ = ४४ ईसवी पूर्व,मान्य है अतएव कलि संवत् ३०५७ मान्य है; इससे न्यूनाधिक नहीं।

३. दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार ईश्वर-संवत्सर [११] भगवान् शंकराचार्य जन्म हुआ। जैसा कि पूना से प्रकाशित साप्ताहिक 'मुमुक्षु' [१६ अक्टूबर १९१३] में भगवान् की जन्मपत्री लिखते हुए **"कलि-गताब्द ३०५८ ईश्वर संवत्सर वैशाख शुक्ल"** लिखा है। सारिणी में भी यही दृग्गोचर है। सारिणी में कलि ३०५८ के स्थान पर ३०५७ कलि सं० है।

४. दाक्षिणात्य परम्परा में तथा औदीच्य परम्परा में १२ वर्षों का न्यूनाधिक्य है। क्वचित्-क्वचित् यह अन्तर १३ अथवा १४ वर्षों का भी देखने को मिलता है। औदीच्य परम्परा में **११ ईश्वर + १५ = २६ नन्दन वर्ष** में भगवान् शंकराचार्य का जन्म हुआ' जो चिन्त्य है।

५. भगवान् शंकराचार्य की विग्रह-विसर्जन-तिथि सार्वत्रिक नहीं है। यह उल्लेख केवल औदीच्य परम्परा में मिलता है—

"युग्मपयोधिरसान्वित शाके. रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे।"

प्राचीन शक के अनुसार ६४४ **शक वर्ष** में भगवान् शंकराचार्य दिवंगत हुए। यह वर्ष **६५८ = ६४४ = १४३ ईसवीपूर्व का साल सिद्ध होता है**। इकलौता संदर्भ होने के नाते यह प्राथमिक स्तर पर विश्वसनीय नहीं है। फिर भी विचारार्थ इसे स्वीकारते हैं। **गत २५ + २९ = ५४ रौद्रक संवत्सर**।

६. यदि दाक्षिणात्य परम्परा को लें तो भगवान् शंकराचार्य का वयोमान ३१ वर्ष। कीलक संवत्सर के कुछ मास शामिल करके] ७ मास होते हैं। इसके विपरीत औदीच्य परम्परा को लें तो उक्त वयोमान ३२ वर्ष होता है। 'नन्दन संवत्सर' तथा 'रौद्रक संवत्सर' की पूर्वापर परिधि को भंग करना आसान नहीं है।

७. जनश्रुति के अनुसार आद्यशंकराचार्य का वयोमान ३२ वर्ष निश्चित है। दाक्षिणात्य परम्परा—**११ ईश्वर से ४३ सौम्य संवत्सर** तक वयोमान की श्रुतिपरम्परा को अनाहत रखती है; जबकि औदीच्य परम्परा में ३२ वर्ष बोधिनी श्रुति परम्परा भंग हो गई है। हालाँकि **कलि संवत् ३०८५ में भगवान् शंकराचार्य की मानसिक थकान की अभिव्यंजना का अतिक्रमण नहीं हुआ**। कलि संवत् ३०८५ से परवर्ती विवरण के न मिलने से, इससे अधिक ऊहापोह भी नहीं कर सकते।

अथ मीमांसा—

यदि भगवान् शंकराचार्य के काल-निर्धारण में यह 'सारिणी' एकमेव साधन है, तो निश्चय पूर्वक भगवान् शंकराचार्य का समय ५०८-४७६ **ईसवी पूर्व का साल** यथार्थ है। परन्तु हम जानते हैं—इतिहास के लिए इतिहास दृष्टि की आवश्यकता है। इस प्रसंग में तात्कालिक राजनीतिक इतिहास को पृष्ठभूमि के तौर पर लेना बहुत जरूरी है। इस कसौटीपर यह 'सारिणी' खरी नहीं उतरती।

दूसरी बात इससे भी अधिक कर्कश है। **युधिष्ठिर-संवत् की परिभाषा अभी तक निश्चित नहीं है।** युधिष्ठिर-संवत् २१५७ + ४७६ = २६३३ **ई० पूर्व में युधिष्ठिर-संवत् का अस्तित्व अभावात्मक है**। अभावात्मक संख्या से संलग्न इतिहास 'गप्प-शास्त्र' माना जाता है।

२. ईसवी सन् ६८८-७२०

यह पक्ष पं० बालगंगाधर तिलक का है। सारिणी—

दाक्षिणात्य	कलि संवत्	ईसवी	औदीच्य
२२ सर्वधारी	३७८९	६८८	३६ शुभकृत्
२३ विरोधी	३७९०	६८९	३७ शोभन
२४ विकृति	३७९१	६९०	३८ क्रोधी
२५ खर	३७९२	६९१	३९ विश्वा.
२६ नन्दन	३७९३	६९२	४० पराभव
अन्तिम पांच संवत्सर—			
५० अनल	३८१७	७१६	३ शुक्ल
५१ पिंगल	३८१८	७१७	४ प्रमोद
५२ कालयुक्त	३८१९	७१८	५ प्रजापति

५३ सिद्धार्थ	३८२०	७१९	६ अंगिरा
५४ रौद्रक	३८२१	७२०	७ श्रीमुख

टिप्पणी—पं० बालगंगाधर तिलक का मुख्य मन्तव्य है—**युग्मपयोधिरसान्वितशाके रौद्रकवत्सर ऊर्जक मासे**। अर्थात् ६४२ + ७८ = ७२० **ईसवी** साल का उल्लेख यथार्थ है। इसी के आधार पर भगवान् शंकराचार्य का जन्म काल कल्पित किया गया है।

३. ईसवी सन् ७८८-८२०

दाक्षिणात्य तदनुरूप सारिणी इस प्रकार है—

दाक्षिणात्य	कलि संवत्	ईसवी	औदीच्य
२ विभव	३८८९	७८८	१६ चित्रभानु
३ शुक्ल	३८९०	७८९	१७ सुभानु
४ प्रमोद	३८९१	७९०	१८ तारण
५ प्रजापति	३८९२	७९१	१९ पार्थिव
६ अंगिरा	३८९३	७९२	२० व्यय
३० दुर्मुख	३९१७	८१६	४४ साधारण
३१ हेमलम्ब	३९१८	८१७	४५ विरोधकृत्
३२ विलम्ब	३९१९	८१८	४६ परिधावी
३३ विकारी	३९२०	८१९	४७ प्रमादी
३४ शार्वरी	३९२१	८२०	४८ आनन्द

निष्पन्न फलितार्थ—

अन्तिम दो मतान्तरों के विखण्डन के लिए कुछ भी कहना बाकी नहीं है। बड़ा आश्चर्य है—प्रथम पक्ष **रुद्र संवत्सर = शक संवत् = ६४२ = कलिसंवत् ३८२१ में भगवान् का विग्रह-विसर्जन घोषित करता है;** ठीक उससे ६८ वर्ष पश्चात् द्वितीय पक्ष **विभव संवत्सर-शक संवत् ७१० कलि संवत् ३८८८ में भगवान् शंकराचार्य का जन्म बताता है।** यह ६८ वर्ष की दुर्लङ्घ्य भित्ति को गिराने की क्षमता किसके पास है? यह ६८ वर्षों की दरार ही दोनों पक्षों को बेबुनियाद बता रही है। ६८ वर्ष तो एक मनुष्य की सामान्य आयु है।

हमने **शक संवत् ६४२ = ७२० ईसवी** को निरस्तकर **शक संवत् ६४४ = १३ ईसवी पूर्व** सोच समझ कर आद्यशंकराचार्य का विग्रह-विसर्जन स्थिर किया है। पं० उदयवीर शास्त्री की मान्यता : ५०८-४७७ ई० पूर्व, इतिहास का समर्थन न मिलने से कल्पना के एक कोने में सिमटी पड़ी है। इति

इति सप्तमोऽध्यायः

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

संदर्भ ग्रन्थानुक्रमणी (संक्षिप्त)

१. **अल्बेरूनी का भारत** : इंग्लिश-अनुवाद

डॉ० सचाऊ, हिन्दी अनुवाद संतराम बी० ए०, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद।

२. **आद्यशंकराचार्य** : लेखक राजगोपाल शर्मा, बनारस।

३. **खारवेल प्रशस्ति : पुनमूल्यांकन** : चन्द्रकान्त बाली

प्रतिभा प्रकाशन ५/२९ शक्तिनगर, दिल्ली-७।

४. **गुप्तअभिलेख** : डॉ० वासुदेव उपाध्याय

बिहार हिंदीग्रन्थ अकादमी पटना।

५. **जैन कालगणना** : चन्द्रकान्त बाली

इतिहास भारती, एन० डी०-२३ पीतमपुरा दिल्ली।

६. **पाण्डुलिपि विज्ञान** : डॉ० सत्येन्द्र

राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

७. **पुराणों में इतिहास** : डॉ० कुंवरलाल व्यासशिष्य

इतिहास विद्या प्रकाशन, नांगलोई दिल्ली।

८. **पुराणों में भारतोत्तर वंश** : डॉ० कुंवरलाल व्यासशिष्य

इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली।

९. **प्राचीन लिपि माला** : डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

मुंशीराम मनोहरलाल दिल्ली।

१०. **ब्रह्माण्डपुराण** : मूल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

११. **मत्स्यपुराण** : मोरप्रकाशन, कलकत्ता।

१२. **भारतयुद्धकाल मीमांसा** : चन्द्रकान्त बाली

आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली।

१३. **भारतवर्ष का बृहद् इतिहास** : (दो भाग) : पं० भगवद्दत्त बी० ए०

इतिहास प्रकाशन मंडल, दिल्ली १२।

१४. **भारतीय कालगणना** : पं० देवकीनन्दन खेड़वाल

प्रकाशक स्वयम्, फतेहपुर, जयपुर (राजस्थान)।

१५. **भारतीय इतिहास : पुनर्लेखन क्यों ?** डॉ० कुंवरलाल व्यास शिष्य
इतिहास विद्या प्रकाशन, नांगलोई दिल्ली ।

१६. **भारतीय अभिलेख संग्रह :** डा० फेथफुल फ्लीट
राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

१७. **मत्स्यपुराण :** मूल : मोर प्रकाशन, कलकत्ता ।

१८. **मंजुश्री मूलकल्प :** सी बी एच पब्लिकेशन ।

१९. **राजतरंगिणी :** टीका रघुनाथ सिंह ठाकुर
हिंदी प्रचारक संस्थान, बनारस-१ ।

२०. **लंकावतार सूत्र :** बुद्धिष्ट रिसर्च इंस्टीच्यूट, दरभंगा ।

२१. **वायुपुराण :** मोर प्रकाशन, कलकत्ता ।

२२. **विक्रम स्मृति ग्रन्थ :** हरिहरनाथ द्विवेदी,
द्विसहस्राब्दि-समिति ग्वालियर ।

२३. **विष्णुपुराण :** डॉ० विलसन, नाग प्रकाशन, दिल्ली ।

२४. **वीर निर्वाण संवत् और जैनकालगणना :**
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी ।

२५. **वेदान्तदर्शन का इतिहास :**
विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद ।

२६. **व्याकरणशास्त्र का इतिहास :** तीन भाग
रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा ।

३७. **श्रीकालक कथा संग्रह :**
प्रकाशक-जयन्तीलाल हीराभाई दलाल, अहमदाबाद ।

२८. **श्री शंकराचार्य :** डॉ० बलदेव उपाध्याय
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ।

२९. **श्री वैंकटेश्वर शताब्दी पंचांग :**
खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई ।

३०. **शोध पत्रिकायें :**
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी । सम्मेलन पत्रिका इलाहाबाद । हिन्दुस्तानी एकेडमी, त्रैमासिक पत्रिका, इलाहाबाद । परिषद् पत्रिका । शोधपत्रिका, उदयपुर । समाज धर्म संस्कृति । वेदवाणी, बहालगढ़ । इति ।

माता : श्रीमती रामदेवी जन्म स्थान : मुल्तान (पाक)

पिता : पं० चूड़ामणि शास्त्री जन्मतिथि : ७ अगस्त १९१४

चन्द्रकान्त बाली

बचपन किस तरह से बीत गया, कुछ याद नहीं। जब होश संभाली तो पिताश्री तथा पितृव्यश्री (पं० शंकरदत्त शास्त्री) को साहित्य-साधना में तत्पर देखा। लेखन अभिरुचि मेरी बपौती है। इधर मेरे फुफेरे भाई पं० दीनानाथ सारस्वत शास्त्री की कृपादृष्टि मुझ पर निरन्तर बनी रही। सच बात तो यह है कि मैं उन्हीं की देखा-देखी और उन्हीं की प्रेरणा से लेखन क्षेत्र में उतरा।

जैसे कि दूसरे नौसिखिए 'संग्रह साहित्य' से लिखने की पहल करते हैं, प्रकृत लेखक ने भी वैसा ही किया। एक संग्रह ग्रंथ तैयार किया—**"दोहामानसरोवर"**। जो प्रभाकर परीक्षा में पाठ्य-पुस्तक के रूप में नियत रहा।

उसके बाद मौलिक निबंध संग्रह छपा—**'प्रबंध पंचनद'**।

भारतविभाजन के पश्चात् भारत आए लेखक की महती उपलब्धि है—**'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास'**। जिसमें विगत एक हज़ार वर्ष की साहित्यिक गतिविधि का सटीक लेखा जोखा है। इस रचना पर भाषाविभाग पंजाब की तरफ से पुरस्कार भी दिया गया।

संस्कृत अकादमी दिल्ली ने १९८८ में सम्मानित किया।

दिल्ली हिन्दी अकादमी की ओर से **'खारवेल प्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन'** पुरस्कृत रचना है।

भारतीय इतिहास की सार-संभाल की शृंखला में **'जैन कालगणना'** तथा **'भारत युद्धकाल मीमांसा'** के बाद यह तीसरी रचना कृपालु पाठकों के पाणि-पंकजों पर रख दी है। इति।

ISBN : 81-85268-76-2